

णमोत्पु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

जेन

साहित्य संशोधक

‘पुरिसा ! सच्चंमय समभिजाणाहि ! सच्चस्साणाए उवट्ठिए महाशी मारुत्तरड ।’

‘जे एणं जाणइ सें सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ सें एणं जाणइ ।’

विट्ठ. सुयं, मयं, विण्णायं जे एत्थ परिकहिज्जइ ।’

—निर्ग्रन्थ प्रयत्ननः (आचारारु सुय)।

ग ?

महावीरजयन्ती ; महावीर-निर्वाण संवत् २४४६

अंक ?

मङ्गल ।



नमो अरिहताणं ।

नमो सिद्धाणं ।

नमो आपरियाणं ।

नमो उवज्झायाणं ।

नमो लोए सव्वसाहुणं ।

जयइ जग जीवजोणी-विआणओ जगगुरु जगानेदा ।

जगानाहो जगवंधु जयइ जगपिआमहो भयवे ॥

जयइ सुआणप्पमवो तिथयराणं अपच्छिमो जयइ ।

जयइ गुरु लोयाणं जयइ महप्पा महावीरो ॥

नन्दी सूत्र, देववाचक क्षमाभ्रमण ।

04/12
श्री. मा. म.
955

निर्घन्थ प्रवचन ।

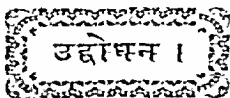
सूर्य मे आउसं तेणं भगवथा एवमकस्वायं—^१ इहमेगोसि णो सण्णा भवइ, तं जहा—पुरत्थिमाओ व
दिसाओ आगओ अहमंसि । दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पद्यत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ
अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहोदिसाओ
वा आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ अण्णदिसाओ वा आगओ अहमंसि । एवमेगोसि णो णायं भवइ
अत्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसी, के वा इओ लुओ इह पेया भविरत्तामि ।

से जं पुण जाणेज्जा सह सम्मइयाए, परवागरणेणं, अण्णेसि अंतिए वा सोद्या, तं जहा—पुरत्थिमा
ओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, जाव अण्णयरीओ दिसाओ अण्णदिसाओ वा आगओ अहमंसि । एवमेगोसि
णायं भवइ, अत्थि मे आया उववाइए । जो इमाओ दिसाओ अण्णदिसाओ वा अण्णसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ
मव्वाओ अण्णदिसाओ जो अण्णसंचरइ सोहं । से आयावादी, लोगावादी, कम्मावादी, किरियावादी ।

[भगव भगवान् भीमदावीर देवके शासनके मुख्य प्रवर्तक पंचम गणपर भार्य शुष्मरत्तामीने अपने प्रधान शिष्य
भायं जम्ह अंतगारसे कहा कि—]

‘ हे आशुक्लन् मने [ज्ञातपुत्र निर्घन्थ भगवान् महावीर देवके मुखसे] सुना हे : भगवानने इस प्रकार कहा है कि
‘ इस जगत्समें किसी एक जीवात्माको यह ज्ञान नहीं होता है कि [मैं कौन भी दिशामेंसे नहीं पर आया हूँ; अर्थात्—
देहे कि, पूर्व दिशामेंसे आया हूँ, वा दक्षिण दिशामेंसे आया हूँ; पश्चिम दिशामेंसे आया हूँ, वा उत्तर दिशामेंसे
आया हूँ; ऊर्ध्व दिशामेंसे आया हूँ, वा अधो दिशामेंसे आया हूँ; [येते ही] अन्य किसी दिशा या विदिशामेंसे
आया हूँ । [अर्थात् सरह] किसी एकको यह भी नहीं ज्ञात होता कि इस आत्मा पुनर्जन्मवादा है अथवा नहीं ? । मैं कौन
हूँ ? पहलें सरकर मैं पञ्चगममें कौन होऊंगा ? । ”

“ जो पुनः [कोई एक जीवात्मा] अपनी सम्मतिसे वा दुर्गते कथनमें, अथवा किसी अन्य-भोगके पाससे
यह ज्ञान लेता है कि, मैं अथुक्त दिशामेंसे आया हूँ; अर्थात्—] जैसे कि मैं पूर्व दिशामेंसे आया हूँ; यापन अन्य
दिशा-विदिशामेंसे आया हूँ । [येते ही पर भी ज्ञान है कि—] मेरा आत्मा पुनर्जन्मवादा है । जो इस दिशा-विदिशामेंसे
ग आता जाता है [अर्थात् ऊपर बतलाई हुई] सर्व दिशा-विदिशाओंमेंसे आता जाता है वहीं मैं हूँ । [भगवान् कहते हैं
‘ ऐसा जो ज्ञात है] यह आत्मवादी (आत्माको सम्मजने वाला), लोकावादी (जगत्को जानने वाला), कर्मवादी
(कर्मके रहस्यको माननेवाला), और क्रियावादी (कर्तव्यको करनेवाला) कहलाता है । ”



श्री भगवान् भीमदावीर जीवरकर प्रवृत्ति
निर्घन्थ प्रवचन का जो आदिम उद्गार, इस
उद्घोषन के अन्तर्गत हमने उद्धृत किया है वह
जीव धाम दृष्टिसे इस प्रवृत्ति प्रवचनमें प्रका-
शित—आध्यात्मिक संस्कारण स्वयम् है । वेगती आंतर
दृष्टिसे, प्रवचनगत मुख्य श्रेयस्कारी पूर्ण उद्घोषक
है । ज्ञातपुत्र निर्घन्थ प्रभु महावीर देवका प्रवृत्ति
विचार ‘द्रव्य’ और ‘माय’ दोनों नवीक
अवस्थान युक्त हो कर प्रयत्नित है । उन अन-
काल्पवादी अर्थनवा प्रवचक उद्गार स्वायत्तात्मिक और
पारमार्थिक दोनों दृष्टियोंसे माय लेकर उद्धृत
हुआ है । इसलिये उपर्युक्त उद्गार भी उद्धृत और

परमार्थ-द्रव्य और भाव-द्वोंनों भावोंसे उपलक्षित है। व्यवहारसे, जैसे कोई 'संज्ञा' यानि चैतन्य हीन-मूढात्मा यह नहीं जान सकता कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, ये सब दिवादि दूनेवाले लोग कौन हैं; मेरा क्या कर्तव्य-कर्म है और मैं क्या कर रहा हूँ; इत्यादि। इस प्रकारके विचार-विहीन आत्माका कोई अभ्युदय नहीं हो सकता; वह अपने जीवनको प्रगतिमान् नहीं बना सकता। ऐसा मनुष्य, मनुष्य स्वरूप हो कर भी पशु ही की कोटिमें गिना जाता है। पशुके जीवनमें और ऐसे 'संज्ञा' हीन मनुष्यके जीवनमें कोई अंतर नहीं होता। ऐसा प्राणी अनात्मज्ञ, लोकस्वरूपानभिज्ञ, कर्तव्य विचार विहीन और प्रवृत्ति-शून्य कहा जाता है। वैसे ही परमार्थ भावसे, जो आत्मा अध्यात्मभाव पराङ्मुख और ऐहिक विषय-आसक्त है वह भी वास्तविकमें 'संज्ञा' यानि 'सम्यग्ज्ञान' हीन ही है। ऐसा परमार्थ-ज्ञानशून्य आत्मा भी (वह फिर चाहे व्यवहार में कितना ही बुद्धिमान्, प्रयत्नशील, प्रयत्नपटु और सतत उद्योगी हो) यह नहीं विचार सकता कि, 'परमार्थमें मैं कौन हूँ, मेरे आत्माका क्या स्वरूप है, मैं किस लोकमेंसे यहाँ पर आया हूँ, मेरा पुनर्जन्म होता है या नहीं, मैं इस जन्मसे मर कर कहाँ जाऊँगा; इत्यादि। इस प्रकारके विचार-शून्य आत्मा का भी उद्धार नहीं हो सकता। उसको मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं हो सकती। वह अंध पुरुषकी तरह अज्ञात मार्गमें इधर उधर भटकता फिरता है—संसार परिभ्रमण करता रहता है। उसको इच्छित स्थानकी प्राप्ति नहीं हो सकती; और सिद्ध-स्वरूप नहीं बन सकता।

जो आत्मा अध्यात्मस्वरूपका जिज्ञासु है, अपने आंतरिक गमनागमनका विचार करता रहता है; आत्माके यथार्थ स्वरूपकी समझनेके लिये प्रयत्न करता रहता है, वही आपना उद्धार कर सकता है। वैसे जिज्ञासु अतस्य विचारवान् मनुष्यको सत्यमार्ग मिल सकता है और उसके द्वारा वह इच्छित स्थानको प्राप्त कर सकता है। वह जन्म-मरण के बन्धनसे मुक्त हो कर सिद्ध-युद्ध बन सकता है। निमेष तीर्थंकर ऐसे आत्मिक विचार करनेवाले पुरुष ही की 'आत्मवादी'—आत्मज्ञ कहते हैं। उनके

मतसे, जो आत्मा 'आत्मवादी' यानि अपने स्वरूपको जान सकता है वही 'लोकवादी' अर्थात् जगत्के सत्य स्वरूपको जाननेवाला होता है। क्यों कि जो अपने आंतर स्वरूपको नहीं जान सकता वह बाह्य स्वरूपको भी नहीं जान सकता। यह आंतर-बाह्य ज्ञान परस्पर सापेक्ष है। इसीलिये भगवान्ने आगे चलकर यह कहा है कि—

जे अज्झत्थं जाणइ, से वहिया जाणइ,

जे वहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ ।

आचा इन्द्र १-७।

जो इसप्रकार लोकवादी होता है वही 'कर्मवादी' अर्थात् कर्मकी विचित्र शक्तियोंका—जगत्के कार्य कारण-भावका—ज्ञाता हो सकता है; और इसी तरह कर्मवादी बनने पर फिर वह 'क्रियावादी' अर्थात् सम्यक् और असम्यक् प्रवृत्ति (कर्तव्याकर्तव्य) का स्वरूप और रहस्य समझनेवाला बन सकता है। क्रियावादी आत्मा आत्म-हितकर प्रवृत्तिका आचरण कर अंतमें कर्मसे मुक्त हो कर अमरत्व प्राप्त कर सकता है। प्रभु महावीर उपदिष्ट मोक्षमार्गका यही यथार्थ क्रम है। मोक्षशास्त्रके प्रणेता महाश्वेने जो

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।

इस प्रकार मोक्षमार्ग बतलाया है वह भी इसी क्रमको लक्ष्य कर है।

आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होना—अपने स्वरूप की प्रतीति होना—सम्यग्दर्शन है। इसीका नाम आत्म-श्रद्धा भी है। जिसको ऐसा साक्षात्कार-ऐसी प्रतीति-आत्मश्रद्धा होती है वही आत्मवादी कहलाता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त आत्माहीकी सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है। जिसकी यह निव्य दर्शन हो जाता है, जो अपनी आत्मश्रद्धामें लीन हो जाता है, उसको फिर सर्व चराचर जगत्का ज्ञान हो जाता है। इसीलिये यह कहा जाता है कि—

अद्वावान् लभते ज्ञानम् ।

दूसरे शब्दोंमें कहें तो जिसने एक (आत्मा) को जान लिया उसने सब (जगत्) को जान लिया—

जे एगं जाणइ, से सबं जाणइ ।

इस प्रकारका सम्यग्ज्ञानवान् ही 'लोकवादी'

और 'कर्मवादी' कहा जाता है। ऐसा ही ज्ञानी सदाचारि-अर्थात् सम्यक् चारित्रिका पालन करने वाला-होता है। सम्यग्दर्शनी और सम्यग्ज्ञानीका जो आचरण वही सम्यक् चारित्र है। ऐसे ही सम्यक् चारित्रि को क्रियावादी कहते हैं।

एवं सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्रवान् अथवा आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी, और क्रियावादी आत्मा ही इस जन्ममरणरूप तांतासे बनी हुई जगज्जाल स्वल्प जालसे लुटकारा पाकर मुक्त बन सकता है। वही आत्मा अजर, अमर, और अचल स्वरूपको प्राप्त कर सकता है—सच्चिदानन्द-पूर्ण बन सकता है।

जिस तरह निर्ग्रन्थ मुनीश्वरका यह प्रवचन परमार्थ-पारलौकिक रहस्यका उद्घोषक है, वैसे व्यावहारिक-द्वैलोक रहस्यका भी उद्घोषक है। इस प्रवचनमें कहीं गई पाँते जैसे आत्माके आंतर स्वरूपका विकास-क्रम प्रकट करती हैं, वैसे इस जगत्के मनुष्य, समाज और देशकी व्यावहारिक दशाका भी विशाल-क्रम प्रकटलाती हैं।

जो कोई मनुष्य, समाज और राष्ट्र 'सद्गता' (चिन्त्य) हीन हो कर अपने गतागत यानि भूत-भविष्यका विचार नहीं करता, वह यह नहीं जान सकता कि मरा भूतकाल कैसा था, वर्तमानमें क्या हालत है और भविष्यमें कैसी दशा होगी। उसे यह नहीं मालूम हो सकता कि, वह किस दशामें मनुष्यित हुआ है, किस दशामें विद्यमान है और किस दशामें जा कर लीन होगा। इस प्रकारका 'सद्गता'—मनुष्य, समाज और राष्ट्र भगवान्के मतसे अनात्मवादी है—अपनी हालतको न जानने वाला अज्ञान है। ऐसे अज्ञान मनुष्य, समाज या राष्ट्रको जगत् (लोक) की स्थितिका कुछ भी दान नहीं हो सकता और उसे कर्तव्य-कर्म (कर्म) का भी कुछ भान नहीं होता। इस तरह यह मनुष्य आदि फिर अन्तमें क्रियाशून्य-उद्यमहीन हो जाता है। यह अक्रियावादी बन जाता है। कर्मशून्य मनुष्य कभी उत्पत्ति नहीं प्राप्त कर सकता। उसकी प्रमत्ता अवस्था ही होती जाती है। और अन्तमें यह दशाको प्राप्त होता है।

इसके विपरीत जो मनुष्य, समाज और राष्ट्र 'सद्गता' यानि चिन्त्यवाला है और जो अपनी पूर्वापर दशाका विचार करता रहता है—भूत, भविष्य और वर्तमान अवस्थाको सोच करता है—वह आत्मदर्शी (आत्मवादी) कहलाता है। ऐसे आत्मदर्शी मनुष्य आदिकी जगत्की परिस्थितिका ठीक ठीक ज्ञान मिलता रहता है और कर्तव्यकर्मका भी उसे पूरा हाल मालूम होता रहता है। निर्ग्रन्थ प्रभु उसको लोकवादी और कर्मवादी कहते हैं। इस प्रकारके विचारवान् और ज्ञानवान् मनुष्य आदि अपनी उन्नतिके लिये क्रियाशील बनता है। क्रियाशील मनुष्य ही इच्छित सुख प्राप्त कर सकता है और दुःखोंसे मुक्त हो सकता है इसीलिये जैनधर्मका यह सुद्वादित्व है कि—

ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः ।

ज्ञान और क्रिया (चारित्र-आचरण) अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोग इन दोनोंके संयुक्त सामर्थ्यसे मोक्ष मिलता है।

भगवान् महावीर देवके प्रवचनका यह व्यावहारिक रहस्य जगत्के प्रत्येक व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और धर्मके लिये विचारणीय है। जैनधर्मका तो यह स्वकीय आधिष्ठातृ सिद्धान्त है, इसलिये उस के अनुयायी व्यक्ति और समाजका तो आदर्श ही इसकी विचारणा करनी चाहिए। जैन तत्त्वज्ञानके कथनानुसार कालका स्वरूप पदार्थमात्रके स्वरूप में परिवर्तन करनेका है। प्रत्येक वस्तुमें, कालके प्रभावसे प्रतिक्षण रूपान्तर होता रहता है। इस नियमानुसार, व्यावहारिक दृष्टिसे विचार किया जाय तो व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और धर्मके स्वरूपमें भी सदैव परिवर्तन-रूपान्तर हुआ ही करता है। जैनधर्म और जैन समाज भी इसी सनातन नियमके स्वाधीन हैं। रूपान्तर या परिवर्तन जो होता रहता है, वह अच्छा ही होता रहता है या बुरा ही होता रहता है, ऐसा कोई विनिश्चित नियम इस जगत्में नहीं देखा जाता। कभी अच्छाका रूपान्तर दुःखके रूपमें होता है, कभी बुरे का भय के रूपमें। कभी तत्पराय यानि भ्रमा का भ्रम ही होता है। परिवर्तनके अच्छे-बुरेका आधार देश, काल, मनुष्योंका आधार,

विचार, इत्यादि अनेक कारणोंके ऊपर निर्भर है। जो व्यक्ति आदि 'सद्गी' यानि विचारवान् है वह तो स देश-काल-कृत परिवर्तनकी दशाओंका निरंतर विचार किया करता है और समयानुसार उचित वृत्ति कर उन्नत होनेकी प्रगति करकेनी-बेड़ा तत्ता रहता है। इतिहास-शास्त्रका आविष्कार और अध्ययन-अध्यापन इसी लक्ष्यको लेकर प्रवर्तित हुआ है। इस शास्त्रके द्वारा जगतके धर्म, समाज और राष्ट्रोंका सूतकालीन स्वरूप ज्ञात हो सकता है और उससे वर्तमानिक दशाकी तुलना कर भविष्यद् दशाका अनुमान किया जा सकता है। इतिहासके अध्ययनसे प्रत्येक समाज, धर्म और राष्ट्र अपनी उन्नति-अवनातकी विचार कर सकता है और उसके कार्य-कारण-भावकी जान सकता है। इसलिये जगतका प्रत्येक सम्प और शिक्षित जन-समूह अपने अपने इतिहासके अन्वेषण और अध्ययनमें विशेष रूप से प्रवर्तित है। भारतवर्षमें भी अब इस विषयकी ओर शिक्षित मनुष्योंका लक्ष्य खींचा जा रहा है और दिन-प्रतिदिन इस विषयकी गवेषणा करनेवाले विद्वान् संख्यामें बढ़ते जाते हैं।

आज तक जो कुछ भारतवर्षके भूतकालके विषयमें लिखा हुआ है वह पश्चिमीय विद्वानोंहीके पश्चिमका फल है। इन विदेशी लेखकाका एक तो ध्येय ही जुदा था और दूसरी बात यह है कि उन्होने प्राचीन भारतका अवलोकन, वर्तमान भारतकी अद्यतन-दशाको आदर्श मानकर किया। इसलिये उनके लेखोंमें और विचारोंमें सायकी अपेक्षा संकुचितता अधिक है। सिवाय, उन्होंने भारतके इतिहासका आरंभ वहींसे माना है जहांसे उस के पतनकी शुरुआत हुई है। वास्तविकमें आर्य-वर्तकी उन्नत अवस्था का इतिहास अभी तक अंध-कार ही में विद्युत है। इसके उद्धारके प्रयत्न अब कहीं-कहीं होने लगे हैं।

जैन धर्म भारतवर्षका एक प्रधान-धर्म है। इस लिये समुच्चय भारतके इतिहासमें इसका भी बहुत घडा हिस्सा है। अतः इसके स्वतंत्र इतिहास के अन्वेषणकी भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी वैदिक और बौद्ध धर्मके इतिहासकी है। जैन धर्मके इतिहासाव्नेषणके बिना भारतका इतिहास बहुत अंशमें अपूर्ण ही रहेगा।

जैन इतिहासके अन्वेषणके लिये मुख्य क्षेत्र दो हैं—एक साहित्य और दूसरा स्थापत्य। जैन साहित्य प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कानडी, तामिल, तेलुगु, गुजराती, हिन्दी आदि जैसी भारतकी प्राचीन-अर्वाचीन सबही प्रधान प्रधान भाषाओंमें व्याप्त है, इसी तरह जैन स्थापत्य भी पंजाब, बंगाल, उड़ीसा, मद्रास, हैदराबाद, मन्हाड, कर्नाटक, मध्यभारत, युक्त प्रांत, मेवाड, मारवाड, मालवा, गुजरात, सिंध, कच्छ इत्यादि भारतके सब देशों और प्रदेशोंमें उपलब्ध है। इस प्रकार भारतवर्षीय वह भाषा-व्यापी जैन साहित्य और वह-प्रदेश-व्यापी जैन स्थापत्यको देखते हुए, इस बातका सहज अनुमान हो सकता है कि भूतकालमें जैन धर्मका भारत-वर्ष में कितना प्रभाव रहा होगा और उसका इतिहास कितना उज्जल होगा। यह हर्षकी बात है कि, भारत सरकारके पुरातत्त्व-विभागके द्वारा ब्राह्मण और बौद्ध स्थापत्यके साथ साथ जैन स्थापत्यका भी अन्वेषण-संरक्षणदि होता रहता है, और उक्त विभागके विवरणात्मक-पुस्तकों (रिपोर्टों) में तत्संबंधी ऐतिहासिक पर्यालोचन भी यथा-समय प्रकट होता रहता है। इस प्रकार कितने एक अंशमें जैन स्थापत्यके उद्धारका तो उद्घाटन हो रहा है, परन्तु, जैन साहित्यके बारेमें अभीतक कोई ऐसी महत्त्ववाली प्रवृत्तिका प्रारंभ कहीं नहीं हुआ है।

उसीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें कितने एक विद्या-विलासी और निष्पक्ष-अम्मासी जर्मन विद्वानोंने जैन साहित्यका कितनाका संशोधन-पर्यालोचन किया था, और उसके कारण जैन धर्मके विषयमें जो कितनीका भ्रान्तियाँ, कुछ पाश्चात्य और उनके अन्ध भक्तपणदेशीय विद्वानोंके बीचमें फैली हुई थीं, वे कई अंशोंमें निकल गईं। परन्तु, जैन समाजकी अज्ञानता और अकर्मण्यताके कारण न तो उन विद्वानोंको कुछ अपने कार्यों में उतेजक आश्वासन ही मिला और न प्राचीन और प्रतिष्ठित पुस्तकादि साधन ही मिले। इस लिये जैन साहित्यके विषयमें अभीतक विद्वानोंका कोई भी महत्त्व-दर्शक विचार ही प्रकट हुए हैं और न कोई जैन साहित्यके जिज्ञासु ही दिखाई देते हैं। संकटों ही विद्वानोंको तो अभीतक जैन साहित्य कितना और कैसा है इसकी कल्पना मात्र भी नहीं है।

भारतके भाष्याकाशमें, अब सौभाग्यके सूर्यका उदय होने लगा है और हज़ारों वर्षोंसे छाई हुई जड़ता (अंधकार) का नाश होने जा रहा है। भारतके संकटों ही सपुत आलस्यका त्याग कर कार्यक्षेत्रमें ऊठ खड़े हुए हैं और भावी अभ्युदयके साथ भूत-कालीन गौरवके उद्घाटनमें भी कई दत्ताचित हो रहे हैं। अनेक सज्जन भारतीय इतिहास और साहित्यके क्षेत्रमें उत्साहपूर्वक कार्य करने लगे हैं और इनमेंसे कोई कोई विद्वान् जैन साहित्यका परिचय प्राप्त करने के लिये भी उत्सुकता दिखाने लगे हैं।

इधर, जैन समाज भी कुछ कुछ जागृत हो रहा है और अपने साहित्यके संरक्षण और प्रकाशनकी तरफ लक्ष्य लगा रहा है। यद्यपि यह हथकी बात है, परंतु, जिनके नेतृत्वमें यह कार्य हो रहा है, उनमें एक तो विचार-संकुचितताकी मात्रा अधिक है और दूसरी बात यह है कि जैन के सिवाय बाहरके जगत-को उन्हें किंचित भी परिचय नहीं है—अथवा बहुत ही कम है। इसलिये वर्तमान में जो कुछ साहित्य जैसे जैसे छपकर प्रकट भी हो रहा है—और परिमाणमें वह है भी बहुत कुछ—तो भी अन्य विद्वानोंको उसका दर्शनमात्र भी नहीं होने पाता है। और इस प्रकार विद्वानोंके लिये जैन साहित्यके परिचय करनेका द्वार अभी तक बिलकुल बन्ध ही सा है। ऐसी स्थिति होनेसे, अब ऐसे एक साधनकी बहुत आवश्यकता है कि, जिसके द्वारा जैन साहित्यका, जिज्ञासु विद्वानोंको यथेष्ट परिचय मिलने के साथ विस्तृत स्वरूपभी मालूम होता रहे, और जैन विद्वानोंकी जगत् के अन्यान्य विद्वानोंके विचार, परिश्रम, अभ्यासादिकके साथ कतव्य की विशाका उपयुक्त ज्ञान भी मिलता रहे। इसी आवश्यकताकी किञ्चित् पूर्तिक लिये इस 'जैन साहित्य संशोधक' का जन्म दिया गया है।

आशा है, कि विज्ञा लेखक और पाठकगण इस साहित्य, समाज और अंशतः देश-स्वायत्त पवित्र कार्यमें सहभागी बन कर सबही यथाशक्ति अपने अपने योग्य कतव्यका पालन करेंग। तथारतु।

सिद्धसेन दिवाकर

और

स्वामी समन्तभद्र ।

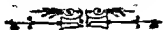
जैनधर्मके प्रमाणशास्त्रके मूल प्रतिष्ठापक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, और आतकी मीमांसा-द्वारा स्थाप्य (अनेकान्तवाद) का समर्थन करनेवाले स्वामी समन्तभद्र, दोनों जैनधर्मके महान् प्रभावक और समर्थ संरक्षक महात्मा हैं। इन दोनों महापुरुषोंकी कृतियोंके देखनेसे, इनके स्वभाव और प्रभावमें एक सविशेष समानता प्रतीत होती है। दोनोंहीन परमात्मा महावीरके सूक्ष्म सिद्धान्तोंका उत्तम स्थिरीकरण किया और भविष्यमें होनेवाले प्रतिपक्षियोंके कर्कश तर्कप्रहारसे जैनदर्शनकी अक्षुण्ण रखनेके लिये अमोघ-शक्तिशाली प्रमाण-शास्त्रका सुदृढ़ संकलन किया।

इन्हीं दोनों महापुरुषों द्वारा सुप्रतिष्ठित जैनतर्ककी मूल भित्तियाँ पर महवादी, अजितयशा, हरिभद्र, अकलंक, विद्यानन्द, माणिक्यनन्द, प्रसाचन्द्र, अमृतचन्द्र, अनन्तवीर्य, अभयदेव, शान्तिसूरि, जिनेश्वर, वादी देवसूरि, हेमचन्द्रसूरि, महिषेण, गुणरत्न, धर्मभूषण और यशोविजय आदि समर्थ जैन नैयायिकोंने बड़े बड़े तर्कमन्त्रोंके विशाल और दुर्गम दुर्गोंका निर्माण कर जैनधर्मके तात्त्विक साम्राज्यकी इतर बाड़ीरूप परचक्रके लिये अजय बनाया है।

हमें अभी तक यह पूर्णतया निश्चित ज्ञात नहीं हुआ है कि ये दोनों महापुरुष कब और किस संप्रदाय में हुए हैं, परंतु पूर्वपरंपरासे जो मान्यता बली आ रही है उसके आशयानुसार यह कह सकत हैं कि सिद्धसेन दिवाकर तो श्वेताम्बर-संप्रदायमें, विक्रमराजाके समयमें, और स्वामी समन्तभद्र दिगम्बर-संप्रदायमें, विक्रमकी दूसरी शाताब्दीमें हुए हैं।

→ सिद्धसेन दिवाकर । ←

दन्तकथाके कथनानुसार सिद्धसेन विक्रमराजाके-जिसके नामसे भारतवर्षका सुप्रसिद्ध सर्वव्यापी चलता है—गुरु थे। ऐतिहासिकोंने भी इस कथनमें कुछ तथ्य स्वीकार किया है और 'ज्योतिर्विद्वान्मरण' के



पुन्यन्तरिक्षपणकामरसिंहशब्द
बतालमट्ट पदसुपरकालिकासा ।

स्वामीं घराहमिहिरा नृपतेः सम्राणां
रत्नाभि वररुचिनेष विक्रमस्य ॥

इस लोकमें क्षपणक नामसे जिस व्यक्तिको, विक्रमराजाकी संभाके नी रत्नोमेंसे एक रत्न बतलाया है वह सिद्धसेन विवाकर ही होना चाहिये ऐसा अनुमान किया गया है । यहाँ पर हम इस कथनकी ऐतिहासिक सत्यासत्यताका विचार नहीं करना है, इसलिये इस विषयमें हम अपना कुछ भी अभिप्राय प्रकट करना नहीं चाहते । हमारे इस लेखका उद्देश्य केवल सिद्धसेन और समन्तभद्रकी परस्पर कुछ तुलना और उनके सामर्थ्यके बारेमें किञ्चित् वस्तुस्थिति प्रकट करना है ।

उपलब्ध जनवाङ्मयका सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण करनेसे पता लगता है कि सिद्धसेन पहले जैनदर्शनमें तर्कशास्त्रविषयक कोई स्वतंत्र सिद्धान्त प्रचलित नहीं था । उनके पूर्वमें प्रमाण-शास्त्रविषयक बातें केवल आगम-ग्रन्थोंहीमें अस्पष्ट रूपसे संकलित थीं, और उस समयतक उन बातोंका कुछ अधिक प्रयोजन भी नहीं था। सिद्धसेनसमयके पहलेका जमाना तर्क-प्रधान नहीं था किन्तु आगम-प्रधान था । आगम-पुस्तकका कथन मात्र ही तथ्यक सत्यथा शिरोधार्य समझा जाता था । जैनधर्मके सहज ब्राह्मण और बौद्धधर्मकी भी यही अवस्था थी । परंतु महर्षि गौतमके न्यायसूत्र के संकलनके बाद धीरे धीरे तर्कका जोर बढ़ने लगा और जहाँ जहाँ दर्शनात्मक विचारोंका समर्थन करनेके लिये स्वतंत्र सिद्धान्तोंकी रचना होनी लगी । लगभग उसी समयमें भगवान् गौतमयुद्धका साम्यवाद और मध्यममार्ग ब्राह्मणोंके कर्मचोलेल संन्यस्त हुए साधारण लोगोंमें अधिक आदर पाने लगा और थोड़ेही समयमें उसने संप्राप्तके सिंहासन तकका भी अपना अनुयायी बना लेनेकी महत्ता प्राप्त कर ली थी ।

इस प्रकार बौद्धधर्मके बढ़ते जाते प्रभावका देखकर कुछ मनस्वी ब्राह्मणोंने युद्धदेवके सरल और

धीमे साथे, तत्त्वज्ञानकी शुक्तिशून्य और प्राकृतजनमिय मान बतलानेके उद्योगका आरंभ किया । महर्षि गौतम उन्हें मनस्वी ब्राह्मणोंके नेता थे । शुद्धिमान भिक्षुओं (बौद्धधर्मियों) को जब इस उद्योगके रहस्यका पता लगा गया तब उन्होंने भी अपने आपके नामधारी गौतमसूक्तिक तर्कजालके फंदेमें न फँसनेकी सावधानीका उपाय बंदूना शुरू किया । केवल लोकहितकी दृष्टिसे प्रचलित लोकभाषणमें आचाल-गोपालकी घोष करनेके लिये रचे गये पाली-पिट्ठकके पारायणसे भिक्षुगणको जब तात्त्विक ब्राह्मणोंके तर्कप्रपञ्चका समाधान करनेमें समर्थ होते न देखा तब आये नागाजिन नामक प्रतिभावादी महाधर्मणन शून्यवादकी स्थापनाके लिये गूढ़ विचार-गोभीत-मध्यमावतारका प्रयत्न किया । जिस तर्कपद्धतिसे ब्राह्मण विद्वान् धर्मणोंके सरल विचारोंपर कठिन कटाक्ष किया करते थे धर्मण विद्वान् भी अब उसी पद्धतिसे अपने मायावाद के अदृश्य घाण ब्राह्मणोंके ऊपर चलाने लगे । इस प्रकार ब्राह्मण और बौद्ध विद्वानोंमें तर्कशास्त्रीय युद्ध बढ़ता गया और शीघ्र शीघ्र धर्मणसमूह इस विषय में अधिकाधिक उन्नति प्राप्त करता गया । उसमें आचार्य दिशान आदि बड़े बड़े न्यायविद् धर्मण उपज गये और उन्होंने शास्त्र्यसूत्र भगवान् युद्धके प्राकृतजनमिय सरल सिद्धान्तोंकी विद्वानोंके लिये भी साधारणतः दुर्गम तथा गूढ़ बना दिया और उनका गुंथो सुलझानेके लिये अपने प्रतिपादकोंके चिरकाल तक विवश किया ।

ब्राह्मणों और धर्मणोंके बीचमें होनेवाले इस वास्तविकी शब्दघात निजनेशनमें धर्मनवाले जैन निरन्यायोंके कानांतक भी जा पहुँचे । ध्यानमग्न निरन्याय इस ध्वनिके मतलबकी समझनाका प्रयत्न कर ही रहे थे कि हतनुम स्वयं शातपुत्र भगवान् महावीरके मोक्षमार्ग को उपहास सूचित करनेवाला शब्द भी उन्हें अस्फुट सीतसे सुनाई देने लगा । इस स्थितिका विचार कर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके ज्ञाता क्षपणक (जैन धर्मण या निरन्याय) भी अपनी शासनरक्षा का उपाय सोचने लगे । बौद्ध धर्मण शून्यवाद के सिद्धान्तकी जिस तर्कपद्धति द्वारा मंत्रल और व्यवस्थित बनाते हुए युद्धदेवके शासनकी स्थिर

देखा डॉ० सतीशचन्द्र विद्यावर्णनलिखित 'न्याय-प्रकार की श्रमिका तथा मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्रका इतिहास ।

बनाते जा रहे थे, उसी पद्धतिका आश्रय ले कर निर्ग्रन्थ क्षणकोंने भी 'स्याद्वाद' के सिद्धान्तको समर्थ और सुस्थित बनाकर महावीरदेवके शासनको अचल बनानेका निश्चय किया। उन्होंने सोचा कि पाली-पिटकोंके पारायण मात्रसे जिस प्रकार बौद्ध भ्रमण अपने शासनका संरक्षण करनेमें समर्थ नहीं हुए, उसी प्रकार प्राकृत आगमोंके प्रवचन मात्रसे जैन निर्ग्रन्थोंका 'मोक्षमार्ग' भी अब निर्भय नहीं रह सकता। इस लिये तर्कप्रधान प्रकरणग्रन्थोंका प्रणयन करना अत्यावश्यक है।

इन्हीं निर्ग्रन्थोंमेंसे, सबसे प्रथम आचार्य उमास्वाति (भी) ने तत्त्वार्थोधिगम सूत्रकी रचना कर समस्त जैनतत्त्वोंको एकत्र संगृहीत किया। अपने जीवनमें वे इस कार्यको पूर्ण करके पिछले प्रतिभाशाली क्षणकोंके लिये ऐसी सूचना कर गये कि इन संगृहीत जैनतत्त्वोंके अर्थ प्रमाण और नयके द्वारा निश्चित करने चाहिये—(प्रमाण नयैराधिगमः)। 'मोक्षशास्त्र' के रचयिता महापैकी इस अर्धपूर्ण सूचनाके महत्त्वको समझ कर जिन पिछले महामति क्षणकोंने इस दिशामें श्रयत्न करना शुरु किया और प्रमाण और नयकी व्यवस्था करनेके लिये नवीन शास्त्ररचना करनी शुरु की, सिद्धसेन दिवाकर उन्हीं सबके प्रधान अग्रणी हैं। उन्होंने ही सबसे पहले 'न्यायावतार' नामक तर्कप्रकरणकी रचना कर 'जैन प्रमाण' का पाया स्थिर किया और 'सम्मत प्रकरण' नामक महातर्कग्रन्थका प्रणयन कर 'नयवाद' का मूल ढ़ढ किया।

सिद्धसेन दिवाकरकी कृतियोंके अवलोकनसे मालूम पड़ता है कि ये बड़े स्पष्टभाषी और स्वतंत्र विचारके उपासक थे। प्रकृतिये वे बड़े तेजस्वी थे और प्रतिभासे 'श्रुतकेवली' थे। उनकी कृतियोंमें जो स्वतंत्र विचारकी झलक दिखाई दे रही है वह अन्य किसीकी भी कृतियोंमें नहीं। साक्षात् उनके ग्रन्थोंके देखनेसे, तथा पिछले ग्रंथकारोंने उनके विषयमें जो उल्लेख किये हैं उनके पढ़नेसे, ज्ञात होता है, कि जैनधर्मके कितने एक परंपरागत विचारोंसे सिद्धसेनके विचार भिन्नत्व रखते थे। पूर्वकालीन तथा समकालीन अन्यान्य जैन विद्वानोंके विचारोंमें और सिद्धसेनचरित्रके विचारोंमें परस्पर बहुत कुछ उल्लेख-योग्य मतभेद था। दिया-

करजी साक्षात् जैनसूत्रोंके-जैनागमोंके-कथनको भी अपनी तर्कबुद्धिकी कसौटीपर कसकर तदनुकूल उसका अर्थ किया करते थे। केवल पूर्वपरंपरासे चले आने अथवा पूर्वाचार्योंकी स्वीकृत होनेहीके कारण वे किसी सिद्धान्तको शिरोधार्य नहीं कर लेते थे। युक्तियुक्त बातहीका वे स्वीकार किया करते थे, चाहे वह पूर्वाचार्योंकी सम्मत हो या न हो।

जिस तरह वर्तमानमें बहुधा देखा जाता है कि कोई भी स्वतंत्र विचारक किसी भी पूर्वपरंपरासे चली आती हुई बातमें कुछ 'नलु नच' करता है, या उसके प्रतिफल कुछ अर्थ या अभिप्राय प्रदर्शित करता है, तो झट बहुतसे गतागतातिक और लकीरके फकीर बने हुए पण्डितमन्य महाशय एकदम चिढ़ा उठते हैं कि, 'यह बात तो शास्त्रविरुद्ध है, यह अभिप्राय तो परंपरा-प्रचलित अभिप्रायसे प्रतिकूल है।' उसीतरह शायद दियाकरजीके जमानेमें भी चलता रहा होगा। उनके कितने ही उद्गारोंसे मालूम पड़ता है कि जब कभी वे कोई पूर्वपरंपरासे अथवा पूर्वाचार्योंके मतसे भिन्नार्थक विचार प्रदर्शित करते होंगे सब बहुतसे पुराणप्रिय पण्डित उनके नवीन विचारका प्रतिषेध करते हुए यही दलील देते होंगे कि—'महाराज, आपके विचारतो पूर्वाचार्योंके विचारसे विरुद्ध जाते हैं, क्या आप पूर्वपुरुषोंसे अधिक ज्ञानवान् हैं, जो उनके कथनमें शंका उपस्थित करते हैं? क्या आपके जैसी शंका उनको नहीं करनी आती थी?' इत्यादि। ऐसे ही 'मृतरुद्धगीत्य' प्रिय पण्डितोंका मुख सुनित करने के लिये दिवाकरजीने एक द्वात्रिंश कानमें बड़ी ही मार्मिकताके साथ अपने हृदयका जोश प्रकट करते हुए निम्न श्लोक कहा है—

— ग्रंथसंख्याका जो एक प्रकरण होता है उसे द्वात्रिंशिका कहते हैं। कहा जाता है कि सिद्धसेन दिवाकरने ३२-३२ पद्योंवाली ऐसी ३२ द्वात्रिंशिकाएँ बनाई थीं। प्रसिद्ध ग्रंथ 'न्यायावतार' भी इन्हीं द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिकाओंमेंसे एक द्वात्रिंशिकास्वरूप है। वर्तमानमें ये सब ३२ ही द्वात्रिंशिकाएँ उपलब्ध नहीं होतीं। 'न्यायावतार' सहित कुल २१ द्वात्रिंशिकाएँ ही मिलती हैं। भावनगरकी 'जैनधर्मप्रसारक सभा' ने 'सिद्धसेन ग्रंथमाला' के नामसे इन द्वात्रिंशिकाओं और 'सम्मतप्रकरण'को मूल रूपमें छपा कर प्रकाश कर दिया है। सिद्धसेनचरित्रकी ये द्वात्रिंशिकाएँ बहुत ही सूक्ष्म और गभीरार्थक हैं। इनकी ऊपर ऊपरसे हमने कई

जनों उपमन्यव्य एतः पुरातनः
पुरातनैव समो भविष्यति ।
पुरातनैवित्यन्यत्र स्थितम्
कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य शोचयेत् ॥

इसका भावार्थ यह है । दिवाकरजी पुरातन-प्रियों को उद्दिष्ट करते कहते हैं कि, पुरातन पुरातन क्या पुकारा करते हैं, यह (मैं) ज्ञान भी मरने बाद, कुछ काल अनन्तर पुरातन हो जायगा और फिर अन्य पुरातनोंहीके समान इसकी भी गणना होने लगेगी ।

चार पढ़कर देखा परंतु मयका आशय स्पष्ट गतिमें बहुत कम समझमें आता है । अफसोस तो इस बातका है कि जैनधर्ममें हमारा ही बंध बंध प्रथकार और दोस्तरार हो गये हैं, परंतु किन्हीं भी इन द्वाविशिकाओंका अर्थ स्मृत करनेके लिये 'शब्दार्थमात्र प्रकाशिका' ब्याख्या भी लिखी हो ऐसा ज्ञात नहीं होता । इसका कारण हमारी समझमें नहीं आता । इन द्वाविशिकाओंकी अर्थार्थता और कताकी महत्ताका खयाल करते हैं, तब तो यह विचार आता है कि इनके ऊपर अनेक यातिक और बड़े बड़े ब्रह्मालंकार लिखे जाते चाहिये थे । और, 'न्यायावतार' के ऊपर ऐसे अनेक यातिक और ब्याख्यान लिखे भी गये हैं । फिर नहीं मालूम, क्यों इन मनुष्य के लिये ऐसे नहीं किया गया । शायद अतिप्राचीन होनेहीके कारण इसपर प्रकट करनेके लिये किसीकी हिम्मत न चली हो । योग्य और बहुश्रुत विद्वानोंके प्रति हमारा निवेदन है कि वे इनका अर्थ स्मृत करनेके लिये अवश्य परिश्रम करें । इन कृतियोंमें बहुत ही अदृष्ट विचार भरे हुए हैं । हमारे विचारमें जैनसाहित्य भरमें ऐसी अन्य अपूर्व कृतियां नहीं हैं ।

सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचंद्रने 'अन्ययोग्यवचन' और 'अयोग्यवचन' नामकी दो द्वाविशिकाएँ बनाई हैं (जिनमेंमें एकके ऊपर मल्लिकार्जुन 'स्वाध्यायमंजरी' नामक विद्वत्प्रिय उत्तम व्याख्या लिखी है) । वे इनकी अनुकरण हैं । स्वयं हेमचंद्रसूरिने अपनी प्रथम द्वाविशिकाके प्रारंभमें सिद्धेसनसूरिकी कृतियोंका महत्त्व बताना ही शुरू लिखा है कि—

‘हं सिद्धेसनस्तुतयो महाशो
अशिशितालापकला क चरा ।’

अर्थात्—सिद्धेसनसूरिकी बनाई हुई महाज्ञ अर्थवाली स्तुतिपर कहीं और अशिक्षित मनुष्यके आलाप जैसी मेरी यह रचना करी । इसी कथनसे ज्ञात हो जायगा कि सिद्धेसनसूरिकी ये स्तुतियाँ कौसी महत्त्ववाली हैं । इन बहुतसी द्वाविशिकाओंमें मुख्य कर जईन महाशरीरकी अनेक प्रकारसे स्तुतना की गई है, इन लिये इनकी स्तुतिपत्र कहते हैं, और अतएव बहुतसी जगह 'आह च स्तुतिकारः' ऐसा उद्गम सिद्धेसनसूरिके लिये किया गया है ।

अर्थात् मेरे बाद सब ही पुरातन माने जाते हैं । मला, ऐसी अनवस्थित पुरातनताके कारण कौन बुद्धिमान मनुष्य किसी प्रकारकी परीक्षा किये बिना, आँख मूंद कर, केवल पुरातनोंके नामहीसे चाहे जिस सिद्धान्तका स्वीकार कर लेंगा !

इसी तरह एक जगह और भी दिवाकरजीने पुराणप्रियोंके प्रति इस प्रकार स्पष्ट कहा है—

‘यदेव किञ्चिद्विषयमप्रकल्पितं-

पुरातनैकतमिति-प्रशस्यते ।

विनिश्चिताप्ययमनुष्यबाधकृति-

न पठते स्थितिमोह एव सः ॥

अर्थात् पुरातनोंने चाहे अयुक्त भी कहा हो तो भी उनके कथनकी तो प्रशंसा ही करते रहना और आज कलके-वर्तमानकालीन-मनुष्योंकी शुकित्वद्वारा सुनिश्चित विचारवाली भी बाणी (कृति) को पढ़ना तक नहीं ! यह केवल मूढ़ मनुष्योंका स्मृतिमोह है । अन्य कुछ भी नहीं ।

उनके ऐसे ही और भी अनेक लुभनेवाले उद्गार यद्यत्त इष्टिगोचर होते हैं । मालूम पड़ता है कि दिवाकरजीके ऐसे कोरे परंतु शुकित्वका जवाबोंकी सुनकर उनके विरोधी निरुत्तरित हो कर मन ही मनमें खूब चिन्तित रहते होंगे, और जिस तरह आजकलके पुराणप्रिय मनुष्य, जब स्वतंत्र विचारवाले किसी बुद्धिमान विचारकके विचारोंका समाधान नहीं कर सकते तब अपने भक्तों सामने अपनी प्रातिष्ठा कायम रखनेके लिये, नवीन विचारोंपर नास्तिकताका आरोप करके उनका उपेक्षा करने-करानेका नाटक करते-

१ सिद्धेसनसूरिका यह उद्गार उनके समकालीन और महाशक्ति महाकावे कालिदासके मालविकाग्निमित्रके—

‘पुराणमित्येव न साधु सर्वं

न चापि कार्यं नवमित्यवयम् ।

मन्तः परीक्षायान्तरज्ज्ञानेन

गूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥’

इन उद्गारके साथ कितनी अप्समता रसता है ! महाकवि कालिदास और सिद्धेसन दिवाकर दोनों महाराज वीरविक्रमादित्यकी राजसभाके उज्ज्वल रत्न थे । मालूम पड़ता है दोनोंकी बालौकिक प्रतिभा और लोकान्तर कृतियोंने उन समयके पुराणप्रिय पण्डितोंके ईर्ष्यादुहृदया बना दिए होंगे, और अतएव वे सर्वे साधारणमें पुरातनताके बहाने इनके गौरवमें न्यूनता लानेकी व्यर्थ चेष्टायें किया करते होंगे । शायद ऐसे ही ईर्ष्यादग्ध विद्वग्धोंकी मोनघत दिलानेके लिये इन समयके उरुधोंकी ये उद्गार निकालने पड़े होंगे ।

कराते दिखाई देते हैं, इसी तरह, उस पुराणे जमानेमें भी यही हाल चलता रहा होगा और अत एव, शायद विवाकरजीने निम्नालिखित मर्मवचन बड़े मजाकके साथ कहा होगा:—

‘ परेय जातस्य किलाप युक्तिमद्
पुरातनानां किल दोषबद्धवः ।
किमेव जाल्मः कृत इत्युपेक्षितुं
प्रपञ्चनायास्य जनस्य संस्पति ॥ ’

अर्थात्—‘ कलह जन्मे हुएके वचन तो आज युक्तिमत् वृत्तिये जाते हैं और पुरातन पुरुषोंके दोष-वाले मति जाते हैं । अकसास, इससे अधिक और क्या सूक्ष्मता हो सकती है? ऐसे बोलनेवाले जालिम मनुष्योंकी तो उपेक्षा ही कनी चाहिये । उनके सुधारनेके लिये और कोई दूसरा उपाय नहीं है । ’ इस प्रकारके उद्गार निकालकर ‘ उपेक्षा करनेका ’ ढोंग रचनेवाले पुराणभूमियोंका विवाकरजी कहते हैं कि, यही छुशीकी बात है—आपकी इस उपेक्षासे हमको तो लाभ ही होगा । क्या कि हमारे विचारोंका प्रतिरोध करनेवाला कोई न निकलनसे उन्ना तो और खूब प्रसार ही होगा ।

विद्व पाठक विवाकरजीके इन उद्गारों को पढ़ कर उनकी विचारस्वतंत्रता और तर्कप्रवणता का बहुत कुछ अनुमान कर सकेंगे । ऐसे स्वतंत्र और निर्भीक उद्गार जैसा साहित्यमें तो क्या समग्र संस्कृत-साहित्यमें भी मिलने मुश्किल हैं ।

सिद्धसेन विवाकरका जैनागमोंके रुढ़ अभिप्राय से भिन्न-विचारवाला एक सिद्धान्त जैन-(श्वेता-म्बर) साहित्यमें बहुत प्रसिद्ध और बहु-विचिंत है । यह सिद्धान्त केवलज्ञान और केवलदर्शनके स्वरूपके साथ सम्बन्ध रखता है । पाठकोंकी इस सिद्धान्तका पूरा परिचय करानेके लिये यहाँ पर अवकाश नहीं है, तो भी संक्षेपसे सूचनमात्र अवश्य कर देना चाहते हैं ।

श्वेताम्बर संप्रदायमें जो सिद्धान्त ग्रन्थ (सूत्रग्रन्थ) विद्यमान हैं, उनमें, केवली (सर्वज्ञ) को केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों, युगपत् यानि एक साथ नहीं होते परंतु क्रमशः—एक दफह केवलज्ञान और एक दफह केवलदर्शन, इस प्रकार वारी वारी से—होगे

का उल्लेख किया हुआ है । अर्थात्, एक क्षण (जैन पारिभाषिक शब्द समय) में केवलज्ञान रहता है और दूसरे क्षणमें केवलदर्शन । इसी तरह प्रतिक्षण क्रमशः केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वरूप केवलीका उपयोग परिवर्तित हुआ करता है । सिद्धसेनस्वरिको यह विचार सम्मत नहीं है । वे इस विचारमें युक्ति-संगतता नहीं समझते । तर्क और युक्ति से वे इस मान्यताको अयुक्त सिद्ध करते हैं । उनके विचारसे केवलीको केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों युगपत्—एक ही साथ होना युक्तिसंगत है । और वास्तविकमें, अन्तमें वे फिर इन दोनोंमें परस्पर कोई भेद ही नहीं मानते—दोनोंको एक ही बतलाते हैं । इस विचारका उन्होंने अपने ‘सम्मतिप्रकरण’ में खूब ऊहापोह किया है । सिद्धसेनजीके इस विचारभेदके कारण उस समयके सिद्धान्त-ग्रन्थ-पाठी और आगमभक्ति-प्रवण आचार्यगण उनकी ‘तर्कभ्रम्य’ जैसे तिरस्कार-व्यक्त विरोधगणोंसे अलंकृत कर, उनके प्रति अपना सामान्य अनादर-भाष प्रकट किया करते थे । सिद्धसेनजीके बाद सिद्धान्तग्रन्थपाठी आचार्योंमें जिन-भद्रगणी क्षेनाश्रमण नामके एक बहुत समय प्रति-भावान् आचार्य हुए । उन्हें ने जनसूत्रोंके विस्तारित रस्यको संकलित करनेके लिये ‘विशेषावश्यकभाष्य’ नामक महान् ग्रन्थकी रचना की । इस भाष्य में क्षेनाश्रमणजीने विवाकरजीके उक्त विचारभेदका खूब ही खण्डन किया है और उनको आगम-विरुद्ध-भाषी बतला कर उनके सिद्धान्तको अमान्य बतलाया है । ‘तत्त्वार्थसूत्र’ ऊपर बृहद्व्याख्या लिखनेवाले विवाकरजी ही के नामधारी सिद्धसेन गर्णानि भी ‘एकादोने मान्याने युगपदेकस्मिन्ना चतुर्वर्गः ॥ १-३१ ॥’ इस सूत्रकी व्याख्यामें विवाकरजीके विचारभेद ऊपर अपने ठीक-प्रमाण चलाये हैं । गणीजीके कुछ वाक्य देखिए—

१ यह भाष्य, मलपारी आचार्य हेमचंद्र विरचित बृहत्पञ्चाव्यासके साथ काशीकी यशोविनयग्रंथमालामें गु-द्रित हुआ है ।

२ श्वेताम्बर संप्रदायमें तत्त्वार्थसूत्रपर यही एक प्रसिद्ध और मोह टीका है । यह टीका भाष्यके ऊपर लिखी गई है । ऐतिहासिक दृष्टिसे, तत्त्वार्थसूत्रकी दिग्गम्बर श्वेताम्बर संप्रदायकी अन्य सब टीकाओंमें इस टीकाका महत्त्व अधिक है । इस विषयमें हम कभी विस्तारके साथ लिखेंगे ।

“यैव किंचित् पठितुमन्याः सूत्राण्यन्यथाकारम-
यमाचक्षते तत्केवलानुविद्धसूत्रयो वारंवारिणोपयोगो नास्ति,
नतु न प्रमाणायाम्; पत आत्मायै श्रूयते सूत्राणि वारंवार-
जोपयोगं प्रतिपादयन्ति ।”

जिनभद्रगणी क्षमाधमण और सिद्धसेनगणी
आदि दिवाकरजीके विचारभेदमें केवल आगम-
प्रामाण्यकी दृष्टीलके सिवा और कुछ नहीं कह सके।
युक्तिसे वे भी दिवाकरजीके विचारके कायल होते
थे, परंतु अन्तमें यही कह कर वे छूट जाते थे कि
युक्ति और तर्कसे चाहे जो सिद्ध होता हो परंतु
आगम-लिखित उल्लेखोंके विरुद्ध-विचारकी हम कभी
नहीं आदर दे सकते। सिद्धसेनगणी लिखते हैं कि-
“स्वमनीयिका सिद्धान्तविरोधिनी न प्रमाणम्, त्वष्टु-
रपेक्षे !...” न चाप्यथा जिनवचनं कर्तुं शक्यते तु वि-
पापीति ।”

मालूम पड़ता है इस प्रकारकी तर्क प्रियताके
कारण ही विछल जैन साहित्यमें दिवाकरजी ‘ता-
र्किक’ के नामसे प्रसिद्ध रहे हैं।

[यद्युत्तसे पाठक यह नहीं जानते होंगे कि श्वेता-
म्बर आचार्योंके इस विशिष्ट मतभेदके बारेमें दिगम्बर
आचार्योंका क्या मत है। उनके लिये हम यहाँ पर
यह नोट कर देते हैं कि, दिगम्बर साहित्यमें इस बारेमें
एक ही सिद्धान्त उल्लिखित है और यह सिद्धसेन
दिवाकरका सिद्धान्त है। अर्थात् दिगम्बराचार्योंको
दिवाकरजी ही का मत मान्य है। दिगम्बर ग्रन्थोंमें
सर्वत्र केवलज्ञानीको ज्ञान और दर्शन दोनों सुगुप्त
लिखे हुए हैं। उनमें श्वेताम्बर-आगमोंके मुताबिक

‘जुगवं दो णत्थि ओगा’

अर्थात्-एक साथ दो उपयोग नहीं होते-यह वि-
चार कहीं देखनेमें नहीं आता। इतना ही नहीं बल्कि
‘तत्त्वार्थराजयार्तिक’ में, भट्ट अकलंकदेवने

‘केवाल-श्रुत-सहस्र-धर्म-देवावर्णवादी दर्शनमोहस्य’
(६-१२) इस सूत्रकी व्याख्यामें

‘विण्डात्मवहारजीविनः, केवलदर्शान्तिहरणाः, अला-
पाप्रवृत्तिहाः कालभेदज्ञानदर्शनतः, केवलिनः इत्यादि
वचनं केवलसंघर्षवादाः ।

ऐसा उल्लेख कर, श्वेताम्बरोंकी, केवलीकी कय-
लाहार माननेकी जो दिगम्बर-मत-विरुद्ध दूसरी
प्रसिद्ध मान्यता है, उसीकी तरह, इस क्रमोपयोग-

वादकी मान्यताकी भी, केवलज्ञानीकी अवर्णवाद
स्वरूप वतलाकर दर्शनमोह कर्मके बन्धका कारण
बतलाया है। अकलंकदेवके इस कथनके विरुद्ध
श्वेताम्बर, विद्वान् सिद्धसेनगणीने इसी सूत्रकी
व्याख्यामें।

“दिगम्बरत्वाद्विगतत्रयाः, क्रमोपयोगभाजः”, सम-
सर्जनभाववत्कल्पन्यारम्भादुभौदितः, सर्वोपायविपुला अ-
प्यति दुष्कररूपरमागोपदेशिनः, इत्यायवर्णोद्भासनात् ।”

इस प्रकार उल्लेख कर, केवलज्ञानीकी क्रमशः ज्ञान
दर्शन होनेवाले मत (विचार) में युक्ति-रहितता
मानने या प्रतिपादन करनेवालोंके विचारकी दर्शन
मोहकर्मके बन्धका कारण बतलाया है।]

सिद्धसेनसृष्टिके लिये एक यह भी किम्बदन्ती
प्रचलित है कि, इन्होंने एक दफत जैन श्रमणसंघके
सामने यह विचार प्रदर्शित किया था कि, ‘जैनागम
ग्रंथ’ जो प्राकृतभाषामें बने हुए हैं इसलिये विद्वानोंका
उनके प्रति विशेष आदर नहीं होता-विदग्धगण
उन्हें ग्रामीण भाषाके ग्रन्थ समझकर उनका अवलोकन
नहीं करते-इस लिये यदि श्रमण-गण अनुमति दे तो
मैं उन्हें संस्कृतभाषामें परिवर्तित कर देना चाहता
हूँ। दिवाकरजीके इन विचारोंकी सुन कर श्रमण-संघ
एकदम चीक उठा और ‘मिच्छामि दुक्कटं’ का
उच्चारण करता हुआ, इनसे कहने लगा कि,
‘महाराज, इस अर्कतव्य विचारकी अपने हृदयमें
स्थान देकर आपने तीर्थंकर, गणधर और जिन-प्रवचन
की महती ‘आशातना’ (अवज्ञा) की है। ऐसं
कटुप्रति विचार करनेके, और श्रमण-संघ के सामने
ऐसे उद्गार निकालनेके कारण, जैन शास्त्रानुसार,
आप ‘संघब्राह्म’ के मुद्गङ्गकी शिक्षा पानेके अधि-
कारी हुए हैं। दिवाकरजी संघके इस कथनकी सुन-
कर चकित हो गये और अपने सरल विचारसे
भी संघको इतनी अमीति हुई इसलिये उनकी घडा
खेद हुआ। संघसे तुरन्त उन्होंने क्षमा-प्रार्थना की
और जो प्रायश्चित्त दिये जाने योग्य हो उसे देनेकी
विज्ञाति की। कहा जाता है कि संघने उन्हें ‘शास्त्रा-
नुसार बारह वर्षके ‘बहिष्कृत’ रूपमें रहनेका ‘पारा-
श्रित’ नामक प्रायश्चित्त दिया, जिसे दिवाकरजीने
सादर स्वीकार कर संघज्ञाका पालन किया। प्राय-
श्चित्तकी मर्यादा पूर्ण हो जाने पर संघने उनको पुनः

अपने अंदर सामिलकर पूर्ववत् उनका संस्कार किया । इस किम्वदन्तीमें कितना तथ्यांश है उसका विचार हम यहां पर नहीं करना चाहते, केवल इतना कह देना चाहते हैं कि इस रूपकमें कुछ न कुछ ऐतिहासिक सत्य गर्भित अवश्य है । ऊपर जो हमने थोड़ासा इनके विचार-स्वातंत्र्य और स्पष्ट-भाषित्वका परिचय दिया है, उससे यह जाना जा सकता है कि, यदि जैनगामोंके सम्बन्धमें इन्होंने ऐसी कोई बात श्रमणसंघके सामने प्रदर्शित की हो अथवा कृतिरूपसे उपस्थित कर दी हो कि जिससे पुराणप्रिय और आगमप्रणय श्रमण-वर्गकी बड़ा असंतोष हुआ हो, तो, उसमें कोई अस्मयता नहीं है ।

तत्कालीन श्रमणसंघमें अथवा कुछ काल तक पंडित भी आगमवादीसी सिद्धान्तिकोंमें सिद्धसेनसूरिके प्रति आदरभाव अल्परूपमें भले ही जाग्रत रहा हो, परंतु पर्यादिव्यंके किये जानेवाले प्रचण्ड आक्रमणसे जैनशासनकी रक्षा करनेके लिये प्रमाण और नय-यांवके प्रबलप्रतिष्ठान सिद्धान्तोंकी स्थापनारूप जिस दुर्गम-नृगंके मूलको ये दृढ़ बना गये, इस लिये उनका अनुगामी और पश्चाद्गती सब ही समर्थ जैन विद्वानोंने उनका बड़े गौरवके साथ स्मरण किया है । महातार्किक, आचार्य मलवाधीन सम्मति-प्रकरण उपर टीकां लिख कर उनके प्रति अपनी उत्तम भक्ति प्रकट की । जैनधर्मके अनन्यसाधारण और अनतिम तत्त्वज्ञ आचार्य हरिभद्रने तो उन्हें साक्षात् 'श्रुतकेवली' लिख कर उनका अनुपम आदर किया है । तत्पश्चात् महात्मा सिद्धार्थने न्यायावतार ऊपर व्याख्या लिख कर, तर्कप्रज्ञानन अभयदेवसू-

१ यह टीका अभीतक कहीं उपलब्ध नहीं हुई है । ४-५ सौ वर्ष पहले की बनी हुई एक ग्रन्थमूलि हमारे पास है उसमें इस टीकाका नाम लिखा हुआ मौजूद है ।

२ देखो, 'पद्मवस्तु' ग्रन्थका निम्न लिखित भाषा-संग्रह

भण्डि प्रसंगित अम्हाण काम्मवायो षो इहो ।

जो सहाववाओ सुअकेयलिणा जओ भणिअ ॥

आयरिय-सिद्धसेणेण सम्मईए पइहिअ-जसेण ।

इसमणिसादिवापर-कयत्तपओ तदक्खेण ॥

देवकालेन संयुहीत हस्तलिखित पु. प्र. ३३१.

३ यह व्याख्या पाटणकी 'हेमचन्द्राचार्य जैनसभा' की ओरसे उपकर प्रकाशित हुई है । इस व्याख्याके ऊपर

रिने 'सम्मतिप्रकरण' पर २५ हजार श्लोक प्रमाण विस्तृत और प्रौढ टीकां बना कर, ज्ञान्याचार्य और जिनेश्वरसूरिने 'न्यायावतार' के सटीक वार्तिक रच कर, सिद्धसेनसूरिके, जैनतर्कशास्त्र विषयक सूत्रधारत्वका सगौरव समर्थन किया है । प्रचण्ड तार्किक वादी देवसूरिने उन्हें अपना मार्गदर्शक बतलाया है, और सर्वत्रस्वतंत्र आचार्य हेमचंद्रने उनकी कृतियोंके सामने अपनी विद्वन्मनोरंजक कृतियोंको भी 'अशिक्षितालापकला' वाली बतलाई हैं ।

जिस तरह श्वेताम्बर संप्रदायके प्रसिद्ध आचार्योंने सिद्धसेन विचारककी प्रशंसा की है वैसे विजय-स्वर संप्रदायके सूरिचरोंने भी उनके विषयमें श्रुति-परक उद्गार प्रकट कर, संशुचित गौरव किया है ।

हरिवंश पुराणके कर्ता महाकवि जिनसेन सूरि (प्रथम) ने, अपने पुराणरूप महाकाव्य की प्रस्तावनामें समन्तभद्रादि बड़े बड़े प्रभावका आचार्यों का स्मरणीय उल्लेख करते हुए सिद्धसेनसूरिका भी—उनकी स्मृतियों की प्रशंसा द्वारा—सादर स्मरण किया है । यथा—

राजशेखर सूरिका बनाया हुआ सेदित 'टिप्पनक' भी है ।

१ इस टीकाका थोड़ासा प्रारंभिक भाग काशीकी 'पञ्चविजयजैनग्रन्थमाला' में प्रकाशित हुआ है । संपूर्ण ग्रंथ अभीतक नहीं छपा ।

२ जिनेश्वरसूरिके वार्तिकका नाम, 'प्रमालक्षण' है और यह केवल न्यायावतार सूत्रके आदिम श्लोकका विस्तार स्वरूप है । इस ग्रन्थके विषयमें विशेष ज्ञानके लिये, देखो जेनाहितोपी मासिकपत्र के भाग १२, संख्या १, में मुद्रित हमारा 'प्रमालक्षण' शीर्षक लेख । यह ग्रंथ अमहाबादके सेठ मनसुखभाई भट्टभाई ने छपवा कर प्रकट किया है ।

३ ज्ञान्याचार्यका वार्तिक भी जिनेश्वरसूरिके वार्तिक की तरह न्यायावतारके प्रथम श्लोककी व्याख्यारूप है । इसका नाम 'प्रमाण कलिका' है । यह काशी के पंडित पत्रमें वै. विठलशास्त्री द्वारा संशोधित हो कर प्रकाशित हुआ है, परंतु इतना अशुद्ध छपा है कि निम्न एक पृष्ठ भी शुद्ध पढ़ना-समझना कठिन है ।

४ देखो, 'न्यायावतारनाकर' के प्रारंभमें निम्न गत श्लोक

श्रीसिद्धसेन-हरिभद्रमुखाः प्रतिज्ञा-

स्तु सुरयो मयि भवन्तु कृतपासादाः ।

येषां विसृज्य सततं विविधात् विनम्राद्

शार्ङ्गं चिकीर्षति तनुप्रतिभोऽपि मातृक ॥

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्यैव निस्तुपाः ।

बोधयान्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥

इसी तरह आदिपुरुषाणके कर्ता महाकवि जैन-सेनाचार्य (द्वितीय) ने भी अपने महापुरुषाणके प्रारम्भमें निम्न लिखित श्लोक द्वारा सिद्धसेन सूरि-के पाण्डित्यकी प्रशंसाका उल्लेख कर उनके प्रति अपना आदर-भाव प्रकाशित किया है ।—

प्रवादिकरियुथानां केशरी नयकेशरः ।

सिद्धसेनकविर्जीयाद् विकल्पनखराड्कुरः ॥

भट्ट-अकलंक देवके ग्रन्थोंमें भी सिद्धसेन सूरि-के वचन प्रमाणतया उद्धृत किये हुए दिखाई देते हैं । इससे उनकी प्रामाणिकताका पूरा परिचय मिल जाता है और जैन धर्मके दोनों संप्रदायोंमें उनकी प्रतिष्ठा एकदमसे स्वीकृत की गई है यह स्पष्ट जाना जा सकता है ।

लक्ष्मीभद्र नामक दिगम्बर विद्वानके वनार्ये हुए एकान्त खण्डन नामक ग्रन्थमें

अनेकान्तलक्ष्मीविद्यासाऽऽशासाः सिद्धसेनार्याम-
सिद्धिं प्रत्यपादयन्

‘असिद्धं सिद्धसेनस्य.....’

‘निर्वायेकान्तवदेतिर्बुधततिमहितः

सिद्धसेनो ह्यसिद्धयः ।

इत्यादि प्रकारके उल्लेखों द्वारा, सिद्धसेनसूरिका समन्तभद्रादिक आचार्योंके साथ हेतुके स्वरूप-विषयक विचार-विरोधका आदर युक्त वर्णन किया हुआ है, और इस प्रकार ‘समन्तभद्रादिकके

१ तत्सार्थ राजवार्तिकके ८वें अध्यायके १ म सूत्रके १७ वें वार्तिकमें, सिद्धसेन सूरिका, यथम ह्यभिनिश्चिन्तात् निम्न विहितं मुपसिद्धं पद्य उद्धृत किया हुआ है ।

सुमिथिनं नः परतन्त्रयुक्तिषु

स्फुण्वि याः काथनं सूक्तसंघटनं

तदेव ताः पूर्वमहोर्णवोदियता

जगत्प्रमाणं निनवाकयविमुचः ॥

यह पद्य और भी अनेकानेक संस्कारों द्वारा यथ तत्र उद्धृत किया हुआ दृष्टिगोचर होता है । इस पद्यगत विचार सिद्धसेनसूरिके मौलिक विचार हैं ।

समान ही उनकी प्रामाणिकता स्वीकृत की गई है ।

सिद्धसेनसूरिके बारेमें लिखे गये इन ऊपर्युक्त विचारोंके अवलोकनसे विश्व पाठक जान सकेंगे कि जैन धर्मके समर्थक आचार्योंमें उनका कितना ऊंचा आसन है और पिछले लेखकों द्वारा वे कितने सतृप्त हुए हैं ।

स्वामी समन्तभद्र ।

अब हम कुछ हाल सिद्धसेनसूरि ही के समानासनासीन स्वामी समन्तभद्रके बारेमें निवेदन करना चाहते हैं ।

श्वेताम्बर साहित्यमें जो स्थान सिद्धसेन विचारोंके मिला है वही स्थान दिगम्बर साहित्यमें स्वामी समन्तभद्रको प्राप्त है । श्वेताम्बर संप्रदायके तर्कशास्त्र-विषयक साहित्य ऊपर जितना प्रभाव सिद्धसेनसूरिकी कृतियोंका पड़ा है, उतना ही प्रभाव दिगम्बर संप्रदायके तद्विषयक प्राङ्मय ऊपर स्वामी समन्तभद्रकी कृतियोंका पड़ा है । जिस तरह श्वेताम्बर साहित्यमें सिद्धसेनके पूर्व कालीन कोई सतंत्र तर्क-विषयक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, वैसे ही दिगम्बर साहित्यमें समन्तभद्रके पूर्वका वैसा कोई ग्रन्थ नहीं है । श्वेताम्बर संप्रदायमें संस्कृत भाषाके पचासमक प्रांठ ग्रंथोंके प्रथम प्रणेता जैसे सिद्धसेन हैं, वैसे ही दिगम्बर संप्रदायमें समन्तभद्र हैं । इन दोनों विद्वानोंके पहले, दोनों संप्रदायोंमें संस्कृत भाषाका विरोध अभ्यास और आदर नहीं था । तब तक जैन श्रमणोंमें प्राकृत भाषा ही का प्रभुत्व था । श्रमणोंके अभ्यासोंके विषय भी बहुत नहीं थे । जिस तरह, वर्तमानमें श्वेताम्बर संप्रदायकी स्थानकवासि (हुंदिया) नामक शाखाके साधुओंमें बहुत धा देखा जाता है कि उनमें केवल मूल-सूत्रोंका पाठ कंदस्थ कर लेनेके तथा सारा दिन बैठे बैठे वह पाठ मान पढ़ते-पूजते रहनेके सिवा, न कोई सूत्रोंके अर्थका विशेष

१ इस विचार-विरोधके स्पष्टीकरणके लिये किसी अगले अंकमें हम एक आधा छोटासा लेख लिखना चाहते हैं । पाठक तब ही ध्यान पूर्वक इस विषयको पढ़ें । पहा पर तो सिर्फ सूचन मात्र कर दिया गया है ।

विचार किया जाता है और न कोई व्याकरण, काव्य कौपादिका अस्यास्त किया जाता है, उसी तरह शायद उस पुराणे जमानेके बहुतसे श्रमणोंका हाल रहा होगा सम्मतिर्कके अन्तमें, सिद्धसेनसूरिने 'तन्हा आहि गयसुत्तेण अत्थसंपायणमि जइअवं।' इत्यादि प्रकारका जो उल्लेख किया है और सूत्र (मूलपाठ) के साथ अर्थसंपादन करनेमें भी यत्नियोंको यत्न करना चाहिए, ऐसा जो उपदेश दिया है, उससे हमारे इस विचारकी पुष्टि होती है। अर्थ-परिज्ञानके सिवाय, और व्याकरण, काव्य, कौप, आदिक सर्व-साधारण ज्ञानके सिवाय मनुष्यको न तत्वबोध हो सकता है और न वह दूसरोंको करा सकता है। सर्व-साधारण परिज्ञानके उक्त सब साधन भारतवर्षमें प्राचीन कालसे एकमात्र संस्कृत भाषा ही में उपलब्ध होते हैं। वर्तमानमें अंग्रेजीकी तरह प्राचीनकालमें संस्कृत ही विद्वानोंके व्यवहारकी मुख्य भाषा थी। इस लिये जैनश्रमणोंको बहुश और विशिष्ट विद्वान् बनानेके लिये संस्कृत भाषाके अध्ययन-अध्यापनकी आवश्यकता थी। यह आवश्यकता तब ही पूरी हो सकती है जब उत्तम और प्रौढ़ विचार के ग्रंथ इस भाषामें बनाये गये हों और जिनके सीखनेकी श्रमणोंको खास जरूरत मालूम होती हो। इस लिये सिद्धसेन दिवाकरने संस्कृत ही में अपने प्रौढ़ और गंभीर विचार लिखिबद्ध करने शुरू किये। परंतु, जैन श्रमणोंमें संस्कृतका नया ही प्रवेश था, इस लिये, जैसे वर्तमानमें इंग्रेजी भाषाके देशी विद्वानोंको अपने विशिष्ट विचार इंग्रेजी ही में व्यक्त करना अधिक पसंद होने पर भी, स्वदेशनिवासी सर्वसाधारण जनसमूहको, अपने विचारोंका परिचय करानेके लिये मातृभाषामें भी कुछ थोड़ा-बहुत लिखना पड़ता है; वैसे ही शायद सिद्धसेनसूरिको, (यहां पर सिद्धसेनको लक्ष्य कर यह कथन लिख रहे हैं, इसलिये प्रधानतः उनका ही अिकर करना पड़ता है, परंतु यह बात इस प्रकारके अन्य विद्वानोंके लिये भी समझ लेनी चाहिए) संस्कृत भाषा ही में लिखना विशेष प्रिय होने पर भी, सभी श्रमणोंको अपने

मौलिक अतएव नवीन विचारोंका परिचय कराने के लिये, श्रमण-समूहकी साधारण और प्रिय भाषा जो उस समय प्राकृत थी, उसमें भी कुछ लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। 'सम्मतिप्रकरण' का प्राकृत भाषा में होना हमारे इस अनुमान का विशिष्ट कारण है। ऐसा न होता तो फिर, वैसा प्रौढ़ और तर्क-प्रवण ग्रंथ संस्कृत भाषाके अत्यंत अनुरागी और महाकावि हो कर भी वे प्राकृत जैसी सरल और साधारण भाषामें क्यों लिखते !

समन्तभद्र स्वामीने प्राकृत भाषामें कोई ग्रंथ-रचना की है या नहीं, इस का कुछ पता नहीं लग सकता। परंतु उनके नामसे जितने ग्रंथ वर्तमानमें प्रचलित और प्रसिद्ध हैं—और उन को उन्हीं की कृति माननेमें कोई विशेष सन्देह-जनक कारण भी नहीं है—उनके विषयका विचार करने से प्रतीत होता है कि उन्होंने प्राकृतमें कोई रचना नहीं की होगी। 'रत्नकरण्डक आधकाचार' का विषय प्राकृतमें गूँये जानेके योग्य था। ऐसे धर्म-तत्त्व-प्रतिपादक ग्रंथ, जैन साहित्यमें संस्कृतकी अपेक्षा प्राकृत ही में अधिक उपलब्ध हैं, और समाजको प्रिय भी इसी भाषाके ग्रंथ अधिक हो सकते हैं। क्यों कि अज्ञान-बालक-बालिकायें और भ्रष्टमति स्त्रियें भी उन्हें सरलतापूर्वक पढ़ सकती हैं। श्वेताम्बर संप्रदायमें तो बहुत अर्वाचीन काल-तक भी ऐसे ग्रंथ प्राकृत ही में लिखे गये हैं। रत्नकरण्डकका दिगम्बर संप्रदायमें सभी श्री-पुरुष पाठ पढ़ते-सुनते रहते हैं, इस लिये संस्कृतकी अपेक्षा यह ग्रंथ प्राकृत में होता तो लोगोंको और भी अधिक सुगम और सरल पड़ता। परंतु हमारे विचारसे, दिगम्बरवाच्योंमें, स्वामी कुन्दकुन्दके बाद, प्राकृत भाषा ऊपरसे बिलकुल प्रेम ऊठ गया था। और उसके ऊठ जानेमें मुख्य कारण स्वामी समन्तभद्रका संस्कृत-प्रेम और उनकी उसीमें रची गई सब कृतियें हैं। समन्तभद्रकी देखादेखी पिछले प्रायः सब ही दिगम्बर विद्वान्, विशेष कर संस्कृत ही में ग्रंथ-रचना करते रहे हैं। अस्तु। हमारे इस लिखनेका मतलब यही है कि, सिद्ध-

सेन और समन्तभद्र दोनों जैन समाजमें संस्कृत-भाषा के विशिष्ट लेखक और प्रचारक थे ।

हम ऊपर सूचित कर आये हैं कि सिद्धसेनके पूर्व ही में बौद्ध और ब्राह्मणों के बीचमें तर्क युद्ध की शुरुआत हो चुकी थी, और इसलिये बौद्ध भ्रमणों को पाली भाषाके प्रवाहमेंसे निकलकर संस्कृतके स्रोतमें दाखल होना पड़ा था और ब्राह्मणोंके समान ही तर्क-विषयक साहित्यका संगठन कर भगवान् गौतम बुद्धके शासनका संरक्षण करनेमेंवे कटि-युद्ध हो रहे थे । उन बौद्ध भ्रमणोंका प्रभाव जैन निग्रन्थों पर बहुत असर कारक पड़ा और उनकी अपने कार्य में सफल होते देख जैन निग्रन्थोंने भी उसी मार्गका अनुसरण करना शुरू किया ।

बौद्धोंके साथ वाद-विवाद करते हुए ब्राह्मणों की दृष्टि, शनैः शनैः बौद्धों ही के समान बहुतसे आचार-विचार रखनेवाले और अतएव ब्राह्मण-पंचस्य का चिनिपात करनेवाले जैन निग्रन्थोंके, शान्त परंतु स्थिर भावसे यद्धते जाते सामर्थ्य और लोकीप्रियत्व ऊपर भी पड़ने लगी । यद्यपि जैन निग्रन्थ उस समय अपना प्रशमरसपरिपूर्ण जीवन केवल निर्जन-घनोंमें घूमते और धर्मध्यानमें मग्न रहते ही बिताते थे । उन्हें अपना अनुरक्त-वर्ग यद्वा-नेका या सप्पटोके गुप्त यन्त्रिका कोई लोभ नहीं था । जनसमूहके विशेष संसर्गसे वे दूर दूर रहते थे । इसलिये ब्राह्मणोंको अपनी आज्ञाविका और लोकप्रतिष्ठामें उनकी तरफसे किसी विशेष आघात के आनेकी आशंका करनेका अधिक कारण नहीं था । तथापि, बौद्ध भ्रमणोंकी जनहितकर प्रवृत्ति और सेवाभावनासे आकर्षित हो कर लोकमत दिन प्रतिदिन जो उनका अनुरक्त होता जाता था और ब्राह्मणोंके प्रति जो शिथिलादर होता जाता था, इसके कारण मनस्वी ब्राह्मणोंकी सात्त्विक वृत्ति तमःप्रधान बन गई थी । इस कारणसे, उन्होंने अनात्मवादी बुद्धानुरागियोंके साथ साथ परम आत्मवादी निग्रन्थानुयायियोंको भी 'नास्तिक' 'नास्तिक' कह कह कर परमात्मा भगवान् महावीर के मोक्षमार्गका तिरस्कार करना शुरू कर दिया था । और इस प्रकार मुमुक्षु आत्माओंके कल्याणके

मार्गमें फाट्टे बिछा कर उन्हें मार्ग भ्रष्ट करनेके प्रयत्नका प्रारंभ किया गया था । समाधिशील निग्रन्थोंको, अपने मौनधर्मका इस प्रकार विपर्यास और दुरुपयोग होते देख जगत्के कल्याणार्थ और परमपुरुष महावीरके मोक्षमार्गका सत्यत्व स्थापनार्थ, मौनधर्मका त्याग करना पड़ा; और फिर बौद्ध भिक्षुओंकी तरह वे भी जन सहवासमें आ कर, वाद-विवादके युद्ध-क्षेत्रमें उपस्थित हो कर, अपने प्रतिपक्षियोंका मुकाबला करने लगे । ऐसे ही एक विवाद-क्षेत्रमें, वृद्धवादा नामक निग्रन्थों-चार्यके साथ वाद करते हुए चतुर्दशविद्यापारंगत ब्राह्मणकुल-भूषण सिद्धसेन पराजित हुए थे, और 'जो मुझे शास्त्रवादमें पराजित करे उसका मैं शिष्य बनूंगा', ऐसी गविष्ट प्रतिज्ञा करनेवाले चिन्तान्मत् परंतु शून्य-प्रतिज्ञाका पूर्ण निर्वोह करने जितना दृढ़ मनोबल रखनेके कारण सत्य-प्रतिज्ञा सिद्धसेनको अपने विजेता आचार्यके पास निग्रन्थ-दीक्षा ले कर 'ब्राह्मणघर' से 'भ्रमणघर' होना पड़ा था ।

सिद्धसेनके उद्गारोंसे पता लगता है कि उस समय निग्रन्थोंकी सरल वाद-पद्धति और आकर्षक शक्तिवृत्तिका लोगों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था । निग्रन्थ अकेले-दूकले ही ऐसे स्थलों पर जा पहुंचते थे, और ब्राह्मणादि परवादों विस्तृत-शिष्य समूह और जनसमुदायके सहित राजसी ठाट-माट के साथ पेश आते थे, तो भी जो यश निग्रन्थोंकी मिलता था वह उन्नत प्रतिवादियोंको अप्राप्य था । यह बात स्वयं सिद्धसेनसूरने, महावीर स्तुतिरूप प्रथम द्वाविशिकामें इस प्रकार प्रकट की है:—

अलब्धनिष्ठाः प्रसमिद्धचेतसः—

स्तव प्रशिष्या प्रथयन्ति यवशः ।

न नावदप्येकसमूहसंहताः

प्रकाशयेयुः परवादिपार्थिवाः ॥

इस कथनसे उस समयकी लोकचर्चाका भी पता लगता है कि लोक ब्राह्मणोंके जल्पावितण्डापरिपूर्ण शुष्कवाद और कर्मकाण्डके प्रपंचसे कितने

ऊय गये थे और शांतिपूर्ण सात्विक मार्गके कितने उत्सुक बन गये थे । अस्तु !

सिद्धसेन निर्ग्रन्थ-वीक्षा लेनेके पहले सर्व-शास्त्र-पारंगत विद्वान् ब्राह्मण थे यह बात ऊपर सूचित की जा चुकी है । इस लिये निर्ग्रन्थ बनते ही उन्होंने अपनी सर्वज्ञकल्प शास्त्र-शताका, जैन तत्त्वोंको न्यायसंगत बनानेमें और स्याद्वादके सिद्धान्तको नय और प्रमाण द्वारा सुव्यवस्थित बनाने में, पूरा उपयोग किया । ब्राह्मणवर्ग अपने प्रतिपक्षियों पर जो 'नास्तिकता' का कुत्सित आरोप कर सर्व साधारण-में मिथ्याभ्रान्ति फैलानेका उद्योग किये करता था उसका प्रतिपाद और निराकरण करनेके लिये, तथा यथार्थमें आत्म-पुरुष कौन है, और किसका सिद्धान्त स्वीकरणीय होना चाहिये, इस विषयका उद्घाटन करनेके लिये, सिद्धसेनने बड़े गभीर और उच्च विचारवाले भिन्न भिन्न दृष्टिसे अनेक प्रकरण लिखे । ये वैही प्रकरण हैं जिनका जिकर हम ऊपर द्वाविंशद् द्वात्रिंशिकाओंके नामसे कर आये हैं । इन प्रकरणोंमें उन्होंने अपने पक्षका समर्थन और परपक्षका निरसन इतनी उत्तमता, इतनी मार्मिकता और इतनी गभीरता के साथ किया है कि जिनको पद कर सहृदय विद्वानोंको काव्यका, तर्कशास्त्रका और सत्यके साक्षात्कारका एक साथ ही आनंद था सकता है । यह एक विचारणीय और ऐतिहासिक सत्य है कि, ब्राह्मणों के धर्मस्वका और कर्ममार्गका विरोध करनेवाले रुग्ण, महावीर, मातमबुद्ध आदि क्षत्रिय-वीर ही हैं और अध्यात्म मार्गकी गर्वणता कर जगत्को उसका उपदेश देनेवाले भी एक मात्र वे ही हैं परंतु इन क्षत्रिय धर्म-प्रवर्तकोंके सिद्धान्तोंको संगत, सुस्थित और सुप्रचलित करनेवाले फिर वेही ब्राह्मण ही हैं । भागवत, जैन और बौद्ध धर्मके समर्थ लेखक और आचार्योंकी जातिकी तरफ दृष्टि करते हैं तो अधिकांश ब्राह्मण जाति ही के ऐसे सरस्वती-वर-लब्ध पुत्र उत्पन्न किये हुए दिखाई देते हैं । निःसंशय ब्राह्मण जातिने जगत्के आत्मानका नाश करनेमें सर्वाधिक श्रेष्ठ कार्य किया है । और इसी

कार्यके लिये यदि वह जगत्के ऊपर अपने पूज्यत्वका अधिकार सर्वेवके लिये रखे तो उसमें उसको कोई अनुचितता नहीं है ।

सिद्धसेन सूरिके बाद, दिगम्बर संप्रदायमें, उनके ही जैसे प्रतिभाशाली और प्रतापवान् आचार्य स्वामी समन्तभद्र हुए । समन्तभद्रके समयका अनुमान किया जाय ऐसा कोई भी विशिष्ट प्रमाण अर्थात्क उपलब्ध नहीं हुआ है, और न कोई वैसी विश्वसनीय जीवनकथा ही उनके बारेमें दृष्टिगोचर होती है । इस लिये वे कय हुए इस बारे में कुछ भी नहीं कह सकते । दिगम्बर पट्टाध-लियोंको गणनानुसार विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें उनका अस्तित्व बताया जाता है । हमने इस विषयमें अर्थात्क कुछ भी विशेष विचार नहीं किया है । हम जो कुछ ऊपर ऊपरसे अनुमान कर सके हैं उसका सार इतना ही है कि सिद्धसेनके बाद थोड़े ही समयमें समन्तभद्र हुए होंगे । इन दोनों की लेखनीयता, विचारशीली और भाषाशीली यह कह मिलती जुलती है । भेद है तो केवल इतना ही है कि सिद्धसेनकी कृतियोंमें गूढ़ता अधिक है और समन्तभद्रकी कृतियों में स्पष्टार्थता ।

इन दोनों आचार्योंके जीवनवृत्तांत-सर्वधर्मों जो दंतकथायें पिछले जैनप्रयोगोंमें देखी जाती हैं उनमें भी लगभग एक ही बात, कुछ थोड़ेसे फेरफारके साथ, कहा हुई है । सिद्धसेनके बारेमें लिखा हुआ है कि, उन्होंने अचन्ती (उज्जैनी) के राजा विक्रमादित्यके अत्याग्रह करनेसे, वहाँके जगत्प्रसिद्ध महाकालेश्वरकी स्तुति करनी शुरू की जिसके प्रभावको महाकालेश्वरका महालिंग सहन न कर सकनेके कारण उसके टुकड़े टुकड़े हो गये और फिर उसमेंसे जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथकी मूर्ति प्रकट हुई । इससे राजा बड़ा आश्चर्यचकित हुआ और सिद्धसेनके पादतलमें मस्तक रख कर उनको अपना गुरु बनाया ।

इधर, समन्तभद्रकी कथामें भी इसके जैसी ही बात लिखी मिलती है । उन्होंने वाराणसी (काशी) के राजा शिवकोटिके आग्रह करने पर वहाँ के चिन्मयविष्णुत विम्बेश्वर महादेवकी जय स्तवन करनी

प्रारंभ की तो उसके सामर्थ्यसे विभोवरका महा-
लिंग फट कर उसमेंसे चतुर्मुख जैनमूर्ति प्रकट
हुई । समन्तभद्रके इस प्रभावसे सुग्ध हो कर वह
राजा उनका शिष्य बन गया ।।

मालूम नहीं इन दंतकथाओंमें कितना तथ्य है ।
इन्के आकार-प्रकारसे तो विद्वानोंको ऐसाही भास
हो सकता है कि केवल इन आचार्योंकी महिमा
बढ़ाने के लिये ये कथायें मनगढ़न्त बना ली गई हैं,
और सिद्धसेनकी कथा ही में कुछ नाम परिवर्तन
कर समन्तभद्रको भी लागू कर दी गई है । परन्तु
संभव है कि इनमें कुछ ऐतिहासिक सत्यांश भी
हो । सिद्धसेनने अवन्तीकी और समन्तभद्रने
वैदर्शकी ब्राह्मण-परिपद्धि—जिस तरह न्यायाचार्य
यशोविजयजीने काशीकी विद्वत्सभामें विजय प्राप्त
किया था वैसे—दार्शनिक वाद-विवाद कर विजय
प्राप्त किया हो, और उसके स्मरणार्थ
उन उन स्थानोंमें जैन मंदिरोंको प्रतिष्ठा
करवा कर जैन धर्मका मूल जयजयकार
करवाया हो । ऐसी बातें समय समय पर अनेक
जगह होती रही हैं, इस लिये सिद्धसेन और
समन्तभद्रके समयमें भी ऐसी ही कोई बात बनी
हो और उसीको लेकर ऊपर्युक्त दंतकथा—अर्द्धसत्य-
मिश्रित होकर—प्रचलित हो गई हो, तो उसमें कोई
असंभवनीयता नहीं है । अवन्ती और वाराणसी
ये दोनों नगरियां प्राचीन कालसे ब्राह्मणोंकी राज-
धानियांसी बनी हुई हैं । उस समयमें जितने बड़े बड़े
दिग्गज विद्वान् हुवा करते थे वे अवश्य इन क्षेत्रोंकी
यात्रा किया करते थे और वहांके विद्वत्समाजोंमें
मिश्र मिश्र विषयोंपर शालाध्य कर अपने पाण्डि-
त्यका प्रमाण भव तथा थियजपताका प्राप्त कर उत-
र-हूँ होते थे । सिद्धसेन और समन्तभद्र दोनों बड़े
प्रखर वाग्मयी और प्रचण्ड वादी थे इसमें तो कोई
सन्देह ही नहीं है । उनकी ऐसी प्रसिद्धि तब ही
हो सकी होगी जब उन्होंने अवन्ती और वारा-
णसी जैसी सरस्वतीके धरपुत्रोंकी वासमुदीमें
जा कर वहांके दिग्गज विद्वानोंके साथ दा-
कार्य कर महती प्रतिष्ठा प्राप्त की होगी ।

इसलिये इन दंतकथाओंमें कुछ सत्यांश अवश्य
होना चाहिये, ऐसा अनुमान करनेकी तरफ हमारी
चिन्तवृत्ति सहज खींची जाती है ।

सिद्धसेन और समन्तभद्र दोनों महाकाव्य और
महावादी थे । उनका महाकावित्व तो उनकी चिरं-
जीव कृतियोंमें स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा है और
महावादित्वका अनुमान उनकी कृतियोंमें कूट कूट
कर भरे हुए पाण्डित्यको देख कर सहज किया जा
सकता है । इन प्रवादिकर-किशोरियोंने अपने
जोवनमें कहां कहां पर किन किन विद्वानोंके साथ
वाद-विवाद कर दिग्विजयिपना प्राप्त किया
था इसके जाननेका कोई साधन नहीं है । सिद्ध-
सेनकी कथाओंमें, उनके मालव देशमें विचरण
के साथ दक्षिण देशमें विचरण करनेका भी उल्लेख
किया हुआ है, इस लिये इन देशोंमें तो उनके
पाण्डित्यके प्रकाश-किरण सर्वत्र अवश्य फैले ही
होंगे । अन्य देशोंके विषयमें कुछ नहीं कह सकते ।
समन्तभद्रके दिग्विजयका क्षेत्र बहुत विस्तृत है ।
दक्षिणके प्रसिद्ध दिग्गम्वर जैन तीर्थस्थल अरण्यबेल
गोलाके विन्ध्यगिरि पर्वत ऊपर एक मन्दिरमें
'महिषेण प्रशस्ति' नामका एक बहुत बड़ा शिला-
लेख है । इस लेखमें समन्तभद्रके पारिचायक कुछ
प्राचीन एवं उत्कीर्णित हैं जिनमेंसे निम्न लिखित
पर्यमें उनके दिग्विजय-क्षेत्रका अच्छा उल्लेख
किया हुआ है ।—

एवं पाटलिपुत्रमध्यगरे भेरी मया ताडिता
पञ्चमालवसिन्धुप्रकविर्षे कान्चनपुरे वैशिसे ।
प्राप्तोऽहं कराटके बहुभटे दिग्योक्तं सट्टम्
बादार्थी विचारम्यहं नरपते शार्ङ्गलविकीर्तितम् ॥

इस पर्यमें समन्तभद्र को स्वयं अपने मुखसे
किसी एक राजाकी सभामें यह बात कहते हुए ब-
ताये गये हैं कि, उन्होंने कौनसे कौनसे दे-
शोंमें वाद-विवाद कर विजयपताका प्राप्त की है ।
पदका अर्थ इस प्रकार है :—

और 'व्याख्यानवाचस्पति' अपने आपको बड़े पाठ्य
के साथ कहलते फिरते हैं, वैसे घूट उस जमानेमें नहीं होते
थे । और यदि कोई मूख ऐसा करनेका साहस कर भी लेता
तो सीसे की दिन लोग उसके दंड-कर्मचाल छेन कर, लंगोटी-
भर पछिछूट कर देते थे ।

“पहले मैंने यादलीपुत्र नगर (पटना) में यादकी भेरी बजाई, फिर मालवा, सिन्धु देश, दक्ष (दक्का-बंगाल), काञ्चीपुर और चेदिश (मिलसेके आसपासका देश) में भेरी बजाई। और अब यंड विद्वान् वीरोंसे भरे हुए इस करहाटक (कराड, जिला सतारा) नगरकी प्राप्ति हुआ है। इस प्रकार हे राजन्, मैं वाद करनेके लिये सिंहके समान इतस्ततः क्रीडा करता फिरता हूँ”

इस उल्लेखसे जाना जाता है कि समन्तभद्र स्वामी भारतके पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण; सबही षण्णोंमें घूमे थे और सब देशोंके विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ कर जैनधर्मकी विजय-दुन्दुभि बजवाई थी।

समन्तभद्र स्वामीकी कृतियोंके देखनेसे पता लगता है कि सिद्धसेनसूरिने अपनी कृतियोंमें जो बात संक्षेपसे सूचित की है, समन्तभद्रने उसीको व्यवस्थितरूपमें विस्तारके साथ वर्णन की है। सिद्धसेन अपने ग्रंथमें प्रमाण और नयेके लक्षण स्थिर मात्र कर गये थे; समन्तभद्रने अपने ग्रंथमें उनके अनुसार मीमांसा कर उन्हें सफल, संगत और सिद्ध कर दिखाये। सिद्धसेनने आत्म-पुरुषके बारेमें संक्षिप्त और प्रकीर्ण विचार प्रदर्शित किये थे; समन्तभद्रने उन्हीं विचारोंको विस्तृत और क्रमबद्ध रूपमें प्रथित कर संपूर्णरूपसे आत्मकी मीमांसा की। इस प्रकार, सिद्धसेनने जैन धर्मके तत्त्वज्ञानकी अंकुरित होनेमें जलसि-धनका काम किया; तो समन्तभद्रने उसकी श्वच्छंद और निर्भय रीतिसे ऊँचे घटनेमें कांटोंकी बाड़का काम किया। इन्हीं दो महापुरुषोंके सुप्र-यत्न और स्तुत्य जीवनसे जैनदर्शन सजीवन रहा और इन्हीं के वताये हुए मार्गका अवलंबन कर, पिछले समर्थ आचार्यों (जिनमेंसे कितने एकके नाम हम इस लेखके प्रारंभमें लिख आये हैं) उसी सूत्र पद्धति किया।

सिद्धसेनसूरि की कृतियोंके समान समन्तभद्राचार्यकी कृतियोंका भी, पिछले आचार्योंने बड़ा मौरव किया। उनपर संक्षिप्त और विस्तृत ऐसे अनेक भाष्य-टीका आदि लिख कर उनकी मूख

प्रतिष्ठा बढ़ाई। समन्तभद्रकी कृतियोंमें सबसे अधिक मान ‘आत्ममीमांसाको’ मिला है। यह दिख-नेमें ११४ श्लोकोंका एक छोटासा ग्रंथ मादुम देता है, पर इसका गंभीर्य इतना है कि, इसपर संकड़ी-हजारों श्लोकोंवाले बड़े बड़े गहन भाष्य-विवरण आदि लिखे जाने पर भी विद्वानोंको यह दुर्गम्यसा दिखाई देता है।

सबसे पहले इसपर महान् तार्किक भद्र अक-लेक देवने अष्टशती (आठ सौ श्लोक परिमाणवा-ला) नामका अल्पाक्षर और बह्वर्थवाला नंभीर भाष्य लिखा। इस भाष्यके ऊपर प्रचण्ड विद्वान् आचार्य विश्वानन्दीने अष्टसहस्री (आठ हजार श्लोक प्रमाण) नामक विशद व्याख्या बनाई। समुच्चय संस्कृत साहित्यमें, निम्न भिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों-विचारोंकी आलोचना-प्रत्यालोचना करनेवाला यह एक महान् और प्रौढ ग्रंथरत्न है। इसमें ब्राह्मण और बौद्ध धर्मके सब ही तात्त्विक संप्रदायोंके तत्त्व-विचारोंका बड़ा मार्मिक और युक्तिपूर्ण पद्धतिसे खण्डन-मण्डन किया गया है। और अन्तमें जैन धर्मका स्याद्वाद-सिद्धान्त कित-ना प्रमाणयुक्त और अखण्डनीय है, यह विचार बड़े गौरवके साथ सिद्ध किया गया है।

इस ग्रंथकी महत्ताका पता इतने ही से लग जायगा कि, श्वेताम्बर संप्रदायके महान् नैयायिक और समर्थ ग्रंथकार उपाध्याय यशोधिरज जैसे पूर्ण संप्रदायिक विद्वान्ने भी, इस कृतिके गंभीर-यत्ने मुग्ध हो कर, इस पर, मूल ग्रंथके जितनी ही श्लोक प्रमाण (अर्थात् आठ हजार श्लोकवाली) और उसनी ही प्रौढ टिप्पणी लिखी है। और इस

१ आकलन निवासी खंड नाथारणजी गान्धीने पं. वंशी-धरजी साहूद्वारा संशोधित करवा कर जो अष्टप्रहरी ‘उप-वाद’ है उसके साथ यदि यशोधिरजजीकी यह टिप्पणी भी (टिप्पणी क्या टीकाकी भी टीका) टाका दी जाती तो ‘ओमेने मुग्ध’ आ जाती। हमें इस बातका पता नहीं लगा कि काशी बंशीधरजीने अपनी अष्टप्रहरीकी भूमिकामें इस महनी टिप्पणीका नामोल्लेख तक क्यों नहीं किया। क्या उन्हें इसका अस्तित्व मादुम नहीं था अथवा अन्य किसी कारणसे वेग नहीं कर सके ?

प्रकार 'अष्टसहस्री' को 'षोडशसहस्री' बना कर उसके महत्त्वको द्विगुणित कर दिया है। संपूर्ण जैन साहित्यमें यही एक ऐसा ग्रंथ है, जिस पर, दूसरे संप्रदायके एक ऐसे विद्वान्ने व्याख्या लिखी है, जो योग्यतामें मूल कर्तासे रच्योभर भी न्यून नहीं हो कर, सर्वथा संप्रदायिक-भावका पूर्ण समर्थक था ।

समन्तभद्र स्वामीके इन महान् टीकाकारोंके सिवा जिनसेन, वादीभस्तिह, वीरनन्दी, शुभचन्द्राचार्य इत्यादि अन्यान्य सभी प्रसिद्ध प्रसिद्ध दिग्गजर ग्रंथकारोंने भी उनके कवित्व, वाग्मिव और पाण्डित्यकी भूरि भूरि प्रशंसा और स्तुति की है । और सभीने उनको जैन धर्मका एक महान् संरक्षक और समर्थक रूपमें स्वीकृत किया है ।

राष्ट्रकूट वंशीय प्रतापी नृपति महाराजा अमोघ-वर्षके परमगुरु और सुप्रसिद्ध महापुराण आदिपुराणके कर्ता मंशकावि जिनसेनने अपने पुराणकी प्रस्तावनामें स्वामी समन्तभद्रकी प्रशंसा करते हुए निम्नगत उद्गार प्रकट किये हैं—

नमः समन्तभद्राय महते कविधेयसे ।

यद्वचोतज्जपातेन निर्मिताः कुमताद्रयः ॥

कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि ।

यशः सामन्तभद्रार्थं भूर्धनं भूडामणीयते ॥

हरिवंश महापुराणके प्रणेता जिनसेन (प्रथम) ने भी स्वकीय पुराणके प्रारम्भमें समन्तभद्रके वचनको भगवान् महावीरके वचनतुल्य लिखा है । यथा—

जीवसिद्धि विधायिह कृतप्रमत्तनुशासनम् ।

वचः समन्तभद्रस्य वीरसेव विजृम्भते ॥

गद्यचिन्तामणि नामक सुप्रसिद्ध गद्यकाव्यके रचयिता महाकवि वादीभस्तिहने समन्तभद्रके वचनस्वरूप वज्रपातके कारण परवार्दीरूप करोड़ों पर्वत चूरचूर हो गये वतलाये हैं । यथा—

सस्वतीसैरविहारमृगयः

समन्तभद्रममृता मुनीश्वराः ।

जपन्तु वाग्जनिपातपाटित-

प्रतीपराहान्तमहीभक्रोडयः ॥

अध्यात्मज्ञानके समुद्रस्वरूप शानार्णव ग्रन्थके

निर्माता आत्मशानी शुभचन्द्रने समन्तभद्रके कृति-स्वरूप सूर्यके सम्मुख अपनी कृतिको खद्योततुल्य उपहासपात्र लिख कर समन्तभद्रके वचनोंकी महत्ता प्रकट की है —

समन्तभद्रादिकवीन्द्रमास्वतां

सुरान्ति यत्रामलसुखतरश्मयः ।

व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां

न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥

चन्द्रप्रभचरितके कर्ता महाकवि वीरनन्दीने, मोतियोंके बने हुए हारसे कंठको विभूषित करना दुर्लभ नहीं है, परन्तु समन्तभद्रके वचनरूप मुक्ता-फलसे गुंथे हुए काव्यस्वरूप हारसे कंठको अलंकृत करना परम दुर्लभ वतलाया है—

गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका

नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता ।

न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा

समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥

इसी प्रकार और भी अनेकानेक ग्रन्थकारोंने विविध प्रकारसे समन्तभद्र स्वामीकी स्तचना और प्रशंसा की है । इतना गौरव शायद ही अन्य किसी आचार्यका किया गया हो ।

* * *

दिग्गजर विद्वानोंने तो समन्तभद्र स्वामीको इस प्रकार आपना प्रमाणभूत पुरुष माना ही है परन्तु श्वेतांबर विद्वानोंने भी उनकी प्रामाणिका-प्रगण्यताका खुले दिलसे स्वीकार किया है । हरिभद्र, वादी देव, हेमचन्द्र और मलयगिरि जैसे श्वेताम्बरशिरोमणि सूरियोंने भी प्रसंगोपात्त उनकी कृतिका उद्धृत या अवतरण कर उन्हें एक प्रमाणभूत पुरुषकी कोटिमें स्थान दिया है । हरिभद्रसूरिने उनको 'वादिमुख्य' के महत्त्व-सूचक विशेषणसे सम्शोधित किया है और अनेकान्त-जयपताकामें निम्न लिखित दो श्लोक इनके नामसे उद्धृत किये हैं । यथा—

आह च वादिमुख्यः समन्तभद्रः—

‘बोधोऽस्य चेच्छब्दस्य न स्यादन्यत्र तच्छ्रुतिः।

यद्बोद्धारं परित्यज्य न बोधोऽन्यत्र गच्छति ॥

न च स्यात्प्रत्ययो लोके यः श्रोत्रा न प्रतीयते।

शब्दभेदेन सत्येवं सर्वैः स्यात्परचित्तवत्* ॥

अनेकान्तत्रयपताका पृ. ४३ (अपवादार्थ)।

आचार्यवर्य हेमचंद्रने अपने सिद्धहेमशब्दानु-
शासन नामक व्याकरणके प्रारंभमें, दूसरे सूत्रकी
व्याख्यामें ‘स्तुतिकारोऽप्याह’ ऐसा उल्लेख कर
निम्न गत स्तुतिपद्य उद्धृत किया है जो इन्हीं सम-
न्तभद्र स्वामीका बनाया हुआ है और बृहत्सव्यम्भू
स्तोत्रमें उपलब्ध होता है। पद्य यह है—

नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे

रसोपविद्धा इव लोहधातवः।

१ ‘समन्तभद्र’ यह नाम टीकामें लिखा है, जो इयं
ग्रंथकार ही की बनाई हुई है। मूलमें केवल ‘वादिमुख्य’
विशेषण ही का उल्लेख है।

* शान्तिभाष्यमें विरचित प्रमाणश्लोका और वादी देवसुरि
रचित श्वाभद्रादरशान्तरमे भी ये दोनों श्लोक समन्तभद्रके
नामसे अवतारित हैं। जहाँ तक हम जान सके, समन्त
भद्रकी उपलब्ध कृतियोंमेंसे किसीमें भी ये श्लोक नहीं
पाये जाते। इस लिये, यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि स्वा-
मीकी केवल इतनी ही कृतियें नहीं हैं जो अभी तक जानी
गई हैं। इनके सिवा, और भी कृतियें ऐसी चाहिए जो
अद्यापि अज्ञात या अप्राप्य हैं।

भवन्मभिप्रेतफला यतस्ततो

भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥

यही पद्य मलयगिरिसूरिने आवश्यकसूत्रकी
अपनी अपूर्ण टीकामें, ‘आयस्तुतिकारोऽप्याह’—
आय—प्रथम स्तुतिकार भी कहते हैं—ऐसा उल्लेख
कर, उद्धृत किया है। इस उल्लेखसे स्पष्ट जाना
जाता है कि ये प्रसिद्ध स्तुतिकार माने जाते थे इत-
ना ही नहीं परंतु आय—सबसे पहले होने वाले—
स्तुतिकारका मान प्राप्त थे। हारिमद्रादि श्वेताम्बरप्रणी
आचार्योंने सिद्धसेन दिवाकरको भी वादिमुख्य
और स्तुतिकारके विशेषणोंसे उल्लिखित किया है,
और उपर्युक्त प्रमाणानुसार समन्तभद्र स्वामिकों
भी इन्हीं विशेषणोंसे अलंकृत किया है। इससे
यही अनुमान हो सकता है कि श्वेताम्बरोंकी दृष्टि-
में सिद्धसेन और समन्तभद्र दोनों समान पुण्य
और समान सत्कारास्पद हैं। इधर, सिद्धसेन
सूरिकों भी जिस प्रकार श्वेताम्बरआचार्योंने अपना
भद्रास्पद और प्रमाणभूत पुरुष माना है, वैसे,
ऐसा कि हम ऊपर सप्रमाण लिख आये हैं, दिग-
म्बरआचार्योंने भी उन्हें अपना स्तुतिपात्र और शिर-
साबंध माना है; अतः दिगम्बरोंकी दृष्टिमें भी
सिद्धसेन और समन्तभद्र दोनों समान गुणगणा-
लंकृत हैं। इससे यह स्वतः सिद्ध हो गया कि,
समग्र जैनसमाज और जैन साहित्यमें इन दोनों
महापुरुषोंका ज्ञानप्रमान्वित, सत्यपरिपूर्ण और
निर्ग्रन्थगणवन्ध सिंहासन, समान स्थान और समा-
न रूपमें संस्थापित है।



हरिभद्रमूरिका समय-निर्णय ।

जैन धर्मके भेदाभ्यन्तर संप्रदायमें हरिभद्र नामके एक बहुत प्रसिद्ध और महान् विद्वान् आचार्य हो गये हैं। उन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषामें धर्म-विचार और दर्शनिक विषयके अनेक उत्तमोत्तम और गम्भीरतत्त्व-प्रतिपादक ग्रंथ लिखे हैं। इन ग्रंथोंमें सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, अद्वैत, चार्वक, बौद्ध, जैन आदि सब ही दर्शनों और मतोंकी उन्होंने अनेक तरहसे आलोचना—प्रत्यालोचना की है। इस प्रकारके भिन्न भिन्न मतोंके सिद्धान्तोंकी विवेचना करते समय, अपने विरोधिमतवाले विचारकोंका भी गौरव-पूर्वक नामोल्लेख करनेवाले और समभावपूर्वक मृदु और मधुर शब्दों द्वारा विचार-मीमांसा करनेवाले ऐसे जो कोई विद्वान् भारतीय साहित्यके इतिहासमें उल्लेख किये जाते योग्य हों तो उनमें हरिभद्रका नाम सबसे पहले लिखने योग्य है।

योंतो जैन इतिहासके पुरातन साधनोंको देखनेसे, उनमें हरिभद्र नामके अनेक आचार्योंके दो आनेका पता मिलता है; परन्तु जिनको उद्देश्य फलके हमने इस निबन्धके लिखनका प्रारंभ किया है, उन्हें सबसे पहले देनेवाले—अर्थात् प्रथम हरिभद्र समझना चाहिए। हमारे अज्ञान इस लेखका उद्देश्य इन्हीं प्रथम हरिभद्र सूरिके अस्तित्व-समयका विचार और निर्णय करना है।

हरिभद्र-सूरिका प्रादुर्भाव जैन इतिहासमें बड़े महत्त्वका स्थान रखता है। जैन धर्मके—जिसमें मुख्य-कर भेदाभ्यन्तर संप्रदायके—उत्तरकालीन (आधुनिक) स्वरूपके संगठन-कार्यमें उनके जीवनमें बहुत बड़ा भाग लिया है। उत्तरकालीन जैन

साहित्यके इतिहासमें वे प्रथम लेखक माने जाते योग्य हैं, और जैन समाजके इतिहासमें, नवीन संगठनके एक प्रधान व्यवस्थापक कहलाने योग्य हैं। इस प्रकार, वे जैनधर्मके पूर्वकालीन और उत्तरकालीन इतिहासके मध्यवर्ती सीमाक्षतम समान हैं। उनके समयका यथार्थ निर्णय हो जाने पर, समुच्चय जैन इतिहासके सूत्र-पुंजकी एक बहुत बड़ी गांठ सुलझ सकेगी। केवल जैन साहित्य और समाजके इतिहास ही की दृष्टिसे हरिभद्रके जीवन-समयके निर्णयकी उपयोगिता है, यह बात नहीं है; परन्तु भारतवर्षके कई जैन-तर धर्मपुरुषोंपर आचार्यों तथा गीर्वाणनिराके कई प्रतिष्ठित लेखकोंके समय-विचारकी दृष्टिसे भी उसकी बहुत उपयोगिता है।

जैसा कि हमने प्रारंभ ही में सूचित किया है, हरिभद्र एक बहुत बड़े दार्शनिक विद्वान् थे और इस विषयके उन्होंने अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखे हैं। इन ग्रंथोंमें उन्होंने भारतके वैदिक, बौद्ध और चार्वक आदि सभी मतोंके पुरातन और प्रसिद्ध प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ताओंके तार्किक विचारोंकी जगह-जगह आलोचना प्रत्यालोचना की है। इस कारण, हरिभद्रके समय-निर्णयसे उनके पूर्ववर्ती उन अन्य दार्शनिकोंके समयके बारेमें भी बहुतसी झटपट और निर्णायक बातें मिल सकती हैं; और आजतक जो कितनीएक परस्पर विरुद्ध ऐसी आनुमानिक बातें पुरातत्त्वज्ञोंके मनको शंकाशील और विन्तापूर्ण बनाए रखी हैं, उनके लिये, एक और नई दिशामें प्रयत्न कर सन्दिग्ध सिद्धान्तोंके पुनर्विचारका नया मार्ग मिल सकता है।

युरोपियन स्कालरोंमेंसे शायद सबसे पहले प्रो. पिटर्सनने अपनी ४ थी रिपोर्टमें 'उपमितिमव-

२ देखो, रिपोर्ट, पृष्ठ ५; तथा परिशिष्ट (Index of Authors) पृष्ठ ५९.

१ देखो, प्रोफेसर पिटर्सन साहबकी, बर्बर इलाकेमें हस्तलिखित पुस्तकोंके शोधके बारेमें लिखा हुई, ४ थी रिपोर्ट, पृष्ठ (परिशिष्ट), ११५ तथा ५. हर्गोविन्ददास लिखित; संस्कृत 'हरिभद्रमूरिका' पृष्ठ १।

प्रपञ्चा कथा ' नामक धार्मिक नीतिके स्वरूपको अनुपम शैलिये प्रदर्शित करनेवाले संस्कृत साहित्यके एक सर्वोत्तम ग्रंथके रचयिता जैन साधु सिद्धार्थका परिचय लिखते हुए, साथमें इन हरिमद्र सरिके समयका भी उल्लेख किया था। इसके बाद डॉ. क्लॉट (Klatt), प्रो० ल्युमन (Leymann) जैकोबी (Jacobi), बेलिनी (Ballini) और मिरोनी (Mironov) आदि अन्य विद्वानोंने भी प्रसंगवशात् अपने अपने लेखोंमें इस विषयका यथासमय थोड़ा बहुत विचार किया हुआ दिखाई देता है। परंतु इन सबमें जैनधर्मके विशिष्ट अभ्यासी डॉ. जैकोबीका परिश्रम विशेष उल्लेखके योग्य है। उन्होंने ही ने सबसे पहले हरिमद्रके समयका निर्देश करनेवाले पुरातन कथनके सत्य होनेमें सन्देह प्रकट किया था। सन् १९०५ में भावनगर (हाल याम्यई) निवासी जैन गृहस्थ मि. एम्. जी. कापटिया, खोर्लासिटर, के कुछ प्रश्न करने पर उक्त डॉ. साहयने, इस विषयमें फिर विशेष ऊक्षणीय करना शुरु किया, और अन्तमें अपने शोधके परिणाममें जो कुछ निष्कर्ष मालूम हुआ, उसको, उन्होंने 'विन्लीओधिका इंडिका' में प्रकाशित उपमितिभवप्रपञ्चा कथाकी प्रस्तावनामें लिपिबद्ध कर प्रकट किया। इसी बीचमें डॉ. सतीशचंद्र वियाभूषण महाशयकी 'मध्यकालीन भारतीय

नामक उपयुक्त पुस्तक प्रकट हुई। इस पुस्तकमें अन्यान्य प्रसिद्ध जैन भैयाविकोंके समान हरिमद्रके समयके विषयमें भी विद्याभूषण जीने अपनी विचार प्रदर्शित किया है। परंतु १२ वीं शताब्दीमें होने वाले इसी नामके एक दूसरे आचार्यके साथ इनकी कुछ कृतियोंका सम्बन्ध लगा कर इस विषयमें कुछ और उलटी गड़बड़ फैलानेकी चेष्टाके सिवा अन्य अधिक वे कुछ नहीं कर सके। प्रस्तुत हरिमद्र के उन प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रंथोंका, जिनका निर्देश आगे पर किया जायगा, नामोल्लेख तक भी विद्याभूषणजी अपनी इस पुस्तकमें नहीं कर सके। इससे यह ज्ञात होता है कि उनको हरिमद्रके विशाल साहित्यका कुछ भी हाल मालूम नहीं हो सका। तदनन्तर रसियन विद्वान् डॉ. मिरोनी ने भी अपने 'विज्ञानागका न्यायमवेश और उसपर हरिमद्र की टीका' इस शीर्षक लेख में, (जो यनारसके जैनशासन नामक एक सामयिक पत्रके विशेषांकमें छपा है) प्रस्तुत प्रश्न के सम्बन्धमें कुछ मीमांसा की है।

यद्यपि डॉ. जैकोबीने, अंशानि ऊपर लिखा गया है, इस विषयमें कुछ विशेष ऊक्षणीय कर महत्त्वके मुद्दोंका विचार किया है, तथापि हरिमद्रके सब ही

लिये प्रथम हम यहाँ पर, उनके कुछ प्रसिद्ध प्रसिद्ध ग्रंथोंकी नामावली दे देते हैं। हरिभद्रसूरिने अपने जीवनमें जैन साहित्यको जितना पुष्ट किया है उतना अन्य किसीने नहीं किया। उनके बनाये हुए ग्रंथोंकी संख्या बहुत ही बड़ी है। पूर्वपर-पराकी कथनानुसार, ये १४०० या १४४० अथवा १४४४ ग्रंथोंके प्रणेता बतलाये जाते हैं। यह संख्या हमारे जैसे आजकलके मनुष्योंकी बहुत ही अधिक और अतएव अतिशयोक्ति पूर्ण मान्य होती है; परंतु साथमें यह बात भी अवश्य स्मरणमें रखने लायक है, कि इस संख्याके सूचक उल्लेख ८ सौ ९ सौ जितने ग्रंथोंसे भी अधिक पुराण मिलते हैं। इस संख्याका अर्थ चाहे जैसा हो, परंतु इतनी बात तो पूर्ण सत्य है कि, वर्तमानमें जितने ग्रंथ जैन साहित्यमें हरिभद्रके नामसे प्रचलित और प्रसिद्ध हैं, उतने अन्य किसीके नामसे नहीं। और यही एक बात उनके अपार-मित ग्रंथकृतत्वकी पुष्टिमें स्पष्ट प्रमाण-स्वरूप है। वर्तमानमें उपलब्ध होनेवाले उनके ग्रंथोंमेंसे विशेष प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित और मोक्ष ग्रंथोंके नाम इस प्रकार हैं:—

- १ अनेकान्तवाद प्रवेश।
- २ अनेकान्तजपप्रकाश स्वोपशृति सहित।
- ३ अनुयोगद्वार सूत्रवृत्ति।
- ४ अष्टकप्रकरण।
- ५ आयुष्यकसूत्रवृद्धवृत्ति।
- ६ उपदेशाष्टकप्रकरण।
- ७ वृद्धावैकालिकसूत्रवृत्ति।
- ८ दिग्गमरुत न्यायप्रवेशसूत्रवृत्ति।
- ९ धर्माभिन्दुप्रकरण।
- १० धर्मसंग्रहणीप्रकरण।
- ११ नन्दीसूत्रलघुवृत्ति।
- १२ पंचाशकप्रकरण।

८ इस विषयके वक्त्रोंके लिये देखो पं. श्रीहरमोहन-दास लिखित संस्कृत 'हरिभद्रसूरिकरित्रम्' पृष्ठ १६-२०।

१ हरिभद्रसूरिके उल्लेख एवं ही ग्रंथोंके नामसंग्रहके लिये, देखो, जैन संघावली, पृ. १८-१०३; तथा उक्त ग्रंथोंके लिखित हरिभद्रसूरिकरित्र, पृ. २२-२०।

- १३ पंचवस्तुप्रकरणटीका।
- १४ पंचसूत्रप्रकरणटीका।
- १५ प्रज्ञापनासूत्रप्रदेशव्याख्या।
- १६ योगरुद्रिसमुच्चय।
- १७ योगविन्दु।
- १८ ललितविस्तार नामक शैल्यवन्दनसूत्रपूर्व।
- १९ लोकतन्त्रनिर्णय।
- २० विंशतिकाप्रकरण।
- २१ पद्मदर्शनसमुच्चय।
- २२ शास्त्रवार्तासमुच्चय, स्वकृतव्याख्यासहित।
- २३ आचमप्रज्ञाति।
- २४ समराष्ट्रव्यवस्था।
- २५ सम्योपमप्रकरण।
- २६ तन्मोक्षप्रसक्तिकाप्रकरण।

हरिभद्रसूरिके बनाये हुए ग्रंथोंकी संख्या इतनी विशाल होने पर भी, उसमें कहीं पर, उनके जीवनके सम्बन्धमें कुछ भी विशेष बात लिखी हुई नहीं मिलती। भारतके अन्यान्य प्रसिद्ध विद्वानोंकी तरह उन्होंने भी अपने ग्रंथोंमें, अपने जीवनसंबंधी किसी प्रकारका उल्लेख नहीं किया। लिखनेमें मात्र अपने संप्रदायका, गच्छका, गुरुका और एक पिदुपी धर्मजननी आर्याका नाम कई जगह लिखा है। यह भी एक सामान्यकी बात है। क्यों कि दूसरे ऐसे अनेक विद्वानोंके बारेमें तो इतना भी उल्लेख नहीं मिलता। हरिभद्रके किये हुए इन सुवार्तिके नामोंके उल्लेखानुसार, उनका संप्रदाय श्वेताम्बर था। गच्छका नाम विद्यावर, गच्छपति वाचार्थकानाम जिनमठ, दीक्षाप्रदायक गुरुका नाम जिनदत्त, और धर्मजननी साध्वीका नाम याकिनी महत्तरा था। इन सब बातोंका उल्लेख, उन्होंने एक ही जगह, आवश्यकसूत्रकी टीकाके अंतमें इस प्रकार किया है:—

“समाप्ता चैवं शिष्यहिता नामावश्यकटीका।
कृतिः सिताम्बराचार्यजिनमठनिगदांनुसारिणी विद्या-
परकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनी-
महत्तराध्वोरत्नमतेराचार्यहरिभद्रस्य ॥”

१०. देखो, पिटसन साहबकी ३री रिवीरट, पृष्ठ २०२; तथा ४ थी रिवीरट, पेरिशिए, पृष्ठ ६०। पेरर, साहबकी बल्लनबी रिवीरट, मुद्रा १, पृष्ठ १०६१।

[टिप्पणी—हरिमद्रूपिके शुरूके नामके सम्बन्धमें डॉ. जेकोबी और अन्य कई विद्वानोंके एक खास भ्रम हो रहा है । वे हरिमद्रूपके गुरुका नाम जिनमद्र या जिनमट समझते हैं । डॉ. जेकोबीने, जर्मन बीरिएण्टल सोसाइटीके, ४० वें जर्नल (पुस्तक) में, पृ. १४ पर, यह दिसलानिका प्रयत्न किया है कि, आचार्यदुसूत्रकी टीका बनानेवाले आचार्य शिलाद्व और हरिमद्र दोनों गुरुगन्धु थे—एक ही गुरुके शिष्य थे । क्यों कि दोनोंके गुरुका नाम जिनमद्र या जिनमट है । और इसी लिये वे दोनों समकालीन भी थे । परंतु उनका यह कथन ठीक नहीं है । क्यों कि इस आवश्यक सूत्रकी टीकाके अन्तिम वाक्यसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि हरिमद्रके दीक्षामदायक गुरु तो विद्यापार गच्छेय आचार्य जिनदत्त थे । जिनमट सूरि या तो हरिमद्रके विद्यागुरु होंगे या अन्य किसी कारणसे उन्हें वे अपने विशेष गुरु समझते होंगे । इसी लिये, इस उपर्युक्त वाक्यमें उन्होंने प्रथम जिनमटका नामांश किया है और अपनेको उनका आशाधारक (—निगदाशुसारिणी) यतलाया है । इस प्रकार जिनमट और जिनदत्त दोनों हरिमद्रके समान पूज्य होनेके कारण कहीं तो उन्होंने जिनदत्त सूरिका (जिसका कि सम्राट्चक्रहृदके अंशमें) उल्लेख किया है और कहीं जिनमट सूरिका । (देखो, प्रज्ञापनासूत्रावृत्तिका अन्तिम पद्य; किन्हीं साधवों लिपेट, पृ. ११) । प्रभावक चरित्र आदि प्रथम पद्यपर हरिमद्रके गुरुका नाम माय जिनमट ही लिखा हुआ मिलता है, परंतु उधके कवनकी अपेक्षा आशाल मंत्रकारका यह उपर्युक्त कथन विशेष प्रामाणिक होना चाहिए । डॉ. जेकोबीने जो उनके गुरुका नाम जिनमद्र बतलाया है वह इस उल्लेख अन्तिमूलक सिद्ध हो जाता है । जिनमट और जिनमद्र शब्दके बोलने और लिपानेमें प्रायः समानता ही होनेके कारण, इस आशङ्कता होना बहुत स्वाभाविक है । रही यात, शिलाद्व और हरिमद्रके समकालीन होनेकी, जो उसका निर्णय तो इस निबन्धका अगला भाग पूर्ण पद लेने पर अपने आप ही जायगा ।]

आवश्यकसूत्रकी टीकाके उपर्युक्त अन्तिम उल्लेखसे अधिक कोई बात हरिमद्रमें अपने किसी प्रपंचमें नहीं लिखी । इस लिये उनके जीवनके बारेमें इससे अधिक कोई बात, उन्हींके शब्दोंमें मिल सके, ऐसी आशा रखनी तो सर्वथा निरर्थक है । परंतु पिछले कई प्रपंचोंमें—चाहे किम्वदन्ती ही के रूपमें

क्यों न हो—उनके विषयमें कई प्रकारकी भिन्न भिन्न बातें लिखी हुई अवश्य मिलती हैं । हमारे इस लेखका उद्देश्य हरिमद्रके चरित्रवर्णन करनेका नहीं है, इस लिये, इस बारेमें हम कोई विशेष ज्ञात नहीं लिखना चाहते । परंतु, पाठकोंके सूचनाार्थ, कुछ बातें जरूर जिन जिन प्रपंचोंमें हूँ ने हरिमद्रके जीवनसम्बन्धी छोटे बड़े उल्लेख देखे हैं उनके नाम यहां प निर्विघ्न किये देते हैं ।

इन प्रपंचोंमें सबसे विशेष उल्लेख योग्य प्रभावचरित प्रभावक चरित्र है । यह प्रथम विक्रमसंवत् १३१ में बना है । इस प्रपंचके ९ वें प्रबन्धमें, उत्तम प्रकारके काव्यशैलीमें, विस्तारपूर्वक हरिमद्रका चरित्र वर्णित किया हुआ है (—इस चरित्रमें कहीं कई बातें कहाँ तक सत्य है उसके बारेमें हम अपना कुछ भी अभिप्राय यहां पर नहीं दे सकते) । इस प्रपंचके बाद राजेश्वरसूरिके (वि. सं. १४०५ में) बनाये हुए प्रबन्धकोप नामक ऐतिहासिक और किम्वदन्ती स्वरूप कितनेएक प्रबन्धोंके संग्रहात्मक प्रपंच भी इनके विषयमें कितनाएक वर्णन किया हुआ मिलता है । हरिमद्रसूरिके जीवनसम्बन्धमें कुछ विस्तारके साथ यत्ने इन्हीं दो पुस्तकोंमें लिखी हुई मिलती हैं । संक्षेपमें तो कुछ उल्लेख, इन प्रपंचोंके पूर्व बने हुए प्रपंचोंमें भी कहीं कहीं मिल आते हैं । ऐसे प्रपंचोंमें, काल-क्रमकी दृष्टिसे, प्रथम प्रबन्ध सुनिचंद्रसूरिचरित उपदेशपद (जो हरिमद्र ही का बनाया हुआ एक प्रकारका ग्रंथ है) की टीका है । इस टीकाके अंतमें, बहुत ही संक्षेपमें,—परंतु प्रभावक चरित्रकारने अपने प्रबन्धमें जितना चरित्र वर्णित किया है उसका बहुत कुछ सार बतलाने-पाला—हरिमद्रके जीवनका सूचन किया है । इसका प्रथम, मन्देश्वरसूरिका बनाया हुआ प्राकृतभाषामय कथापटी नामक है । इसमें चौबीस ही, ती-

११ यह टीका वि. सं. ११७४ में समाप्त हुई थी ।

१२ यह ग्रंथ कब बना इसका कोई उल्लेख नहीं मिला । रचनाशैली और कर्ताके मापसे अनुमान होता है कि १३ वीं शताब्दीमें इसका प्रगटन हुआ होगा । इस कथापटीमें केशव नामके दो तीन विद्वानोंके दो जानके उल्लेख मिलते हैं ।

श्रुतोंके चरित्रोंके साथ अंतमें भद्रवाह, वज्रस्वामी सिद्धसेन आदि आचार्योंकी कथायें भी लिखी हुई हैं, जिनमें अंतमें हरिमन्दकी जीवनकथा भी सम्मिलित है । इसी तरह थोडासा हाल गणधरसाहस शतकी सुमतिगणीकी बनाई हुई वृहत् टीकामें भी उल्लिखित है ।

इन सब ग्रंथोंमें लिखे हुए वर्णनोंपरसे जो निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि हरिमन्द पूर्ववस्थामें एक बड़े विद्वान् और वैदिक ग्राहण थे । चित्रकूट (मिवाड़की इतिहास प्रसिद्ध बोरभूमि चित्तौड़ गढ़) इनका निवास-स्थान था । याकिनी महत्तर नामक एक विदुषी जैन आर्या (भ्रमणी = साध्वी) के समागमसे उनको जैनधर्मपर श्रद्धा हो गई थी और उसी साध्वीके उपदेशानुसार उन्होंने जैनशास्त्र-प्रतिपादित-संन्यासधर्म-भ्रमणव्रतका स्वीकार कर लिया था । इस संन्यासावस्थामें जनसमाजकी निरंतर सद्बोध देनेके सिवा उन्होंने अपना समग्र जीवन सनत साहित्यसेवामें व्यतीत किया था । धार्मिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक विषयके अनेकानेक उत्तमोत्तम मौलिक ग्रंथ और ग्रंथविवरण लिखकर उन्होंने जैनसाहित्यका-और उसके द्वारा समुच्चय भारतीय साहित्यका भी-बड़ा भारी उपकार किया है । जैनधर्मके पवित्र पुस्तक जो आगम कहे जाते हैं, वे प्राकृत भाषामें बने हुए होनेके कारण जितनोंको और साथमें अल्पबुद्धिवाले मनुष्योंको भी अल्प उपकारी हो रहे थे इस लिये उन पर सरल संस्कृत टीकायें लिख कर उन्हें सबके लिये सुबोधवना देनेके पुण्यकार्यका प्रारंभ इन्हीं महोत्तमाने किया था । इनके पहले आगम ग्रंथों पर शायद संस्कृत टीकायें नहीं लिखी गई थीं । उस समय तक प्राकृतभाषामय चूर्णयें ही लिखी जाती थीं । निदान कतेमानमें तो इनके पूर्वकी किसी सूत्रकी कोई संस्कृत टीका उपलब्ध नहीं है । अस्तु ।

इनके बनाये हुए आध्यात्मिक और तात्त्विक ग्रंथोंका स्वाध्याय करनेसे मालूम पड़ता है कि, ये प्रकृतिसंबंधे सरल, आकृतिसंबंधे सौम्य, और वृत्तिसंबंधे उदार थे ।

इनका स्वभाव सर्वथा गुणातुरागी था । जैनधर्म ऊपर अनन्य श्रद्धा रखने पर, और इस धर्मके एक महान् समर्थक होने पर भी, इनका हृदय निष्पक्षपातपूर्ण था । सत्यका आदर करनेमें ये सर्वदैव तत्पर रहते थे । धर्म और तत्त्वके विचारोंका ऊहापोह करते समय ये अपनी मध्यस्थता और गुणातुरागिताकी किञ्चित् भी उपेक्षा नहीं करते थे । जिस किसी भी धर्म या संप्रदायका जो कोई भी पिचार इनकी सुद्धिमें सत्य प्रतीत होता था उसे ये तुरन्त स्वीकार कर लेते थे । केवल धर्म-भेद या संप्रदाय-भेद ही के कारण ये किसी पर कटाक्ष नहीं करते थे-जैसे कि भारतके अन्यान्य बहुतसे प्रसिद्ध आचार्यों और दार्शनिकोंने किये हैं । बुद्धदेव, कपिल, व्यास, पतञ्जलि, आदि विभिन्न धर्मप्रवर्तकों और मतपरोपकोंका उल्लेख करते समय इन्होंने उनके लिये, भगवान्, महाशुनि, महर्षि, इत्यादि प्रकारके बड़े गौरवसूचक विशेषणोंका प्रयोग किया है— जो बात हमें इस प्रकारके दूसरे ग्रन्थकारोंकी लेखनशैलीमें बहुत कम दृष्टिगोचर होती है । कहनेका तात्पर्य यही है कि ये एक बड़े उदारचेता साधु पुरुष थे । सत्यके उपासक थे । भारतवर्षके समुचित धर्माचार्योंके पुण्यश्लोक इतिहासमें ये एक उच्च श्रेणिमें विराजमान होने योग्य संविहृद्दयी जैनाचार्य थे ।

हरिमन्दके जीवनके विषयमें उपर्युक्त थोड़ीसी प्रासंगिक बातें लिख कर, अब हम, प्रस्तुत निबन्धके मुख्य विषयकी विवेचना करना चाहते हैं ।

हरिमन्दसूरिके जीवन-वृत्तान्तके विषयमें अल्प-स्वरूप उल्लेख करनेवाले जिन ग्रंथोंके नाम हमने ऊपर सूचित किये हैं, उनमें इस बातका कोई उल्लेख या सूचन नहीं है कि ये सूरि किस समयमें हुए हैं । इस लिये, प्रस्तुत विचारविवेचनमें उन ग्रंथोंसे हमें किसी प्रकार की साक्षात् सहायता के मिलनेकी तो बिल्कुल आशा नहीं है । यदि, उन ग्रंथोंमें जीवनवृत्तान्तके साथ हरिमन्दके समयका सूचक भी कोई उल्लेख किया हुआ होता, तो उनके दिये हुए वर्णनोंमें कुछ और विशेष-महत्ता और विश्वसनीयता आ जाती । परन्तु, वास्तवमें, उन

ग्रंथकारोंका उद्देश्य कोई सन्-संवत्सार अन्वेषणात्मक इतिहास लिखनेका नहीं था। उनका उद्देश्य तो मात्र अपने धर्मके समर्थक और प्रभावक आचार्यों तथा विद्वानों, धर्मकी प्रभावनाके लिये, किस प्रकारके लोगोंको चमत्कार बतलाये अथवा किस प्रकार परवादियोंके पाण्डित्यका पराभव किया, इत्यादि प्रकारकी जो जनमनरंजन बातें पूर्वपरंपरासे कंठस्थ चली आती थीं, उनको पुस्तकारूढ कर शाश्वत बनानेका; और इस प्रकारसे सर्वसाधारणमें धर्मप्रभावकी महत्ता प्रदर्शित करनेका था। हां, इस उद्देश्यकी दृष्टिसे प्रबन्धादि लिखते समय प्रयत्नलेखकोंकी यदि प्रबन्धनायकके विषयमें किसी विशेष घटनासूचक संवत्तादिका कहींसे उल्लेख जो प्राप्त हो जाता था, तो उसे वह अपने निबन्धमें कभी कभी यथित भी कर देता था। परंतु, जिस अनुरताके साथ आज कल हम सन् संवत्तादिकी प्राप्तिके लिये उत्सुक रहते हैं और उसके अन्वेषणके लिये दीर्घ परिश्रम करते रहते हैं, वैसी प्रकृति भारतवर्षके पुराणे प्रयत्नलेखकोंकी नहीं दिखाई देती।

यद्यपि हमारा यह उपर्युक्त कथन भारतवासी विद्वानोंके लिये सर्वसाधारण है, तथापि, हमें लिखते हुए एक प्रकारसे हर्ष होता है कि, जैन धर्मके जुने विद्वानोंमें कुछ ऐसी प्रकृतियाँ विद्वान् भी हो गये हैं, जो इस कथनके अपवाद-स्वरूप हैं। इन विद्वानोंके बनाए हुए निबन्धोंमेंसे दो चार ऐसे निबन्ध भी जैनसाहित्यकी शोभा बढ़ा रहे हैं, जिन्हें हम निस्सन्देह रीतिसे—उनके कर्ताके समयमें उपलब्ध हो सकने वाली तद्विषयक साधन-सामग्रीकी अपेक्षासे—आधुनिक अन्वेषणात्मक पद्धतिसे लिखे जानेका सम्मान दे सकते हैं।^१ यह बात अलग है कि, कदाचित् इन प्रयत्नोंमेंका ऐतिहासिक निरूपण, हमारी आधुनिक अन्वेषणात्मक नि-

ष्कर्षके मुकाबले, किसी अंशमें, सत्य नहीं प्रतीत हो (और ऐसा निर्विवाद सत्य तो आज कल भी सभी ऐतिहासिक सिद्धान्तोंमें कहाँ स्वीकृत है)। क्यों कि हमारी आधुनिक साधन-सामग्री और उस पुराणे जमानेकी साधन-सामग्रीमें आकाशपाताल जितना अन्तर है। अस्तु।

यद्यपि, उक्त कथनानुसार, हरिभद्रके जीवन-वृत्तान्तका सूचन करनेवाले ग्रंथोंमें, उनके समयका कोई निर्देश किया हुआ नहीं मिलता; तथापि जैन शुरुपरंपरा-सम्बन्धी जो कितनेएक कालगणनात्मक प्रबन्धादि उपलब्ध हैं, उनमेंसे किसी किसीमें, इनके समयका उल्लेख किया हुआ अवश्य विद्यमान है। इस प्रकारके कालगणनात्मक प्रबन्धोंमें, प्रथम और प्रधानतया जो प्रबन्ध उल्लेखयोग्य है, वह अञ्चलगच्छीय आचार्य मेरुतुङ्गका बनाया हुआ विचारश्रेणि नामक^२ है। मेरुतुङ्गाचार्यने अपना प्रबन्धचिन्तामणि^३ नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ वि. सं. १३६० में समाप्त किया था। प्रस्तुत विचारश्रेणि-

१५ यह प्रबन्ध पुरातरवशीको सुपरिचित है। महावीर निबोध और क्रिम संघत् के विषयकी आलोचनामें इतिहासज्ञोंको सुख्य कर यही प्रबन्ध विषयभूत है। रहा है (देखो, डॉ. जेकोबीकी कल्पसूत्रकी प्रस्तावना; और, जाल्हावा पण्डित्यका महावीर समयनिर्णय नामक निबन्ध; इण्डियन एंटीक्विरी, पृ. ४२)। सापद, चर्चते पहले, अश्विदू रोषक, डॉ. भाऊ दाजीने, सन १८७२ में, बम्बईकी राज्य एशियाटिक सोसाइटीकी बालाके सम्मेलनके सम्मुख इस प्रबन्ध पर एक निबन्ध पढ़ा था। (पह निबन्ध, इसी सोसायटिके वृत्तपत्र (जर्नल) के ९ वें भागमें, पृ. १४७-१५७ पर प्रकट हुआ है) डॉ. ब्रुहने इसको ईंग्रेजी नाम "Catana of Enquiries" दिया है (—ई. ए. पृ. २; पृ. ३६२)। आशय है कि यह ऐसा विवेचनीय प्रबन्ध जमी तक मूलरूपमें कहीं प्रकट नहीं हुआ। पाठकोंको जान कर खुशी होगी कि योद्धे इस समयमें हम इसे छपवा कर प्रकट करना चाहते हैं।

१६ यह पद्य गुजराती भाषांतर सहित, अमदावादके रामचंद्र दीनानाथ शास्त्रिने, सन १८८८ में छपवा कर प्रकट किया है। इसका ईंग्रेजी अनुवाद भी बंगालकी राज्य एशियाटिक सोसाइटीने प्रकट किया है।

१४ मेरुतुङ्गाचार्य विरचित—विचारश्रेणि; किसी अज्ञातनामा विद्वान्की बनाई हुई—शुभांशुलीविशुद्धि; भर्मेसग-रोषाध्यायकृत—प्रबन्धनपरिवर्तनार्थ कुछ भाग; रामचन्द्ररचित—सामाजिकप्रकरणगत कुछ विभाग; इत्यादि प्रकारके प्रबन्ध हमारे इस कथनके उदाहरण दृष्टार्थ हैं।

में वि. सं. १३७१ में, समरासाहने शत्रुजयका जो उद्धार किया था, उसका उल्लेख किया हुआ है। इस लिये विक्रमकी १४ वीं शताब्दीके विछले पादमें इस प्रबन्धकी रचना हुई, ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रबन्धमें एक पुराणी प्राकृत गाथा उद्धृत की हुई है, जिसमें लिखा है कि, विक्रम संवत् ५८५ में हरिमद्रसूरिका स्वर्गवास हुआ था। गाथा इस प्रकार है—

पंचसए णसीएँ विक्रम कालाउ झाँति अत्यमिओ ।

हरिमद्रसूरि-सरो भवियाणं दिसउ कलाण ॥

अर्थात्—विक्रम संवत् ५८५ में अस्त (स्वर्गरूप) होने वाले, हरिमद्रसूरिरूप सूर्य भव्यजनको कल्याण प्रदान करें।

१० इस उद्धारका विशेष वही है, हमारी शत्रुजयतीर्थ-द्वार प्रबन्ध नामक पुस्तकके उपोद्घात, पृ. ११-१३ में किया हुआ है।

१० प्रो. पिटरसनने आपनी १२० रिपोर्टके पृ. २७२ पर, प्रधनसूरिपरिचित 'विचारसारप्रकरण' के, और पृ. २८४ पर, समयसुंदर गणिके 'गाथासहस्री' नामक ग्रंथके, जो अवतरण किये हैं वनमें यह प्रकृत गाथा भी सम्मिलित है। वहाँ पर, 'पणसीए' के स्थान पर 'पणतीए' ऐसा पाठ मुद्रित है। इस पाठ-भेदके कारण, कई विद्वान् ५८५ के बदले ५१५ के वर्षमें हरिमद्रकी मृत्यु हुई मानते हैं; परंतु, वास्तविकमें यह पाठ अशुद्ध है। क्योंकि प्राकृत भाषाके नियमावुसार १५ के अंकके लिये 'पणतीसे' शब्द होता है, 'पणतीए' नहीं। यद्यपि, लेखक—पुस्तककी नकल उतारने-वाले—के प्रमादसे 'पणतीसे' को जगह 'पणतीए' पाठका लिखा जाना बहुत श्रद्धा है, और इस लिये 'पणतीए' के बदले 'पणतीसे' के शुद्ध पाठकी कल्पना कर ८५ के स्थान पर १५ की संख्या गिन लेनेमें, भाषा-विद्वानकी दृष्टिसे कोई अनुचितता नहीं कही जा सकती; परंतु, प्रकृत विषयके फलसुखक अन्याय्य उल्लेखों के ध्वंसावुसार यहाँ पर 'पणसीए' पाठका होना ही युक्तिसंगत, और प्रमाण-विहित है। बहुवचन हस्तलिखित प्रतियोंमें भी यही पाठ उपलब्ध होता है। प्रो. बेरनेर, बर्लिनके राजकीय पुस्तकालयमें संरक्षित संस्कृत-प्राकृत पुस्तककी रिपोर्टके, भाग ३, पृ. १२३ पर भी, 'पणसीए' पाठ ही को शुद्ध लिखा है और 'पणतीए' को अशुद्ध।

यहाँ पर यह बात खास ध्यानमें रख लेनेकी है कि यह गाथा भेरतुंगने 'उक्तं च' कह कर अपने प्रबन्धमें उद्धृत की है—नंद नहीं बनाई है। भेरतुङ्गाचार्यके, निश्चितरूपसे पहलेके बने हुए किसी ग्रंथमें यह गाथा अभी तक हमारे देखनेमें नहीं आई। इस लिये यह कुछ भी नहीं कह सकते कि यह गाथा कितनी प्राचीन है। परन्तु भेरतुङ्गसे तो निश्चित ही १०० २०० वर्ष पुराणी अवश्य होनी चाहिए। विचारभ्रंशमें 'लेख्यणि कालगमो' इत्यादि वाक्यसे प्रारंभ होने वाली, और मद्वाहीर निर्वाण और विक्रम संवत्के बीचके राजवंशोंका समयनिरूपण करने वाली जो तीन प्राकृत गाथाएँ हैं, प्रायः धैसी ही गाथाएँ तो 'तिथोत्पत्त्याल्लिप्यदर्शना' नामक प्राकृत ग्रंथमें भी मिलती हैं; परंतु हरिमद्रके मृत्यु-समयका विधान करनेवाली प्रस्तुत गाथा यहाँ पर नहीं दिखाई देती। इस लिये यह भी नहीं कह सकते कि भेरतुंगने कौनसे ग्रंथमेंसे इसे उद्धृत की है। और, कुछ भी हो, परंतु इतनी बात तो सत्य है कि १४ वीं शताब्दीसे तो यह गाथा अवश्य पूर्वकी बनी हुई है।

इसी गाथाको प्रद्युम्नसूरिने अपने 'विचारसार

१९ ये सूरि धर्मपोषसूरिके शिष्य, देवप्रभके शिष्य थे। इनका निश्चित समय ज्ञात नहीं हुआ। संभव है कि द्वादशिवे भेरतुंगके पूर्ववर्ती हों, और 'विचारभ्रंश' में की-पद्धतसारकृत गाथायें धैसीके 'विचारसार' प्रकरण में मिले ली गई हों—यद्यपि इसमें भी वे सब गाथायें संगृहीत मात्र दी हैं, नवीन रचित नहीं। यदि विशेष खोज करने पर, इन संग्रहकारके समयका पता लग गया और वे भेरतुंगसे पूर्ववर्ती निश्चित हुए, तो फिर हरिमद्रकी मृत्युसंवत्सूचक प्रकृत गाथाके प्रथम अवतरणका मान, दुर्लभके इस 'विचारसार' प्रकरणको देना होगा। इस प्रकरणमें, एक दूसरी बात यह भी है कि, प्रकृत गाथाके साथ, प्रकरणकारने 'अहं वा' (सं. अथ वा) लिख कर एक दूसरी भी प्राकृत गाथा लिखी—उद्धृत की—है, जिसमें : वीर-निर्वाणसे १०५५ वर्षवाद हरिमद्र हुए, ऐसा कथन है। इस गाथाके उद्धृत करनेका मतलब, लेखकको इतना ही भाव्य देता है कि हरिमद्रसूरिका स्वर्ण-समय प्रधान गाथामें जो वि. सं. ५८५ बतलाया है वह इस दूसरी गाथाके कथनसे भी समर्थित होता

प्रकरण ' में, और समयसुन्दर गणितें ' स्व-संगृहीत 'गाथासहस्री' नामक प्रबन्धमें भी उद्धृत की है । पुनः इसी गाथाके आशयकोले कर कुलमंडनसूरितें " विचाराभूतसंग्रह ' में, और धर्मसागर " उपाध्यायने तपागच्छगुर्वावली में, लिखा है कि, महावीर निर्वाणके पञ्चात् १०५५ वै (वीर नि. ४५०) अनन्तर विक्रम संवत्की शुरुआत, तदनन्तर ५८५; ४५० + ५८५ = १०५५) वर्षमें हरिभद्रसूरिका स्वर्गवास हुआ था । इन पिछले दोनों ग्रंथकारोंका कथन क्रमशः इस प्रकार है—

(१) 'श्रीवीरनिर्वाणात् सहस्रवर्षे पूर्वश्रुतव्यवच्छिन्नम् । श्रीहरिभद्रसूरयस्तदनु पञ्चपञ्चाशता वर्षे दिवं प्राप्ताः ।' —विचाराभूतसंग्रह ।

(२) श्रीवीरात् पञ्चपञ्चाशदधिकसहस्रवर्षे विक्रमात् पञ्चाशत्तिथिपक्षशतवर्षे या किनीतुतः श्रीहरिभद्रसूरिः स्वर्गभाक् । —तपागच्छगुर्वावली ।

मुनिसुन्दरसूरिने जो तपागच्छकी पर्यायश्रुति गुर्वावली (संवत् १४६६) बनाई है उसमें हरिभद्रसूरिको मानदेवसूरि (द्वितीय) के मित्र बतलाये हैं । इन मानदेवका समय पट्टावलियोंकी गणना और मान्यता अनुसार विक्रमकी ६ वीं शताब्दी समझा है । योंकि ५८५का विक्रम-वर्षर महावीर संवत् १०५५ के बराबर (४५० + ५८५ = १०५५) ही होता है । प्रथमसूरि संगृहीत दूसरी प्राञ्चत गाथा इस प्रकार है—

पण पद-दस-सण्दि हरिसूरी आसि तस्य पुण्कई ।

तेरसवरिसण्दि अईएहि नि बण्मभिरिपुह ॥

* पिठेन, रिपोई ३. पृ. १०२।

२० समयसुन्दरगणिते गाथासहस्री पृ. १६८५ में बनाई है । देखो, -पि. रि. ३, पृ. २९० ।

—विचारसार प्रकरण और गाथासहस्रीमें प्रस्तुत गाथाके चतुर्थ पादमें कुछ पाठ-भेद है, परंतु अर्थ-तत्परमें एक ही होनेसे उसके उल्लेखों कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती ।

२१ ये आचार्य विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें हुए हैं ।

२२ धर्मसागरमें १७ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें विद्यमान थे ।

जाता है । अतः यह उल्लेख भी हरिभद्रसूरिके गाथोक्त समयका संवादी गिना जाता है ।

मुनिसुन्दरसूरिका उल्लेख इस प्रकार है—

अमूर्द गुरुः श्रीहरिभद्रमित्रं

श्रीमानदेवः पुनरेव सूरिः ।

यो मान्यतो विस्मृतसूरिग्रन्थं

लेभेऽभिकाऽऽस्यात्पक्षोजग्रन्थे ॥

—गुर्वावली (यशोवि. मं. काशी) पृ. ४।

इस प्रकार इन सब ग्रंथकारोंके मतसे हरिभद्रसूरिका सत्ता-समय विक्रमकी ६ वीं शताब्दी है और उनका स्वर्गवास सं. ५८५ (ई. स. ५२९) में हुआ था ।

परंतु, इसी प्रकारके बाह्य-प्रमाणोंमें, कुछ ऐसे भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनके कारण इस गाथोक्त समयकी सत्यताके बारेमें विद्वानोंको बहुत समयसे संदेह उत्पन्न हो रहा है । इन प्रमाणोंमें, जो मुख्य उल्लेख योग्य है, वह बहुत महत्वका और उपयुक्त समयसाधक प्रमाणोंमें भी बहुत प्राचीन है । यह प्रमाण महत्तमा सिद्धार्थिके महान् ग्रन्थ उपमतिभगवत्पञ्चा कथामें उल्लिखित है । यह कथा संवत् ९६२ के ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी, गुरुवारके दिन, जब चंद्रमा पुनर्वसु नक्षत्रमें स्थित था, तब समाप्त हुई थी । ऐसा स्पष्ट उल्लेख, इस कथाकी प्रशस्तिमें सिद्धार्थिके स्वयं किया है । यथा—संवत्सरशतनवके द्विषष्टिषष्टितेऽतिलङ्घिते चास्याः ।

ज्येष्ठे सितपञ्चम्यां पुनर्वसौ गुरुदिने समाप्तिरभूत् ॥

यद्यपि ग्रन्थकर्ताने यहां पर मात्र केवल 'संवत्' शब्द ही का प्रयोग किया है जिससे स्पष्टतया यह

२३ धर्मसागरगणिते अपनी पहावलीमें इसी पर्यका सम आर्थक एक दूसरा पद्य उद्धृत किया है । यथा—

विद्यासमुद्रहरिभद्रमुनीग्रामित्रं

सूरिर्भवत् पुनरेव हि मानदेवः ।

मान्यात् प्रयातमपि योऽनपठिरिग्रन्थं

लेभेऽभिकाऽमुसगिरा तपसोजग्रन्थे ॥

यही पद्य पुनः पूर्वभागच्छकी पहावलीमें भी मिले है ।—देखो, पं. हरगोविन्दरायका हरिभद्रविरच पृ. १८

नहीं ज्ञात हो सकता कि, धीर, विक्रम, शक्र, गुप्त आदि संवत्सरेषु प्रस्तुतमें कौनसा संवत् कथाकारको विवक्षित है; तथापि, संवत्के साथ मास, तिथि, वार और नक्षत्रका भी स्पष्ट उल्लेख किया हुआ होनेसे, ज्योतिर्गणितके नियमानुसार गिनती करने पर, प्रकृतमें विक्रम संवत् ही का विधान किया गया है, यह बात स्पष्ट मान्य पड़ आती है। सिद्धार्थके लिख हुए इस संवत्, मास और तिथि सादिकों मुलान ई. स. के साथ की जाय तो, गणित करनेसे, ९०६ ई. के. मई महिनेकी १ तारीखके बराबर इसकी एकता होती है। इस तारीखको भी चारगुरु ही आता है और चन्द्रमा भी सूर्योदयसे लेकर मध्याह्न कालके बाद तक पुनर्वसु नक्षत्र ही में रहता है।

१५ किसी किसीकी कल्पना इस संवत्की वीर-निर्वाण-संवत् माननेकी होती है। अगर इस कल्पनाके मुताबिक गणित फरके देखा जाय तो वीर सं. ११२ के ज्येष्ठ शुद्ध ५ मीके दिन ई. स. ४३९ के मई मासकी ७ वी तारीख आती है। वीर उस दिन को गुप्त ही मिलाता है, परंतु चन्द्रमा उस दिन प्रातःकालमें २ घंटे तक पुष्य नक्षत्रमें रह कर फिर कल्पेया नक्षत्रमें चला जाता है; इस लिये नक्षत्र उद्य दिन प्रथम लिये मुताबिक नहीं मिलता। इसके भिन्ना इस प्रमाणमें एक बड़ा और प्रबल विरोध भी है। उक्त गुरुत मासमें जो हरिभद्रका मृत्युसमय बतलाया गया है उससे, यह समय लगभग १०० वर्ष जितना उत्तरा पीछे चला जाता है—अर्थात् सिद्धार्थ हरिभद्रके भी सतवर्ष पूर्ववर्ती हो जाते हैं। सिद्धार्थका, असा कि अभी चळ कर बतलाया जायगा, हरिभद्रके पहले होना संवत्सा असिद्ध है। इस लिये सिद्धार्थका लिखा हुआ यह संवत् विक्रम संवत् ही है।

प्रो. पिटरसन अपनी ४ थी रिपोर्टके पृष्ठ ५ पर कुछ ऊपर सिद्धार्थके इस संवत्की वीरनिर्वाण संवत् मान कर, और उसके मुताबिकमें विक्रम संवत् ४९२ के बदले ५१२ लिख कर गणायित हरिभद्रके समयके साथ मेल मिलाना चाहता है। परंतु इस गिनतीमें तो प्रबल रूप से ही १०० वर्ष की भरी गड़बड़ हो गई है। यथोक्ति १९२ में से ४०० वर्ष निकाल देनेसे, संप ४९२ रहते हैं, ५१२ नहीं। इस लिये पिटरसन चाहबड़ी कल्पनामें कुछ भी लब्ध नहीं है। डॉ. जेकोबोने भी इस कल्पनाको लाज्य बतलाया है। देखो, उपमितिभव-मथेनाको प्रस्तावना—पृष्ठ ८ की पाद टीका।

इस कथाकी प्रशस्तिमें—सिद्धार्थने—प्रारंभमें ९ श्लोकों द्वारा अपनी मूल गुरुपरंपराका उल्लेख कर, फिर हरिभद्रसूरिकी विशिष्ट प्रशंसा की है और उन्हें अपना धर्मबोधकर गुरु बतलाये हैं। प्रशस्तिमें हरिभद्रकी प्रशंसावाले निम्नलिखित तीन पद्य मिलते हैं।—

- (१५) आचार्यहरिभद्रो मे धर्मबोधकरो गुरुः ।
प्रस्तावे भावतो हन्त स एवाधे निवेदितः ॥
(१६) विप विनिर्घृय कुवासनामयं
व्यचीचरद् यः कृपया मदाशये ।
अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधां
नमोऽस्तु तस्मै हरिभद्रसूर्ये ॥
(१७) अनागतं परिज्ञाय चैत्यवन्दनसंश्रम।
मदर्थेव कृता येन वृत्तिललितविस्तारः ॥

इन पद्योंका भावार्थ इस प्रकार है—

(१५) आचार्य हरिभद्र मेरे धर्मबोधकर—धर्मका बोध (उपदेश) करनेवाले—गुरु हैं। इस कथाके प्रथम प्रस्तावमें मैंने इन्हीं धर्मबोधकर गुरुका निवेदन किया है।

(१६) जिसने कृपा करके अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे मेरे हृदयमेंसे कुवासना-दुर्वि-

१५ डॉ. जेकोबी, इन पद्योंके पहलेके और ३ (नं. १२-१३-१४ वाले) श्लोकोंको भी हरिभद्र ही की प्रशंसामें लिखे हुए समझते हैं और उनका भाषान्तर भी उन्होंने अपनी प्रस्तावना (पृ. ५) में दिया है। परंतु यह कौं साहबका भ्रम है। उन तीन पद्योंमें हरिभद्रकी प्रशंसा नहीं है परंतु सिद्धार्थकी प्रशंसा है। इनके पूर्वके दूसरे दो (नं. १०-११) श्लोकोंमें भी सिद्धार्थ ही का जिक्र है। वास्तवमें हमारे बिचारसे नं. १० से १३ तकके ४ पद्य स्वयं सिद्धार्थके बनाए हुए नहीं हैं, परन्तु उनके शिष्य या अन्य किसी दूसरे विद्वान्के बनाये हुए हैं। अतएव वे वहां पर प्रक्षिप्त हैं। सिद्धार्थ, स्वयं अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करनेवाले बहिर्मुख आत्मा नहीं थे। वे बड़े नम्र, लघुताप्रिय और अत्यंत स्वस्वरूपमें लीन रहनेवाले सन्त पुरुष थे। वे अपने लिये 'सिद्धान्तनिधि' महाभाग और 'गणधरतुल्य' जैसे मानभरे हुए विशेषाङ्कों प्रयोग कभी नहीं कर सकते।

१६ उपमितिभवपञ्चा कथा, (विरलओषिका इन्द्रिका) पृ. १२४०।

चाररूप विषयों निकाल कर सुवासना-सद्विचारं स्वरूप सुधा (अमृत) का चिन्तन किया है, उस आचार्य हरिभद्रको नमस्कार हो ।

(१७) उन्होंने (हरिभद्रसूत्रिने) अनागत याने भविष्यमें होनेवाले मुशको जानकर मानों मेरे ही लिये चैत्यवन्दनसूत्रका आश्रय लेकर ललित-विस्तरा नामक वृत्ति बनाई है ।

इस अवतरणसे शत होता है कि सिद्धार्थ हरिभद्रको एक प्रकारसे अपने गुरु मानते हैं । वे उन्हीं से अपनेको धर्मप्राप्ति हुई कहते हैं, और ललित-विस्तरावृत्ति नामक ग्रन्थ, जो हरिभद्रके ग्रन्थोंमेंसे एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है उसे, अपने ही लिये बनाया गया बतलाते हैं । इस प्रकार, इस प्रशस्तिगत कथनके प्रथम दर्शनसे तो हरिभद्र और सिद्धार्थके बीचमें गुरु-शिष्यभावका होना स्थापित होता है । और जब येसा गुरुशिष्यभावका सम्बन्ध उनमें रहा तो फिर वे प्रत्यक्ष ही दोनों समकालीन सिद्ध हुए, और वैसे होने पर हरिभद्रका उक्त गाथा-विहित सत्ता-समय असत्य साधित होगा ।

इस प्रकार हरिभद्रसूत्रिके समय-विचारमें सिद्धार्थका सम्बन्ध एक प्रधान स्थान रखता है । इस लिये प्रथम यहाँ पर इस बातका ऊहापोह करना आवश्यक है कि सिद्धार्थके इस कथनके बारेमें उनके चरित्रलेखक जैन ग्रन्थकारोंका क्या अभिप्राय है ।

सिद्धार्थके जीवनवृत्तान्तकी तरफ दृष्टिपात करते हैं तो, उनके निजके ग्रन्थमें तो, इस उपर्युक्त प्रदास्तिके कथनके सिवा, और कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता । इस लिये उनके निजके ही शब्दोंमें तो अपनेको यह बात नहीं मालूम हो सकती, कि हरिभद्रको वे अपने धर्मयोधकर गुरु किस कारणसे कहते हैं और ललितविस्तरावृत्तिको अपने ही लिये बनाई गई क्यों बतलाते हैं ? ।

विछले जैन लेखकोंके लेखों-ग्रन्थोंमें सिद्धार्थके जीवन-वृत्तान्तके विषयमें जो कथा-प्रवचन्यादि उपलब्ध होते हैं, उनमें कालक्रमकी दृष्टिसे सबसे प्राचीन, तथा वर्णनकी दृष्टिसे भी प्रधान, वेसा प्रभावकचरित्रान्तर्गत सिद्धार्थ-प्रबन्ध है । इस

प्रबन्धमें सिद्धार्थका जो जीवन वर्णित है उसमें इस बातका किञ्चित् भी जिक्र नहीं किया गया है कि, हरिभद्र, सिद्धार्थके एक गुरु थे और उनसे उनको धर्मबोध मिला था । हरिभद्र और सिद्धार्थके बीचमें एक प्रकारसे गुरुशिष्यका सम्बन्ध था, इस बातका सूचन प्रभावकचरित्रकारने न हरिभद्र ही के प्रबन्धमें किया है और न सिद्धार्थ ही के प्रबन्ध में । केवल इतना ही नहीं, परन्तु इन दोनोंके चरित्र-प्रबन्ध पास पासमें भी वे नहीं रखते । उन्होंने हरिभद्रका चरित्र ९ वें प्रबन्धमें गुंथा है और सिद्धार्थका १४ वें प्रबन्धमें । इस लिये प्रभावकचरित्रकारके मतसे तो हरिभद्र और सिद्धार्थके बीचमें न किसी प्रकारका साक्षात् गुरुशिष्य जैसा सम्बन्ध था और न वे दोनों समकालीन थे ।

परन्तु, सिद्धार्थने अपनी कथाकी प्रशस्तिमें जो उक्त प्रकारसे हरिभद्रका उल्लेख किया है, उसे प्रभावकचरित्रकारों जानते ही नहीं है यह बात नहीं है । उन्होंने सिद्धार्थका यह कथन केवल देखा ही नहीं है किन्तु उसे अपने प्रबन्धमें यथावत् उद्धृत कर लिया है । परन्तु, उस कथनका सम्बन्ध वे और ही तरहसे लगाते हैं । उनका कहना है कि, सिद्धार्थने जैन शास्त्रोंका पूर्ण अभ्यास करके, फिर न्यायशास्त्रका विशिष्ट अभ्यास करनेके लिये किसी प्रान्तस्थ बौद्ध विद्यापीठमें जा कर रहनेका विचार किया । ज्ञानके पहले उन्होंने जब अपने गुरु मार्ग-स्वामीके पास अनुमति मांगी तो गुरुजीने अपनी वसम्मति प्रकट की और कहा कि यहाँ पर जानेसे तेरा धर्मविचार भ्रष्ट हो जायगा । सिद्धार्थने गुरुजीके इस कथन पर दुर्लक्ष्य कर चल ही दिया और अपने इच्छित स्थान पर जा कर बौद्ध प्रमाण शास्त्रका अध्ययन करना शुरु किया । अध्ययन करते करते उनका विश्वास जैनधर्म ऊपरसे ऊँटता गया और बौद्ध धर्म पर अज्ञा बढ़ती गई । अध्ययनकी समाप्ति हो जाने पर, उन्होंने बौद्धधर्मकी दृष्टि लेनेका विचार किया, परन्तु, पहले ही से यत्नयत्न हो आनेके कारण, जैनधर्मका त्याग करनेके पहले वे एक बार अपने पूर्वगुरुके पास मिलनेके लिये आये । शान्तमुनि गौमुनिने सिद्धार्थ-

नि स्वधर्म ऊपरसे चालित-चित्ताको देख कर प्रपत्ने मुखसे किसी प्रकारका उन्हें उपदेश देना मुनासब नहीं समझा । उन्होंने ऊठ कर पहले सिद्धार्थिका स्वागत किया और फिर उन्हें एक आसन पर बिठा कर, हरिभद्रसूरिकी बनाई हुई ललितविस्तारपुत्ति, जिसमें बौद्ध वगैरह सभी दर्शनोंके सिद्धान्तोंकी बहुत ही संक्षेपमें परंतु बड़ी मार्मिकताके साथ मीमांसा कर जैनतार्थिकको परमात्मता स्थापित की गई है, उसको पढ़नेके लिये दी । पुस्तक दे कर गर्गमुनि जिनचेत्यको चन्दन करनेके लिये चले गये और सिद्धार्थिको कह गये कि, जब तक मैं चेत्यचन्दन करके वापस आऊं तब तक तुम इस ग्रन्थको वाचने रहो । सिद्धार्थि गुरुजीके चले जाने पर ललितविस्तारको ध्यानपूर्वक पढ़ने लगे । ज्यों ज्यों वे हरिभद्रके निष्पक्ष, युक्तिपूर्ण, प्रौढ़ और प्राज्ञजल विचार पढ़ते जाते थे त्यों त्यों उनके विचारोंमें बड़ी तीव्रताके साथ क्रांति होती जाती थी । सारा ग्रंथ पढ़ लेने पर, उनका विश्वास जो बौद्ध संसर्गिक कारण जैनधर्म ऊपरसे ऊठ गया था वह फिर पूर्ववत् टूट हो गया, और बौद्ध धर्मपरसे उनकी रुचि सर्वथा हट गई । इतनेमें गर्गमुनिजी चेत्यचन्दन करके उपाश्रयमें वापस आ पहुँचे । सिद्धार्थि गुरुजीको आते देख एक दम आसन ऊपरसे ऊठ खड़े हुए और उनके पैरोंमें अपना मस्तक रख कर, स्वधर्म परसे जो इस प्रकार अपना चित्तग्रंथ हुआ उसके लिये पश्चात्ताप करने लगे । गुरुजीने मिथ्यचर्चासे उन्हें शान्त कर उनके मनको संतुष्ट किया । अन्तमें वे फिर जैनधर्मके महान् प्रभावक हुए । इत्यादि । इस प्रकार हरिभद्रके बनाये हुए ग्रन्थके अवलोकनसे सिद्धार्थिकी मिथ्याग्रान्ति नष्ट हुई और सद्बोधमेंकी प्राप्ति हुई इस लिये उन्होंने हरिभद्रसूरिकी अपना धर्मबोधकर गुरु माना और ललितविस्तारको माना अपने ही लिये बनाई गई समझी । इसके सिवा प्रभावकचरित्रके कर्ता इन दोनोंमें परस्पर और किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं मानते ।

परन्तु, दूसरे कितने एक ग्रन्थकार प्रभावकचरित्रके इस कथनके साथ पूर्ण मेलन्य नहीं रखते ।

उनके कथनानुसार तो सिद्धार्थि और हरिभद्र दोनों समकालीन थे और सिद्धार्थिको बौद्ध संसर्गिक कारण स्वधर्मसे भ्रष्ट होते देख कर उनको प्रतिबोध करनेके लिये ही हरिभद्र सूरिने ललितविस्तार रचित बनाई थी । इन ग्रन्थकारोंमें मुख्यकर राज-शेखरसूरिका (सं. १४०५ में बना हुआ) प्रबन्धको-प अथवा चतुर्विंशतिप्रबन्ध है । इस ग्रन्थमें हरिभद्रसूरिका जो चरित-प्रबन्ध है उसमें साथमें सिद्धार्थिको भी वर्णन किया हुआ है । इस प्रबन्धमें तो सिद्धार्थिको साक्षात् हरिभद्र ही के दीक्षित शिष्य बतलाये हैं । गर्गमुनि वगैरहका नामनिर्देश तक नहीं है । प्रकृत बातके विषयका बाकी सब हाल प्रायः ऊपर (प्रभावकचरित्र) के जैसा ही है । मात्र इतनी विवेकता है कि, बौद्ध गुरुके पास-से जब सिद्धार्थि अपनी प्रतिज्ञानुसार, हरिभद्रसूरिकी मिलनेके लिये आये तब बौद्ध गुरुने भी उन्हें पुनर्मौलनके लिये प्रतिज्ञाबद्ध कर लिये थे । हरिभद्रसूरिने उनको सद्बोध दिया जिससे उनका मन फिर जैन धर्म ऊपर धड़ाघान हो गया । परंतु प्रतिज्ञानिवारके कारण वे पुनः एक बार बौद्ध गुरुके पास गये । वहाँ उसने फिर उनको बहकाया और वे फिर हरिभद्रसे मिलने आये । हरिभद्रने पुनः समझाये और पुनः बौद्धाचार्यके पास गये । इस प्रकार २१ दफह उन्होंने गमनागमन किया । आखिरमें हरिभद्रने उन पर दया लाकर प्रबलतर्कपूर्ण ललितविस्तार रचित बनाई, जिसे पढ़ कर उनका मन सर्वथा निश्चिन्त हुआ और वे जैनधर्म ऊपर स्थिरचित्त हुए । इसके बाद उन्होंने १६ हजार श्लोक प्रमाण उपमितिभवप्रपञ्चा कथा बनाई और उसके अन्तमें उक्त प्रकारसे हरिभद्रसूरिकी प्रशंसा की ।^{१०}

इसी वृत्तान्तका यथावत् सूचक संक्षिप्त उल्लेख सुनिस्न्दरसूरिने उपदेशरत्नाकरमें, और रत्नशेखरसूरिने धातुप्रतिक, पार्थवीपिका टीका (सं. १४९६) में किया है । दोनों उल्लेख क्रमशः इस प्रकार हैं :—

२० देखो, प्रोफेसरा मणिलाल नमुमाई द्विधेदीका किया हुआ और बड़ीदा राजवकी ओरसे छपाया हुआ 'चतुर्विंशति प्रबन्ध' का गुजराती भाषान्तर, पृ. ४७-४८ ।

(१) ' ये पुनः कुमुदीसिद्धत्या सम्यग्देशन-
चारित्राणि वमन्ति ते शुभमर्मवासं प्रतीत्य वाग्याः ।
बौद्धसङ्गत्यैकविंशतिकृत्योऽहं दुर्ममत्यागिध्रीहरिमद्रस्-
रिशिष्यपश्चात्तदुपज्ञललितवित्तराप्रतिबुद्ध्यासिद्धवत् । '

—उपदेशरत्नाकर, पृ० १८

(२) ' मिथ्यावृष्टिस्तत्त्वे हरिमद्रसूगिशिष्यसि-
द्धसाधुर्जातम्, स सौगतमतरहस्यमर्मग्रहणार्थं गतः ।
तस्मैर्भाविता गुरुदत्तवचनत्वान्मुक्तालपनायगतो गुरु-
भिर्भावितो बौद्धानामपि दत्तवचनत्वान्मुक्तालपनार्थं
गतः । एवमेकविंशतिवारान् गतागतमकरोति । त-
त्त्वतिबोधनार्थं गुरुकृतललितवित्तरारूपशक्तस्तयवृत्त्या
दृष्टं प्रतिबुद्धः श्रीगुरुपार्थं तस्यौ । '

—आद्यप्रतिकमणाय शेषिका ।

इस प्रकार इन ग्रन्थकारोंके मतसे तो सिद्धपि
साक्षात् हरिमद्रसूरि ही के हस्त-दीक्षित शिष्य थे।
इनके मतको कहां तक प्रामाणिक समझना चाहिए,
यह एक विचारणीय मदन है। क्यों कि ये तो
सिद्धपि के दीक्षागुरु, जो गर्गमुनि हैं और जिनकी
पूर्व-शुरुपरंपरा तकका उल्लेख सिद्धपिने स्वयं
वपनी कथाकी प्रशस्तिमें किया है, उनका सूचन
तक बिल्कुल नहीं करते और सुद्ध हरिमद्र ही के
पास इनका दीक्षा लेना बतलाते हैं। सो यह कथन
स्पष्टतया प्रमाण विरुद्ध दिखाई दे रहा है। सिया
सिद्धपि जैसे अथर्व प्रतिभाशास्त्री गुरुको इस तरह
२१ बार इधर उधर भगो बिलाकर एक बिल्कुल
भौतिक जैसा चित्रित किया है इस लिये इनके
कथनकी किमत बहुत कम जांकी जा सकती है।

सिद्धपि के जीवन सम्बन्धी, प्रमाणिक चरित्र और
प्रयत्नकीयके लेखकोंके उक्त मतोंसे कुछ भिन्न
एक तीसरा मत भी है जो गडियाल गच्छकी एक
प्राकृत पट्टावलीमें मिलता है। यह पट्टावली कथकी
बनी हुई है और किसी विभवसनीय है, सो तो उसे
पूरी देखविना नहीं कह सकते। मुनि धनविज-
यजीने चतुर्पेरुतिनिर्णयशंकोद्वार नामक पुस्तकमें,
इस पट्टावलीमेंसे प्रस्तुत विषयका जो पाठ उद्धृत

किया है उसी परसे हम यहां पर-यह तीसरा मत
उल्लिखित कर रहे हैं। इस पट्टावलीके लेखकके
मतसे सिद्धपि के मूल दीक्षागुरु तो गर्गाचार्य या
गर्गमुनि ही थे-हरिमद्र नहीं। हरिमद्र और सिद्ध-
पि के गुरुशिष्यभावके सम्बन्धमें पट्टावलीकारका
कथन इस प्रकार है—पूर्वोक्त कथानुसार, बौद्ध-
संसारके कारण जब सिद्धपि के विचारोंमें बारंबार
परिवर्तन होने लगा तब उनके गुरु गर्गर्षिने हरि-
मद्रसूरीको, जो बौद्धमतके बड़े भारी ज्ञाता थे, वि-
द्वान्नी की कि कोई ऐसा उपाय कीजिए कि जिससे
सिद्धपि का मन-स्वधर्ममें स्थिर हो जाय। फिर
सिद्धपि जब अपने गुरुके पास पुनर्मीलनके लिये आये
तब हरिमद्रने उनकी बहुत कुछ समझाया परन्तु
वे सन्तुष्ट न हुए और वापस बौद्धमठमें चले गये।
इससे फिर हरिमद्रने तर्कपूर्ण ऐसा ललितवित्तरा
वृत्ति बनाई। इसके बाद हरिमद्रका मृत्यु हो गया।
मरते समय ये गर्गाचार्यको यह वृत्ति सौंपते गये
और कहते गये कि अब जो सिद्धपि आये तो उन्हें
यह वृत्ति पढ़नेको देना। गर्गाचार्यने धार्मिक ऐसा ही
किया और अन्तमें उस वृत्तिके अवलोकनसे सिद्ध-
पि का मन स्थिर हुआ। इसी लिये उन्होंने हरि-
मद्रकी अपना गुरु माना और उस वृत्तिको 'मदर्थ
निर्मिता' बतलाई।

२०-२४ पट्टावलीमें, सिद्धपि के गुरु गर्गाचार्य और उनके गुरु
दुर्गसामीके स्वर्गमनकी बाल भी मिली हुई है। यथा
'अहं दुर्गसामी विक्रमभो १०२ चरिते देवल्लोचं
गतो । तस्सीसो सिरिसेणो आयरियपप डिओ ।
गममायसियाति विक्रमभो ११२ चरिते कालं गया
तप्पण सिद्धायरिओ । एवं दो आयरिया विह-
रं ।' अर्थात्-दुर्गसामी विक्रमसंवत् १०२ में स्वर्ग
गये। उनके शिष्य धर्मग आचार्य पद ऊपर बैठे । गर्गा-
चार्य भी विक्रम संवत् ११२ में मरणान्त हुए। अर्थात् १४
पर शिद्धपि बैठे। इस प्रकार धर्मग और शिद्धपि
दोनों आचार्य एक साथ रहते थे। यदि यह क-
थन मजबूत हो इसके ऊपरसे सिद्धपि के शिष्यत्व होनेका
अनुमान किया जा सकता है। क्योंकि उनमें गुरु गर्गसामी
अथ ११२ में मृत्यु प्राप्त हुए थे, तो कमसे कम १०-११
वर्ष पहले ही शिद्धपिने उनके पास दीक्षा अवश्य ही ली।

सिया और किसी संयत्ता साबित नहीं किया जाता, तब तक प्रभावकचरित्रकी ये दोनों बातें कपोलकल्पित ही माननी पड़ेंगी।

डॉ. मिरोनो (Dr. N. Mironow) ने Bulletin de l'Academie Imperiale des Sciences de St.-Petersburg, 19 " में सिद्धांश ऊपर एक लेख प्रकाशित किया है जिसमें श्रीचन्द्रकेवली-चरित्र नामक ग्रंथमें से निम्न लिखित दो श्लोक उद्धृत किये हैं^{३१}।

वस्यङ्केषु (५९८) मिते वपे श्रीसिद्धांपरिदं महत् ।

प्राक् प्राकृतचरित्राद्धि चरित्रं संस्कृतं व्यधात् ॥

तस्मान्नानार्थसन्दोहादुद्धृतेषु कथात्र च ।

न्यूनाधिकान्यथायुक्तेर्मिथ्यादुक्कृतमस्तु मे ॥

इन श्लोकोंका सार मात्र इतना ही है कि—
सिद्धांपिने संयत् ५९८ में, प्राकृत भाषामें वने हुए पूर्वके श्रीचन्द्रकेवलीचरित्र ऊपरसे संस्कृतमें तथा चरित्र बनाया था। सिद्धांपि अपनी उपमि० कथाके यन्नेका संयत्सर ९६२ लिखते हैं और इस चरित्रमें ५९८ वर्षका उल्लेख किया हुआ है। इस प्रकार इन दोनों वर्षोंके बीचमें ३६४ वर्षका अन्तर रहता है। इस लिये डॉ. मिरोनोका कथन है कि यदि इस ५९८ वें वर्षको गुप्त संवत् मान लिया जाय तो इस विषयका सर्वथा परिहार हो जाता है। क्योंकि ५९८ गुप्त संवत्तमें ३७६ वर्ष सामिल कर देने पर विक्रम संवत् ९७४ हो जाता है और यह समय सिद्धांपिके उपमि० कथावाले संवत्सर ९६२ के समीपमें आ पहुँचता है।

इस प्रकार सिद्धांपिके समयवाधिके बारेमें जितने उल्लेख हमारे देखनेमें आये हैं उन सबका सार हमने यहाँ पर दे दिया है। हरिमद्रसूरिके समय-विचारके साथ सिद्धांपिके समय-विचारका धीनष्ठ सम्बन्ध होनेसे हमें यहाँ पर इस विषयका इतना विस्तार करनेकी आवश्यकता पड़ी है।

सिद्धांपि-विषयक इन उपर्युक्त उल्लेखोंसे पाठक या जान सकेंगे कि हरिमद्रसूरि और सिद्धांपिके

३१ डॉ. जेकीवीने भी अपनी १९०० प्रस्तावनाके अंतमें, क्राएसे दिवणके साथ इन श्लोकोंके उल्लेख दिये हैं।

गुरुशिष्यभावके सम्बन्धमें, और इसी कारणसे इन दोनोंके सत्ता-समयके विषयमें जैन ग्रन्थकारोंके परस्पर कितने विरुद्ध विचार उपलब्ध होते हैं। परंतु आश्चर्य यह है कि इन इतने विचारोंमेंभी कोई ऐसा निश्चित और विश्वसनीय विचार हमें नहीं मालूम देता, जिसके द्वारा इस प्रश्नका निराकरण किया जा सके कि हरिमद्र और सिद्धांपिके बीचमें गुरुशिष्यभावका क्या अर्थ है?—वे दोनों समकालीन थे या नहीं?। इस लिये अब हमको, इन सब उल्लेखों को यहाँ छोड़ कर, खुद सिद्धांपि और हरिमद्र ही के ग्रन्थोंक आन्तर प्रमाणोंका ऊहापोह करके, तथा अन्य ग्रंथोंमें मिलते हुए इसी विषयके संवादी उल्लेखोंके पूर्वापरभावका यथासाधन विचार करके, उनके द्वारा इन दोनों महात्माओंके सम्बन्ध और समयकी—मीमांसा करनेकी आवश्यकता है। उसके सिया, इस विषयका निराकरण होनेका शक्य है।

इस विषयके विचारके लिये हमने जितने प्रमाण संगृहीत किये हैं उनकी विस्तृत विवेचना करनेके पड़ले, हम यहाँ पर जैनदर्शनविचार डॉ. हमने जेकीवीने वडे परिभ्रमके साथ, प्रकृत विषयमें कितने एक साधकवाधक प्रमाणोंका सूक्ष्मवृद्धिपूर्वक ऊहापोह करके, स्वसंपादित उपमितिभयप्रपञ्चाकी प्रस्तावनामें जो विचार प्रकाशित किये हैं उनका उल्लेख करना सुनासय समझते हैं।

डॉ. साहय अपनी प्रस्तावनामें सिद्धांपिके जीवनचरित्रके बारेमें उल्लेख करते हुए, प्रारंभमें उपमिति की प्रदांतिमें जो गुरुपरंपरा लिखी हुई है उसका सार दे कर हरिमद्रकी प्रशंसावाले पद्योंका अनुवाद देते हैं। और फिर लिखते हैं कि—

“मेरा विश्वास है कि हरिमद्र और सिद्धांपि विषयक इन उपर्युक्त श्लोकोंके पठनसे सभी निष्पत्तियाँ पाठकोंको निश्चय हो जायगा कि इनमें दिव्यने अपने साक्षान् गुरुका वर्णन किया है परंतु ‘परंपरापरक’ का नहीं। जिन प्रथम यूरोपीय विद्वान् प्रो. लुडमनने (जर्मन ओरिएण्टल सोसायटि-का जर्नल, पृ. ४३ पृ. ३४८ पर) इन श्लोकोंका अर्थ किया है उनका भी यही मतव्य था, और हमारे

इस अनुमानकी, उपमितिभयप्रपञ्चके प्रथम प्रस्तावमें सिद्धार्थिने जो हकीकत लिखी है उससे, पुष्टि भी होती है। वहाँ पर, भिक्षुक निष्पुण्यक आत्मसुधारके प्रारंभसे ले कर अन्तमें जब वह अपना कुत्सित भोजन फेंक देता है और पात्रको धोकर स्वच्छ कर डालता है; अर्थात् आलंकारिक भाषाको छोड़ कर सीधे शब्दोंमें कहें तो, जब वह दीक्षा ले लेता है तब तक उस भिक्षुको—इस सारे समय में—धर्मयोधकर गरु उपदेश देने वाले और रास्ता बतानेवाले वर्णित किये गये हैं। सिद्धार्थि स्वयं कहते हैं कि इस रूपककथामें वर्णित धर्मयोधकर गुरु आचार्य हरिभद्र ही हैं, और भिक्षुक निष्पुण्यक स्वयं मैं ही हूँ। इससे स्पष्टतया जाना जाता है कि सिद्धार्थिको दीक्षा लेने तक सद्योय देनेवाले और सन्मार्ग पर लानेवाले साक्षात् हरिभद्र ही थे।

“यद्यपि सिद्धार्थिके स्वकीय कथनानुसार वे हरिभद्रके समकालीन ही थे, परंतु जैनग्रन्थोक्त दन्तकथा, इन दोनों प्रसिद्ध ग्रन्थकारोंके बीचमें ४ शताब्दी जितना अन्तर चलती है। जैन परंपरा मुताबिक हरिभद्रका मृत्यु संवत् ५८५ में हुआ था और उपमितिभयप्रपञ्चकी रचना, रचयिताके उल्लेखानुसार ९६२ में हुई थी। हरिभद्र और सिद्धार्थिके बीचमें समय-व्यवधान बतलानेवाली दन्तकथा १३ वें शतकमें भी प्रचलित थी, ऐसा मालूम होता है। क्योंकि कि प्रभावकचरित्रकार हरिभद्र और सिद्धार्थिके चरित्रोंमें, इन दोनोंके साक्षात्कारके विषयमें कुछ भी नहीं लिखते। यद्यपि, वे इनके समयके सूचक चर्पोंका उल्लेख नहीं करते हैं, तथापि, इन दोनोंको वे समकालीन मानते हैं। ऐसा बिलकुल मालूम नहीं होता। क्योंकि कि वैसा मानते तो इनके चरित्रोंमें इस बातका अवश्य उल्लेख करते। तथा इन दोनोंके चरित्र जो दूर दूर पर दिये हैं,—हरिभद्रका चरित्र ९ वें सर्गमें और सिद्धार्थिका १४ वें सर्ग दिया है—वैसा न करके पासपासमें देते। प्रस्तुत विषयमें इस दन्तकथाके वास्तविक मूल्यका निर्णय करनेके लिये हरिभद्र और सिद्धार्थिके समय विचारकी, और उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे विषयोंकी पर्यालोचना करनी आवश्यक है।

“कथाकी प्रशस्तिके अन्तमें सिद्धार्थि लिखते हैं कि, यह ग्रन्थ, संवत् ९६२ के ज्येष्ठ शुक्ल ५मी गुरुवारके दिन जब चन्द्र पुनर्वसु नक्षत्रमें विद्यमान था, तब समाप्त हुआ। इसमें यह नहीं लिखा हुआ है कि, यह ९६२ का वर्ष वीर, विक्रम, गुप्त, शक आदिमेंसे कौनसे संवत्सरका है। यदि यह वर्ष विक्रम संवत्का मान लिया जाय तो उस दिनके विषयमें लिखे गये वार आदि सब ठीक ठीक मिल जाते हैं। विक्रम संवत् ९६२ के ज्येष्ठ शुक्ल ५मी के दिन ईस्वी सन् ९०६के मई मासकी १४वीं तारीख आती है। उस दिन चन्द्रमा सूर्योदयले लेकर मध्याह्नकालके बाद तक पुनर्वसु नक्षत्र में था। वार भी गुरु ही था। परंतु इस वर्षको वीर संवत् मानें तो उस दिन ई. स. ८३६ के मई मासकी ७ वीं तारीख आती है। वार उस दिन भी गुरु ही आता है, परंतु चंद्रमा सूर्योदयके समय पुष्य नक्षत्रमें रह कर फिर दो घंटे बाद अश्लेषा नक्षत्रमें चला जाता है। इस लिये नक्षत्र बराबर नहीं मिलता। अतः प्रस्तुत संवत् वीरसंवत् नहीं होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि, यदि इसे वीरसंवत् माना जाय तो यह विक्रम संवत् ४९२ होता है और इससे तो सिद्धार्थि अपने गुरु हरिभद्र, जो दंतकथाके कथनानुसार विक्रम संवत् ५८५ में स्वर्गस्थ हुए, उनसे भी पूर्वमें हो जानेवाले सिद्ध होते हैं। इस लिये सिद्धार्थिका संवत् निस्सन्देह विक्रम संवत् ही है और वह ई. स. ९०६ बराबर है।

“जैन परंपरा प्रचलित दन्तकथा मुजय हरिभद्रका मृत्यु समय विक्रम संवत् ५८५ (ई. स. ५२९) अर्थात् वीर संवत् १०५५ है। यह समय हरिभद्रके ग्रन्थोंमें लिखी हुई कितनीपक बातोंके साथ सम्बद्ध नहीं होता। पञ्चदशेनसमुच्चय नामक ग्रन्थमें हरिभद्र दिग्भाग शालाके वीरन्यायका संक्षिप्त सार देते हैं, उसमें प्रत्यक्षकी व्याख्या! प्रत्यक्ष कल्पना-पोद्गमभ्रान्त! ऐसी दी हुई है। यह व्याख्या न्याय-विन्दुके प्रथम परिच्छेदमें धर्मकीर्तिका दी हुई व्याख्याके साथ शब्दशः मिलती है। दिग्भागकी व्याख्यामें ‘अभ्रान्त’ शब्द नहीं मिलता। उनकी

व्याख्या इस प्रकार है—‘प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नाम-
जात्याद्यसंयुतम् ।’ (देखो, न्यायवार्तिक, पृ. ४४;
तात्पर्य टीका, पृ. १०२; तथा सतीशचन्द्र विद्याभू-
षण लिखित—मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्रका
इतिहास, पृ. ८५, नोट २.) हरिभद्रसूरिकी वी
हुई व्याख्यामें आवश्यकतीय ‘अभ्रान्त’ शब्दकी
वृद्धि हुई है, इस लिये जाना जाता है कि उन्होंने
धर्मेकीर्तिका अतुकरण किया है। धर्मेकीर्तिका समय
जैन दन्तकथामें बतलाये गये हरिभद्रके मृत्युसम-
यसे १०० वर्ष पीछे माना जाता है। इस लिये हरि-
भद्रका यह संवत् सत्य नहीं होना चाहिए। पुनः
पद्मदर्शनसमुच्चयके ११ वें श्लोकमें हरिभद्रसूरि
बौद्धन्याय सम्मत लिंग (हेतु) के तीन रूप इस
प्रकार लिखते हैं—

रूपणि पदधर्मसं सपक्षे विद्यमानता ।

विपक्षे नास्तित्वा हेतोरेवं श्रीणि विभाव्यताम् ॥

यह बौद्ध न्यायका सुज्ञात सिद्धान्त है, परन्तु
हरिभद्र प्रयुक्त पक्षधर्मसं पद कास ध्यान रखने
लायक है। क्योंकि न्यायशास्त्रके एरणे ग्रन्थोंमें
यह पद दृष्टिगोचर नहीं होता। प्राचीन न्यायग्रन्थोंमें
इस पदवाच्य भावको दूसरे शब्दों द्वारा प्रकट
किया गया है। यह पद न्यायग्रन्थोंमें पीछेसे प्र-
युक्त होने लगा है। इससे जाना जाता है कि
हरिभद्रसूरि, कहे जानेवाले समयसे बादमें हुए
होने चाहिए। अष्टक प्रकरण नामक अपने ग्रन्थके
४ थे अष्टकमें हरिभद्र सूरिने शिवधर्म्मोत्तरका
उल्लेख किया है। इससे भी यही बात जानी जाती
है; क्योंकि अज्ञात समयका यह ग्रन्थ बहुत पुरातन
ही ऐसा प्रतीत नहीं होता। शंकराचार्य भेदाभ्युत्तर
उपनिषद्की टीकामें इस ग्रन्थका नाम मिलता है।
यदि, हरिभद्रसूरिके ग्रन्थोंका ठीक-ठीक अभ्यास
किया जाय, और उनका बराबर शोध लगाया
जाय तो, दन्तकथामें बतलाये हुए समयसे वे अवी-
खान समयमें हुए थे, इसका प्रायः निर्णय हो
जायगा।

“हरिभद्रसूरिके स्वर्गमनकी साल (जो विक्रम
संवत् ५८५ और वीर संवत् १०५५ है) ई६. १ सा६

शताब्दीसे प्राचीन नहीं ऐसे ग्रन्थोंमेंसे मिल आती
है। पिछले ग्रन्थकारोंने यह साल मनगढ़न्त खड़ी
कर दी है, ऐसा कहनेका मेरा आशय नहीं है, परन्तु
वास्तविक बातका भ्रान्त अर्थ करनेके कारण यह
भूल उत्पन्न हुई है, ऐसा मैं समजता हूँ। अन्तिम
नोटमें (-देखो नीचेकी वी हुई टिप्पणी) दिखलाये
हुए मेरे अनुमानका संस्कार करके प्रो० ल्युमन
लिखते हैं (जर्मन ओरिएण्टल सोसाइटीका जर्नल
पृ. ४३ पृ. ३४८.) कि ‘अन्याय सालोंके (वही
जर्नल पृ. ३७, पृ. ५४० नोट.) समान हरिभद्रके
स्वर्गमनकी सालके धारमें भी संवत् लिखनेमें ग्रंथ-
कारोंको भ्रान्ति हुई है। ५८५ की जो साल है वह
वीर या विक्रम संवत् की नहीं है परन्तु गुप्त संवत्
की है। गुप्त संवत् ईस्वी सन् ३१९ में शुरू हुआ
था। इस हिसाबसे हरिभद्रके स्वर्गमनकी साल
ई. स. ९०३ आती है, अर्थात् ‘उपमितिमवप्रपञ्चा-
की रचनासमगति’के २ वर्ष पहले आती है। यह
कथन सत्य हो सकता है; परन्तु, दन्तकथामें प्रच-
लित वीर संवत् की १०५५ वाली साल की जाय
और भ्रान्ति (भूल) उसमेंसे उत्पन्न हुई है ऐसा
माना जाय तो इस दन्तकथावाली सालमें होने-
वाली प्रास्तिका खुलासा एक दूसरी तरह से भी
किया जा सकता है। इस कल्पनाके करनेमें मुझे
निम्न लिखित कारण मिलता है। ‘पद्मचरित्यं
नामक ग्रन्थके अन्तमें, उसके कर्ता विमलसूरि
कहते हैं कि, यह ग्रन्थ उन्होंने वीर निर्वाण बाव
५३० (दूसरी पुस्तकमें ५२०) के वर्षमें बनाया है।
ग्रन्थकर्ताके इस कथनको नहीं माननेमें कोई का-
रण नहीं है। परन्तु वह बंध ईस्वीसन्के ४ थे वर्षमें
बना था, यह मानना कठिन लगता है। मेरे अंभि-
प्रायके मुताबिक ‘पद्मचरित्यं’ ईस्वीसन्की ३ वी
या ४ थी शताब्दीमें बना हुआ होता चाहिए। यदि
जैसा हो; परन्तु पूर्वकालमें महावीर निर्वाण काल

जर्मन ओरिएण्टल सोसाइटीका जर्नलकी ४० वी जि-
ल्वेमें, पृ. ९४ पर, मैंने लिखा है कि—हरिभद्रसूरि और श्री-
लाङ्कानाथ दोनोंके यह जिनमद या जिनमद थे, इस लिये
वे दोनों समकालीन थे। शीलाङ्कने आचाराङ्गसूत्र काय
५९६, ई. स. ४०६ में टीका लिखी है।

की गणना वर्तमान गणनाकी तरह एक ही प्रकार-से नहीं होती थी। ऐसा सन्देह लानेमें कारण मिलते हैं और अगर ऐसा न हो तो भी प्राचीन कालमें निर्वाण समयकी गणनामें भूल अवश्य चली आती थी, जो पाँछसे सुधार ली गई है । ”

— डॉ. डेकोचीकी उक्ति० प्रस्तावना, पृ. १-१० ।

डॉ. साहयके इस संय कथनका एकदर सार इतना ही है कि वे हरिभद्र और सिद्धार्थि—दोनोंको समकालीन मानते हैं और उनका समय सिद्धार्थि-के लेखानुसार विक्रमकी १० वीं शताब्दी स्वीकरणीय मतलाते हैं । हरिभद्रकी मृत्यु-संवत् सूचक गायामें जो ५८५ वर्षका जिकर है वह वर्ष विक्रम संवत्सरका नहीं परंतु गुप्त संवत्सरका समझना चाहिए। गुप्त संवत् और विक्रम संवत्के बीचमें ३७६ वर्ष का अन्तर रहता है । इस लिये ५८५ में ३५६ मिलानेसे ९६१ होते हैं । इधर सिद्धार्थि-की कथाके ९६२ में समाप्त होनेका स्पष्ट उल्लेख है ही । अतः वे दोनों वरपर समकालीन सिद्ध हो जाते हैं । हरिभद्रके मृत्यु संवत् ५८५ को विक्रमीय न माननेमें मुख्य कारण, एक तो सिद्धार्थि जो उनको अपना गुरु मतलाते हैं वह है, और दूसरा यह है कि हरिभद्रके निजके ग्रन्थोंमें ऐसे ग्रन्थकारोंका उल्लेख अथवा सूचन है, जो विक्रमीय ६ वीं शताब्दीके बाद हुए हैं । इस लिये उनका उतने पुराणे समयमें होना दोनों तरहसे असंगत है ।

सामान्य शैलिये एक मनुष्यके ब्यावहारिक जीवनके २० वर्ष गिनते हैं और इस प्रकार एक शताब्दीमें पाँच पुरुष-परंपराके हो जानेका साधारण सिद्धान्त स्वीकार करते हैं । इस लिये ४ पटके ज्यादासे ज्यादा छौं सवासौ वर्ष बाद कर, हरिभद्रको सोधे सिद्धार्थि-के समकालीन मान लेनेमें अधिक युक्ति संगतता है ।)

दूसरा प्रमाण धनविजयजीने यह दिया है कि—रत्नसंचय प्रकरणमें, निम्न लिखित भाषाधर्म हरिभद्रका समय और संवत् १२५५ लिखा है । यथा—

‘पणपणवारससण हरिभद्रो सूरि आसि भुज्यकेण’

इस भाषाके ‘द्वयार्थ’ में लिखा है कि—‘वीरपी वारसे पंचावन वर्ष श्रीहरिभद्रसूरि थाया । पूर्वसंघ (३) ना करनार ।’ इस पर धनविजयजी अपनी दिशानी करते हैं कि, वीर संवत् १२५५ मेंसे ४७० वर्ष निकाल देनेपर विक्रम संवत् ७८५ आते हैं । संभव है कि, हरिभद्र सूरिका आयुष्य सौ वर्ष जितना दीर्घ हो और इस कारणसे वे सिद्धार्थि-के, निदान भाष्या-वक्ष्यामें तो, समकालीन हो सकते हैं (!) ।

तिसरा प्रमाण उन्होंने यह लिखा है—‘दशाक्षतस्कन्ध सूत्रकी टीकाके कर्ता महापिंने ‘सुमतिनागिलचतुष्पदी’ में लिखा है कि, महानिशीथसूत्रके उद्धारकर्ता हरिभद्रसूरि वीरनिर्वाणवादा १४०० वर्षमें हुए । यथा—

‘यस वउदेसे वीरह पछे,

ए ग्रंथ लखिगो तेणे अ छे

दसपूर्वलग सूत्र कहाय,

पने अनेकान्तजयपताकादि दूसरे ग्रन्थोंमें उन महात्त वौद्ध तार्किकके हेतुबिन्दु आदि ग्रन्थोंमेंसे अनेक अवतरण भी दिये हैं और पचासों वार साक्षात् उनका स्पष्ट नामोल्लेख तक भी किया है। इस लिये डॉ. साहबका यह अनुमान निःसन्देह रूपसे सत्य है कि धर्मकीर्ति हरिभद्रके पुरोयायी थे। परंतु इस प्रमाण और कथनसे हरिभद्रका सिद्धार्थिके साथ एक कालमें होना हम नहीं स्वीकार सकते। यदि डॉ. जेकोवाके कथनके विरुद्ध जानेवाला कोई निश्चित प्रमाण हमें नहीं मिलता, तब तो उनके उक्त निर्णयमें भी आविश्वास लाने की हमें कोई जरूरत नहीं होती और नाहीं इस विषयके पुनर्विचारकी आवश्यकता होती। परंतु हमारे सम्मुख एक ऐसा असन्दिग्ध प्रमाण उपस्थित है जो स्पष्टरूपसे डॉ. साहबके निर्णयके विरुद्ध जाता है। इसी विरुद्ध प्रमाणकी उपलब्धि के कारण इस विषयकी हमें फिरसे जांच करने की जरूरत मालूम पड़ी और तदनुसार प्रकृत उपक्रम किया गया है।

अपनी इस जांचके परिणाममें हमें जो जो नये प्रमाण मिले हैं उनको क्रमशः उल्लिखित करनेके पहले और उन प्रमाणोंके आधार पर जो सिद्धान्त हमने स्थिर किया है उसका विस्तृत स्वरूप बतलानेके पहले, पाठकोंके ज्ञानसौकर्यार्थ, अपने निर्णयका सारांश हम प्रथम यहाँ पर कह देते हैं कि, हमारे शोधके मुताबिक हरिभद्रसूरि न तो उक्त प्रकृत गाथा आदि लेखोंमें बतलाये मुजिय ६ वीं शताब्दी में विद्यमान थे; और न डॉ. जेकोवा साहब आदि लेखकोंके कथनानुसार, सिद्धार्थिके समान १० वीं शताब्दीमें मौजूद थे। परंतु श्रमण भगवान् श्रीमहावीरदेव प्ररूपित आर्हत दर्शनके अजरामर सिद्धान्तस्वरूप 'अनेकान्तवाद' की 'जयपताका' की भारतवर्षके आध्यात्मिक आकाशमें उन्नत उन्नततर रूपसे उड़ाने वाले थे 'श्वेतामिश्र' महात्मा अपने उज्ज्वल और आदर्श जीवनसे, आठवीं शताब्दीके सौभाग्यकी अलंकृत करते थे।

अपने इस निर्णयकी प्रमाणित करनेके लिये हमें केवल दो ही बातोंका समाधान करना होगा। एक तो सिद्धार्थिके जो हरिभद्र सूरिजी अपने धर्म-

बोधकर गुरु बतलाये हैं, उसका क्या तात्पर्य है, इस बातका; और दूसरा, प्रकृत गाथामें और उसके अनुसार अन्यान्य पूर्वोक्त ग्रन्थोंमें हरिभद्रका स्वर्गमन जो विक्रम संवत्के ५८५ वें वर्षमें लिखा है उसका स्वीकार क्यों नहीं किया जाता, इस बातका। इसमें पहली बातका-सिद्धार्थिके लिखे हुए हरिभद्रपरक गुरुवक्ता-समाधान इस प्रकार है—

‘उपमितिभयप्रज्ञा कथामें लिखे हुए सिद्धार्थिके एतद्विषयक वाक्योंका सूक्ष्मशुद्धिपूर्वक विचार किया जाय और उनका पूर्वापर सम्बन्ध लगाया जाय तो प्रतीत होगा कि, सिद्धार्थिके हरिभद्रको अपने साक्षात् (प्रत्यक्ष) गुरु नहीं मानते परंतु परोक्षगुरु-अर्थात् आरोपितरूपसे गुरु-मानते हैं। उपमि० की प्रशस्तिमें जो उन्होंने अपनी गुरुपरंपरा दी है, उसका विचार यहां अवश्य कर्तव्य है। इस प्रशस्तिके पाठसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि सिद्धार्थिके दीक्षाप्रदायक गुरु गर्गर्पि थे-अर्थात् उन्होंने गर्गर्पिके हाथसे दीक्षा ली थी। प्रशस्तिके सातवें पद्यमें यह बात स्पष्ट लिखी हुई है। यथा—

सर्वादिशार्थकं तस्य स्वस्य चाहं गुरुवत्सम् ।

नमस्यामि महाभागे गर्गर्पिमुनिपुङ्गवम् ॥

प्रशस्तिके पाठसे यह भी ज्ञात होता है कि, गर्गर्पि मात्र सिद्धार्थिके ‘दीक्षा गुरु’ थे, बाकी और सब प्रकारका गुरुभाव उन्होंने दुर्गेश्वामीमें स्थापित किया है। क्यों, कि दुर्गेश्वामीकी प्रशंसामें जब उन्होंने ५-६ श्लोक लिखे हैं और अपनेको उनका ‘चरणरेणुकल्प’ लिखा है, तब गर्गर्पिको केवल एक श्लोकमें नमस्कार मात्र किया है। साथमें इस उपर्युक्त श्लोकमें दुर्गेश्वामीको भी दीक्षा देने वाले गर्गर्पि ही बतलाये हैं। इससे यह भी अनुमान होता है कि, शायद, गर्गर्पि मूल सूर्याचार्यके शिष्य और देहमहत्तरके गुरुवन्धु होंगे।^१ उन्होंने

३२ ऊपरका कथन लिखे बाद पठिसे जब प्रभावकधरित्र में देखा तो उषमें वही बात लिखी मिली जो हमने अनुमानित की है। अर्थात् प्रमा० कारने गर्गर्पिको सूर्याचार्य के ‘विनेय’ (शिष्य) लिखे हैं। यथा—

‘आसीद्विश्वसिगच्छे च सूर्याचार्यं धियां निधिः ।

ताद्विनयेऽथ गर्गर्पिरहं दीक्षागुरुस्तव ॥’

प्रभावकधरित्र, पृ० २०१, श्लो. ८५ ।

दुर्गस्वामीको दीक्षा अपने हाथसे दी होगी, परंतु गुरुतया देहमहत्तरका नाम प्रकट किया होगा (—ऐसा प्रकार आज भी देखा जाता है और दूसरे जुने ग्रन्थोंमें इस प्रकारके उदाहरणोंके अनेक उल्लेख भी मिल आते हैं) । सिद्धपिकों भी उन्होंने या तो दुर्गस्वामीके ही नामसे दीक्षा दी होगी, अथवा अपने नामसे दीक्षा देकर भी उनको दुर्गस्वामीके स्वाधीन कर दिये होंगे, जिससे शास्त्राभ्यास आदि सब कार्य उन्होंने उन्हींके पास किया होगा । और इस कारणसे सिद्धपिने मुख्य कर उन्हींको गुरुतया स्वीकृत किये होंगे । यह चाहे जैसे हो; परंतु कहनेका तात्पर्य यह है कि सिद्धपिकों प्रदर्शितके पाठसे तो उनके गुरु दुर्गस्वामी और साधमें गर्गपि पात होते हैं । ऐसी दशामें यहाँ पर, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि डॉ. जेकोबांक कथनानुसार सिद्धपिकों धर्मबोध करनेवाले सूरि यदि साक्षात् रूपसे आचार्य हरिमद्र ही होते तो फिर ये उन्हींके पास दीक्षा ले कर उनके हस्तदीक्षित शिष्य क्यों नहीं होते ? गर्गपि और दुर्गस्वामीके शिष्य प्रमाणों पर ध्यान देकर देखेंगे कि उनके उदाहरणोंके

श्लोकमें सिद्धपि 'अनागतं परिज्ञाय' ऐसा वाक्य-प्रयोग करते हैं । 'अनागतं' शब्दका यहाँ पर दो तरहसे अर्थ लिया जा सकता है — एक तो, यह शब्द सिद्धपिका विशेषण हो सकता है; और इसका विशेष्य 'मां (मुझको)' यह अध्याहृत रहता है, इस विचारसे, इसका अर्थ 'अनागत याने भविष्यमें होनेवाले ऐसे मुझको जानकर' ऐसा होता है । दूसरा यह शब्द क्रियाविशेषण भी बन सकता है, और उसका व्याकरणशास्त्रकी पद्धति अनुसार 'अनागतं यथा स्वात् तथा परिज्ञाय' ऐसा शब्दबोध होता है । इसका अर्थ 'अनागत याने भविष्यमें जैसा होगा वैसा जान कर' ऐसा होता है । दोनों तरहके अर्थका तात्पर्य एक ही है और वह यह है कि सिद्धपिके विचारसे हरिमद्रका ललित-विस्तररूप बनानेवाला कार्य भविष्यकालीन उपकारकी दृष्टिसे है । इससे यह स्वतः स्पष्ट है कि हरिमद्रने ललितविस्तरा किसी अपने समानकालीन शिष्यके विशिष्ट बोधके लिये नहीं बनाई थी । और जब ऐसा है तो, तर्कसरणिके अनुसार यह

स्वयंसिद्ध हो गया कि, उस वृत्तिको अपने ही विशिष्ट बोधके लिये रची गई माननेवाला शिष्य, उन आचार्यसे अवश्य पाँछे ही के कालमें हुआ था । हमारे विचारसे, प्रस्तुत श्लोकके उत्तरार्धमें ललितविस्तराके विशेषणरूपमें 'मदर्थेव कृता— (मेरे ही लिये की गई)' ऐसा जो पाठ है उसकी जगह 'मदर्थेव कृता— (मानों मेरे लिये की गई)' ऐसा होना चाहिए । क्यों कि उक्त रीतिसे जब सिद्धपि अपना अस्तित्व हरिभद्रके बाद-किसी समयमें-होना सूचित करते हैं तो फिर उनकी कृतिको निश्चयरूपसे (५५कार शब्दका प्रयोग कर) अपने ही लिये बनाई गई कैसे कह सकते हैं ? इस लिये यहाँ पर 'इव' जैसे उपमावाचक (आरोपित अर्थसूचक) शब्दका प्रयोग ही अर्थ संगत है । बहुत संभव है कि उपनि ० की दूसरी हस्तलिखित पुस्तकोंमें इस प्रकारका पाठभेद मिल भी जायँ ।

ललितविस्तरा वृत्ति सिद्धपिंको किस रूपमें उपकारक हो पड़ी थी, अथवा किस कारणसे उन्होंने उसका स्मरण किया है, इस बातका पता उनके लेखसे बिल्कुल नहीं लगता । उनके चरित्रलेखक, जो, बौद्धधर्मके संसर्गक कारण जैनधर्मपरसे उनका चित्तव्रंश होता और फिर इस वृत्तिके अलोकनसे पुनः स्थिर होना, इत्यादि प्रकारकी बातें लिखते हैं, वे कहाँ तक सत्य हैं इसका कोई निर्णय नहीं हो सकता । ललितविस्तराकी पञ्जिका लिखनेवाले मुनिचंद्रमुरि, जोसिद्धपिसे मात्र २०० वर्ष बाद हुए हैं वे भी इस प्रवादकी पुष्टि प्रमाणरूप गिना जाय, ऐसा ही अपना अभिप्राय लिखते हैं^{३३} ।

३३ प्रभासक चरित्रमें 'मदर्थे निमित्ता येन' ऐसा पाठ सूचित है । इसी तरह दूसरी पुस्तकोंमें उक्त प्रकारका दूसरा पाठ भी मिलना बहुत संभावित है ।

३४ मुनिचंद्रमुरिने पञ्जिकामें ललितविस्तरा वृत्तिहो विवृति करनेके लिये अपने असमर्थता बताते हुए निम्न लिखित पद्य लिखा है ।—

'यौ मुद्रया दित विद्वताभुगविलम्बाद्वाचानुपमानभिः
सम्पृष्टः सुगतपक्षी तसमयः प्रवासात्तत्त्वेनतः ।
पक्षुर्नः स्वरुनी पुनर्मुद्रतया चक्रे जनाश्रमधी
हो हनी विष्वक्पक्षी नाम विवृति एवैवै दपन्नामम ॥'

परन्तु, इधर जब हम एक तरफ ललितविस्तरामें चर्चित विषयका विचार करते हैं और दूसरी तरफ उपमितिमें वर्णित सिद्धपिंके आन्तर जीवनका अभ्यास करते हैं तब, इन दोनों ग्रन्थोंमें, इस प्रचलित प्रवादकी सत्यताका निश्चायक ऐसा कोई भी प्रमाण हमारी दृष्टिमें नहीं आता । ललितविस्तरामें यद्यपि अहंत्वकी आतता और पूर्यता बड़ी गंभीर और हृदयङ्गमरीतिसे स्थापित की गई है, तथापि उसमें ऐसा कोई विशेष विचार नहीं है जिसके अवलोकनसे, बौद्धन्यायशास्त्रके विशिष्ट अभ्यासके कारण सिद्धपिं जैसे प्रतिभाशाली और जैनशास्त्रके पारदर्शी विद्वान्का स्वधर्मसे चलायमान हो जानेवाला मन सहजमें पुनः स्थिर हो जाय । हाँ, यदि हरिभद्र ही के बनाये हुए अनेकान्तजयपताकादि ग्रन्थोंके लिये ऐसा विधान किया हुआ होता तो उसमें अवश्य सत्य माननेकी श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है । क्यों कि उन ग्रन्थोंमें बौद्ध शास्त्रके समग्र कृतकोंका बड़ी सकाट्य युक्तिसे द्वारा संपूर्ण निराकरण किया गया है । दूसरी बात यह है कि, यदि सिद्धपिंका उक्त प्रवादालुता वैसा जोविश्वविश्रुत धर्मव्रंश हुआ होता तो उसका जिकर ये उपमिति०के प्रथम प्रस्तावमें अपने 'स्वसंवेदन' में अवश्य करते । क्यों कि सांसारिक कुवासनाजन्म धर्मव्रंशका वर्णन विस्तराके साथ उन्होंने दो तीन जगह किया है (देखो, उप० पृ. १३-१४) परन्तु दार्शनिक कुसंस्कारजन्य धर्मव्रंशका उल्लेख कहाँ भी नहीं किया है । यद्यपि एक जगह, कृतके चाले ग्रन्थ और उनके प्रणेता कुतैयिक, सुध जनको किस प्रकार ज्ञान करते हैं और तस्यामिमुक्तासे किस प्रकार पराङ्मुख बनाते हैं, उसका उल्लेख आया है (देखो, उप० पृ. ४६) ; तथापि वह सर्वसाधारण और निष्पुण्यकी भगवद्धर्मप्राप्तिके पूर्वका वर्णन होनेसे उस परसे सिद्धपिंके प्रावृद्धिक धर्मव्रंशका कुछ भी सूचन नहीं होता । अतः इस बातका हम कुछ निर्णय नहीं कर सके कि ललितविस्तरा वृत्तिक स्मरण सिद्धपिंने क्यों किया है । हाँ, इतनी बात तो जानी जाती है कि यह वृत्ति उन्हें अभ्यस्त अवश्य थी और इस पर उनकी

भक्ति थी । क्यों कि इस वृत्तिकी वाक्प्रशैलीका उन्होंने अपने महान् ग्रन्थमें उत्तम अतुकरण किया है, इतना मात्र ही नहीं है परंतु इसमें जितने उत्तम अतुम धार्मिक भावनावाले वाक्य हैं वे सब एक सूरि जगद् ज्यों के त्यों अन्तर्हित भी कर लिये हैं । प्रवृत्ति के लिये चतुर्थ प्रस्तावमें जहां पर, रत्नावन, राजा, विचक्षण नामके सूरिके पास ना कर बैठता है, तब सूरिने जो उपदेशात्मक वाक्य उसे कहे हैं वे सब सिद्धार्थिने ललितविस्तरा ही मेंसे ज्यों के त्यों उद्धृत किये हैं (देखो, उपमि. पृ. ४७७, और ललित० पृ. ४६-७)। इसी तरह, सातवें प्रस्तावमें भी एक जगद् बहुतसा उपदेशात्मक अवतरण यथायत् उद्धृत (अन्तर्हित) किया हुआ है (उपमि. पृ. १०९२ और ललित. पृ. १६६) । इससे यह निश्चित ज्ञात होता है कि सिद्धार्थिकों यह ग्रन्थ बहुत प्रिय था और इस प्रियतामें कारणभूत, किसी प्रकारका इस ग्रन्थका, उनके ऊपर विशिष्ट उपकारकाय ही होगा । बिना ऐसे विशिष्ट उपकारकायके, उक्त रीतिले, इस ग्रन्थका सिद्धार्थिशास्त्रा बहुमान किया जाना संभवित और संगत नहीं लगता । जिस ग्रन्थके अध्ययन वा मननसे अपना आत्मा उपकृत होता है, उस ग्रन्थके प्रणेता महाशुभावकी भी अपना उपकारी मानना-समजना और तदर्थ उसकी नमस्कारादि करना, यह एक कृतग्र और सज्जनका प्रसिद्ध लक्षण है, और वह सर्वानुभव सिद्ध ही है । अतः हरिमद्रके समकालीन न होने पर भी सिद्धार्थिकों, उनको गुरु तथा पूज्य मान कर नमस्कारादि करना और उन्हें अपना परमोपकारी बतलाना तथा उनकी यनाई हुई ललितविस्तरा वृत्तिके लिये 'मदर्थेय कृता--मानों मेरे लिये की गई' की भावनात्मक कल्पना करना सर्वथा युक्तिसंगत है ।

उपयुक्त कथनानुसार सिद्धार्थि हरिमद्रसूरिकी अपेक्षासे अनागत याने भविष्यकालवर्ती थे, यह बात निश्चित सिद्ध होती है । इसी बातका विदित होकर उन्होंने, उपमिति० के प्रथम प्रस्तावमें और भी स्पष्ट रूपसे कर दिया है । इस प्रस्तावमें, सिद्धार्थिने, निष्पुण्यक भिखारीके राजमन्दिरके चौकमें

प्रविष्ट होने पर उस पर महाराजकी दयादृष्टि दृष्टिके पड़नेका, और उस दृष्टिपातको देख कर, महाराजकी पाकशालाके धर्मबोधकर नामक अधिकारिके मतमें, उसके कारणका विचार करनेका, जो रूपकात्मक वर्णन दिया है, उस वर्णनको फिर अपने अन्तरङ्ग जीवन ऊपर घटाते हुए तथा रूपकका अर्थ-स्फुट करने हुए उन्होंने लिखा है कि—

‘ यथा च तां महाराजदृष्टिं तत्र रोरं निपन्ती धर्मबोधकराभिधानो मदानसन्निधुको निरीक्षिष्या-
नित्युक्तम्, तथा परमेश्वरावलोकनां मज्जीवे भवतीं धर्मबोधकरणश्रीलो ‘ धर्मबोधकरः ’ इति यथार्थाभिधानो मन्मागोपदेशकः ’ सूरिः ’ स निरीक्षते स्म,
(उपमिति, पृ. ८०)

अर्थात्—‘ पहले जो भोजनशालाके अधिकारी धर्मबोधकरने उस भिखारीपर पड़ती हुई महाराजकी दृष्टि देखी ’ ऐसा कहा गया है, उसका भावार्थ ‘ धर्मका बोध (उपदेश) करनेमें तत्पर होनेके कारण ‘धर्मबोधकर’ के यथार्थ नामको धारण करने-वाले ऐसे जो मेरे मार्गोपदेशक सूरि हैं, उन्होंने मेरे जीवन ऊपर पड़ती हुई परमेश्वरकी अवलोकना (ज्ञानदृष्टि) को देखी, ऐसा समझना चाहिए ।’

इस रूपककी अपने जीवनपर इस प्रकार उपमित करते हुए सिद्धार्थिके मतमें यह स्वाभाविक शंका उत्पन्न हुई होगी कि, ‘ रूपकमें जो धर्मबोधकरका, भिखारीपर पड़ती हुई दृष्टिके देखनेका वर्णन दिया गया है वह तो साक्षात् रूपमें है । अर्थात्, जब भिखारी ऊपर महाराजकी दृष्टि पड़ती थी तब धर्मबोधकर (पाकशालाधिपति) वहां पर प्रत्यक्ष रूपसे हाजर था । परंतु इस उपमितायमें तो यह बात पूर्णरूपसे घट नहीं सकती । पयों कि, परमेश्वर तो सर्वज्ञ होनेसे उनकी दृष्टिका पड़ना तो मेरे ऊपर वर्तमानमें भी सुघटित है, परंतु जिनकी मैंने आपना धर्मबोधकर गुरु माना हैं, वे (हरिमद्र) सूरि तो मेरे इस वर्तमान जीवनमें विद्यमान हैं ही नहीं और न वे परमेश्वरकी तरह सर्वज्ञ ही माने जा सकते हैं, इस लिये इस उपमानकी अर्थ-

संगति कैसे लगाई जाय ? [पाठक यहाँ पर यह बात ध्यानमें रखें कि सिद्धार्थिने इस सारे प्रसङ्गमें जिस धर्मबोधकर गुरु का वर्णन दिया है वह हरिभद्रसूरिको ही लक्ष्य कर है । क्योंकि, प्रदास्तिमें यह बात खास तौरसे, उन्होंने लिख दी है । देखो ऊपर पृष्ठ २९ पर, हरिभद्रकी प्रदीप्तमं लिखे गये तीन श्लोकों का पहला श्लोक ।]

इस शब्दाका उन्मूलन करनेके लिये और प्रकृत उपमानकी अर्थ सङ्गति लगानेके लिये उस क्रान्तदर्शी महर्षिने अपने अनुपम प्रातिभ कौशलसे निम्न लिखित कल्पनाका निर्माण कर अपूर्व सुदृष्ट-चातुर्य बतलाया है । वे लिखते हैं कि—

‘सद्धान्वलेन विमलीभूतात्मानः परहितकनि-
रतचित्ता भगवन्तो ये योगिनः पशत्येव देशकालव्य-
वाहितानामपि जन्तूनां लुप्तमावास्थायाऽपि वर्तमाना
वृत्तापेक्षा भगवदवलोकनाया योग्यताम् । पुगेवर्तिनां
पुनः प्राणिनां भगवद्भगवत्प्रेरितमत्तयाऽपि योग्य-
तां लक्षयन्ति, तिष्ठन्तु विशिष्टज्ञाना इति । ये च मम
सन्तुष्टदेशार्थिनो भगवन्तः सूर्यस्ते विशिष्टज्ञाना एव,
यतः कालव्यवाहितरनागतमेव वैज्ञातः समस्तोऽपि
मदीया वृत्तान्तः । स्वसंवेदनसिद्धिगतेदम्माकामिति ।’

उ० पृ० ८० ।

अर्थात्—‘सद्धान्वलेन कलसे जिनका आत्मा
निर्मल हो गया है और जो परहितमें सदा तत्पर
रहते हैं ऐसे योगी महात्मा- लुप्तमावस्था यानि
अत्यन्तदूरातमें भी विद्यमान हो कर, अपने उपयोग
(ज्ञान) द्वारा, देशान्तर और कालान्तरमें होनेवाले
प्राणियोंकी, भगवान्के दृष्टिपातेके योग्य ऐसी, यो-
ग्यताको जान लेते हैं । तथा इसी तरह जिनकी
मति भगवान्के आगमोंके अध्ययनसे विमुक्त हो-
गई है ऐसे आगमाभ्यासी पुरुष भी इस
प्रकारकी योग्यताको जान सकते हैं तो
फिर विशिष्टज्ञानियों (भुक्तप्राणियों) की तो
बात ही क्या है ? और जो मरेको मरुपदेदा
देनेवाले आचार्य महाराज हैं वे तो विशिष्टप्राणी
ही हैं । इस लिये ‘कालसे व्यवहित’ यानि काला-
न्तरमें (पूर्वकालमें) होने पर भी, उन्होंने ‘यना-

गत, यानि भविष्यकालमें होनेवाला मेरा समग्र वृत्त
जान लिया था । यह बात हमारी स्वसंवेदन (स
नुभव) सिद्ध है ।’

इस उल्लेख पर किसी प्रकारकी शंकाकी जरूरत नहीं है । स्वरूपसे सिद्धार्थि कहते हैं कि, मेरे कालव्यवाहित अर्थात् पूर्वकालमें हो जानेवाले धर्मबोधकर सूरि (जो स्वयं हरिभद्र ही है) ने उअनागत यानि भविष्यकालमें होनेवाला मेरा समग्र वृत्तान्त जान लिया था उसका कारण यह है कि वे विशिष्टज्ञानी थे । हरिभद्र सूरि सचमुच हैं सिद्धार्थिके जीवनके धारमें कोई भविष्यलेख लिख गये थे या कथागत उपमिताथकी संगतिके लिखे सिद्धार्थिको यह स्वोन्नामित कल्पना मात्र है । इस बातके विचारनेकी यहाँ पर कोई आवश्यकता नहीं है । यहाँ पर इस उल्लेखकी उपयोगिता इसी दृष्टिसे है कि, इसके द्वारा हम यह स्पष्ट जान सके हैं कि हरिभद्रसूरि सिद्धार्थिके समकालीन नहीं । किन्तु पूर्वकालीन हैं ।

इस प्रकार सिद्धार्थिके निजके उल्लेखसे तो हमें भद्रसूरिकी पूर्वकालीनता सिद्ध होती ही है, परंतु इस पूर्वकालीनताका विशेष साधक और अधिक स्पष्ट प्रमाण प्राकृत साहित्यके एक प्रमुक्तमणिसम (कुल्लयमाला) नामक कथाग्रन्थमेंसे भी मिलता है । यह कथा दाक्षिण्यचिन्हके उपनामवाले उद्योतनसूरिने बनाई है । इसकी रचना-समाप्ति शक संवत् साते सौ के समान होनेमें जय एक दिग्गन्धन था तब, अर्थात् शक संवत् ६९९ के वैश्वक्रण १४ के दिन— हुई थी । यह उल्लेख कर्तान, स्वयं प्रशस्तिके निम्न प्रकारसे किया है—

‘..... अहं चोद्दीप्ति चित्तस्य किण्वपकृतिम् ।
निम्नविधा बोहकरी भवधानं होउ सत्त्वाणं ॥’

× × × ×
२८ राजपूताना और उनपर भारतमें पूर्वमान्य माना जाता है । इस लिये यहाँ पर इसी वर्षमान्यता का ही अपेक्षाके वैश्वक्रणका उल्लेख किया हुआ है । दाक्षिण भारत की अपेक्षाके फामुनक्रण गणनाया चाहिए । वही कि यहाँ पर अमान्य मान्य मान्यता है । गुजरातमें भी यही अनन्य माध प्रचलित है ।

‘सगकाले बोलै जे वरिसाण सणहिं वचहिं गएहिं ।

एगदिणे णुणैहिं एस समत्त वरण्हमि ॥’

[टिप्पणी]—यह कथा प्राकृत साहित्यमें एक अमूल्य रत्नमान है। खेदकी बात है कि ऐसे उत्तम और महत्त्वके ग्रन्थ आज तक किसी शोधक विद्वानकी दृष्टिक नहीं पड़ी। उन्नी एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति, डेकनकालमें संरक्षित, स्वर्द्धरारके सुप्रसिद्ध पुस्तकालयमें संगृहीत है। यह कथा ‘ए’ के ढंग पर बनी हुई है। इसकी रचनशिकी वाणकी पौरुषागिका या त्रिविक्रमकी नलचम्पू के जैसी है। काव्य-मरुति उत्तम प्रकारकी और भाषा बहुत मनोरम है। गूढतभाषाके अभ्यासियोंके लिये यह एक अनुपम ग्रन्थ है। इस कथामें कविये की तुल्य और विनादके वशीभूत हो कर मुल्ल कुल्लत भाषाके सिवा अपभ्रंश और पैदाशी भाषामें भी किन्तु एक वर्णन लिखे हैं, जिनकी उपयोगिता मायाशास्त्रियोंकी दृष्टिसे और भी अत्यधिक है। अपभ्रंश भाषामें मिले गए इतने प्राचीन वर्णन अभी तक अन्वय वहाँ नहीं प्राप्त हुए हैं। इस लिये, इस दृष्टिसे विद्वानोंके लिये यह एक बहुत महत्त्वकी चीज है। इस कथाका विस्तृत परिचय हम एक स्वतंत्र लेख द्वारा देना चाहते हैं। सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र सूरिके पुत्रवर श्रीदेवचन्द्रसूरिने ‘सतिनाह चरिय’ के उपोद्घात में, पूर्व कवियों और उनके उत्तम प्रयोगोंकी प्रशंसा करते हुए इस कथामें कर्ताकी भी इस प्रकार प्रशंसा की है—

दक्षिणदक्षिण नमामि वरचणभासिया सगुणा ।

कुवल्लयमाल ध्व महा कुवल्लयमाला कहा जस्त ॥

इस कथाका संक्षिप्त संस्कृत रूपान्तर १४ वीं शताब्दीमें होनेवाले रामप्रभसूरि नामके एक विद्वान्ने किया है जिसे भावनगरीके जैन आचार्यभद्र समाने छपवा कर प्रकट किया है।

इस कथा और इसके कर्ताका उल्लेख प्रभावक चरितके सिद्धार्थ प्रपञ्चमें आया हुआ है। वही पर ऐसा वर्णन किया है कि—‘दक्षिणचन्द्र नामके सिद्धार्थके एक गुह्य भ्राता थे। उन्होंने गुंगाररुसे भर्ता हुई ऐसी कुवल्लयमाला कथा बताई थी। (सिद्धार्थके जैन ‘उपदेसमाला’ नामक ग्रन्थ ऊपर बताया गयी थी) टीका लिखी तब दक्षिणचन्द्रने उनका उप-दास करते हुए कहा कि पुराणमें योंके अक्षरों की कुछ उलटा पुलटा कर नया ग्रन्थ बनानेमें क्या महत्त्व है? शायद तो ‘समराइच्छचरित’ जैसा कहा जा सकता है जिसके पढ़नेके समुप्य भूत-प्रासके भी भूल जाते हैं। अथवा नेरी बनाई हुई कुवल्लयमाला कथा भी कुछ वैसी ही कही जा

सकती है, जिसके बाननेसे मनुष्यको उत्तरोत्तर रसास्वाद आता रहता है। तुमारी रचना तो लेखक (लिपिकर=लिखे हुए पुस्तककी नकल करनेवाला)की तरह मात्र नकल बनाने जैसा है। अपने गुह्यभ्राता के ऐसे उद्घासनात्मक पञ्चन सिद्धार्थके दिलमें नुम मोघ और फिर उन्होंने अष्ट प्रस्ताव-बाली सुप्रसिद्ध उपमितिभवनपंचा कथाकी अपूर्व रचना की। इस सुबोध पद्यके आरम्भदर व्याख्यानकी सुन कर जैन समाज (संघ) ने सिद्धार्थकी मानप्रद ऐसी ‘व्याख्याता’ की पदवी समर्पित की। इत्यादि। (देखो, प्रभाव-कचित्र, निर्णयसागर, पृष्ठ २०१-२०२ खोके ८८-९०)

(डॉ. जेकोबी, प्रभावकचरित्रके इस वर्णनकी बराबर समझ नहीं सके इस लिये उन्होंने ‘कुवल्लयमाला कथा’ की सिद्धार्थ की कृति समझ कर ‘असम्भव अर्थ’ लिख दिया है। (देखो, जेकोबी साहबकी उपमितिभवन की प्रस्तावना, पृष्ठ १२, तब: परिशिष्ट, पृष्ठ १०५)

कुल्लयमाला कथाकी प्रशंसितके देखनेसे मालूम पड़ता है कि प्रभावक चरितके कर्ताका उद्युक्त कथन विशुद्ध असत्य है। क्योंकि कुवल्लयमालाकी रचना उपमितिभवनपञ्चाली रचनासे १२० वर्ष पूर्व हुई है, इस लिये दाक्षिण्यचन्द्र (चिन्ह) का सिद्धार्थके पुरुषात्ता होनेका और उक्त शीतसे उद्घासनात्मक वाक्योंके कहनेका कोई भी सम्भव सत्य नहीं हो सकता। }

इस कथाके प्रारम्भमें वाणभट्टकी ‘हर्षाव्यायिका’ और धनपाल कविकी ‘तिलकमञ्जरी’ आदि कथाओंकी तरह, कितनेएक प्राचीन कवि और उनके प्रयोगोंकी प्रशंसा की हुई है। इस कविप्रशंसामें, अन्तमें, हरिभद्रसूरिकी भी—उनकी बनाई हुई प्रशमरस परिपूर्ण प्राकृत भाषात्मक ‘समराइच्छकहा’ के उल्लेख पूर्वक—इस प्रकार प्रशंसा की गई है—

जो इच्छा भवविरह भवविरह को न भोग सुयणो ।
समयसयसत्यगुणो समरामियका ३५ कहा जस्त ॥

— डेकनका संगृहीत पुस्तक, पृ. २ ।

३५ हरिभद्रसूरि तो स्वयं अपने इस पद्यका नाम ‘समराइच्छकहा’ अथवा ‘समराइच्छचरिय’ (चरिय समराइच्छकहा, पृ. ५, पं. १२) लिखा है, परंतु यहाँ पर ‘समरामियका’ (सं० समरामृगाका) ऐसा नाम उल्लिखित है; सो इस पाठभेदका कारण समझमें नहीं आता ।

हरिभद्रसूरिने प्रायः अपने सभी ग्रन्थोंके अंतमें, किसी न किसी तरह अर्थ-सम्यन्ध घटा करके 'भवविरह' अथवा 'विरह' इस शब्दका प्रयोग अवश्य किया है। इस लिये वे 'विरहाङ्क' कवि या ग्रन्थकार कहे जाते हैं। इनके ग्रन्थोंके सबसे पहले टीकाकार जिनेश्वरसूरिने (वि. सं. १०८०) अष्टक प्रकरणकी टीकामें, अन्तमें जहां पर 'विरह' शब्द आया है वहां पर, इस चारोंमें स्पष्ट लिखा भी है कि—

'विरह' शब्देन हरिभद्राचार्यकृतत्वं प्रकरण-
संग्रहेदितम्, विरहाङ्कनाम् हरिभद्रसूरिरिति।'

ऐसा ही उल्लेख अभयदेवसूरि (पंचाशकप्रकरण-
की टीकामें) और सुनिचन्द्रसूरि (ललितविस्तरा-
जिकामें) आदिने भी किया है। इसी आशयसे, कुचलयमालाके कर्ताने भी यहां पर श्रेष्ठके रूपमें 'भव-
विरह' शब्दका युगल प्रयोग कर हरिभद्रसूरिका
स्मरण किया है। साथमें उनकी 'समराङ्कचक्रहा'
का भी उल्लेख है, इससे, इस कुशदा के लिये तो
यहां पर, किञ्चित् भी अवकाश नहीं है कि, इन
हरिभद्रके सिया और किसी ग्रंथकारका इस उल्ले-
खमें करण हो। अष्टु।

इसी तरह, इस कथाकी प्रशस्तिमें भी हरिभद्र-
सूरिका उल्लेख मिलता है, जिसका विचार आगे
चल कर किया जायगा। इससे स्पष्ट है कि, हरि-
भद्रको, शक संवत् ७००, अर्थात् विक्रम संवत्
८३५-६, सं. ७७८ से तो अर्धांजीन किसी तरह

अथ यहां पर, यह दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है
कि, जब हरिभद्र इस प्रकार सिद्धार्थिक समकालीन
नहीं माने जा सकते, तब फिर पूर्वोक्त गायक
कथनानुसार उन्हें विक्रम की ६ठी शताब्दीमें मान
लेनेमें क्या आपत्ति है? क्यों कि उस समयका
बाधक मुख्य कारण जो सिद्धार्थिका उल्लेख समझा जाता
है वह तो उपर्युक्त रीतिसे निर्मूल सिद्ध होता है।

इस प्रश्नके समाधानके लिये विशेष गवेषणाकी
जरूरत होनेसे, जब हमने हरिभद्रके प्रसिद्ध प्रसिद्ध
सत्य ही उपलब्ध ग्रंथोंका, इस दृष्टि से, ध्यानपूर्वक
निरीक्षण किया, तो उनमें अनेक ऐसे स्पष्ट प्र-
माण मिल आये कि जिनकी ऐतिहासिक पूर्वापर-
ताका विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि
'गाथा' में बतलाये गये हरिभद्रका स्वर्गमन वि.
सं. ५८५ में—एवं ६ठी शताब्दीमें उनका होना
सत्य नहीं माना जा सकता।

जैसा कि हम प्रारंभ ही में सूचित कर आये हैं,
हरिभद्रसूरिने अपने दार्शनिक और तात्त्विक ग्रंथोंमें
कितनेएक प्राक्षण, यौद्ध आदि दार्शनिक विद्वानोंके
—नामोल्लेख पूर्वक—विचारों और सिद्धान्तों की
आलोचना-प्रत्यालोचना की है। इस कारणसे उन
उन विद्वानोंके सत्ता-समयका विचार करनेसे हरि-
भद्रके समयका भी ठीक ठीक विचार और निर्णय
किया जा सकता है। अतः अब हम इसी बातका
विचार करना शुरू करते हैं।

हरिभद्रसूरिके ग्रंथोंमें मुख्य कर निम्न लिखित
दार्शनिकों और शास्त्रकारोंके नाम मिल आते हैं—

लिये, इन विद्वानोंके समयका विचार, हरिभद्रके समय-विचारमें यड़ा उपयोगी हो कर उसके द्वारा हम ठीक ठीक यह जान सकेंगे कि हरिभद्र किस समयमें हुए होने चाहिए।

ऊपर जो आचार्यनामावली दी है उसमें वैयाकरण भर्तृहरिका भी नाम सम्मिलित है। अनेकान्त-जयपताकाके चतुर्थ अधिकांशमें, शब्द ब्रह्मकी मीमांसा करते हुए दो तीन स्थलपर हरिभद्रने इनका नामोल्लेख किया है और इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ वाक्यपदीयमेंसे कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं। यथा—

(१) आह च शब्दार्थतत्त्वविद् (भर्तृहरिः) —

‘वायूपता चेदुक्तामेदवबोधस्य शाश्वती।

न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

४४ अनेकान्तजयपताका ऊपर हरिभद्रने स्वयं एक संक्षिप्त पंक्त शब्दार्थका परिष्कृत करने वाली टीका लिखी है। [इस टीका के अन्तमें ऐसा उल्लेख है—‘कृतिधर्मतो जा (या) - किर्त्तनामहत्तरासुतोराचार्यग्रीहरिभद्ररूप। टीकाप्येषा यच्चुर्णिका प्राया। आचार्यमात्रयेदिनी नाम तस्यैवेति।’ इस टीकामें मूलग्रन्थमें जिन जिन विद्वानोंके विचारोंका अवतरणोंका संग्रह किया गया है उन सबके प्रायः नाम लिखा दिये हैं। मूल ग्रन्थमें उन्होंने कहीं पर भी किसी के मुख्य नाम का उल्लेख न कर के जिस शास्त्रका जो पारंपरिक ज्ञाता है उसके सूत्रक किसी विशेषणसे अपवा और किसी प्रसिद्ध उपनामसे उस उस विद्वान का स्मरण किया है। फिर टीकामें उन सबका स्पष्ट नामोल्लेख भी कर दिया है। कहीं पर मूल ग्रन्थमें ‘उक्तं च’ मात्र पढ़ कर ही अन्योंके अवतरण उद्धृत कर दिया है और फिर टीकामें उसी तरह नाम लिखा दिया है। यही क्रम ‘शास्त्रनामामुच्यते’ की खोजमें टीकामें भी उपलब्ध होता है। इस क्रमानुसार, ऊपर जो ‘शब्दार्थतत्त्वविद् भर्तृहरिः’ विशेषण है उसका परिष्कृत टीका में ‘शब्दार्थतत्त्वविद् भर्तृहरिः’ ऐसा किया है। अर्थात् इसमें ‘शब्दार्थतत्त्वविद्’ यह विशेषण भर्तृहरि का है, ऐसा समझना चाहिए। शोध पर जहाँ कहीं हम टीकामें ऐसे ऐसे मुख्य नामोंका उद्धृत करें वहाँ पर पाठक इस नाट की सत्यमें रहेंगे।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन जायते ॥

(२) उक्तं च (भर्तृहरिणा) —

‘यथानुवाकः श्लोका वेति।’

(अनेकान्तजयपताका, अमदावाद पृष्ठ, ४१.)

चीनदेश निवासी प्रसिद्ध प्रवासी इत्सींग ई. स. की ७ वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें भारतमें भ्रमण करनेको आया था। उसने अपने देशमें जा कर ई. स. ६९५ में अपना भ्रमण-वृत्तान्त लिखा। इसमें, उसने, उस समय भारतवर्षमें व्याकरणशास्त्रका अध्ययन-अध्यापन जिस रीतिसे प्रचलित था उसका वर्णन लिखा है और साथ में मुख्य मुख्य वैयाकरणोंके नाम भी लिखे हैं। भर्तृहरिके विषयमें भी उसने लिखा है कि—‘ये एक प्रसिद्ध वैयाकरण थे, और इन्होंने ७०० श्लोककी संख्या वाले वाक्यपदीय ग्रंथकी रचना की है। इस ग्रंथका जिक्र करके उस प्रवासीने यह भी लिखा है कि इसके कर्ताकी ई. स. ६५० में मृत्यु हो गई है। इत्सींगके इस उल्लेखके विरुद्धमें आज तक कोई विशेष प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ; इस लिये इसे सत्य मान लेनेमें कोई हरकत नहीं है।

महात्मीमांसक कुमारिलने ‘तन्त्रवार्तिक’ के प्रथम प्रकरणमें शब्दशास्त्रियोंकी कुछ खबर ली है। उसमें पाणिनि, कात्यायन और पतंजलीके साथ साथ भर्तृहरिके ऊपर भी आक्षेप किये गये हैं। ‘वाक्यपदीय’ मेंसे अनेक श्लोकोंको उद्धृत कर

४५ काशीमें मुद्रित ‘वाक्यपदीयके प्रथमकाण्डमें ये दोनों श्लोक (पृष्ठ ४६-७) पूर्वापर के क्रमसे अर्थात् आगे पीछे लिखे हुए मिलते हैं। पिछले श्लोकके ४ वें पदमें ‘सर्वे शब्देन भासते’ ऐसा पाठ भेद भी उपलब्ध है। मल्लिक विगम्बर विद्वान विद्यानन्दी ने ‘अष्टसहस्री’ [१. १३०] में और प्रभाचंद्रने ‘प्रमेयकमलमार्तण्ड’ [४. ११] में भी इन दोनों श्लोकोंकी वाक्य, पदोंके क्रमसे उद्धृत किये हैं। बादी देखसुनिने भी ‘स्यात्तादत्ताकर’ (पृ. ४२) में इन को दिया है।

४६ वाक्यपदीय, पृ. ४३ में यह पूर्वाश्लोक इस प्रकार है यथानुवाकः श्लोको वा सोऽन्यमुपगच्छति।

आवृत्त्या, न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्त्या निरूप्यते ॥ ४७ देखो, मो. मेंह मूल लिखित India: what it can teach us ?, पृष्ठ २१०।

उनकी तीव्रण समालोचना की है । उदाहरणके लिये 'वाक्यपदीय' और 'तन्त्रवार्तिक' में से निम्न लिखित स्थल ले लीये जाय ।

वाक्यपदीयके (पृ० १३२) दूसरे प्रकरणमें १२१ वां श्लोक इस प्रकार है:—

अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याख्यलक्षणम् ।

अपूर्वदेवतास्वर्गः सममाहुर्वादिषु ॥

कुमारिल भट्टने तन्त्रवार्तिकमें इस श्लोकको दो अंगह (बनारस की आवृत्ति पृ. २५१-२५४) उद्धृत किया है । ग्रन्थ—
'यथाहुः—

अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याख्यलक्षणम् ।

अपूर्वदेवतास्वर्गः सममाहुर्वादिषु ॥' इति ।

यत्तु 'अपूर्वदेवतास्वर्गः सममाहुः' इति, तत्राभिधीयते ।

वाक्यपदीयके प्रथम प्रकरणमेंके ७ वें श्लोकका उत्तरार्द्ध, तन्त्रवार्तिक (पृष्ठ २०९-१०) में कुमारिलने उद्धृत किया है और उसमें शब्दप्रत्ययार्थन कर भर्तृहरिके विचारका अचरकन्दन किया है:—

यदपि केनचिदुक्तम्—

'तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ।' इति

चंद्रपरसगन्धर्शव्यपि वक्तव्यमासीत् ।

को हि प्रत्यक्षगम्यार्थे शास्त्रात्तत्त्वावधारणम् ।

शास्त्रलोकस्वभावज्ञ ईदृशं वक्तुमर्हति ? ॥

अत एव श्लोकाद्योच्यते, वक्तव्यम्—

'तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति श्रोत्रेन्द्रियादृते ।'

न ह्यत्र कश्चिद्विप्रतिपद्यते वधिरन्वेवमदृष्टत्वात् ।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ प्रो. का. वा. पाठकने अपने 'भर्तृहरि और कुमारिल' नामक नियन्धमें इस ऊपर लिखे गये प्रमाणाधारसे निर्णय किया है कि कुमारिल ई.स.की ८ वीं शताब्दीके पूर्व भागमें हुए होंगे । अध्यापक पाठक लिखते हैं कि—

मेरे विचारसे यह तो स्पष्ट है कि कुमारिलके समयमें व्याकरणशास्त्रके शाताओंमें भर्तृहरि भी एक विदित प्रमाणभूत विद्वान् माने जाते थे । भर्तृहरि

अपने जीवनकालमें तो इतने प्रसिद्ध हुए ही नहीं होंगे कि जिससे पाणिनि-संप्रदायके अनुयायी, उन्हें अपने संप्रदायका एक आस पुरुष समझने लगे हों और अतएव पाणिनि और पतंजलिके साथ वे भी महान् मीमांसककी समालोचनाके निदान बने हों । इसी कारणसे हुपनत्सांग, जिसने ई. स. ६२९-६४५ के बीचमें भारत-भ्रमण किया था, उसने इनका नाम तक नहीं लिखा; परंतु इत्सींग, जिसने उक्त समयसे आधी शताब्दी बाद आपना प्रवास-वृत्त लिखा है, वह लिखता है कि भारत-वर्ष के पाँचों खण्डोंमें भर्तृहरि एक प्रख्यात वैयाकरणके रूपमें प्रसिद्ध हैं । इस विवेचनसे हम ऐसा निर्णय कर सकते हैं कि जिस वर्षमें तन्त्रवार्तिककी रचना हुई उसके और भर्तृहरिके मृत्युवाले ई.स. ६५० के बीचमें आधी शताब्दी बीत चुकी होगी । अतएव कुमारिल ई. स. की ८ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें विद्यमान होने चाहिए ।

हरिभट्टने अपने अनेक ग्रन्थोंमें मीमांसा-दर्शनकी आलोचना-प्रत्यालोचना की है । शास्त्रवार्ता-समुच्चयके १० वें प्रकरणमें मीमांसक प्रतिपादित 'सर्वश-निषेध' पर विचार किया गया है । उसमें पूर्वपक्षमें कुमारिल भट्टके मीमांसा-श्लोकवार्तिकके—

'प्रमाणपञ्चके यत्र वस्तुरूपे न बाधते ।

वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणतां ॥'

इस श्लोकका, 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' (उक्त प्रकरणमें के ४ वें श्लोक)के

'प्रमाणपञ्चकाऽप्युपेतत्राभाव प्रमाणतां ।'

इस श्लोकार्द्धमें केवल अर्थशः ही नहीं परंतु शब्दशः अनुकरण किया हुआ स्पष्ट दिखाई देता है ।

इसी तरह, मीमांसा-श्लोकवार्तिकके चौदवा-खंड वाले प्रकरणमें—जहाँ पर वेदोंकी स्वतः प्रमाणता स्थापित करनेकी मीमांसा की हुई है—निम्न लिखित श्लोकार्द्ध कुमारिलने लिखा है:—

'तत्मादालोकवद् वेदे सर्वसाधारणे सति ।'

मीमांसा श्लोकवार्तिक, पृ. ७४ ।

४९ मीमांसा श्लोकवार्तिक, पृष्ठ ४७३ ।

५० शास्त्रवार्तासमुच्चय, (देवचंद ला. पुस्तकालय फंडसे मुद्रित) पृष्ठ ३४९ ।

उनकी तीक्ष्ण समालोचना की है । उदाहरणके लिये 'वाक्यपदीय' और 'तन्त्रवार्तिक' जैसे निम्न लिखित स्थल ले लीये जाय ।

वाक्यपदीयक (पृ० १३२) दूसरे प्रकरणमें १२१ वां श्लोक इस प्रकार है:—

अस्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याख्यलक्षणम् ।

अपूर्वदेवतास्वर्गः सममाहुर्गवादिषु ॥

कुमारिल भट्टने तन्त्रवार्तिकमें इस श्लोकको दो जगह (बनारस की आवृत्ति पृ० २०१-२०५) उद्धृत किया है । यथा—

'यथाहुः—

‘अस्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याख्यलक्षणम् ।

अपूर्वदेवतास्वर्गः सममाहुर्गवादिषु ॥’ इति ।

यत्तु 'अपूर्वदेवतास्वर्गः सममाहुः।' इति, तत्राभिधीयते ।

वाक्यपदीयके प्रथम प्रकरणमेंके ७ वें श्लोकका उत्तरार्द्ध, तन्त्रवार्तिक (पृष्ठ २०९-१०) में कुमारिलने उद्धृत किया है और उसमें शब्दप्रसारवर्तन कर भर्तृहरिके विचारका अवस्कन्दन किया है:—

यदपि केनचिदुक्तम्—

‘तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ।’ इति

तद्वपरसगन्वदर्थेव्यपि वस्तव्यमासीत् ।

को हि प्रत्यक्षगम्यार्थं शास्त्रात्तत्त्वावधारणम् ।

शास्त्रलोकस्वभावज्ञ इदृशं वक्तुमर्हति ? ॥

अत एव श्लोकयोः उत्तरार्द्धं वस्तव्यम्—

‘तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति श्रोत्रेन्द्रियादृते ।’

न ह्यत्र कश्चिद्विप्रतिपद्यते बधिरेष्वेवमदृष्टत्वात् ।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ प्रो. का. पा. पाठकने अपने 'भर्तृहरि और कुमारिल' नामक नियन्त्रणमें इस ऊपर लिखे गये प्रमाणधारसे निर्णय किया है कि कुमारिल ई.स.की ८ वीं शताब्दीके पूर्व भागमें हुए होंगे । अध्यापक पाठक लिखते हैं कि—“मेरे विचारसे यह तो स्पष्ट है कि कुमारिलके समयमें व्याकरणशास्त्रके ज्ञाताओंमें भर्तृहरि भी एक विशिष्ट प्रमाणभूत विद्वान् माने जाते थे । भर्तृहरि

अपने जीवनकालमें तो इतने प्रसिद्ध हुए ही नहीं होंगे कि जिससे पाणिनि-संप्रदायके अनुयायी, उन्हें अपने संप्रदायका एक आस पुरुष समझने लगे हों और अतएव पाणिनि और पतंजलिके साथ वे भी महान् मीमांसककी समालोचनाके निशान बने हों । इसी कारणसे ह्यनत्सांग, जिसने ई. स. ६२९-६४५ के बीचमें भारत-भ्रमण किया था, उसने इनका नाम तक नहीं लिखा, परंतु इसीग, जिसने उक्त समयसे आधी शताब्दी बाद अपना प्रवास-वृत्त लिखा है, वह लिखता है कि भारत-वर्ष के पाँचों खण्डोंमें भर्तृहरि एक प्रख्यात वैयाकरणके रूपमें प्रसिद्ध हैं । इस विवेचनसे हम ऐसा निर्णय कर सकते हैं कि जिस वर्षमें तन्त्रवार्तिककी रचना हुई उसके और भर्तृहरिके मृत्युवाले ई.स. ६५० के बीचमें आधी शताब्दी थीत लुकी होगी । अतएव कुमारिल ई.स. की ८ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें विद्यमान होने चाहिए ।”

हरिभद्रने अपने अनेक ग्रन्थोंमें मीमांसा-दर्शनकी बालोचना-प्रत्यालोचना की है । शास्त्रवार्ता-समुच्चयके १० वें प्रकरणमें मीमांसकप्रतिपादित 'सर्वश-निवेध' पर विचार किया गया है । उसमें पूर्वपक्षमें कुमारिल भट्टके मीमांसा-श्लोकवार्तिकके—

‘प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।

वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्रामावप्रमाणंती ॥’

इस श्लोकका, 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' (उक्त प्रकरणमें के ४ र्थ श्लोक)के

‘प्रमाणपञ्चकाऽवृत्तेस्तत्राभाव प्रमाणंती ।’

इस श्लोकार्द्धमें केवल अर्थशः ही नहीं परंतु शब्दशः अनुकरण किया हुआ स्पष्ट दिखाई देता है ।

इसी तरह, मीमांसा-श्लोकवार्तिकके बोधना-सूत्र वाले प्रकरणमें—जहाँ पर वेदोंकी स्वतः प्रमाणता स्थापित करनेकी मीमांसा की हुई है—निम्न लिखित श्लोकार्द्ध कुमारिलने लिखा है:—

‘तस्मादलोकवद् वेदे सर्वसाधारणे सति ।’

मीमांसा श्लोकवार्तिक, पृ. ७४ ।

४९ मीमांसा श्लोकवार्तिक, पृष्ठ ४०३ ।

५० शास्त्रवार्तासमुच्चय, (देवचंद ला. पुस्तकालय) पृष्ठ ३४९ ।

४७ जर्नल आव दि बॉय्स् प्रिच शेवल एसियाटिक सोसायटी, पृ. १८, पृ. २१३-२३८ ।

इसी श्लोकार्थको शास्त्रघातों-समुच्चयके उक्त प्रकरणमें हरिभद्रने भी निम्नलिखित श्लोकमें तद्वत्-
प्रकृत प्रारंभके एक शब्दका परिवर्तन कर-उद्धृत
किया है। यथा—

आहचालोकवहेदे सर्वसाधारणे सति ।

धर्माधर्मपरिज्ञाता किमर्थं कल्प्यते नरः ॥ ११

और फिर इस श्लोककी स्वोपशब्द-व्याख्यामें 'आह च
कुमारिलादिः' इस प्रकार स्वयं ग्रंथकर्ताजि साधर्म
साक्षात् कुमारिलका नामोल्लेख भी कर दिया है ।

इस प्रमाणसे यह ज्ञात हो गया कि हरिभद्रने
जैसे धैर्याकरण भर्तृहरिकी आलोचना की है वैसे
ही भर्तृहरिके आलोचक मीमांसक कुमारिलकी
भी समालोचना की है ।

ऊपर लिखे सुताधिक प्रो. पाठकके निर्णयानुसार
कुमारिलका समय जो ई. स. की ८ वीं शताब्दीका
पूर्वाद्ध मान लिया जाय तो फिर हरिभद्रका समय
भी वही मानना प्यारिए । क्योंकि इस शताब्दीके
उत्तरार्धके मध्य-भागमें-ई. स. ७३८ में-समाप्त
होनेवाली कुचलयमाला कथामें पूर्णतः उल्लेखानु-
सार स्पष्ट रूपसे हरिभद्रका नामस्मरण किया हुआ
विद्यमान है । ऐसी दशामें उल्लिखित कुमारिल-
समय और यह हरिभद्र समय दोनों एक ही हो
जाते हैं । अतएव इन दोनों आचार्योंको समकालीन
मान लेनेके सिवा दूसरा कोई मत दिखाई
नहीं देता ।

इस मतकी पुष्टिमें अन्य प्रमाण भी यथेष्ट उप-
लब्ध होते हैं, जो भी यतलावे हैं ।

हरिभद्रके ग्रंथोंमें जिन जिन बौद्ध विद्वानोंके
नाम मिलते हैं उनकी सूचि ऊपर दी गई है । इन
विद्वानोंमेंसे आचार्य वसुपुत्र और महामति दि-
ग्भाग तो प्राग्गत नामाथमें उल्लिखित हरिभद्रके
मृत्यु-समयसे निर्विवाद रीतिसे पूर्वकाल ही में
हो चुके हैं, इस लिये उनके जिकरकी तो यहाँ पर
कोई अपेक्षा नहीं है, परंतु धर्मपाल, धर्मकीर्ति, धर्मा-

त्तर और शांतरक्षित आदि विद्वान् मायोक्तः हरि-
भद्रके मृत्युसमयसे अर्वाचीन कालमें हुए हैं, ऐसा
ऐतिहासिकोंका यत्नमत है । इस लिये हरिभद्रका
समय भी गांधीक समयसे अंशद्वय अर्वाचीन मान-
ना पड़ेगा । यहाँ पर प्रथम हम हरिभद्रके ग्रंथोंमें-
से उन कुछ अवतरणोंको उद्धृत कर देते हैं जिनमें
धर्मपालादि बौद्ध विद्वानोंका जिकर पाया जाता
है । फिर उनके समयका विचार करेंगे ।

अनेकान्तजयपताकाके ४ वें परिच्छेदमें, जहाँ
पर पदार्थोंमें अनेकधर्मोंके अस्तित्वका स्थापन
किया गया है, वहाँ पर एक प्रतिपक्षी बौद्धके मुख-
से निम्न लिखित पंक्तियोंका उच्चारण ग्रंथकारने
करवाया है—

‘स्यादेतत्सिद्धसाधनम्, एतदुक्तमेव नः पूर्वाचार्यः-
द्विविधा हि रूपादीनां शक्तिः— सामान्या प्रतिनि-
यता च । तत्र सामान्या यथा पटसन्निवेशामुद-
काधाहरणादिकार्यकरणशक्तिः । प्रतिनियता यथा
चक्षुर्विज्ञानादिकार्यकरणशक्तिरिति ।’

(अनेकान्तजयपताका, अमरावाद, पृ. ५०)

इस अवतरणके पूर्वभागमें जो ‘नः पूर्वाचार्यः’
यह वाक्यांश है, इसकी स्पष्ट व्याख्या स्वयं ग्रंथ-
कार ने इस प्रकार की है—

‘नः—अस्माकंपूर्वाचार्यः—धर्मपाल-धर्मकीर्त्यादिभिः ।’

इससे स्पष्ट है कि उद्धृत अवतरणको हरिभद्रने
धर्मपाल और धर्मकीर्तिके विचारोंका सूचक बत-
लाया है । धर्मपालका स्पष्ट नामोल्लेख तो फलतः इसी
एक ही जगह हमारे देखनेमें आया है, परंतु धर्मकी-
र्तिका नाम तो पचासों जगह और भी लिखा हुआ
दिखाई देता है । ‘अनेकान्तजयपताका’ ग्रंथ कात्त
कर, मित्र मित्र बौद्धाचार्योंने अपने ग्रंथोंमें जैनध-
र्मके अनेकान्तपादका जो खण्डन किया था उसका
समर्पक उत्तर देने ही के लिये रचा गया था । ता-
त्त्विकचक्रचूडामणि आचार्य धर्मकीर्तिकी प्रत्तर
प्रतिमा और प्राग्गत लेखिनीने भारतके तत्कालीन
सब ही दर्शनियोंके साथ जैनधर्मके ऊपर भी प्रचण्ड
आक्रमण किया था । इस लिये हरिभद्रने, जहाँ
कहीं थोड़ासा भी मौका मिल गया वहाँ पर धर्म-

५१ शास्त्रघातविमुरचय, बम्बई (दे. ला. त्रैनपुस्तको-
ज्जात फंड) पृ. १५४.

५२ अनेकान्तजयपताकाकी तरह इस ग्रंथपर भी हरिभ-
द्रने स्वयं एक संक्षिप्त व्याख्या लिपी है—जी उपलब्ध है ।

कौर्तिके भिन्न भिन्न विचारोंकी सौम्यभाव पूर्वक परंतु मर्यादित रीतिसे चिकित्सा कर, जैनधर्म पर किये गये उनके आक्रमणोंका सुदृ सहित बदला चुकवा लेनेकी सफल चेष्टा की है । हरिभद्रने धर्मकीर्तिका विशेष कर 'न्यायवादी' के पाण्डित्यप्रदर्शक विशेषणसे उल्लेख किया है और कहाँ कहाँ पर उनके बनाए हुए 'हेतुचिन्तु' और 'धार्तिक' आदि ग्रंथोंका भी नामस्मरण किया है । यथा—

(१) उक्तं च धर्मकीर्तिना 'न तत्र किञ्चिद् भवति न भवत्येव केवल' मिति वार्तिके ।

(अनेकों, यशोविजय जैनग्रंथमाला, पृ. १०)

(२) आह च न्यायवादी (धर्मकीर्तिवार्तिके) —

न प्रत्यक्षं कस्यचित् निश्चयकं, तद् यमपि गृह्णाति तत्र निश्चयेन, किं तर्हि ! तत्प्रतिभासेन ।

(पृ. १७७.)

यदाह न्यायवादी (धर्मकीर्तिवार्तिके) —

(३) 'प्रत्यक्षं कलरुनापोढं मयक्षणेव सिद्धयति ।

प्रत्यासमयेनः सर्वेषां विकल्पो नाम संशयः ॥

संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना ।

रित्यतोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षज्ञा मतिः ॥

पुनर्विकल्पयन् किञ्चिदासीद् मे कल्पनेदृशी ।

इति वेति न पूर्वोक्तावस्थायामिन्द्रियाद् गतौ ॥

इत्यादि, तदप्राकृतमवसेयम् । (पृष्ठ. २०७) ।

(४) आह च न्यायवादी (धर्मकीर्तिः) —

अर्थात् यच्च सामान्यमन्यव्यापुचिलक्षणम् ।

यजिष्ठास्त इमे शब्दा न रूपं तस्य किञ्चन ॥

(अनेकों, अमरावाद, पृ. ३७)

(५) उक्तं च न्यायवादिना (धर्मकीर्तिना) —

पररूपं स्वरूपेण यथा संविद्यते धिया ।

एकार्थप्रतिभासिन्या भावानाश्रित्य भेदिनः ॥

तथा संवृतनानात्वाः संवृत्या भेदिनः स्वयम् ।

अमेदिन इवामान्ति भावा रूपेण केनचित् ॥

तस्या अभिप्रायवशात्सामान्यं सत् प्रकीर्तितम् ।

तदसत् परमार्थेन यथा तद्वक्षितं तथा ॥

(बही प्रति पृ. ३९.)

(६) तथा चोक्तम् (न्यायविदा वार्तिके) —

नीलपीतादियज्ज्ञानाद् बहिर्वेदवमासते ।

तत्र सत्यमतो नास्ति विज्ञेयं तत्त्वतो बहिः ॥

तदपेक्षया (क्षा ?) च संविचेर्यता या कर्तृरूपता ।

साऽप्यतत्त्वमतः संविदद्वयेति विभाव्यते ॥

(बही प्रति पृ. ५४.)

(७) एवं च यदाह न्यायवादी — (धर्मकीर्तिः) —

बीजादङ्कुरजन्माभिर्भूमात्सिद्धिरिति दृशी ।

वाद्याश्रयिणी यापि कारकज्ञापकरिषतिः ॥

सापि तद्वपनिर्भासास्तथा नियतसङ्गताः ।

बुद्धीराश्रित्य कल्प्येत यदि किंवा विलुप्तयेत् ॥

इत्यादि तदसां प्रथममिति दर्शितं भवति ।

(बही प्रति पृ. ५७.)

(८) ग्राह्यग्राहकभावलक्षणएव तयोः प्रतिबन्ध इति

चेत्, न, अस्य धर्मकीर्तिना — (भवत्तार्किकचूडामु-

णिना) — अनङ्गीकृतत्वात् ।

(बही प्रति पृ. ६०.)

(९) यच्चोक्तमेतेन कारणानां भिन्नेभ्यः स्वभा-

वेभ्यः कार्यस्य भिन्ना एव विशेषा इत्येतदपि

प्रयुक्तमिति । एतदप्युक्तं, कारणानां भिन्नेभ्यः

स्वभावभेद्यः कार्यस्य तस्य तद्विरोधात्, तदेकाने-

कस्वभावत्वात् तथोपलब्धेः, धर्मकीर्तिनाप्यभ्यु-

पगमत्वात्, 'हेतुचिन्तौ' भिन्नस्वभावभेद्यश्चक्षुरा-

दिभ्यः सहकारिभ्य एककार्योत्पत्तौ न कारण-

भेदात्कार्यभेदः स्यात्' इत्याद्यङ्क्यं 'न यथास्वं

स्वभावभेदेन तद्विशेषोपयोगस्तदुपयोगकार्यस्व-

भाव विशेषासङ्करात्' इत्यादिः (ग्रन्थात्)

स्वयमेवाभिधानात् ।

(बही प्रति, पृ. ६६.)

आचार्य धर्मपाल और न्यायवादी धर्मकीर्ति इन

दोनोंमें गुरुशिष्यका सम्बन्ध था और ये ई. स. की

७ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें विद्यमान थे। चीनी प्रवासी

ह्वेनत्सांग जब ई. स. ६३५ में नालन्दाके विद्यापीठ

में पहुँचा था तब उसे मालूम हुआ कि उसके आनेके कुछ ही समय पहले, आचार्य धर्मपाल जो विद्यापीठके अध्यक्षस्थान पर नियुक्त थे, निवृत्त हो गये थे। हुपनत्सांगके समय धर्मपालके शिष्य आचार्य शीलभद्र अपने गुरुके स्थान पर प्रतिष्ठित थे। उन्होंने पाससे हुपनत्सांगने विद्यालाम किया था। इस वृत्तान्तसे यह ज्ञात होता है कि धर्मपाल ई. स. ६०० से ६३५ के बीचमें विद्यमान थे।

महामति धर्मकीर्ति भी धर्मपालके शिष्य थे इसलिये उनके यादके २५ वर्ष धर्मकीर्तिके अस्तित्वके मानने चाहिए। अर्थात् ई. स. ६३५ से ६५० तक वे विद्यमान होंगे। इस विचारकी पुष्टिमें दूसरा भी प्रमाण मिलता है। तिब्बतीय इतिहास लेखक तारानाथने लिखा है कि टियेटके राजा श्रोत्सेगम्पो जो ई. स. ६१७ में जन्मा था और जिसने ६५९-७८ तक राज्य किया था, उसके समयमें आचार्य धर्मकीर्ति तिब्बतमें आये थे। इस उद्घृतसे ज्ञात होता है कि हुपनत्सांग जब नालंदाके विद्यापीठमें अध्यास करता था तब धर्मकीर्ति बहुत छोटी उम्रके होंगे। इस लिये उसने अपने प्रयास-वृत्तांतमें उनका नामोल्लेख नहीं किया। परंतु हुपनत्सांगके यादके चीनी यात्री हर्षांगने-जिसने ई. स. ६७१-६९५ तक भारतमें घूमन किया था-अपने यात्रावर्णनमें लिखा है कि दिग्गमाचार्यके पीछे धर्मकीर्तिन ग्यावशाग्यको गृह्य पक्षविन किया है। इससे ज्ञात जाना है कि हर्षांगके समयमें धर्मकीर्तिकी प्रसिद्धि गृह्य हो चुकी थी। अतः इन सब कथनोंके मेलसे

अविभागोऽपि बुद्धचात्मा विपर्योसितदर्शनैः ।

ग्राह-ग्राहकसांघीसिद्धानिबं लक्ष्यते ॥

इससे यह मालूम होता है कि कुमारिलने दिग्गमा और धर्मकीर्ति-दोनों के विचारोंकी समालोचना की है। अतः यह सिद्ध होता है कि कुमारिल धर्मकीर्तिके बाद हुए। धर्मकीर्ति जब ईस्वी की ७ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें विद्यमान थे तब कुमारिल कमसे कम उसी शताब्दीके अंतमें होने चाहिए। कुमारिलका नामोल्लेख, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, हरिभद्रने किया है और हरिभद्रका नामस्मरण कुचलयमालाकथाके लिखनेवाले दाक्षिण्यचिन्हने। दाक्षिण्यचिन्हका समय ई. स. की ८ वीं शताब्दीका तृतीय भाग निश्चित है। अतः हरिभद्रका अस्तित्व उसके प्रथमार्धमें या मध्यम-भाग में मानना पड़ेगा। इस प्रकार, भर्तृहरि और कुमारिलके कालक्रमसे विचारा जाय। अथवा धर्मकीर्ति और कुमारिलके कालक्रमसे विचारा जाय-दोनों गणनासे हरिभद्रका ८ वीं शताब्दी ही में-फिर चाहे उसके आरंभमें या मध्यमें-होना निश्चित होता है।

इसी तरहका, परंतु इससे भी विशिष्ट, और एक प्रमाण है। नन्दोत्पन्न नामक जैन भागवत ग्रंथ ऊपर हरिभद्र गुरुनि ३३३६ नदीक प्रमाण संस्कृत टीका लिखा है। इस टीकामें, (जिस तरह आयद्वयकर्म-प्रथी टीकामें, आयद्वयकर्मपूर्णिमसे शतशः प्रारुत पाठ उद्धृत करते हैं वैसे) उन्होंने चतुस्रो उल्लेख, इसी सूत्र पर जिनदास महत्तरकी यन्तर्द्द गुरु पूर्णिमाक प्राकृत भाषामय परातन व्याख्यामेंसे उसके

उदाहरणके लिये, हरिमद्रसूरिने नन्दीचूर्णिमेंसे जो पाठ अपनी टीकामें उद्धृत किये हैं उनमेंसे एक दो पाठ यहां पर लिख देते हैं ।

इस सूत्रके प्रारंभमें जो स्थविरावली प्रकरण है उसकी ३६ वीं गाथा की, जिसमें 'खंदिलायरि' की प्रशंसा है, व्याख्या हरिमद्रने इस प्रकार लिखी है ॥

मूल गाथा—)

जेसि इमो ६ गुओगो पयरइ अज्जावि अड्ढरहम्मि ।

बहुनगरनिगमजसे ते वंदे खंदिलायरिए ॥

व्याख्या—येपांमनुष्योः प्रचरति, अद्यावि

अर्धमरते वैतादद्यादास्तः । बहुनगरेषु निर्गतं प्रसृतं

प्रसिद्धं यशो येपां ते बहुनगरनिगतयशसः, तान्

क्ये । सिङ्घ (सिंह) वाचकशिष्यान् स्कन्दिलाचा-

र्यान् । 'कहं पुण तेसि अणुओगो ? उच्यते—

वाससंघच्छरिए महंते दुग्मिक्खे काले भत्तट्ठा अण-

णतो हिंदियाणं गहणगुणगुप्पेहामावाओ विप्पणट्ठे

सुप्पे, पुणो सुग्मिक्खे काले जांए महुराए महंते साधु-

समुदण खंदिलायरिपप्पुसुहसवेण जो जे संभरइ ति

एवं संघद्वयं कालियसुर्यं । जन्हा एयं महुराए कयं

तन्हा माहुरी वायणा भणइ । सा य खंदिलायरि-

यसम्मत्ति कांउ तस्संतिओ अणुओगो भणइ ।

अने भणंति जहा, सुयं ण णठं । तम्मि दुग्मिक्खे

काले जे अने पहणा अणुओगधरा ते विणत्ता । एओ

खंदिलायरिए संधिरे (?) , तेण महुराए पुणो अणुओगो

पवतिओ ति माहुरी वायणा भणइ । तस्संतिओ अ

अणुओगो भणइ ।

(नन्दी टीका, डेक ५० पृ० ११)

इस अवतरणमें जितना प्राकृत पाठ है वह

सारा हरिमद्रसूरिने चूर्णिमें ही से लिया है । क्यों

कि चूर्णिमें अक्षरदा यही पाठ विद्यमान है। (देखो,

डेकन कालेज संग्रहीत, नन्दीचूर्णिकी हस्तलिखित

'बृहट्टिप्पाणिका' नामकी संस्कृतमें एक जैनग्रन्थसूचि

बनार है जिसमें भी, इस चूर्णिका रचना-काल दि. सं. ७१३

(अर्थात् शक संवत् ५९८) लिखा हुआ है । यथा—

'नन्दीसूत्रं ७०० [श्लोक प्रमाणं] चूर्णिः ७३३

वर्षं शता । स्तंभं विना नास्ति ।

पुस्तकें, नं. ११९७, सन् १८८४-८७ पृष्ठ ४.)

नन्दीसूत्रकी ग्रहटीकामें, आचार्यसूत्र विषयक

व्याख्यानमें, मलयगिरि सूरिने तथा चाह चूर्णिकृत-

लिखकर, निम्न लिखित पाठ, नन्दीचूर्णिमेंसे

उद्धृत किया है—

५. दो सुवक्त्तवा पणवीसं अज्जपयणाणि एयं

आयारगसहियस्स आयारस्स पमाणं मणियं,

अठारसपयसहस्सा पुण पढमसुवक्त्तवस्स नवधमचे-

रमइयस्स पमाणं, विचित्तअत्यनिबद्धानि य सुताणि,

गुरुवएसओ तेसि अयो जाणियव्वो ति ।

नन्दीटीका, (मुद्रित पृ. २११)

यही पाठ, हरिमद्रसूरिने भी अपनी टीकामें

अधिकूलरूपसे उद्धृत किया हुआ है । (देखो, डे,

पृ ५६) । ऐसे ही और भी कई जगह इस

प्रकारके पाठ उद्धृत हैं । इससे यह बात निश्चित

हई कि हरिमद्रसूरि, शक संवत् ५९८ (वि. सं.

७३३=ई. स. ६७६) से बाद ही में किसी समयमें

हुए हैं । गाथामें पतलाये मुताबिक विप्रम संवत्

५८५ में, अथवा, दूसरे उल्लेखोंमें लिखे मुजय, धी०

सं० १०५५ में नहीं हुए । चूर्णिके बने बाद कमसे

कम ५० वर्ष अनंतर ही हरिमद्रने अपनी टीका

लिखी होनी चाहिए । और इस लिये, इस हिसाब-

से भी उनका समय वही ईस्वीकी ८ वीं शताब्दी-

निश्चित होता है ।

इस प्रकार, भिन्न भिन्न प्रमाणोंसे हमने यह तो

सिद्ध कर दिखाया है, कि हरिमद्रसूरि प्राकृत

गाथा बादिके कैलातसार, विक्रमकी छठी शताब्दीमें

नहीं हुए परंतु आठवीं शताब्दीमें हुए हैं । परंतु

इससे यह निश्चित नहीं हुआ कि, इस शता-

ब्दीके कौनसे भागमें—कबसे कब तक—वे विद्य-

मान थे ? । कुवलयमाला कथाके अन्तिम (प्रशस्ति-)

लेखका ध्यानपूर्वक निरीक्षण करनेसे इस प्रश्नका

भी यथार्थ समाधान हो जाता है ।

जैन इतिहासके रसिक अभ्यासियोंको यह सुन

कर आनंदके साथ आश्चर्य होगा कि, कुवलयमाला-

के कर्ता उद्योतनसूरि ऊर्क दाक्षिण्यचिन्ह सुद हरि-

मद्रके एक प्रकारसे साक्षात् शिष्य थे । इस कथा

की प्रशस्तिका वह महत्त्वका भाग, जिसमें कर्ताने स्वकीय गुरुपरंपरा आविका परिचय दिया है, कुछ विस्तृत होने पर भी उसे यहाँ पर उद्धृत कर देनेके लोभका हम संवरण नहीं कर सकते । प्रशस्ति ऐसे प्रकार है—

अस्थि पयडा पुरीण पवइया नाम रयणसोहिला ।
तत्पट्टिण शुचा पुई सिरितोरसाणेण ॥
तत्सं गुरु हरियसो आयरिओ आसि गुत्तवंसीओ ।
तीए नयरीए दिओ जिणनिवेसो तहि काले ॥
[तत्स] बहुकलाकुसलो सिद्धन्तवियाणओ कई दुखो ।
आयरियदेवगुओ अज्जवि विज्जरए किटी (?) ॥
सिवचन्द्रगणी अह मयहरो सि सो एय आगओ देसा ।
सिरिमिलमालनयराभि सँठिओ कपपहखो ॥
तत्स खमासमणगुणो नामेण जक्कदत्तगणिनामो ।
सिस्सो महइहप्पा आसि तिलोए वि पयडजसो ॥५॥
तत्स य सीसा बहुया तववीरियलद्धचरणसंपण्णा ।
रम्भो गुज्जदेसो जहि कओ देवहरएहि ॥
आगासवप्पनये वडेसरो आसि जो खमासमणो ।
तत्स मुहदंसेण च्चिय अवि पसमइ ओ अहज्जेवि ॥
तत्स य आयरिओ तत्तायरिओ चि नाम सारगुणो ।
आधि तवोत्तमनिज्जयपावतमोहो दिणयो ॥
जो दूसमसलिलपवाहवेगहीरन्तगुणसहसाण ।
सीसंगविडसालो लगणलंभो ॥
सीसेण तत्स एसा हिरिदेवीदिज्जदंसणमणेण ।
रइया कुवल्लयमाला तिलसिरदसिअइसेण ॥ १० ॥
दिज्जहिच्छियफलओ बहुकिटीकुसुमरेहिरामोओ ।
आयरियवीरभट्टो अवा (हा) वो कप्पल्लखो ॥
सो सिद्धन्त [ग्मि] गुरु, पमाण नाएण (अ) जस हरिमइओ
बहुगन्धस्तयवित्तरपयड [समचपुअ] संचचथो ॥
रोया [य] सत्तियांण वंसे जाओ वडेसरो नाम ।
तत्सुउजोयणनामो तणओ अह विरइया तेण ॥

इन गाथाओंमेंसे, प्रथमकी १० गाथाओंमें कथा-कर्ताने अपनी मूल गुरुपरंपराका वर्णन दिया है जिसका तात्पर्य यह है—पहले हरिवंश नामके एक गुप्त वंशीय आचार्य हुए । ये पवइया पुरी के तोरसाण नामके राजाके गुरु थे और उनके उपदे-

शसे उस नगरीमें, उस राजाने एक जिनमंदिर बनवाया था । उनके शिष्य देवगुप्त नामके हुए जो सिद्धान्तोंके ज्ञाता और कुशल कवि थे । उनकी कीर्ति आज भी जगत्में फैल रही है । उनके बाद सिवचन्द्र गणी महत्तर नामके आचार्य हुए । उन्होंने देशमेंसे (पवइया नगरीवाले प्रदेशमेंसे) आकर भिल्लमाल (जिसे श्रीमाल भी कहते हैं) नगरमें निवास किया । उनके यक्षदत्त गणी नामके क्षमा श्रमण गुणधारक प्रसिद्ध शिष्य हुए जिनके अनेक शिष्योंने गुजरात देशमें देवमंदिर (जिनमंदिर) बनवा कर उसकी शोभा बढ़ाई । इनके शिष्य आगासवप्प नगरमें रहनेवाले वडेसर नामके क्षमा श्रमण हुए जिनके मुखका दर्शन करके अभव्य जीव भी प्रशान्त हो जाता था । वडेसरके तत्तायरि नामके वडे तपस्वी और आचोरधारक शिष्य हुए । इन्होंने द्वितीयके दर्शनसे प्रसन्न हो कर इस कुवल्लयमाला कथाकी रचना की ।

इस प्रकार इन गाथाओंमें, अपनी मूल पूर्व गुरुपरंपराका जिकर करके कथाकारने फिर अनन्तरकी ३ (११-१३) गाथाओंमें अपने विशिष्ट उपकार्य गुरुओं-पूज्योंका सविशेष उल्लेख कर, उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है । इस गाथा-कुलकाका अर्थ इस प्रकार है—

‘इच्छित फलके देनेवाले, और कीर्तिकर कुसुमोंसे अलंकृत होनेके कारण नवीन कल्पवृक्षके समान कीर्ति देनेवाले, आचार्य वीरभट्ट तो जिसके सिद्धान्तोंके पढ़ानेवाले गुरु हैं, और जिन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना कर समस्त श्रुत (आगमों) का सत्यार्थ प्रकट किया है वे आचार्य हरिभट्ट जिसके प्रमाण और न्यायशास्त्रके सिखानेवाले गुरु हैं । तथा, श्रुत्रियवंशोत्पन्न वडेसर नामके राजाका जो पुत्र है और उद्योतन जिसका मूल नाम है उसने यह कथा निमित्त की है ।’

इस गाथाकुलकमें हरिभट्टश्रुतिके लिये ‘बहुमन्थ प्रणेतृत्व’ और ‘प्रमाण न्यायशास्त्रविषयक गुरुत्व’ के विशेषण जो सामिनाय प्रयुक्त किये गये हैं उनसे विचारवान् विद्वान् स्पष्ट जान सकते हैं कि, कथाकर्ता यहाँ पर जिन हरिभट्टकी स्मरण

करते हैं, वे, वे ही हरिभद्र सूरि हैं जिनको लक्ष्य कर प्रस्तुत ग्रन्थके लिखनेका परिश्रम किया गया है। क्यों कि इनके सिवा 'अनेक ग्रन्थोंकी रचना कर समस्त श्रुतका सत्यार्थ प्रकट करनेवाले' दूसरे कोई हरिभद्र जैन साहित्य या जैन इतिहासमें उपलब्ध नहीं होते।

अतः इससे यह अंतिम निर्णय हो जाता है कि महान् तत्त्वज्ञ आचार्य हरिभद्र और कुचलयमाला कथाके कर्ता उद्योतनसूरि ऊर्फ दाक्षिण्यसिन्धु दोनों (कुछ समय तक तो अवश्यही) समकालीन थे। इतनी विशाल ग्रन्थराशि लिखनेवाले महापुरुषकी कमसे कम ६०-७० वर्ष जितनी आयु तो अवश्य होगी। इस कारणसे, लगभग ईस्वीकी ८ वीं शताब्दीके प्रथम दशकमें हरिभद्रका जन्म और अष्टम दशकमें मृत्यु मान लिया जाय तो यह कोई असंगत नहीं मालूम देता। इस लिये, हम ई. स. ५०० से ७७० (विमान संवत् ७५७ से ८२७) तक हरिभद्र सूरिका सत्ता-समय स्थिर करते हैं।

परिशिष्ट ।

—:१०:—

हरिभद्र और शान्तिरक्षित ।

शास्त्रार्तासमुच्चयके चतुर्थ स्तवकके निम्न लिखित श्लोकमें हरिभद्रने यौद्ध पण्डित शान्तिरक्षितके एक विचारका प्रतिक्षेप किया है। यथा—

एतेनैतत्प्रतिक्षिप्तं यदुक्तं सूक्ष्मबुद्धिना ।

‘नासतो भावकर्तृत्वं तदवस्थानं न स’ ॥

इस श्लोककी स्वोपज्ञ टीकामें ‘सूक्ष्मबुद्धिना— शान्तिरक्षितेन’ ऐसा निर्देश कर स्पष्टरूपसे शान्तिरक्षितका नामोल्लेख किया है। डॉ. सतीशचन्द्र त्रिपाठीजीने अपनी ‘मध्यकालीन भारतीय न्याय-शास्त्रका इतिहास’ नामक पुस्तकमें (पृ. १२४) पाश्चात्य शान्तिरक्षितका समय ई. स. ४९५ के आसपास स्थिर किया है। इन शान्तिरक्षितने, हरिभद्रके शास्त्रार्तासमुच्चयके, समान

दार्शनिक विषयोंकी आलोचना करनेवाला ‘तत्त्व-संग्रह’ नामक एक ग्रीक ग्रन्थ बनाया है। इस ग्रन्थ पर पत्रिका नामकी एक टीका भी उन्हींके समकालीन नालन्दा—विद्यापीठके तत्त्वशास्त्राध्यापक आचार्य कमलशीलने उसी समयमें लिखी है। इस सटीक ग्रंथका प्राचीन हस्तलेख हमने गुजरातकी पुरातन राजधानी पाटनके प्रसिद्ध जैन-पुस्तकमंडागारमें देखा है। प्रस्तुत निबन्ध लिखनेके समय यह ग्रंथ हमारे सम्मुख न होनेसे यह तो हम नहीं कह सकते कि हरिभद्रने जो शान्तिरक्षितका उल्लिखित श्लोकके उद्धृत किया है वह इसी तत्त्वसंग्रहका है या अन्य किसी दूसरे ग्रन्थका। परन्तु इतना तो हमें विश्वास होता है कि यह श्लोकके होना चाहिए इन्हीं शान्तिरक्षितकी किसी कृतिमेंका। ऐसीस्थितिमें, डॉ. सतीशचन्द्र त्रिपाठीजीका लिखा हुआ शान्तिरक्षितका समय यदि ठीक है तो हरिभद्र और शान्तिरक्षित दोनों समकालीन साधित होते हैं।

कुछ विद्वान् ऐसे समकालीन पुरुषोंको लक्ष्य कर ऐसी शंका किया करते हैं कि—उस पुरातन समयमें, आधुनिक कालकी तरह सूत्रार्थ, समाचारपत्र और रेल्वे आदि अतिशीघ्रगामी वाहतो वगैरह जैसे साधन नहीं थे कि जिनके द्वारा कोई व्यक्ति तथा उसका लेख या विचार तत्काल सारे देशमें परिचित हो जाय। उस समय लिये किसी विद्वान्का अथवा उसके बनाये हुए ग्रंथका अन्यान्य विद्वानोंको परिचय मिलनेमें कुछ न कुछ कालावधि अवश्य अपेक्षित होती थी। इस विचारसे, यदि शान्तिरक्षित उक्तरीत्या डॉक हरिभद्रके समकालीन हो थे तो फिर हरिभद्र द्वारा उनके प्रयोक्त विचारोंका प्रतिक्षेप किया जाना कैसे संभव माना जा सकता है? इस विषयमें हमारा अभिप्राय यह है कि—यह कोई नियम नहीं है कि, उस समयमें समकालीन विद्वानोंका एक दूसरे संग्रहालयालोम तुरन्त परिचय हो ही नहीं सकता था। यह बात अवश्य है कि आजकल जैसे कोई

२ यह ग्रंथ वहीदाराच्यकी ओरसे प्रकाशित होनेवाली संक्षेपग्रन्थमालामें छपनेके लिये तैयार हो रहा है।

व्यक्ति या विचार चार छह महिनेहीमें मुद्रालयों और समाचारपत्रोंके द्वारा सर्वविश्रुत हो जाता है, उतनी शीघ्रताके साथ उस समयमें नहीं हो पाता था। परंतु ५-१० वर्षे जितनी कालावधिमें तो उस समयमें भी उत्तम विद्वान् यथेष्ट प्रसिद्धि प्राप्त कर सकता था। इसका कारण यह है कि उस समय जय कोई ऐसा असाधारण पण्डित तैयार होता था तो फिर वह अपने पाण्डित्यका परिचय देनेके लिये और दिग्विजय करनेके निमित्त देश-देशान्तरोंमें परिभ्रमण करता था और इस तरह अनेक राजसभाओंमें और पण्डित-परिषदोंमें उपस्थित हो कर वहाँके अन्यान्य विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ या वादविवाद किये करता था। इसी तरह जय कोई विद्वान् किसी विषयका कोई खास गीर्वाण और अपूर्व ग्रंथ लिखता था तो उसकी अनेक प्रतियाँ लिखवा कर प्रसिद्ध पुस्तकमंडागारों, राजमन्दिरों और धर्मस्थानोंमें तथा स्थितर विद्वानोंके पास भेंट रूपसे या अवलोकनार्थ भेजा करता था। इस लिये प्रख्यात विद्वानको अपने जीवन काल ही में यथेष्ट प्रसिद्धि प्राप्त कर लेनेमें और उसके बनावे हुए ग्रंथोंका, दूसरोंके द्वारा आलोचन-प्रत्यालोचनके किये जाननेमें कोई आपत्ति नहीं है।

२

हरिभद्र और धर्मोत्तर।

दिग्नागाचार्य रचित 'न्यायप्रवेश-प्रकरण' ऊपर हरिभद्रने दिग्गहिता नामकी एक संक्षिप्त और स्फुट व्याख्या लिखी है। इस व्याख्याके प्रारम्भके भागमें जहाँ 'अनुमान' शब्द की व्युत्पत्ति और उसका लक्षण लिखा है वहाँ एक उल्लेख खास ध्यान खींचने लायक है। यह उल्लेख इस प्रकार है:—

१ यह व्याख्या भट्टवीरभट्ट (अथ, वैशेषिक) से प्रकट होनेवाली Bibliotheca Buddhica में छप रही है। इसके बारेमें विशेष विज्ञान जाननेके लिये, 'जैनशास्त्र' नामक पत्रके हरिवर्षोंके साथ संक्रमे इस हुना कामिगोत्र Dignaga's Nyayapravesa and Haribhadra's Commentary on it नामक निबन्ध देखना चाहिए।

मीयतेऽनेनेति मानं परिच्छिद्यत इत्यर्थः। अनुशब्दः पश्चादर्थे, पश्चान्मानमनुमानम्। पक्षधर्मग्रहणसम्बन्धस्मरणपूर्वकमित्यर्थः। वक्ष्यति च "त्रिरूपालिङ्गाङ्घ्रिङ्गिनि [ज्ञान] मनुमानम्।"

इस अवतरणके अन्तमें जो 'वक्ष्यति' किया लिख कर "त्रिरूपालिङ्गाङ्घ्रिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम्।" यह सूत्र लिखा है उस पर किसी एक पुरातन पण्डितने निम्न लिखित टिप्पणी लिखी है:—

नन्वेतसूत्रं धर्मोत्तरीयं न तु प्रकृतशास्त्रसूत्रम्। एतच्छास्त्रसूत्रमेतत्सूत्रम्—'लिङ्गं पुनरित्यादि।' तत्कथं वक्ष्यति च? इति प्रोच्यते? सत्यमेतत्। यद्यप्यत्रैव विधे सूत्रं नास्ति तथा [वि] धर्मोत्तरीयसूत्रमप्यत्र सूत्रोक्तमनुमानलक्षणमिधायिकमेवेत्यर्थोऽत्रत्यं धर्मोत्तरीयसूत्रयोः साम्यमेवेत्यर्थमेषां वक्ष्यति' इति व्याख्येयमिति विशेषः १।

इस टिप्पणीका आशय यह है कि व्याख्याकारने जो ऊपरके अवतरणमें "त्रिरूपालिङ्गाङ्घ्रिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम्।" यह सूत्र लिखा है उसके स्थान में लिङ्गुनालिरूपम् यह सूत्र लिखना चाहिए। क्यों कि यह सूत्र तो धर्मोत्तर आचार्यका बनाया हुआ है; दिग्नागका नहीं। दिग्नागका तो यही पिछला सूत्र है। ऐसी स्थिति होने पर, यहाँ पर जो धर्मोत्तरीय सूत्र लिखा गया है उसका समाधान यों कर लेना चाहिए, कि धर्मोत्तरका सूत्र भी प्रकृत सूत्रानुरूप ही अनुमानका लक्षण प्रदर्शित करता है, इस लिये इन दोनोंमें परस्पर अर्थसाम्य होनेसे हरिभद्रने जो (कदाचित् विस्मृतिके कारण?) धर्मोत्तरका सूत्र लिख दिया है तो उसमें कोई ऐसा विशेष विशेष नहीं दिखाने देता।

टिप्पणीकारके इस समाधानसे न्यायशास्त्रके अभ्यासियोंका तो समाधान हो जायगा परंतु इतिहासशास्त्रके अभ्यासियोंका नहीं। इतिहासिकोंके लिये तो इससे एक नया ही प्रश्न ऊठ खड़ा

२ देवनागरी में पुस्तकालयमें का। इतिहासिक प्रसिद्धि, अं. ३६, १८७५-७६, पृ. २.

होता है । टिप्पणीलेखकके कथनानुसार यदि "त्रिरूपालिङ्गाह्निहिनि ज्ञानमनुमानं" यह सूत्र धर्मोत्तरके बनाये हुए किसी ग्रंथमेंका है तो यहाँ पर यह ग्रन्थ उपस्थित होता है कि यह धर्मोत्तर कौन और कय हुआ धर्मकीर्तिके बनाये हुए न्यायविन्दु नामक ग्रन्थ ऊपर टीका लिखनेवाले धर्मोत्तरका नाम विद्वानोंमें प्रसिद्ध है । प्रमाणपरिक्षा, अपोहप्रकरण, परलोक-सिद्धि, क्षणभंगसिद्धि और प्रमाण ? विनिश्चय व्याख्या आदि ग्रंथ भी उनके बनाये हुए कहे जाते हैं । म. म. सतीशचन्द्र विष्णुने अपने पूर्वोक्त इतिहास में (पृ. १३१) इन धर्मोत्तरका समय ई. स. ८४७ के आसपास स्थिर किया है । यदि यह समय ठीक है तो फिर हरिभद्र लिखित उक्त सूत्रके रचयिता धर्मोत्तर, इन प्रसिद्ध धर्मोत्तरसे भिन्न-कोई दूसरे ही प्राचीन धर्मोत्तर-होने चाहिए । क्यों कि हरिभद्रका देहविल १८ ई० की चौं शताब्दीके तीसरे पादमें ही चुका होगा यह हमने सप्रमाण सिद्ध करदी दिया है ।

बौद्ध मतमें धर्मोत्तर नामसे प्रसिद्ध दो आचार्य हो गये हैं ऐसा प्रमाण महान् जैन तार्किक विद्वान् वादी देवसूरीके स्याद्वादरत्नाकर नामक प्रतिष्ठित तर्कग्रंथमेंसे मिलता है । इस ग्रंथके प्रथम परिच्छेदके "स्वप्नव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् ।" इस दूसरे सूत्रकी व्याख्यामें 'लक्ष्यलक्षणभावव्याचक' शब्दोंके विधानाविधानकी मीमांसा करते हुए शुरु ही में धर्मोत्तरके तद्विषयक विचारोंकी आलोचना की है । ग्रंथकर्ताने स्वयं इन धर्मोत्तरको, धर्मकीर्तिके 'न्यायविनिश्चय' और 'न्यायविन्दु' नामक प्रमाण-ग्रंथोंके व्याख्याता बतलाये हैं और उनकी की हुई उन व्याख्याओंमेंसे कुछ अवतरण भी उद्धृत किये हैं । फिर इन धर्मोत्तर की 'बुद्धधर्मोत्तरानुसारो' (बुद्ध धर्मोत्तरके विचारोंका अनुसरण करने वाले) तथा 'बुद्धसेवाप्रसिद्ध' (बुद्ध [धर्मोत्तर] की सेवा करनेसे प्रसिद्धि पाने वाले) ऐसे विशेषणों से सम्बोधित कर इन्हें किसी बुद्ध धर्मोत्तरके अनुयायी बतलाये हैं, और अन्तमें इनके विचार-विधानसे उन बुद्ध धर्मोत्तरके तद्विषयक विचारोंका सम्बन्धित होना बतला कर, इनके कथनको स्वमत-

विरोधी सिद्ध किया गया है । वादी देवसूरीके तद्विषयक सब लेखांश इस प्रकार है—

(१) अत्राह धर्मोत्तरः—लक्ष्यलक्षणभावविधानवाक्ये लक्ष्मननृध लक्षणमेव विधीयते । लक्ष्यं हि प्रसिद्धं भवति ततस्तदनुवाचम्, लक्षणं पुनरशसिद्धमिति तद्विधेयम् । अज्ञातज्ञापने विधिरित्यभिधानात् । सिद्धे तु लक्ष्यलक्षणभावो लक्षणमनृध लक्ष्यमेव विधीयते इति । (स्याद्वादरत्नाकर, पृ. १०,)

(२) साधो । सौगत । भूमतुर्धर्मकीर्तिकेनिकेतने । व्यवस्थां कुरुष्व नूनमस्थापितमहत्तमः ॥

स हि महात्मा (धर्मकीर्तिः) विनिश्चये (न्यायविनिश्चये) प्रत्यक्षमेकं, न्यायविन्दौ तु प्रत्यक्षानुमाने द्वे अप्यप्रसाधैव तलक्षणानि प्रणयति स्म । किञ्च शब्दानित्यत्वसिद्धये कृतकत्वमसिद्धमपि सर्वमुपन्यस्य पश्चात् तत्सिद्धिमभिधानोऽपि न लक्षणस्य तामनुमन्यसे इति स्वाभिमानमात्रम् । अपि च प्रत्यक्षलक्षणव्याख्यालक्षणे 'लक्ष्यलक्षणभावविधानवाक्ये' इत्यादिना लक्षणस्यैव विधिमभिधित्से विधेरवापराधात् बुद्धेः, यतो न्यायविनिश्चयटीकायां स्वार्थानुमानस्य लक्षणे 'तत्कथं त्रिरूपालिङ्गाह्नि एव दर्शनस्य नानुमानव्यपसङ्गः' इति पर्यनुयुज्जान 'एतदेव सामर्थ्यमाप्तं दर्शयति यदनुमेयेऽर्थे ज्ञानं तत्स्वार्थमिति' इत्यनुमन्यमानश्चानुमापयति स्वयमेव लक्ष्यस्यापि विधियम् । एतदेवाभिधासि च न्यायविन्दुवृत्तौ एतस्यैव लक्षणे, 'त्रिरूपाच्च लिङ्गाच्चानुमेयालम्बनं ज्ञानं तत्स्वार्थमनुमानमिति ।' (देखो, न्यायविन्दुटीका, पिटर्सनसम्पादित, पृ. २१) विनिश्चयटीकायामेव च परार्थानुमानलक्षणे 'त्रिरूपस्य लिङ्गस्य यदास्यानं तत्परार्थमनुमानमिति ।' च व्याचक्षाण इत्युत्पुष्णं ते वैचक्षण्यमिति ।

(स्याद्वादरत्नाकर, पृ. १०)

(३) अपि च भवद्भयनसूत्रणासूत्रधारी धर्मकीर्तिरपि 'न्यायविनिश्चयस्याच-द्वितीय-तृतीय-परिच्छेदेषु' प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति ॥ १ ॥

‘ तत्र स्वार्थं त्रिरूपालिङ्गतोऽर्थवृत्तिमिति ॥ २ ॥ ’
 ‘ परार्थमनुमानं तु स्वदृष्टार्थप्रकाशनमिति ॥ ३ ॥ ’
 त्रीणि लक्षणानि; ‘ तिमिराशुभ्रमणतौयानवच्छो-
 भायनाहितविभ्रममविकल्पकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति ॥ १ ॥ ’
 त्रिलक्षणालिङ्गाद्यदनुमेयेऽर्थे ज्ञानं तत्त्वार्थमनुमानमि-
 ति ॥ २ ॥ ‘ यथैव हि स्वयं त्रिरूपालिङ्गतो
 लिङ्गिनि ज्ञानमुत्पन्नं तथैव पञ्च लिङ्गिज्ञानोत्पिपाद-
 यिपया त्रिरूपलिङ्गाख्याने परार्थमनुमानमिति ॥ १ ॥ ’ च
 व्याचक्षाणो लक्ष्यस्थैव विधिमासीत्तत्, तथा ‘ लक्ष्य
 लक्षणभावविधानवाक्ये ’ इत्युपक्रम्य लक्षणमेव वि-
 धायत इत्यभिधानः कथं न स्वयंचनाविरोधमव-
 बुध्यसे ।

(स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ११.)

(४) बलदेवबलं स्वार्थं दर्शयन्नतिदर्शनम् ।

बृद्धधर्मोत्तरार्थैव अवमत्र न्यरूपयत् ॥

(स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ११.)

(५) बृद्धमेवाप्रसिद्धोऽपि बृद्धमेव विशिष्टितः ।

बालवत्स्यादुपालभ्यलैखिलविद्युदयमयम् ॥

नथाहि—सोऽयं बृद्धधर्मोत्तरानुसार्यप्यलोकावाचा-
 लतया तुल्यस्वरूपयोरापि व्युत्पत्तिव्यवहारकालयोरु-
 च्यतामुपकल्पयन् बाल इवैकामप्यङ्गुलिं वेगवत्तया च-
 चलयन् द्वयीकृत्य दर्शयतीत्येवमुपालभ्येत त्रिविध
 काविदेः ।

(स्याद्वादरत्नाकर, पृ. १२.)

(६) यच्चावाचि ‘ अन एवेत्यादि ’ तत्राय-
 माशयः, लक्ष्यं हि प्रसिद्धमनुवाचं भवतीत्यस्मा
 द्भूतविभक्तयो द्वितीयाद्याः समुवादीयन्ते लक्षणं पुन-
 रप्रसिद्धं विधेयमित्येवो भव्यविभक्तिः प्रथमेव प्रयुज्यत
 इति । सोऽयं साहित्यज्ञताभिमानात् तत्र बृद्धधर्मात्तर-
 मधरयति, स्वयं त्वेव व्याचष्ट इति किमन्यदस्य दे-
 वानां मितस्य श्लाघनीयता प्रज्ञायाः ।

(स्याद्वादरत्नाकर, पृ. १२.)

इन अत्यन्तगोप्ये रूपे प्राप्त होता है कि धर्मो-
 त्तर नामक दो आचार्य हो गये हैं । अतः हरि-
 भद्रने उक्त जिस धर्मोत्तरीयसूत्रको उद्धृत किया
 है उसके कर्ता, न्यायार्थबन्धु आदि धर्मकीर्तिकृत

प्रर्थोके टीकाकार धर्मोत्तर नहीं परन्तु उनके पूर्वज
 बृद्धधर्मोत्तर होने चाहिए । नहीं तो फिर इन अर्वा-
 चीन धर्मोत्तरका समय कमसे कम १०० वर्ष जि-
 तना पीछे हटाता चाहिए ।

परन्तु इन प्रसिद्ध धर्मोत्तरके, हरिभद्रके पूर्वज
 न होनेमें एक इतर प्रमाण भी प्राप्त होता है । धर्मो-
 त्तर रचित न्यायविन्दुटीकाके ऊपर मल्लवर्दी नाम
 के एक जैन विद्वान् की टिप्पणी लिखी हुई उपल-
 ब्ध है । इस टिप्पणीके देखनेसे ज्ञात होता है कि
 धर्मोत्तरने अपनी टीकामें कई जगह न्यायविन्दु-
 के पूर्वटीकाकार विनीतदेवकी (और साथमें शां-
 न्तिभद्रकी भी) की हुई टीकाको दूषित बतलाई
 है और उसका खण्डन किया है । टिप्पणी लिख-
 के इस बातके सूचक वाक्य कुछ ये हैं—

१—सम्यग्ज्ञानित्यादिना (१. ५) विनीतदेव-
 व्याख्यां दूषयति । (पृ. ३)

२—हेयोऽर्थे इत्यादिना विनीतदेवस्य व्याख्या
 दूषिता । (पृ. १३)

३—उत्तरेण ग्रन्थेन सर्वशब्द (५. २) इत्या-
 दिना टीकाकृता व्याख्यां दूषयति । विनी-
 तदेवशान्तभद्राभ्यामेवमाशङ्क्य व्याख्या-
 तम् । (पृ. १३)

४—यथार्थाविनाभावेत्यादिना (६. १३)
 अनेन विनीतदेवशान्तभद्रयोर्व्याख्या च दू-
 षिता । (पृ. १६)

५—अनेन लक्ष्यलक्षणभाव दर्शयता विनीतदेव-
 व्याख्यानं संज्ञासंज्ञिसम्यक्स्वरूपं प्रत्युक्तम् ।
 (पृ. १७)

६—तेन यद्विनीतदेवेन सामान्ययोर्वाच्यवाचक-
 भावमङ्गलकृत्य निर्विकल्पकत्वमिन्द्रियविज्ञा-
 नस्य प्रतिपादितं सद्दूषितं भव्यात् (पृ.
 २३-४)

ये विनीतदेवः राजा ललितचन्द्रके समकालीन

* विद्वत्श्रीश्रीका मुद्रिका (सेंटपिटर्सबर्ग, रूसिया) में

प्रकाशित ।
 † देखो सतीशचन्द्र वि. लिखित ‘ मधुसूक्तलीन भारतीय
 भ्यावशास्त्रका इतिहास ’ पृ. १११ ।

थे । राजा ललितचन्द्रका समय अन्यान्य अनुमानोंके द्वारा ई. स. ७०८ के लगभग माना जाता है, अतएव विनीतदेवका भी वही समय मानना चाहिए । इस गणनासे, मल्लवादीके लेखानुसार विनीतदेवकी प्रार्थना पर आक्षेप करनेवाले धर्मोत्तरका अस्तित्व या तो हरिभद्रके समयमें स्वीकारना चाहिए या उसके अनन्तर । ऐसी दशामें तिस्रवतीय इतिहासलेखक तारानाथके इस कथनको कि, आचार्य धर्मोत्तर, काश्मीरके राजा चनपालके, जो ई. स. ८४७ के आसपास राज्य करता था, समकालीन थे, असत्य माननेमें कोई कारण नहीं है ।

३

भद्र और मल्लवादी.

हरिभद्र और मल्लवादी आचार्यके सम्बन्धमें भी रूपर इसी तरहकी एक उलझन है । मल्लवादी तमसे प्रसिद्ध एक बहुत बड़े तार्किक विद्वान् जैन-धर्मके श्वेताश्व संप्रदायमें हो गये हैं । उन्होंने, जैनधर्मका सबसे गूढ़ और गभीर सिद्धान्त जो नयवाद कहलाता है, उस पर द्वादशारण्यचक्र नामक एक विशाल और प्रौढ़ ग्रंथकी रचना की है । हरिभद्रसूरिने अपने अनेकान्तजयपताका नामक ग्रंथ में ही-तीन स्थानों पर उनका नामस्मरण किया है और उन्हें 'वादिमुख्य' यतल कर सिद्धसेन विवाकर प्रणीत 'सम्मति महातर्क' के टीका लिखनेवाले लिखे हैं । यथा—

(१) उक्तं च वादिमुख्येन (टीका—मल्लवादिना सम्मतौ)—स्वरसत्त्वबुदासोपादानापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्, अतो यद्यपि सन्न भवतीत्यसत्, तथापि परद्रव्यादिरूपेण सतः प्रतिपेधात् तस्य च तत्रासत्त्वात् तत्स्वरूपसत्त्वानुबन्धात् न निरुपाध्यमेव तत् । इति प्रसज्यप्रतिषेधपक्षोदितदोषाभावः (अनेकान्तजयपताका, १५५, पृ. ४०.)

(२) उक्तं च वादिमुख्येन (श्रीमल्लवादिना सम्मतौ)—न विषयग्रहणपरिणामाद्भुतेऽपरः

सैवेदने विषयप्रतिभासो युज्यते युक्त्ययो-गात् । (अनेकान्तजयपताका, पृ. १८)

जैन दन्तकथा मुजिय इन मल्लवादीका अस्तित्व ईस्वीकी चौथी शताब्दीमें माना जाता है । परन्तु, इधर उपर्युक्त वर्णनानुसार धर्मोत्तररचित न्यायविन्दु-टीकाके ऊपरकी टिप्पणीके कर्ता भी मल्लवादी नामक जैनआचार्य ही श्रात होते हैं । आज तक जैनसाहित्यमें केवल एक ही मल्लवादीके होनेका उल्लेख देखा गया है, इस लिये धर्मोत्तरटीका-टिप्पणीके कर्ता मल्लवादी और 'द्वादशारण्यचक्र'के कर्ता प्रसिद्ध मल्लवादी दोनों एक ही समझे जायें तो उसमें कोई आशय नहीं है । और इसी कारणसे डॉ. सतीशचन्द्र वि. ने अपने नियन्त्रणमें मल्लवादीका संज्ञा-समय समुचितरूपसे नहीं लिखा है जो धर्मोत्तरके लिये स्थिर किया गया है ।

परन्तु हरिभद्रके ग्रंथमें मल्लवादीका उक्त प्रकार स्पष्ट नामोल्लेख होनेसे, वे 'वादिमुख्य' और सुप्रसिद्ध मल्लवादी तो निःसन्देह रीतिसे हरिभद्रके अस्तित्व-समयसे-अर्थात् ईस्वीकी ८ वीं शताब्दी से-पूर्व ही में हो चुके हैं । इस लिये धर्मोत्तरटीकाकी टिप्पणी लिखनेवाले मल्लवादीको दूसरे मल्लवादी समझने चाहिए और वे धर्मोत्तरके बाद किसी समयमें हुए होने चाहिए । एवं हरिभद्रके ग्रंथोंसे हमें एक नये धर्मोत्तर और नये मल्लवादीका पता लगता है ।

४

हरिभद्र सूरि और शंकराचार्य ।

वेदान्तमतप्रस्थापक आदि शंकराचार्यके सत्ता-समयके विषयमें भी हरिभद्रके समयनिर्णयसे कुछ प्रकाश डाला जा सकता है । शंकराचार्यके समयके बारेमें अनेक विद्वानोंके अनेक विचार हैं । कोई तो उन्हें ठेठ महात्मा गौतमबुद्धके समकालीन और कोई महाकवि कालिदास और नृपति विक्रमादित्यके समकालीन बतलाते हैं । कोई ईस्वीकी पहली

छ देखो, पूर्वोक्त, मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्रका इतिहास, पृ. ३४-३५ ।

शताब्दीमें, कोई चौथीमें, कोई पांचवींमें, कोई छठीमें, कोई ७ वीं में, कोई आठवींमें, कोई नववींमें और यहां तक कि कोई १४ वीं जैसे विलकुल अर्ध-वीन काल तकमें भी उनका होता मानते हैं। परंतु इन सब विचारोंमेंसे हमें, हरिभद्रके साहित्यका अवलोकन करनेके बाद, प्रो. काशीनाथ थापू पाठकका विचार युक्तिसंगत मानलूम देता है। उनके विचारानुसार शंकराचार्य ईस्वीकी ८ वीं शताब्दीके अंतमें और नववींके प्रारंभमें हुए होने चाहिए। उन्होंने एक पुरातन सांप्रदायिक श्लोकके आधार परसे शक ७१० (ई. स. ८८८) में शंकराचार्यका जन्म होना बतलाया है। इसी समयके सम्बन्धमें अन्यान्य विद्वानोंके अनेक अनुकूल-प्रतिकूल अभिप्राय जो आज तक प्रकट हुए हैं उनमें सबसे पिछला अभिप्राय प्रसिद्ध देशभक्त श्रीयुत बाल गंगाधर तिलकका, उनके 'गीतारहस्य' में प्रकट हुआ है। श्रीयुत तिलक महाशयके मतसे "इस कालकी सौ वर्ष और भी पीछे हठाना चाहिए। क्योंकि महा-नुभाव पन्थके दर्शनप्रकाश नामक ग्रंथमें यह कहा है कि 'युगपययोधिरसान्वितशोक' अर्थात् शक संवत् ६४२ (विक्रमी संवत् ७७०) में श्रीशंकराचार्यने शुद्धांत प्रवेश किया, और उस समय उनकी आयु ३२ वर्षकी थी। अतएव यह सिद्ध होता है कि उनका जन्म शक ६१० (वि. सं. ७५५) में हुआ।" (गीतारहस्य, हिन्दी आवृत्ति, पृ. ५६४) हमारे विचारसे तिलक महाशयका यह कथन विशेष प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि शंकराचार्य यदि ७ वीं शताब्दीमें, अर्थात् हरिभद्रके पहले हुए होते तो उनका उल्लेख हरिभद्रके ग्रंथोंमें कहीं न कहीं अवश्य मिलता। हरिभद्र उल्लिखित विद्वानोंकी दीर्घ नामावलि जो हमने इस लेखमें ऊपर लिखी है उसके अवलोकनसे ज्ञात होता है

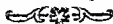
कि, उन्होंने अपने पूर्वमें जितने प्रसिद्ध मत और संप्रदाय प्रचलित थे उन प्रत्येकमें हो जाने वाले सभी घड़े बड़े तत्त्वज्ञोंके विचारों पर कुछ न कुछ अपना अभिप्राय प्रदर्शित किया है। शंकराचार्य भी यदि उनके पूर्वमें हो गये होते तो उनके विचारों की अवलोकना किये बिना हरिभद्र कभी नहीं रुक रह सकते। शंकराचार्यके विचारोंकी मीमांसा करनेका तो हरिभद्रको खास असाधारण कारण भी हो सकता था। क्योंकि, शारीरिक भाष्यवद् दूसरे अध्यायके द्वितीय पादमें वादरायणके

नैकस्मिन्नसम्भवात् । ३३। एवं चात्माऽकात्म्यम् । ३४

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः । ३५
अन्यावस्थितेश्चोभयन्त्यत्वाद्विशेषः । ३६ ।

इन ४ सूत्रों पर भाष्य लिखते हुए शंकराचार्यने, जैनधर्मका मूल और मुख्य सिद्धान्त जो 'स्याद्वाद' (अनेकान्तवाद), है उसके ऊपर अनेक असद्विशेष किये हैं। हरिभद्रने 'अनेकान्तजयपताका' में अनेकान्तवाद ऊपर किये जानेवाले सब ही आक्षेपोंका विस्तृत रीतिसे निरसन किया है। इस ग्रंथमें, तथा और और ग्रंथोंमें भी उन्होंने ब्रह्माद्वैत मतकी अनेक बार मीमांसा की है। ऐसी दशमें शंकराचार्य जैसे अद्वितीय अद्वैतवादीके विचारोंका यदि हरिभद्रके समयमें अस्तित्व होता (और तिलक महाशयके कथनानुसार होना ही चाहिए था) तो, फिर उनमें सखलित अनेकान्तवादपरक आक्षेपोंका उत्तर दिये बिना हरिभद्र कभी नहीं मौन रहने। इस लिये हमारे विचारसे शंकराचार्यका जन्म हरिभद्रके देहाविलयके बाद, अर्थात् प्रो. पाठकके विचारानुसार शक ७१० में होना विशेष युक्तिसंगत मानलूम देता है।

हरिपेणकृत कथाकोश ।



[लेखक—श्रीयुत पं. नाथूरामजी प्रेमी, भूतपूर्वसंपादक, जैन हितैषी ।]

दिगम्बर और श्वेताम्बरसम्प्रदायके विद्वानों द्वारा अनेक कथाकोश रचे गये हैं, परंतु अभी तक जितने कथाकोश उपलब्ध हुए हैं, वे अपेक्षाकृत अर्धाचीन हैं—ग्यारहवीं शताब्दीके पहलेका अभी तक कोई कथाकोश प्राप्त नहीं हुआ है। इस लेखमें हम जिस कथाकोशका परिचय देना चाहते हैं वह शक संवत् ८५३, विक्रम संवत् ९८९ और खर नामक वर्तमान संवत्के २४ वें वर्षका बना हुआ है और इसलिए इस समय हम उसे सबसे प्राचीन जैन कथाकोश कह सकते हैं।

इस कथाकोशकी एक प्राति पृथेके “भाण्डार-कर-प्राच्यविद्यासंशोधन मन्दिर” में मौजूद है जो वि० सं० १८९८ की लिखी हुई है। यह जयपुर के गोपाजीके मन्दिरमें लिखा गई थी और संभवतः वहाँसे गयनेमण्टके लिए खरीदी गई है। इसकी श्लोकसंख्या १२५००, पत्रसंख्या ३५० और कथासंख्या १५७ है। प्रायः सारा ग्रन्थ अनुपुष्टि छन्दोंमें रचा गया है। रचना बहुत प्रौढ़ और सुन्दर तो नहीं है, परन्तु दिगम्बर सम्प्रदायके अन्य कथाकोशोंसे अच्छी है।

इसके कर्ता हरिपेण नामक आचार्य हैं जो अपनी गुरुपरम्परा इस भांति बतलाते हैं—१ मौनि मट्टारक, २ श्रीहरिपेण, ३ भग्नसेन और ४ हरिपेण । हरिपेण पुनः संघके आचार्य थे। यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदायके अनेक आचार्योंने इस संघको पांच जेनाभासोंमें एक बतलाया है, परन्तु फिर भी यह दिगम्बर सम्प्रदायका ही भेद था। यह द्रविडसंघका नामान्तर जान पड़ता है। द्रविडदेशीय होनेके कारण इसका द्रविडसंघ नाम हुआ है। पुनः-

१ मेरे द्वारा सम्पादित और जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, मयूर, द्वारा प्रकाशित “दर्शनसार” में जेनाभासोंका विस्तृत विवेचन देखिए।

२ दक्षिणमहाराजदो द्रविडसंघो महामोहो ।
॥ २८ ॥

३ आपरेकी संस्कृत-इंग्लिश दिकानरीमें पुनः एक अर्थ “कनौठ देश” लिखा है।

उ भी संभवतः द्रविड देशका ही नामान्तर है। इस कथाकोशमें ही भद्रबाहु-कथानकमें लिखा है—

अनेन सह संघोऽपि समस्ते गुरुवाक्यतः ।

दक्षिणापथदेशस्य पुनः विषयं ययौ ॥४०॥

इससे सिद्ध है कि पुनः दक्षिणापथका ही एक देश है और उसे द्रविड देश मानना कुछ असंगत नहीं हो सकता। उस समय शायद कनौठक देश भी द्रविड देशमें गिना जाता था। इस संघका एक और नाम द्रमिल संघ भी है। न्याय-विनिश्चयालंकार और पादर्वनाथचरित अदिके कर्ता सुप्रसिद्ध तार्किक चांदिराजने अपनेकी द्रमिल-संघीय लिखा है। द्रविड देशको द्रमिल देश भी कहते हैं।

सुप्रसिद्ध हरिवंशपुराणके कर्ता प्रथम जिनसेन भी इसी पुनः संघके आचार्य थे—

“सुसुष्टापरसेषसन्तिवृद्धपुनः संघान्वये—”

हरिवंश-प्रशस्ति ।

यह कथाकोश भी उसी वर्द्धमाननगरमें बनाया गया है जहाँ कि जिनसेनसूरिने हरिवंशपुराणकी रचना की थी। और जब कि जिनसेन पुनः संघके ही आचार्य हैं तब संभव है कि हरिपेण आचार्य जिनसेनकी ही शिष्यपरम्परामें हों। यदि मौनिमट्टारककी गुरुपरम्पराका पता लगा जाय तो इस बातका निर्णय सहज ही हो जाय।

वर्द्धमानपुर कनौठक देशका ही कोई प्रसिद्ध नगर है। मालूम नहीं, इस समय वह किस नामसे प्रसिद्ध है। जिनसेनसूरि लिखते हैं—

“कल्याणः परिवर्द्धमानविपुलश्रीवर्द्धमाने पुरे,
श्रीपादर्वल्यनगराजवसतो पर्यातिशेपः x x”

इसी प्रकार इस कथाकोशके कर्ता लिखते हैं—

“जेनालयपुनः विराजिते

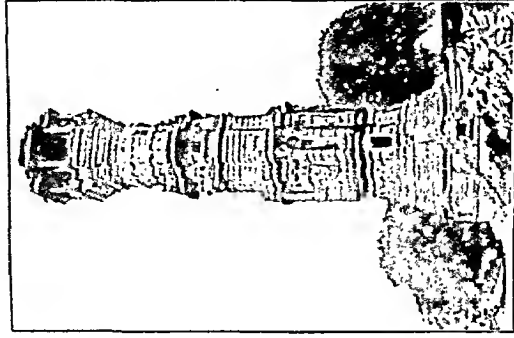
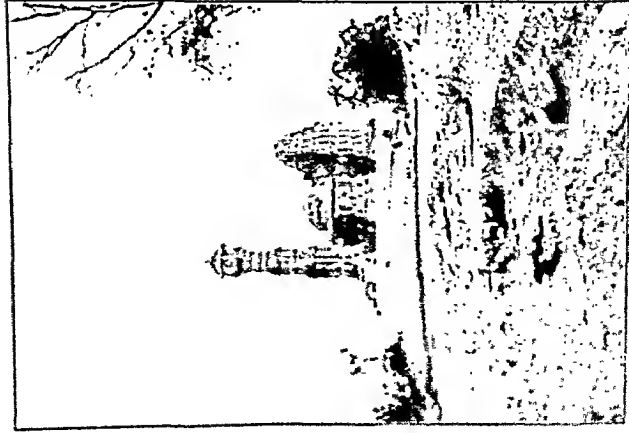
चन्द्रावदातपुनः सिद्धिजाले ।

लक्षणलक्षविधानविहीनः छन्दसापि रहितः प्रमया च ।
 तस्य शुभ्रयशसो हि विनेयः संवस्र विनयी हरिषेणः ॥ ७
 आराधनोद्भूतः पथ्यो भव्यानां भावितात्मनां । हरिषेणकृतो माति कथाकोशो महीतले ॥ ८
 ईनाधिकं चारुकथाप्रबन्धाख्यातं यवस्मामिरतिप्रमुग्धैः ।
 मात्सर्यहीनाः कवयो धरण्यां तत्प्रोधयन्तु स्फुटमादरेण ॥ ९
 भद्रं भूयाज्जिनानां निरूपनयशसां शासनाय प्रकामं,
 जैनो धर्मोपि जीयाज्जाति हिततमो देहभाजां समस्तं ।
 राजानोऽवन्तु लोके सकलमतितरां चारुवातोऽनुकूलः,
 सर्वे शान्पन्तु सत्त्वाः जिनवरयुग्माः सन्तु मोक्षप्रदा नः ॥ १०

नवाष्टनवकेष्वेयु स्थानेषु त्रिषु जायतः । विक्रमादित्यकालस्य परिमाणमिदं स्फुटम् ॥ ११
 शतेष्वष्टसु विस्पष्टं पंचाशत्तुल्याधिकेषु च । शककालस्य सत्यस्य परिमाणमिदं भवेत् ॥ १२
 सप्तसरे चतुर्विंशे वर्तमाने खरामिधे । विनयादिकपालस्य राज्ये शक्रोपमानके ॥ १३
 एवं यथाक्रमेण कालराज्येषु सत्सु कौ । कथाकोशः कृतोऽस्माभिर्भव्यानां हितकाम्यया ॥ १४
 कथाकोशोऽयमीदृशो भव्यानां मलनाशनः । पठतां शृण्वतां नित्यं व्याख्यातॄणां च सर्वदा ॥ १५
 सदृशैर्हृदयैर्वन्दो नूनं पंचशतान्वितैः । जिनधर्मश्रुतोद्युक्तैस्सामिर्भक्तिवर्जितैः ॥ १७
 इति श्रीहरिषेणाचार्यकृतं बृहत्कथाकोशं समाप्तं । ग्रन्थसंख्या १२५०० । श्रीरस्तु । कल्याणमस्तु
 संवत् १८६८ का मासोत्तमासे जेठमास शुक्लपक्ष चतुर्थ्यां तिथौ सूर्यवारे श्रीमूलशेषे भव्यान्मां

वष्ठात्कारणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकजी श्रीमहेन्द्रकीर्तिजी तत्पुत्रे भट्टारकजी श्रीक्षेमेन्द्र
 कीर्तिजी तत्पुत्रे भट्टारकजी श्रीसुरेन्द्रकीर्तिजी तत्पुत्रे भट्टारकशिरोमणी भट्टारकजी श्रीसुरेन्द्रकीर्तिजी
 तदाम्नाये सवाई जयनगरे श्रीमन्नेमिनाथचैत्यालये गोपालमन्दिरे पंडितोत्तमपंडितजी श्रीसंतोष
 रामजी तत्सिष्यपंडित वपंतरामजी तत्सिष्य हरिवंशदासजी तत्सिष्य कृष्णचन्द्रः तेषां मध्ये वपंतराम-
 त्पुत्रकंदारप्पां जामावरणीकर्नलपार्थ बृहदारण्यकाख्याकोशाख्यं भव्यं साधयेत्, जिहितं श्रेष्ठमस्तु ।
 शास्त्रं मंगलं भवतु । ”

जैन माहिरय संगोपकः



अभि मार्गान जैन गोविन्दप, निनोरगद, प्पाट ।

॥ अहंमे ॥

જૈન સાહિત્ય સંશોધક

ભાગ ૧]

ગુજરાતી લેલ વિભાગ

[અંક ૧]

ડૉ. હર્મન જેકોબીની કલ્પસૂત્રની પ્રસ્તાવના.

[અનુવાદક—શ્રીયુત અંબાલાલ ચતુરભાઈ શાહા, બી. એ.]

[નોટ:—લીપ્સીંગ (જર્મની) માં પ્રકટ થતી 'Abandlungen fur die Kunde des Morgenlandes' નામની ગ્રંથમાલામાં, ई० સ० ૧૮૭૯ માં ડૉ. હર્મન જેકોબીએ રોમન લિપિમાં, વિસ્તૃત પ્રસ્તાવના, ઉપયોગી ટિપ્પણ, વિવિધ પાઠાંતરો, અને પ્રાકૃત-સંસ્કૃત શબ્દકોષ સાથે મદ્રાસહુસ્વામી વિરચિત કલ્પસૂત્ર પ્રકટ કરાવ્યું હતું. એ પુસ્તકની, પ્રસ્તાવનામાં એ વિદ્વાન જૈન સ્કૉલરે કલ્પસૂત્ર સાથે સંબંધ ધરાવનારી બાબતો સિવાય બીજી પણ ધર્મીક બાબતો સ્વંયપ્રાપ્તી ચર્ચેલી છે, અને તેમાં, તેમની પહેલાંના જે કેટલાક પ્રસિદ્ધ યુરોપીય સ્કૉલરોએ જૈનધર્મની ऐतिहासिकता અને સ્વતંત્રતાના સંબંધમાં ખુબ ખુબ અસિવાજી વિચારો પ્રકટ કરેલા હતા, તેમનું સંક્ષેપમાં નિરસન કર્યું છે. ડૉ. જેકોબીનું એ અમૂલ્ય અને પ્રારંભિક પુસ્તક અજે દુર્લભ થઈ ગયું છે, તેમજ જૈનસમાજના મોટા ભાગને—ઇંગ્રેજી ફેલોશી લીધેલા ગ્રેજ્યુએટો સુદ્ધાને—એ વાતની સ્વર નથી કે ઉચ્ચ વિદ્વાને પોતાના એ ઉપયોગી પુસ્તકમાં જૈનધર્મના વિષયમાં કેવા કેવા વિચારો પ્રદર્શિત કર્યા છે. તેથી એ પુસ્તકની પ્રસ્તાવનાનો સરલ અનુવાદ અત્ર આપવામાં અવિ છે.

આ ટેકાણે પટ્ટલું સૂચવી દેવું જરૂરનું છે કે આ લેલમાં જણાવેલા, તથા એવા બીજા લેલો, કે જે હમેશાં આ પત્રમાં પ્રકટ થતા રહેશે તેમાં જણાવેલા વધા વિચારો સાથે સંપાદક સંમત છે, એમ સમજી લેવાની કોઈએ ભૂલ ન કરવી. સંપાદક હમેશાં પોતાના સ્વતંત્ર લેલોક્ત વિચારો માટે જ જવાબદાર હોય છે. તેમજ અન્ય લેલકોના વિચારો પણ હમેશાં એક સરખાજ રહે છે, એમ પણ કોઈએ ટૂંક ધારણા ન કરી લેવી. જ્ઞાન અને સાધનોના અનુસાર મોટા મોટા લેલકોના વિચારોમાં પણ પરિવર્તન થતું રહે-છે, એ સર્વાનુષંગસિદ્ધ હકિકત છે. એજ નિયમાનુસાર ડૉ. જેકોબીના વિચારોમાં પણ આ પ્રસ્તુત પ્રસ્તાવના લક્ષ્યા વાદ, પાંચઙ્ગી, કેટલીક વ્યવસ્થામાં સંશોધન--પરિવર્તન થયું છે, એમ તેમના પાંચઙ્ગના લક્ષ્યાવાદ કેટલાક લેલો ઉપરથી સમજાય છે. હવે પછીના અંકોમાં 'પૂર્વના પવિત્ર પુસ્તકો' (Sacred Books of the East) નામની મુપસિદ્ધ ગ્રંથમાલામાં ડૉ. જેકોબી દ્વારા અનુવાદિત જૈન-સૂત્રોના જે વે પુસ્તકો પ્રસિદ્ધ થયાં છે તેમની પ્રસ્તાવનાનો અનુવાદ પણ ક્રમથી આપવાની ઇચ્છા

મહાવીર નિર્વાણના સમયનું નિરૂપણ કરતાં પટે-
લાં આપણ શરૂઆતમાં એ તપાસ કરીએ કે જૈન-
ધર્મ અને બૌદ્ધધર્મ વચ્ચે પરસ્પર સ્વતંત્ર ધર્મો છે કે એક
બીજામાંથી નીકળેલા છે. જે યુરોપીય વિદ્વાનોએ
આ વિષય ઉપર આજ સુધીમાં લખ્યું છે, તે સઘટ્ટા સા-
માન્ય રીતે ઉપર દર્શાવેલા બીજા મનને સ્વીકારવાનું
પોતાનું વલણ બતાવે છે. કોલબ્રૂક (Colebrooke)
મહાવીરને ગૌતમ બુદ્ધના ગુરુ તરીકે માને છે. અને
તે પ્રમાણે માનવાનું કારણ તે એ બતાવે છે કે મહા-
વીરનો એક ઇન્દ્રભૂતિ નામનો શિષ્ય ધર્માચાર ગૌત-
મસ્વામી અથવા ગૌતમ નામે ઓછાસાચ છે. પ્રિન્સેપ
(Prinsep) અને સ્ટીવન્સન (Stevenson) એ
બે વિદ્વાનો તેનાજ અભિપ્રાયને સ્વીકારે છે, અને થોડા-
જ સમય અગાડ, મિ. એડવર્ડ થોમસે (Mr. Ed.
Thomas) પણ તેજ મતનું પુનઃ પ્રતિષ્ઠાપન કર્યું છે.
પ્રો. વેબર (Prof. Weber) પોતાના શરૂઆતના મા-
હાત્મ્ય ('Ueber das Catrunjaya-mahatmya')
ઉપરના નિવેદનમાં કોલબ્રૂકની કલ્પનાને પ્રાંતિપૂર્ણ
સિદ્ધ કરે છે અને લખે છે કે, ઇન્દ્રભૂતિ તે ગૌતમબુદ્ધની
માફક કદાચ નહીં પણ માણસ જાતિનો હતો. તેનું
ગોત્ર ગૌતમ હોવાથી તે એ નામે પણ ઓછાસાચ છે.
પરંતુ આટલા ઉપરથી તેની ગૌતમબુદ્ધની સાથે એક-
તા કરવી તે પ્રકટ મૂલ છે. જો ઇન્દ્રભૂતિએ વિરોધી
મત સ્થાપવાને વર્ધમાનના ધર્મમાર્ગનો ત્યાગ કર્યો
હોત, તો, મહાવીર નિર્વાણ ઘાટ થોડા વસત પછી
રચાણલા જૈનસૂત્રોમાં બારંબાર તેના સંવંધમાં જે આદર
મોરેલા ઉઠેલો, કરવામાં આવ્યા છે તે કદાચ ન
કરવામાં આવત. વરલે તેથી ઉલટું, મહાવીરનો
પ્રિય શિષ્ય હોવા છતાં વંતે તેટલી રીતે તેની નિ-
દાજ કરવામાં આવી હોત * કારણ કે સૂત્રોમાં સ્પષ્ટ

* ઇન્દ્રભૂતિના સંવંધમાં જે એક કંટકા પ્રચલિત છે તે
ઉપરથી ઇન્દ્રભૂતિ તેમના ગુરુ ઉપર કેટલા અનુરક્ત હતા તે
સ્પષ્ટ થાય છે. મહાવીરના વેદ્યાગ વચ્ચે તેઓ મેદાજર
હતા; જ્યારે તેમણે સ્થાન તરફ પગા કરતાં પોતાના પૂજ્ય-

રીતે કથન છે કે મહાવીરના જમાલિ નામનો માણે
ધર્મભેદ કર્યો હતો; તેમજ મગવતી સૂત્ર (સં. ૧૭
માં) મહાવીરના બીજા શિષ્ય મગલલિપુત્ર ગોસા-
લના ઉપર પણ રફુટ રીતે આક્ષેપો કરેલ
જોવામાં આવે છે. (સાથે સાથે કહી જાઉં છું કે
આ મગલલિપુત્ર ગોસાલ તે પાલિસૂત્રોમાં નિર્દિષ્ટ
મગલિગોસાલજ છે. તને તે સ્થળે છૂંદે તૈથિકોમાંનો—
પાસંહમતાવલંચિઓમાંનો—એક તથા બુદ્ધમતના
વિરોધી તરીકે ગણાવ્યો છે.

પ્રો. એચ. વિલ્સન (Prof. H. Wilson) 'હિંદુ
જોના ધાર્મિક સંપ્રદાયો' નામના પોતાના નિવેદનમાં
કોલબ્રૂકથી તદ્દન વિરુદ્ધ મત ઉપસ્થિત કરે છે. તે
કહે છે કે જૈનધર્મ એ બૌદ્ધ ધર્મની શાખા છે અને તે
ઈ. સ. ની દસમી સત્તાબ્દિના અરસામાં બુદ્ધધર્મની
પડતીમાંથી ઉત્પન્ન થયો છે. પ્રો. એ. વેબર પોતાના
ઉપરોક્ત પુસ્તકમાં જો કે જૈનધર્મની આના કરતાં
વધારે પ્રાચીનતા સ્વીકારે છે પરંતુ સાથે તે બૌદ્ધધર્મ-
ની પૂર્વકાલિકતા પણ, એચ. વિલ્સનના કહેવા મુજ-
બ કબુલ રાખે છે. પ્રો. લેસન (Prof. Lassen) એક-
દર વેબરના અભિપ્રાયનેજ મઠ્ઠો થાય છે (Ind-
Alterth. IV 765 Sq.). ઉપર ઉપરથી જોતાં
કેટલાંક કારણો પ્રો. વિલ્સનના મતને પુષ્ટિ આપતાં
માલુમ પડે છે, કારણ જૈનસૂત્રોમાં જગ્યાઠ્ઠા પ્રમાણે
મહાવીર વિહારના—કે જે બુદ્ધની પણ જન્મ અને ઉપ-
દેશની ભૂમિ હતી, ત્યાંના—નિવાસી માંજ હતા,
પટલુંજ નહીં પણ તે વચ્ચે સમકાલીન અને એકજ
રાજાઓના રાજ્યોમાં વિચરતા હતા, એવું પણ વર્ણન
મળી આવે છે, અલગત શ્રેણિક અને કુળિક (અથવા

મુદ્દના અણધાર્યા અધ્યાપનાના સમાચાર વાંચ્યા ત્યારે તેઓ
અત્યંત શોકપ્રસ્ત થયા હતા. પછીથી તેમણે પ્રયત્ન કર્યો
કે, એક અનિમ અવશિષ્ટ વંશન, કે જેનાથી તેઓ સંસારબદ્ધ
હતા, તે બીજું કંઈ નહીં પણ તેમના યુદ્ધ પ્રયત્નો તેમનો પ્રયત્ન
પ્રેમભાવ હતો, પચાનું તેમણે તે વંશને સંવેદના છંદી કબલ
માન પ્રાપ્ત કર્યું હતું.

કોળિક-આવાં નામો બૌદ્ધસૂત્રોમાં જોવામાં આવ્યાં નથી, તથાપિ શ્રેણ્ય યા શ્રેણિક એવા શબ્દો વિશ્વિસારના વિદ્ધ તરીકે જોવામાં આવે છે; અને તેનો પુત્ર કુળિક, કે જે ઔપસાતિકસૂત્રમાં વિશ્વિસાર-પુત્રતરીકે પણ ઓલ્લસાય છે, તે ૧૫૪ રીતે વિશ્વિસારનો પુત્ર અજાતશયુજ હોવો જોઈએ. કારણ કે જૈન અને બૌદ્ધસૂત્રોમાં અનુક્રમે તે બંનેને પોતાના પિતાની હત્યા કરનાર તરીકે વર્ણવેલા જોવાય છે. કુળિકનો પુત્ર ઉદાયિન, કે જેને જૈનપરંપરાગત કથાનુસાર પાટલિપુત્ર વસાવ્યું હતું, તે અજાતશયુનો પુત્ર સ્વયં મહાકવ છે; એમ સંદેહાર્થી સાબિત કરી શકાય છે. કારણ કે, બૌદ્ધોનું પણ તેના સંબંધમાં તેવું કથન છે. આ ઉપરથી જણીએ તો નિઃસંદેહ જણાય છે કે વિશ્વિસાર અને અજાતશયુ, જેઓ બુદ્ધના સમકાલીન હતા, તેઓ પુનઃ જૈન આગમેમાં શ્રેણિક અને કુળિકના નામો મહાવીરના સમકાલીન દૃષ્ટિગોચર થાય છે. તેમનાથી કેટલેક અંશે અલ્પપ્રતિષ્ઠિત પૃથ્વી બોજી વ્યક્તિઓના સંબંધમાં પણ આવી દક્ષિણ મઠી આવે છે જેમકે મંદલિનો પુત્ર મોસાલ (અથવા જૈનાનુસાર-મંદલિ; મંદલિ=મંદલિ; વિશ્વિસાર=વિશ્વિસાર) અને લિચ્છવિ (જૈન-લેચ્છવિ) રાજાઓ. અન્ય એક દલીલ પ્રો. વિલ્ફ્રાન્ડ પોનાના પૃથ્વીનાં ૫ રજુ કરે છે કે, શાક્યસિંહ અને વર્ષમાનસા વિશેષણો અથવા ગુણનામો એક સરના છે. ઉદાહરણ તરીકે-બુદ્ધ, અિન, અને મહાવીર (?) વિગેરે. અને બીજું પણ એક પ્રમાણ ૫ છે કે વલ્લેની પત્નીનું નામ વસોદા હતું. આ પ્રમાણોથી, એ. ડિસન બુદ્ધ અને મહાવીર વચ્ચે એક જ વ્યક્તિ છે, એમ જણાય છે, પરંતુ આ સિવાય તે વલ્લેની વચ્ચે બીજું કોઈ પકારનું સાધ્ય નથી. પાણકે આ સિવાયની જટલી દક્ષિણ બુદ્ધના સંબંધમાં લક્ષ્યમાં આવી છે, તેમાંની એક વર્ષમાનની દક્ષિણ સૌંદર્ય મઠી આવતી નથી. તેમજ વલ્લે મહાત્માઓનાં સમાનાં નામ, જન્મમૂર્ધી, શિષ્યપરિવાર, આયુર્મર્યાદા, તથા તેમના જીવનના

અદ્ભૂત વગરો અને આચાર-વિચારો કે જે તેમના ઉપદેશો ઉપરથી તારવી શકાય છે—તે સર્વજ્ઞો તદ્દન મિત્ર મિત્ર છે. હું આ સ્થલે માત્ર એક છેલ્લી વાચત ઉપર ધોડીક ચર્ચા કરીશ. પહેલી વાચતને ટીકાની જરૂર નથી. હું જ્યાં સુધી નિર્ણય કરી શક્યો હું, તે ઉપરથી, મહાવીરનું માનસિક વલણ વીતરાગ (વિરક્ત) જીવન તરફ હતું. તેમનો ઉપદેશ પણ મુખ્યત્વે કરીને આધ્યાત્મિક જ્ઞાન અને ધાર્મિક આચારોને લગતો છે. તેમનું તત્ત્વજ્ઞાન અથવા પરમાર્થ (અધ્યાત્મિક) સ્વરૂપ વિષયક જ્ઞાન ન્યાયશાસ્ત્રની પૂર્વાપર સંગતિની દૃષ્ટિએ ઝટકટ જણાતું નથી. કારણ કે તે ગંભીર માત્ર સૂક્ષ્મ અને શ્રમસાધિત મેદો (વિકલ્પો) ડાકે છે. આ મિદ્ધાન્તનું નામ સ્વાદ્વાદ છે, અને તે શૂન્યવાદ કે જે બૌદ્ધતત્ત્વજ્ઞાનને પોતાની જાઝમાં ગૂંચવી નાંચે છે, તેના મયથી પોતાને દૂર રાખે છે. ૫ મિદ્ધાન્ત હેરોફિટસના પર્યાયવાદ (Illux) સાથે યોદેક અંશે મઠતો આવે છે—જો કે ૫ તેના જેટલો મહન નથી. મહાવીર સર્વસામાન્ય માન્યતા પ્રમાણે આત્માનું નિત્ય અસ્તિત્વ અને ધાર્મિક તપશ્ચરણના પ્રભાવ (સામર્થ્ય)ને વિશેષ માને છે; ત્યારે બૌદ્ધો આ વલ્લે સિદ્ધાન્તોની વિદ્ધ કથન કરે છે. મહાવીરનું નીતિતત્ત્વશાસ્ત્ર ધન, માત્ર જેમ હિંદુધર્મના બીજા ધર્મા સંપ્રદાયોમાં જોવામાં આવે છે તેમ, સાધુજીવનના નિયમોનું વર્ણન કરી ચિરામ પામ છે. ટુંકામાં મહાવીર હિંદુધર્મના ધાર્મિક પુરુષોમાં સાધારણ પ્રકારના હોય છે. ધાર્મિક વિષયોના સંબંધમાં તેમની બુદ્ધિશક્તિ હતી સ્તરી; પરંતુ બુદ્ધમાં જેવી પ્રતિભાશક્તિ નિઃસંશયરીતે મની-શકાય છે, તેવી તો, તેમનામાં ન હતી. બુદ્ધ પોતાના તાત્ત્વિક વિચારો ટેટ શૂન્યવાદના કિનારા-અંતિમ મર્યાદા-સુધી લઈ જાય છે. અને તેમ કરવા છતાં પણ, તેઓ પોતાના તર્કને તદ્દન ૧૫૪ રાખવા પૂર્ણ કાઢી રાખે છે. તેઓ પાંદિત્યદ્વીક મેદોપમેદો દેસાહવાનું

चातुर्य वताववा कोशीय करता नथी; अने तेथी तेमनुं तत्त्वज्ञान थोडा तत्त्वभूत विचारो उपर रचा-पली एक संस्थिति (System) रूप बने छे. महावीरनुं तत्त्वज्ञान तेम बननुं नथी. ते मात्र भिन्न भिन्न विषयो उपर पत्रचिन्ता रूपमांज रहे छे. तेनी अंदर आध्यात्मिक विषयना विचारसमुच्चयने धारण करवा योग्य थोडा मूळभूत तत्त्वो नथी. तत्त्वज्ञान विषयक विचारोमां तर्कनी पूर्वापर संगति जाळववा उपरांत बुद्ध उदार अने महान् सूत्रोमां, तथा नीतिनी कल्पितवार्ता-ओमां, मनुष्य जातिना त्रिविध तपना निवारण अर्थ जे दयानी तीव्र लागणी प्रकट करी छे, ते उपरथी तेमनी प्रभिमानुं श्रेष्ठ १५६ जणाई अवि छे. जैन-अंग्रेया करतां बौद्धअंग्रेयोनी महत्ता तेमना नैतिक तत्त्वने लईनेज छे. में उपर कहहुं छे तेम, महावीर नीति-शास्त्रने अध्यात्मविद्या करतां दलका दरजानुं तथा तेना एक बानुपंगी सिद्धांत तरीके मान्युं छे. कारण के तेमनुं खास लक्ष्य परमार्थविद्या उपर हतुं. महा-वीर अने बुद्धना उपदेशनी आ रूपरेखा आपणने, तेओ बने भिन्न व्यक्तियो हती एम मानवा दोर छे. ते बनेना मतभेदो पण घणा विचारणीय छे. तेमना तात्त्विक विचारोना पारिभाषिक या सांके-तिक शब्दो पण परस्पर मळता आवता नथी. आवी-रिते महावीर अने बुद्धने एक मानवामां विरुद्धता बधती जती होवाथी, ते बने प्रतिष्ठित-पुरुषो भिन्न पण समकालीन व्यक्तियो हती, एम वतावती जैनो अने बौद्धोनी परंपरागत कथाओने सार्वा मानवा तरफ आपणुं बलण थाय छे. वस्तुस्थिति आवी होवाना लथि, बने मतोनी वच्चेनुं सामान्य सादृश्य स्वाभाविकज छे, एम सहज जणाई आवेशे. बने संप्रदायोना संस्थापको समकालीन अने समान-देशनिवासी होवाथी, प्राकृतिक नियम प्रमाणे, ते बने एकज प्रकारना देशकालानुरूप सर्वसा-मान्य तत्त्वज्ञान अने नीति विषयक विचारसमूहो आश्रय छे तेमां नवाई नथी. तेमना जमानानुं बलण

स्पष्टरिते ब्राह्मणधर्म समे थवानुं नो आपो बुद्धना समयना छे तैथिक मताचार्योना सिद्धान्तो वर्णन बांकीनुं—जे वर्णन बौद्धोना सामञ्जस्यसू-चमां आपेल छे,—तो आपणने जणाशे के ते स अल्प या बहु अंशे, ते बखतना सुधारको हता. ते यथाथी बुद्धनी ज विशेषता हती ते तेमनी प्रति-भाने लईनेज हनी. बुद्धनी माफक महावीर पण एन बीजा सुधारक हता अने तेओ पोतानो स्वतंत्र मत्-स्थापवाने सफल थया हता, एम जो आपणे मानीए तो तेमां युक्तिरहितता के असंभवितता जेनुं जणानुं नथी. आ विचारने हुं ऐतिहासिक सत्य तरीके स्थापित करवा दलीलो रजु करुं तेनी पहिलां मोरे बौद्ध धर्मगी पूर्वकालिकताना हिमायतिओए रजु करेली ये विरुद्ध युक्तिओनुं निराकरण करवुं जो-ईए. प्रथम, जो हुं भूलतो न होइ तो हेमिल्टन बुकेनन (Hamilton Buchanan) ना कथनना आधार एम मनाय छे के जैनो ज्ञाति व्यवस्था स्वी-कार छे; अने आ मान्यताना पाया उपर जैनधर्मनी उत्पत्तिना संबंधमां नीचेनी कल्पना उभी करवामा आवी छे, के यथारे ब्राह्मणोए बौद्धोने त्रास आपवा मांढ्यो स्यारे तेओए पोताना धर्मांध प्रतिस्पर्धी-ओनी साथे समाधान करवा अर्थ ज्ञाति-व्यवस्थानो स्वीकार कर्यो. कारण के जो तेमणे एटलुं नमवुं मय्युं न होत, तो ब्राह्मणोए ते पासंडमतने सर्वथा दावी दीयो होत. आ विचारमांथी एवी कल्पना जन्मी, के आ रीते क्षीण यथो बौद्धधर्मज जैनधर्मना रूपमां परिवर्तित थयो. आ कल्पनानो आ रथछे हुं उदापोह करवा मांगतो नथी. मात्र एटलुंज जणा-दीश के ते कल्पनानो हुं अवरोकार करुं छुं.

जैनधर्ममां यति अने श्रावक नामना बेज वि-भाग छे अने जो कदाचित् हिंदुस्थानना कोई कोई भा-गमां जैनो लोकव्यवहारमां ज्ञातिभेदो स्वीकारता होय तो, ते प्रमाणे तो, दक्षिण हिंदुस्थानना स्वीरित अने मुसलमानो तथा सिलोनना बौद्धो पण स्वीकारे

છ. આ જાવતન યમના સાથે કોઈ સંબંધ નથી. આ જ્ઞાતિભેદો તો માત્ર સામાજિક ભેદો છે અને તે માર-તવાસીઓનાં મગજમાં ઘટલા તો ઝંઝા જડ પાલીને વેટે ન છે કે તેમને ધાર્મિક સુધારકના શબ્દો ચીલ-કુલ સ્પેસી શકે તેમ નથી. બૌદ્ધધર્મના લેલોમાં અનેક ઠેકાણે પ્રાક્ષણોનો ઉલ્લેખ થયેલો છે, પણ તે-ટરા ઉપરથી કોઈ બૌદ્ધધર્મ ઉપર જ્ઞાતિરૂપી ધાર્મિક યોજનાને સ્વીકારવાનો આરોપ ન મૂકી શકે, ચીલી દલીલ પૂરી કરવામાં આવે છે, કે જૈનોની પ્રાકૃત માયા કરતાં બૌદ્ધોની પાલિમાયા વધારે પુરાતન છે; અને તેટલા માટે તે બૌદ્ધધર્મની પૂર્વકાલિકતા સ્થાપન કરવાને પક્ષ પ્રમાણ છે. જો કે આ દલીલ તદ્દન સાચી છે, તો પણ તે કોઈ વાસ્તવ સિદ્ધ કરી શકતી નથી. કારણ કે, હું આગલ ઉપર વધારીશ તે પ્રમાણે જૈનસૂત્રો જે રૂપમાં હાલમાં વિદ્યમાન છે તે રૂપ મહાવીર નિર્વાણ પછી એક હજાર જેટલાં વર્ષો વાદ નહીં કરવામાં આવ્યું હતું. આ ઉપરથી બટું તો તર્ક-સિદ્ધ છે કે તે પહેલાંનાં એક હજાર વર્ષોમાં એ સૂત્રોની માયામાં ઘડા ફેરફારો થયા હોવા. જો-ઈએ. કારણ કે જે આચાર્યો મુલથી અથવા લેલથી પોતાની શિષ્યવંશ પરિણે એ સૂત્રો સોંપતા ગયા હોય, તેમનું સ્વાભાવિક વલણ, તે સૂત્રોની માયાના જે જૂનાં રૂપો પ્રચલિત માયામાંથી અદ્વદ્ય થયા હોય તેમના વધેલે વર્તમાન વાક્યપદ્ધતિપ્રમાણના રૂપોનો વ્યવહાર કરવાનું થાય, એ નિઃસંશય છે. દાલદા તરીકે, મધ્યયુગના જર્મન લેલકોનાં પ્રયોગના ઉતારા-ઓ પણ, ઉતારા કરનારાઓની દેશ-તથા-કાલની માયામાં જ થયા હતા, એ સ્પષ્ટ જોવાય છે. આવી વાસ્તુશિથિતિ હોવા છતાં પણ એક ઉદાહરણમાં મૂળમા-યાની નિશાની રહી ગઈ છે તે સ્પષ્ટ વતાવી આપે છે કે મૂળ માયા, સૂત્રોની હાલની માયાથી, અન્ય ઘણા આકારોની માફક એક વિશેષ આકારમાં જુદી પડે છે. દાલદા તરીકે, સૂત્રોમાં વપરાયેલ 'અગની' 'આ-ચારિય' 'સુદ્ધ' વિગેરે શબ્દો લઈએ. જે છંદોમાં

આ શબ્દો વપરાયા છે તેઓના માપ ઉપરથી જણાય છે કે મૂળમાં—મૂળની રચના કરનારાઓના સમયમાં—એ શબ્દોનું ઉચ્ચારણ 'અગ્ની' 'આચાર્ય' 'સુદ્ધ' વિગેરેના રૂપમાં થતું હોયું જોઈએ. જો તે વલતે આ પ્રમાણ ઉચ્ચારણ ન થતું હોત—અને સૂત્રકારોની માયા પણ સર્વથા હાલના લિખિત સૂત્રોના જેવી જ હોત—તો તેઓ પણ—સઘણી પ્રાકૃત માયાઓને સરખી રીતે લાગુ પડતા સ્વરશાસ્ત્રના નિયમો તેમની માયાને પણ લાગુ પડેલા હોવાથી—એ શબ્દોનો ઉચ્ચાર તેમ ન કરી શક્યા હોત. આ વિષયના વિ-સ્તૃત વિષેન મટે હું વાચકને "Zeitschrift für vergleichende Sprachforschung" v. XXIII; p. 594, 595 જોવાની મલામળ કરું છું. આ થોડીક હકિકતો ઉપરથી સમજી શકાય છે, કે માયાનું અનુકરણ જૈન સાહિત્યની પ્રાચીનતાની વિરુદ્ધમાં દલીલ તરીકે રજુ કરી શકાય તેમ નથી, અને ઉપર આમ છે તો પછી તેથી દલીલને જૈનધર્મને બૌદ્ધધર્મથી અર્વાચીન સ્થાપિત કરવામાં પ્રમાણ તરી-કે તો લેવાયજ કેમ ? અંતમાં, આપણે વચ્ચી જાણીએ છીએ કે જૈન સાહિત્યનો ચૌદપૂર્વના નામે ઓલ્લસા-તો એક માગ તો નષ્ટ થઈ ગયો છે; અને તે કઈ માયામાં રચાયેલો હતો તે આપણે ચીલકુલ જાણ-તા નથી.*

આપણે ઉપર જોયું તે પ્રમાણે જૈનોનાં પવિત્ર સૂત્રો વિધિસાર અને અજાતશયુના સમયને મહાવીરના જીવનસમય તરીકે બતાવે છે. હવે જૈનધર્મ તે પુરા-તન કાલમાં હતો કે નહીં તેની ઐતિહાસિક દૃષ્ટિએ શોધ કરવાની જરૂરત છે. સૂત્રોમાં જૈનયતિઓ માટે વધુ પ્રચલિત શબ્દ 'નિર્ગમ્ય' અને સાધ્વીઓ માટે 'નિર્ગમ્થી' મઝી આવે છે. વરાહમિહિર અને હેમ-

જેકેટલાક અલ્પ પ્રાચીન જૈન ગ્રંથોમાં ઉલ્લેખ કરેલો જા-યામાં આવે છે કે ચૌદપૂર્વોની રચના સંસ્કૃત માયામાં પાળી હતા. ડૉ. જેકોબીની જાણમાં તે વલતે એ હકતો નહીં આવ્યા હોય.—જ. ધા. યે. સંપાદક.

કે ઉર્વત્ મહાવીર શબ્દ તે વર્ધમાન નામને માટે વપરાયો છે, પણ વુદ્ધને માટે નહીં. એ શિલાલેખ ઉપર સંવત્સર ૨૮ લેખેલો છે. મથુરામાં મળેલા શિલાલેખોની તારીખો કયા સંવત્સરે ઉદ્દેશીને લખાયેલી છે તે હજી નક્કી થયું નથી; છતાં પણ કનિક્ક અને હુવિક્કના નામનિર્દેશથી જણાયેલું તે સિદ્ધ થાય છે કે તે શિલાલેખો ઈ. સ. ૦ ના શરૂઆતનાં છે. ઘીજો પુરાણે એ છે કે વૌદ્ધગ્રંથોમાં પણ જૈનધર્મના સંસ્થાપકના સંબંધમાં કેટલાક ઉલ્લેખો મળ્યા આવે છે; તે ઉલ્લેખો તેના-જૈનધર્મના પ્રવર્ધકના—કોઈ સામાન્ય નામના રૂપમાં નહીં પણ 'નિગળ્ઠનાથ' અથવા 'નિગળ્ઠનાતપુત્ર'ના વિશેષનામના રૂપમાં છે. આપણે પહેલાં જોઈ ગયા છીએ કે 'નિગળ્ઠ' એ જૈનયતિવાચક શબ્દ છે; અને 'નાતપુત્ર' ને હું કલ્પસૂત્ર અને ઉચ્ચાધ્યયનમાં અધિલા મહાવીરના 'નાતપુત્ર' વિરુદ્ધ તરીકે માનું છું. નેપાલના વૌદ્ધગ્રંથો નિગળ્ઠનાથને જ્ઞાતિનો પુત્ર કહે છે (Burnouf, Lotus de la bonne loi p. 450), અને જૈનો પણ તેને 'જ્ઞાતપુત્ર' કહે છે. (See Petersburg Dictionary S. V. Jnataputra) વઢીર હેમચંદ્રના પરિશિષ્ટ પર્વ ૧-૩ વાઢીરો નીચેનો શ્લોક સરલાયણા જેવો છે:—

કલ્યાણપાદપારામં શ્રુતગદ્ગાદિમાચલમ્ ।

વિશ્વામ્બોજરવિં દેવં ચન્દ્રે શ્રીધાતનન્દનમ્ ॥

મહાવીરને આ નામ આપવાનું કારણ એ છે કે તેના પિતા જ્ઞાતકાવિય-જ્ઞાત જાતિના દાવિય-હતા. નિગળ્ઠનાતપુત્રને સામઞ્ચકલસુધમાં અમિવૈદ્યાયન ગોત્રના લક્ષ્યા છે. આ વૌદ્ધલોકોની મૂલ છે. કારણ કે, મહાવીર તો ચૌતમ ગોત્રના હતા. વૌદ્ધલેખકોએ ધર્મસંસ્થાપક અને તેમના મુલ્ય શિષ્ય સુધર્માને ઉલટપાલટ લક્ષી દીધા છે. અર્થાત્ શિષ્યનું ગોત્ર, મુલને લગાડયું છે. જૈન સૂત્રોમાં સુધર્મને મહાવીરના સિદ્ધાન્તોના પ્રવર્તક તરીકે લક્ષ્યા છે, કે જમણે જંબુસ્વામીને પ્રથમ સૂત્રોપદેશ આપ્યો હતો.

આ સુધર્મા 'અમિવૈદ્યાયન' ગોત્રના હતા. સુધર્મા, નિગળ્ઠનાતપુત્રના સિદ્ધાન્તવર્ધક સામઞ્ચકલસુત્રના તે માગનો અર્થ સ્પષ્ટ સમજાતો નથી. છતાં પણ તેના આનુષાંગિક માપન્ટર ઉપરથી, હું કહી શકું છું કે 'નિગળ્ઠનાતપુત્ર' ને મહાવીર તરીકેજ ગણવામાં કોઈ પણ પ્રકારનો વાધ આવે તેમ નથી. ડૉ. મુલ્હેરે પણ એક કથાના આધારે મહાવીરને નિગળ્ઠનાતપુત્ર રૂપે જ સ્વીકાર્યો છે તે હકિકત પણ આ કથનને પ્રુટિ આપે છે. વૌદ્ધધર્મના આત્માવતાર (Hardy, Manual of Buddhism p. 271), વૈદ્યન્ટર અને અન્ધગ્રંથોમાં જોવા ઉલ્લેખ છે કે નિગળ્ઠનાતપુત્રે પોતાના ઉપાલિનામના એક શિષ્ય, કે જેણે વૌદ્ધધર્મનો અંગીકાર કર્યો હતો તેની સાથે કલહ કર્યો પછી પાવામાં કાલ કર્યો હતો. કલ્પસૂત્રપ્રમાણે પણ મહાવીરનું દેહાવસાન પાવાગાજ થયું હોવાથી, તેમજ જૈન યતિઓ નિગળ્ઠો કહેવાતા હોવાથી, એ સ્પષ્ટરિતે સિદ્ધ થાય છે કે 'નિગળ્ઠનાથ' એ શબ્દ મહાવીર માટેજ વપરાયો છે. આ પ્રમાણે વુદ્ધ અને મહાવીર એ વસ્તે સિત્ત પરંતુ સમકાલીન વ્યક્તિઓ હતા. આ ઉપરથી એ પણ સ્પષ્ટ છે કે આ વસ્તે ધર્મોપદેશકોના નિર્વાણ સમયમાં થોડાકજ વર્ષોનું અંતર હોયું જોઈએ. હવે જનરલ કનિક્કહામે કરેલી અશોકની ગ્રંથ નથી આજ્ઞાઓની સ્થોપ ઉપરથી, અને ડૉ. મુલ્હેરે જૈન-હાસિક અને માપાશાસ્ત્રની દૃષ્ટિ કરેલા તેમના અર્થાલોચન ઉપરથી, વુદ્ધનો નિર્વાણ-સમય ઈ. સ. પૂર્વે ૪૭૭ ના અસામાં નિર્ણીત થયો છે. તેથી મહાવીર નિર્વાણનો સમય પણ ઈ. સ. પૂર્વે ૪૯૦ અને ૪૬૦ ની વચ્ચે આવ્યો જોઈએ.

એતામ્બરોની પરંપરાનુસાર મહાવીર-નિર્વાણનો સમય વિક્રમ સંવત્ પહેલાં ૪૭૦ વર્ષ આવે છે, અને વિગમ્બરોના મતે વિક્રમસંવત્ પૂર્વે ૬૦૫ વર્ષ આવે છે. આ વસ્તે સંપ્રદાયોની નોંધાવણી નિર્વાણની તારીખોમાં જે ૧૩૫ વર્ષનો તફાવત જોવામાં આવે છે તે સંભવ અને શક વચ્ચેના કાલની બરાબર છે. અને

આ ઉપરથી એવી સંભાવના ઊભી થાય છે કે દિગમ્બરોનો વિક્રમ સંવત્ તે શાલિવાહનનો શક છે. કારણ કે શાલિવાહનનો હમેશાં જુના વિક્રમ સાથે સેઠ્ઠભેલ થઈ જાય છે. શ્વેતામ્બરો વિક્રમ સંવત્ ई. સ. પૂર્વે ૫૭ વર્ષે શરૂ થયો, એ માને છે. મહાવીર નિર્વાણ અને વિક્રમ સંવત્ વચ્ચેના ૪૭૦ વર્ષના અંતર સંબંધી હકિકત શ્વેતામ્બરોના ઘણા ગ્રંથોમાં મળી આવે છે. એનું પ્રાચીનતમ પ્રમાણ—મેરુતુલ્કની 'વિચારશ્રેણિ' ના પાયામૂત, નીચે આપેલી સ્ત્રાવક ગાથાઓ છે. ૧ ગાથાઓમાં મહાવીર નિર્વાણ અને વિક્રમાદિત્ય રાજાની વચ્ચેના અંતરમા જે જે રાજવંશોષ જેટલાં જેટલાં વર્ષો સુધી રાજ્ય કર્યું તેમની નોંધ આપેલી છે. તે ગાથાઓ હં અહીં ટાંકુ છું,— અને તેમની સાથે તેમના પ્રથમ પ્રકાશક ડૉ. બુલ્હેર કરેલી ટિપ્પણી (Indian Antiquary II. 362.) ડેરું છું.

જે રચણિ કાલગઓ અરિહા તિત્થંકરો મહાવીર ।
તં રચણિં ત્ર્યંતિવર્ડ અહિસિત્તો પાલગો રાજા । ૧ ।
સહી પાલગરણ્ણો પળવળ્ણસયં તુ હોદ નંદ્રાણ ।
અઠસયં મુરિયાણં તીસં ચિઅ પૂસમિત્તસ । ૨ ।
વલમિત્ત માનુમિત્તા સહી ઘરિસાણિં ત્ત નહવહણે ।
તહ ગઢમિહરજ્જં તેરસવરિસા સગસસ ચડ । ૩ ।

'૧' જે રાત્રે અર્હત તીર્થંકર મહાવીર નિર્વાણ પામ્યા, તેજ રાત્રે અવન્તીપતિ પાલકનો રાજ્યાભિષેક થયો.

'૨' પાલક રાજાનું રાજ્ય ૬૦ વર્ષ સુધી રહ્યું. પછી ૧૫૫ વર્ષસુધી નન્દોર રાજ્ય કર્યું. તેના વાદ ૧૦૮ વર્ષ મર્થ રાજ્ય ચાલ્યું. પછી ઘોશ વર્ષ પુત્યમિત્રનું રાજ્ય રહ્યું.

'૩' વાદમાં ૬૦ વર્ષ વલમિત્ર અને માનુમિત્ર રાજ્ય કર્યું. અને તેમની પછી ૪૦ વર્ષ નમોવાહન રાજા રાજ્ય કર્યું. તેની પછી તેર વર્ષ ગર્દભિહનું રાજ્ય રહ્યું, અને પછી ચાર વર્ષ શકરાજ નું રાજ્ય ચાલ્યું.'

આ ગાથાઓનાં ઉલ્લેખ પર્ણીક ટીકાઓમાં તથા કાલગણના-વિષયક ઘણા ગ્રંથોમાં થઈ ગયા છે.

પણ તેમનું મૂલ્ય ચોક્કસ જણાતું નથી. આ ગાથાઓ વીર અને વિક્રમ સંવત્ વચ્ચેના નિકાલ, અને પ્રાચીન કાલગણનાના આધાર રૂપ બને છે. ઉપરોક્ત ગાથાઓના અનુસારે મૌર્યવંશના રાજ્યના પ્રારંભથી તે વિક્રમ સંવત્ના પ્રારંભ સુધી વ્યતીત થયેલી વર્ષ-સંખ્યા ૨૫૫ થાય છે. અર્થાત્ ૪+૧૬+૪૦+૬૦+૩૦+૧૦૮. આમાં વિક્રમ સંવત્ અને સ્થિતિ સનની શરૂઆતની વચ્ચેના ૫૭ વર્ષ ઉમેરવાથી ચન્દ્રગુપ્તના અભિષેકનો કાલ્ઈ ई. સ. પૂર્વે ૩૧૨ વર્ષે આવે છે. આ રીતે ગ્રીક પ્રમાણો દ્વારા મળી આવતી તારીખ સાથે, આ તારીખની એકઝા થઈ જાય છે; અને તેથી એ પણ સિદ્ધ થઈ જાય છે કે ત્રીજી ગાથામાં જણાવેલો વિક્રમ (?) તે ई. સ. પૂર્વે ૫૭ વર્ષમાં શરૂ થયેલા સંવત્ યુગના સંસ્થાપકનો વાચક છે, નહીં કે ई. સ. ૭૮ માં શરૂ થતા શક-યુગના પ્રવર્તકનો નામદર્શક. જો આમ ન માનીએ તો ચન્દ્રગુપ્તના અભિષેકનો કાલ્ઈ ई. સ. પૂર્વે ૧૭૭ વર્ષે આવે.

૬૦ વર્ષનું પાલકનું રાજ્ય અને ૧૫૫ વર્ષનું નવ-નન્દોરનું શાસનવચ્ચે—મઝ્ઝિ કુલ ૨૧૫ વર્ષ પ્રમાણ ચન્દ્રગુપ્ત અને નિર્વાણ વચ્ચેનો કાલ્ઈ છે. હવે ई. સ. ૦ પૂર્વેના ૩૧૨ વર્ષોમાં, આ ૨૧૫ ઉમેરવાથી, આપણે ई. સ. ૦ પૂર્વે ૫૨૭ માં વર્ષને મહાવીર નિર્વાણના નામાંકિત કાલ્ઈ તરીકે પ્રાપ્ત કરી

૧ હું નીચેની વાત ઉપર ધ્યાન સેતું છું કે ચન્દ્રગુપ્તના અભિષેકનો આ કાલ્ઈ તે મેલ્યુસીડનના સનની આરંભ સુધે બેધ યેઠતો આવે છે. મિ. એડવર્ડ ટોમસ માને છે કે (Records of the Gupta Dynasty in India p. 17, 18.) "સંકુચિત્તવચ્ચે જોયા વગત પુષી ઉત્તર શિદુસ્થાનમાં પોતાનું સ્થાન ટકાવી શક્યું હતું અને પછીની રાજવંશવચ્ચે કાલગણનાસમક નોંધો ઉપર પછી અસર કરી હતી. મિ. ટોમસના મિહાંતની શરૂઆત જો પ્રસ્થાન પ્રમાણથી શક્ય થાય તો ચન્દ્રગુપ્તના અભિષેકની ખેન તારીખ, જે હાલમદ સાચી છે, તેમાં મહત્ત્વ ધુવવારો ઊભી પડતી આ હકિકતનો સહેલાર્થી મુત્તાઓ આનો નકાળ."

શકીર્ણ છીંદ. આ કાઢ, અને સીલોનની કાઢ-ગણનાં અનુસારે બુદ્ધનું નિર્વાણ, જે ૬૦ સ. પૂર્વે ૫૪૩ માં વર્ષમાં થયું હતું, તેની વચ્ચે માત્ર ૧૬ વર્ષનો જ સ્તાવત રહે છે.

મહાવીર-નિર્વાણ અને ચન્દ્રગુપ્તના અભિષેક વચ્ચેના કાઢના સંબંધમાં વીજી પણ એક ગણતા છે, જે હેમચન્દ્રના પરિશિષ્ટ પર્વમાં મળી આવે છે. ૫ પ્રવચના, ૮ માં સર્વના, ૩૪૧ માં શ્લોકમાં લખેલું છે કે—

एयं च श्रीमहावीरैः मुक्ते वर्षशते गते ।

पञ्चपञ्चाशदधिके चन्द्रगुप्तेऽभवन्नुपः ॥

અને આ પ્રમાણે મહાવીર નિર્વાણ પછી ૧૫૫ વર્ષે ચન્દ્રગુપ્ત રાજા થયો.

૬૦ સ. પૂર્વેના ૩૧૨ વર્ષોમાં ૧૧૧ ડેમર-ધામી, આપણે જોઈશું કે મહાવીર નિર્વાણ ૬૦ સ. પૂર્વે ૪૬૭ માં આવે છે.

હેમચન્દ્ર ચન્દ્રગુપ્ત અને નિર્વાણની વચ્ચે જેટલાં વર્ષોનું અંતર વસાયે છે તેટલાં વર્ષો તો ગાથાઓ માત્ર નન્દોના રાજ્યના જણાવે છે. આ ઉપરથી એમ જણાય છે કે હેમચંદ્ર પાલકના રાજ્યનાં ૬૦ વર્ષો ગણનામાં લીધાં નથી. હેમચંદ્ર આવી રીતે ૬૦ વર્ષો છાંટી દેવા જેવી મૂલ ફેર પમાનું ફેરણ લાગે છે. તેથી હું એમ અનુમાને કરું છું કે કાઢગણનાત્મક ગાથાઓમાં જે પરંપરાગત હકિકત લખવામાં આવી છે તેથી ભિન્ન કોઈ સંપ્રદાયને હેમચન્દ્ર અનુસર્યા હોવા જોઈએ. કારણ કે મારા વિચાર પ્રમાણે ગાયોક્ત હકિકત પૂર્ણરિતે સાચી નથી. નન્દોના રાજ્ય-કાઢ, જે ગાથાઓમાં ૧૫૫ વર્ષ જેટલો આપવામાં આવ્યો છે તે અસાધારણરિતે અધિક છે, પટલુંજ નહીં, પરંતુ મગધના રાજવંશોની ગણનામાં અવન્તીપતિ પાલકનું નામ આવ્યું તે મને તો ઘણુંજ સંશયજનક લાગે છે. વૌદ્ધ અથવા બ્રાહ્મણો આ નામના રાજાનો વિસ્ફુલ્લ નિર્દેશ કરતા નથી. મગધની રાજાવંશમાં પાલક નામના એક રાજાનો હોલેલ મઝે છે. સ્ત્રી,

પણ તે પ્રયોગ-વંશનો છે, કે જે (પ્રયોગવંશ) શૈશુનામ વંશની પહેલાં થઈ ગયો હતો. મહાવીરના સમકાલીન જે મગધના રાજાઓ હતા તે શૈશુનામ-વંશના હતા. ઉગ્રયિની અથવા અવન્તીના રાજા તરીકે એક ધીજા પાલકનું નામ મુદ્ધકારિકમાં જોવામાં આવે છે, અને તેના માટે ત્યાં એવું વર્ણન છે કે આર્યકે તેને રાજ્યગ્રાપ કર્યો હતો. આ પાલક તે કદાચિત્ કથાસરિત્સાગરમાં વસત દેશના કલ્પિત રાજા ઉદયનના સાઠા તરીકે જે પાલકનું નામ આવેલું છે, તે સંભવી શકે. પરંતુ, આ ઉદયન જેમ કુણિકના પુત્ર ઉદાયાના વડેલે પ્રાંતિથી પ્રસિદ્ધિમાં આવ્યો સંભવે છે, તેમ, એ પાલક પણ, તેજ નામનાં પ્રયોગ-વંશના રાજા માટે મૂલધી મસિદ્ધ થયો લાગે છે. અને તેમ થવાથી તેને મહાવીરનો સમકાલીન સમજી લેવામાં આવ્યો હોય એમ જણાય છે. આ ગમે તેમ થયું હોય, પણ સત્ય વાત તો એ છે કે જૈનોની અસલ કાઢગણનામાં પાલકને સ્થાન નજ મળ્યું જોઈએ. હું તો એમ ધારું છું કે સીલોનની વૌદ્ધ કાઢ-ગણના સાથે પોતાના ઇતિહાસને મઝતો રાક્ષવાની સ્વાસ્ત્ર જેનેા તેને પોતાની કાઢ-ગણનામાં દાખલ કરી દીધો છે, અને તેથી તે માત્ર કલ્પના-પ્રસૂત છે. પરંપરાગત મહાવીરનિર્વાણની તારીખ અને હેમચન્દ્રના હોલેલ ઉપરથી સુચવાતી તારીખ વચ્ચે જે સાઠ વર્ષનો વિરોધ આવે છે, તે જોઈ, વૌદ્ધ કાઢ-ગણનામાં મેઝથી દીધેલી ૬૬ વર્ષની અસંગતિનું સ્મરણ થાય છે; અને તેથી આપણને માનવું પડે છે કે એ બન્ને મૂલોની ઉત્પત્તિ સ્વયંજ નથી પણ એક—ધીજાની અસરથી—અનુકરણમાંથી—થઈ હોવી જોઈએ. તામિલ-દેશમાં જૈનો કેટલી મોટી સંખ્યાવાળા અને શક્તિસંપન્ન હતા તે આપણે જાણીએ છીએ; અને તામિલ-ભાષાના માં-ચીન સાહિત્ય ઉપર જૈન ધર્મની કેટલી વધી છાપ પડી હતી, તે ગ્રૌલ (Graul) અને કેલ્ડવેલ (Caldwell) ના અજાણ્યા પ્રમાણે જાણી શકાય

તેમ છે, સીલોનની સામેના દ્વિપકલ્પમાં રહેતા ત-
સ્કાલીન જૈનો ઉપર કદાચિત્ વૌદ્ધોની અસર થઈ
હોય અને તે વચ્ચે તેમણે પોતાના પ્રતિસ્પર્ધી પંથની
અનુસાર પોતાની કાઢગણનામાં ફેરફાર કર્યો
હોય. પરંતુ આ માત્ર આનુમાનિક વિચાર છે, અને
તેથી વધારે લંઘાળ કરી હું આની કિંમત પટાડવા
इच्छते નથી.

હવે આપણે મહાવીર નિર્વાણ-સમયના વિવેચન ઉપર પાછા ફરી જોઈશું કે હેમચંદ્રની નોંધ અનુસાર ઈ. સ. પૂર્વે ૪૬૭ વર્ષે મહાવીર-નિર્વાણ થયું હોય તે અસંભવિત નથી. કારણ કે, તે (સમય) ઈ. સ. પૂર્વે ૪૭૭ વર્ષશાલા વુદ્ધના નિર્વાણ-સમયની સાથે ઘણીજ સુંદર રીતે બંધ થેતે છે. અને આ સમકાલીનતા હોવી આવશ્યક છે, એમ અમે ઉપરની શોધમાં જણાવી ગયા છીએ.

આ નિર્ણય કોરેલા નિર્વાણ-સમયની મહત્તા પર-
પરાગત નિર્વાણસમય કરતાં કેટલી વધી વધરે છે તે
જેન હિતિસામગ્રી મઠી આવતા વીજા પ્રમાણે ઉપર
થી નક્કી થાય છે. આવશ્યક સૂત્ર નામના એક સ્થિતિ
જેન આગમના ' સ્વધ્યાય નિઙ્જુત્તી ' નામના પ્રક-
રણમાં છ નિઙ્જુત્તીનું વર્ણન આવે છે, અને તેજ વર્ણન
સંવત્ ૧૧૭૯ (નવકરહર) માં રચાણી દેવેન્દ્રગ-
ણિની ઉત્તરાધ્યયનસૂત્રની ટીકામાં ' બહુ વિસ્તાર-
પૂર્વક પુનઃ આપવામાં આવ્યું છે. આ વજ્રે ક્રંથોમાં
જણાવ્યા પ્રમાણે અવ્યક્ત નામનો ત્રીજો નિઙ્જુત્તી વીર-
નિર્વાણ પછી ૨૧૪ મે વર્ષે આપાદ નામના આચાર્યના
શિષ્યોએ ચલાવ્યો હતો. રાજગૃહના મૌર્ય રાજા
વલમ્બ—જેને આવશ્યકસૂત્રમાં ' મુરિયવલમ્બ '
અને ઉત્તરાધ્યયનમાં ' મૌરિયવંશપત્ન્યા ' તરિકે
લખેલો છે—તેણે આ નિઙ્જુત્તી મત પ્રવર્તકોને પાછા
સન્માર્ગે (જૈનમતમાં) વાળ્યા હતા. ગાથાઓ પ્રમાણે

૧ આ દીક્ષા શાસ્ત્રાચાર્યની દીક્ષામાંથી વદ્યુત કક્ષામાં આવી છે. મૂળ ચૂમ્બનું અર્થકોષધન તે કક્ષાનું પોતાનું કરેલું છે, એન તેમાં જીવામાં આવડી પડી કપાઓ શાસ્ત્રાચાર્ય સાથે શાસ્ત્રાચાર્યની દીક્ષામાંથી ઉતારેલો છે.

જો મૌર્યવંશની ઉત્પત્તિ વીર સંવત્ ૨૧૫ માં થઈ હોય તો તે વંશની એક શાખા વી. સં. ૨૧૪ માં રાજગૃહમાં રાજ્ય કરતી હોય તે કેમ સંભવી શકે ? પણ જો આપણે હેમચંદ્રના કથન અનુસાર મૌર્યવંશ નિર્વાળ પછી ૧૫૫ વર્ષે શરૂ થયો તેમ સ્વીકારીએ તો તેમા કોઈ અસંભવિતતા આવતી નથી. અને આમ માનવાથી નિર્વાળની નિશ્ચિત કરેલી તારીખ પણ સાચી ઠરે છે. નીચેની ચર્ચા ઉપરથી પણ આપણે એ જ નિર્ણય ઉપર આવીએ છીએ. દરેક સ્થિતિવાલી- માં વર્ણવ્યા પ્રમાણે સ્થૂલભદ્રના મહાગિરિ અને સુહ- રતી નામના બે શિષ્યો હતા. હવે સ્થૂલભદ્ર તો સઘટ્ટા લેલકોના ગતે વીરનિર્વાળ પછી ૨૧૫ વર્ષે સ્વર્ગસ્થ થયા હતા. મેરુલુગના લખ્યા પ્રમાણે મહા- ગિરિ વી. નિ. પછી ૨૪૫ માં મૃત્યુ પામ્યા હતા અને તેમના પછી સુહસતી યુગપ્રધાન બન્યા હતા. તેમણે અશોકના પોત્ર અને ઉત્તરાધિકારી સંપ્રતિને જૈનધર્મનો ઉપાસક બનાવ્યો હતો. અશોક ચન્દ્ર- ગુપ્તના અધિપત્ય પછી ૯૪ વર્ષે ગુજરી ગયો હતો. (ચુદ્ધ નિર્વાળ પછી ૧૬૨ વર્ષે ચંદ્રગુપ્તનો અધિક. ૧૬૨+૯૪=૨૫૬ અશોક મૃત્યુ.) ગાથા પ્રમાણે સંપ્રતિનું રાજ્ય મહાવીર નિર્વાળ પછી ૩૦૯ વર્ષે (૨૧૫+૯૪) શરૂ થયું અને હેમચંદ્રના કથનાનુ- સાર ૨૪૯ વર્ષે (૧૫૫+૯૪). હવે આપણે ગણતરી કરીને જોઈએ છીએ તો આમાં હેમચંદ્રનો હકિકત્તજ સ્થિતિ હોય તેમ જણાય છે. કારણ કે સંપ્રતિ અને સુહસતી (કે જે ૨૪૫ માં યુગપ્રધાન બન્યા) બંને સદ્ગત્કારી હતા. એમ ઉપરની નોંધથી સ્પષ્ટ જણાય છે. આ નોંધ મહાવીર નિર્વાળની જ તારીખ આપણે શોધી કાઢી છે તેની સત્યતા સ્થા- પિત કરવામાં પૂર્ણ સહાયક થાય છે.

ઉપરની કલમના સંબંધી તપાસને હવે સમાપ્ત કરી, જોના પ્રાદુરભાવનો અમ્ય નર્ત કરવામાંટે માગી પદેતાના હેતુએ એ પ્રયત્નો કર્યો છે તેમના સંબંધમાં થોડા અમ્યો તત્વા મોગ્ય ધારૂ છે. આ હેતુએને જનપદનો હરણિ નિધિન કરવામાં ઘણી અપૂર્વ માર્ગોથી મચી હતી, એ

હવે હું કલ્પસૂત્રના લોકવિશ્રુત લેખક ભદ્રાહુના સંબંધમાં જોનો શું કહે છે તે વિષય ઉપર આવું છું. આ સ્થિતિના સંબંધમાં જે થોડા ઘણી સત્ય હકિકતો છે તે પણ અતૈતિહાસિક દંતકથાઓ સથિ ઇટલી વધી મેલ્ડેસેલ થઈ ગઈ છે કે જેથી તેમને તારવી કાઢવાનું કામ અશક્ય થઈ પડ્યું છે. તેમ છતાં પણ ભદ્રાહુ-સંબંધી દંતકથાઓનું ઇતિહાસિક મૂલ્ય થોડી કાઢવા માટે પ્રયત્ન કરવાની આવશ્યકતા છે. આ કાર્ય માટે મેં જે પુરાવાઓની

તેથી તેમના પ્રયત્નો નિષ્ફળ નિવડ્યા છે, એટલું જ નહીં પણ કાલગણના સંબંધી સોમમાં તે મોટા વિપ્લવ થઈ પડ્યા છે. પ્રો. વેવરે, ઈ. જી. ૧૮૦ માં ધ્રુવસેન રાજાની આગલ કલ્પસૂત્ર વાંચવામાં આવ્યું હતું, તે હકિકત, અને શિલાદિત્ય જે ઈ. જી. ૧૪૫ માં રાગ્ય કતો હતો તેથી દંતકથાવાળી હકિકત, એ વચ્ચેના મેલ્ડેસેલ કરી, તેના ઉપરથી મહાવીર-નિર્વોળની તારીખ દે. સ. પૂર્વે ૩૪૯ નક્કી કરી છે. પ્રો. વેવરની ગણનાની પાયામુલ આ અને તારીખો જો કરી હોય-જો કે તે વિષયમાં મને તો ગંભીર શંકાઓ છે-તો પણ હવે અગાઉથી નોંધોમાં પણ ધ્રુવસેનોમાંનો કયો ધ્રુવસેન અને છ શિલાદિત્યોમાંનો કયો શિલાદિત્ય લેવાનો છે, તે નક્કી કરવું અશક્ય છે. આ અનિયમ કર્યાં, વલ્કીવેદની કાલગણના ઉપર પ્રો. વેવરે પોતાની ગણતરી ઊભી કરી છે તેનોજ હજી તો નિર્ણય થયો નથી. પ્રો. વેવરના સિદ્ધાંતથી (Ind. Alt. IV, p. 762 sqq.) ટીકા કરતી પ્રો. લેસનની દલીલો પણ તેના જવાજ અનિર્ણયક પાયા ઉપર વળી થઈ ચૂકી હોવાથી તેના સંબંધમાં પણ ધ્રુવો વિવિધન કરવાની જરૂર નથી. સાર્વજન્યાદિત્ય જેને ડૉ. સુહ્રાર 'ચારમા અગર વૈદમા સૈકાના કોઈ એક યાત્રિનો કેંગલ કૂટ લેય' કહે છે (Three new Edicts of Aśoka, p. 21. note) તેમાં પણ નિમ્ન પહેલાં ૪૭૦ માં ચર્ચમાં મહાવીર નિર્વોળ-પામ્યા એવી વાલટી આવતી હકિકત આપેલી છે. પણ વેવરે અગર લેખને આ અગત્યના ક્યન ઉપર કોઈ પણ શક્ય આવ્યું નથી. તેનું કારણ કદાચિત્ તેમના ચતુર્થમાં ધોના ધર્મોના મુકાબલમાં જૈન ધર્મ એ એક અર્થોર્થાનજ ધર્મ છે, એમ જાણે કે એક ચિદ્વાન મનાઈ નવો દોય તેમ લાગે છે. પરંતુ આ દુરામદ છેલ્લાં વીસ વર્ષોમાં, જે વિશાલ પ્રમાણમાં જૈન સાહિત્ય આપણને મળ્યું છે, તેની આગલ, હવે ટકી રાકે તેમ નથી. ડૉ. સુહ્રારનો આપણે ઉપકાર માનવો જોઈએ કે એમણે સમગ્ર જૈન સાહિત્ય યુરોપીય-વિદ્વાનોમાં આગલ ટાકી મુક્યું છે; અને તેમ કરી અર્ધ અને શંકાસ્પદ મૂલ્યોમાંથી જૈનધર્મસંબંધી હકિકતો મેલ્ડેસેલના વૈદ્યમાંથી આપણને મુક કયો છે.

મદદ લીધી છે તેમને કાલક્રમાનુસાર ગોટવવા જોઈએ. અને તેથી તે સંબંધનાં હું નીચે પ્રમાણે ત્રણ વર્ગો પાડું છું. પહેલા વર્ગમાં કલ્પસૂત્રમાં આંગેલી સ્થિતિવાલીઓ, તથા આવશ્યકસૂત્ર અને નન્દીસૂત્રની શરૂઆતમાં આપેલી સ્થિતિવાલી મુકું છે. વીજા વર્ગમાં, ધર્મધોપના ક્રમિપમ્પલસૂત્રને મુકું છે; આ વચ્ચે મો નિ. ૧૮૦ પછીના છે. આનાથી ઘણાં સૈકાઓ પછી રચાણું હેમચંદ્રનું પરિશિષ્ટ પર્વ પણ વીજા વિભાગમાં અંતર્ભૂત થાય છે. ત્રીજા વર્ગમાં કલ્પસૂત્રની વધોર અવાર્ચીન ટીકાઓમાં આવેલી કથાઓ, પદ્મપદિરગણિ રચિત ક્રમિપમ્પલસૂત્ર વૃત્તિ (આ વૃત્તિ સંવત્ ૧૫૧૩માં જૈનલમેરમાં સમાપ્ત થઈ હતી છે.) આદિ વીજા મંથો મુકવામાં આવ્યા છે.

સ્થિતિવાલીનાં અનુસાર મહાવીર પછી ભદ્રાહુ છતાં સ્થિર છે. તેમના ગોત્રનું નામ 'પ્રાચીન' છે. પ્રાચીન એ શબ્દ ઘણું કરીને 'જૂનું' એવા અર્થમાં વપરાયેલું છે કારણ કે આ નામનું ગોત્ર ભારતવર્ષના વીજા કોઈ મંથમાં જોવામાં આવ્યું નથી. ભદ્રાહુ યશોભદ્રના શિષ્ય હતા, અને કલ્પસૂત્રની વિશ્રુત સ્થિતિવાલીમાં વતાવ્યા પ્રમાણે તેમને (ભદ્રાહુને) ગોદાસ, આગ્રદત્ત, જનદત્ત, અને સોમદત્ત નામના ચાર શિષ્યો હતા. આમાંના પહેલા એ ગોદાસ તમિળ ગણ સ્થાપ્યો હતો.

ક્રમિપમ્પલસૂત્રમાં ભદ્રાહુની એક જ ગાથા વેદ સ્તુતિ કરેલી છે, પણ તેમના ઉત્તરાધિકારી સ્થૂલભદ્રની સ્તુતિ વીસ-ગાથાઓમાં કરવામાં આવી છે. ભદ્રાહુની સ્તુતિ-ગાથા નીચે પ્રમાણે છે.

દસકપ્પવ્યવહારા

નિજ્જુદા જેણ નવમ-પુન્નાઓ ।

વંદામિ ભદ્રાહું

તમપાંછમ-સયલસુચનાણિ ॥

'જેમણે નવમા પૂર્વમાંથી દશકલ્પો અને વ્યવહાર (સૂત્ર) ઉદ્ધૂત કર્યા, એવા અંતિમ શ્રુતેકવલી ભદ્રાહુને હું વંદન કરું છું. 'અપંછિમ' નો અનુવાદ 'છેલ્લું

નહીં ' એમ પણ કરવો હોય તેા થાય, પરંતુ તેનો સામાન્ય અર્થ 'તદન છેલું' એમ થતો હોવાથી મે મારા ભાષાન્તરમાં તેમ કર્યું છે. છતાં પણ સામાન્ય પરંપરાનુસાર સ્થૂલમદ્ર ચૌદપૂર્વધારી મનાતા હોવાથી, મદ્રવાહુ ઉપાસ્ય (છેલ્લાની પહેલા) શ્રુતકવલી ગણાય છે. સ્થૂલમદ્રથી તે વજ્રસ્વામી સુધીના સ્થવિરો દશ પૂર્વોના ધારક હતા. અને તેટલા મોટ તેઓ દશપૂર્વ કહેવાય છે. વજ્રસ્વામી પછી પૂર્વોનું જ્ઞાન તદ્દન લુપ્ત થયું હતું. —જુઓ, હેમચંદ્ર વિરચિત, અભિધાન ચિન્તામણિ, શ્લોક. ૩૩ — ૩૪. હેમચંદ્ર પરિશિષ્ટ પર્વના નવમા સર્ગમાં, કેવી રીતે સ્થૂલમદ્ર સાથે છેલ્લાં ચાર પૂર્વો વિચિત્ર થયાં તે સંબંધમાં નીચે પ્રમાણે વર્ણન આપે છે:—પાટલીપુત્રના સેષે ૧૧ ઓળે એકત્ર કરી, દ્વીપવાદ નામના વારમા અંગને પ્રાપ્ત કર્યા મોટે ૪૯૯ સાધુઓ સથે સ્થૂલમદ્રને મદ્રવાહુની પાસે, જેઓ તે વચ્ચે નેપાલમાં રહેતા હતા, ત્યાં મોકલ્યા. મદ્રવાહુએ તે સમયે 'મહાપ્રાણવ્રત' અંગીકાર કરેલું હોવાથી પોતાના એ શિષ્યોને ઘણોજ થોડો થોડો પાઠ આપી શકતા હતા. તેથી કરીને કેટલાક વચ્ચત પછી, સ્થૂલમદ્ર સિવાય બીજા વધા-શિષ્યો કેટલાઈં જઈ તેમની પાસેથી જતા રહ્યા હતા. સ્થૂલમદ્ર મદ્રવાહુ પાસેથી દશ વર્ષમાં દશ પૂર્વો શીખ્યા હતા. ત્યાર વાદ મદ્રવાહુને તેમની વર્તણુકમાં દોષ જણાયાથી વાકીનાં પૂર્વો શિલ્પવવાની તેમણે ના પાડી. પરંતુ જ્યારે સ્થૂલમદ્રે વધુ પ્રાર્થના કરી, અને પોતાના દોષની ક્ષમા માંગી ત્યારે તેમણે અમઝ શિલ્પવવા માંડ્યું; અને તે જગી શરતે કે છેલ્લાં ચાર પૂર્વો તેમણે વીજા કોઈને શિખવવાં નહીં. હવે આ કથાની સાથે ધર્મગોપના શરદ્રોનો વિરોધ આપણે જાણી રહ્યા છીએ. મદ્રવાહુને જ્ઞાન સ્થૂલમદ્ર કરતાં સંપૂર્ણ હોવાથી તેઓ 'અપચિત્તમસદલસુચનાથી' કદી

શકાય છે. પરંતુ આ રીતનો અર્થ કેટલેક અંશે શ્રમસાધિત હોવાથી મને એમ માન્યું ટાંક લાગે છે કે પ્રાચીનતર હકિકત અનુસાર મદ્રવાહુજ છેલ્લા શ્રુતકવલી હતા; પણ પાછલ્લથી, સ્થૂલમદ્ર—કે જેમના વિષયમાં ઘણી દંતકથાઓ લોકમાં પ્રસિદ્ધ છે—તે પણ તેવી પ્રકારના પદવીધર સ્થવિરોની ગણનામાં ગણાવા લાગ્યા હતા.

ધર્મગોપની ગાથાના પૂર્વાર્ધે ઉપરથી માલુમ પડે છે કે મદ્રવાહુએ નવમા પૂર્વમાંથી દશકલ્પો અને વ્યવહારસૂત્ર ઉદ્ધૃત કર્યાં હતાં. કલ્પસૂત્રની ઘણી ટીકાઓના ઉપોદ્ધાતમાં આ દશકલ્પો સંબંધી નિર્દેશ થયેલો જોવામાં આવે છે. (Stevenson, Kalpa-sutra p. 3 sqq.) તે ઉપરથી દશકલ્પની મહત્ત્વ મુલ્યત્વે કરીને કલ્પસૂત્રજ હશે. વ્યવહાર સૂત્ર તે જૈનઆગમોમાં ગણાતા છેદોમાંનું એક છેદ છે. ક્રપિ-મળ્ડલસૂત્રની વૃત્તિમાં મદ્રવાહુસ્વામીની કૃતિઓની નીચે પ્રમાણે એક મોટી યાદી આપી છે:—

દશચૈકાલિકસ્યાચારાઙ્ગસૂત્રકૃતાઙ્ગયોઃ ।
ઉત્તરાધ્યયનસૂર્યમજ્જણોઃ કલ્પકસ્યચ ॥
વ્યવહારપિભાષિતાવશ્યકાનામિવાઃ (?) ક્રમાત્ ।
દશાશ્રુતાસ્યસ્કન્ધસ્ય નિર્યુક્તોદેશ સોડનનોત ॥
તથાન્યાં ભગવાંશ્ચક્રે સંહિતામ્મદ્રવાહુવીમ્ ।

'તેમણે દશચૈકાલિક, આચારાંગ, સૂત્રકૃત્રાંગ, ઉત્તરાધ્યયન, સૂર્યમજ્જણ, કલ્પક' (?) વ્યવહાર, ક્રપિભાષિત, આવશ્યક, અને છેવટે દશાશ્રુતસ્કંધની એમ અનુક્રમે દસ નિર્યુક્તિઓ રચી. મંગવાનું મદ્રવાહુએ આ ઉપરાંત મદ્રવાહુવી સંહિતા પણ લખાવી હતી. ડૉ. બુહલ્લે અત્યાર આગમચત્સ્યું છે કે આગમોની નિર્યુક્તિઓ વધી મદ્રવાહુના છે (I c. p. 6.) અને પોતે પણ આચારાંગ નિર્યુક્તિ અને ઓષાનિર્યુક્તિ પ્રાપ્ત કરી છે, એમ જાણાય છે. આગઝ ઉપર જણા-

૧ આ પાઠ અનુદ્ય છે. આ ટેકાણે 'કવર' એવા પાઠ જોઈએ. 'કલ્પ' એટલે કલ્પમય જેને શાલમાં 'વૃક્ષારણ' પહેલામાં આપે છે તે અર્થ નિર્દેશ છે—સંવાદક.

વીશ કે મદ્રવાહુપ દશાશ્રુતસ્કંધની નિર્યુક્તિ નહીં પણ દશાશ્રુતસ્કંધ મૂલજ રચ્યું છે. આ દશાશ્રુતસ્કંધ કેટલીક વસ્તુ મૂલથી કલ્પસૂત્ર મનાય છે. સંહિતાના સંવેધમાં આપણે આગળ ઉપર વિચાર કરીએ.

આ વધી કૃતિઓ ઉપરાંત કલ્પસૂત્રની કથાઓમાંની એક ગાથા અનુસાર મદ્રવાહુને ઉવસગાહર—સ્તોત્રના પળ પ્રણેતા માનવામાં આવે છે.—

ઉવસગાહરં થુન્તે કોઝળ જેળ સંધકહાણં ।
કેરુણાપેરેણ વિહિંએ સ મદ્રવાહુ ગુરુ જયડ ॥

‘જે મદ્રવાહુ સ્વામીએ કરુણા લાવીને ઉવસગાહર નામનું સ્તોત્ર રચી સંવત્નું કલ્પાણ કર્યું છે તેમનો જય થાઓ.’

આ પૃથ્વી નીચે નોટમાં તે સ્તોત્રનું મૂલ તેમજ માપાન્તર આપું છું; અને જો તે શ્રેષ્ઠ મદ્રવાહુનું જ વનાવેલું હોય તો તે અર્વાચીન વિશાલ જૈન સ્તોત્ર સાહિત્યનો પ્રાચીનતમ નમુનો છે.

મદ્રવાહુના દેહાવસાનનો સમય, હેમચંદ્રથી માંડીને છેલ્લા અર્વાચીનમાં અર્વાચીન ટીકાદાર સુધીના વધા લેણકો નિર્વિશેષપણે વીર નીર્વાણ સંવત્ ૧૭૦ માં મૂકે છે. ૬૫૦ પરિ૦ પર્વ ૦, ૧૧૨:

વીરમોક્ષાહપંશતે સમત્યગ્રે ગતે સતિ ।

મદ્રવાહુરોપિ સ્વામી ચયૌ સ્વર્ગે સમાધિના ॥

‘મદ્રાવીર નિર્વાણ પછી ૧૭૦ વર્ષ જ્યારે વીરોત્તી ગયાં ત્યારે મદ્રવાહુ સમાધિપૂર્વક સ્વર્ગ પહોંચ્યા.’

મારે અહિં કહેવું જોડું કે વધા શ્રુતકેવલિઓની મિતિઓ અપેક્ષાના આવી છે સરી પણ તે આધાર રાખવા લાયક છે કે નહીં તેનો નિર્ણય હું કરી શકતો નથી.

મદ્રવાહુ અને વગાહમિહિર વચ્ચે થપ્પલી સ્પર્ધાના સંવેધમાં, હેમચંદ્ર સિવાય ઘણા અર્વાચીન જૈન મંથ-કારોએ એક દંતકથા આપેલી છે. આ દંતકથા ઉત્તર થવાનું કારણ મને નીચે મુજબ લાગે છે. એક તો

મદ્રવાહુપ સૂર્યવ્રજ સેટકા અને મદ્રવાહવી નાગની સંહિતા એમ બે સ્વર્ગોલ્લ-વિધા-વિષયક ગ્રંથો, તથા ઉવસગાહર નામનું સ્તોત્ર—રચ્યું છે, એમ જે મનાય છે તેથી, અને વીરજી, જૈનજ્યોતિષશાસ્ત્રને અન્વયોતિ-વિદો જે વિકાસતા હતા (સિદ્ધાન્તાન્તિરોમણિ ૩-૧) તેથી, મદ્રવાહુ અને જૈન જ્યોતિષશાસ્ત્રની મહત્તા દેશા-લક્ષી લાલકાના પરિણામે એ દંતકથા જન્મ પામી છે. આ દંતકથાનો સાર નીચે પ્રમાણે છે:—પ્રતિ-ષ્ઠાનપૂર્વનિવાસી મદ્રવાહુ અને વરાહમિહિર એ બંને માર્દાઓ જૈન સાધુ થયા હતા. તેમના ગુરુ મશોમદ્ર પોતાના અવસાન પહેલાં સંમૂર્તિવિજય અને મદ્રવાહુને પોતાના પછી આચાર્યપદના અધિકારી નિમ્યા. એ પદને માટે વરાહમિહિર આશા રાખી હતી, પરંતુ તેમાં નિ-રાશ મદ્રવાહી ક્રોધાધમાન થઈ તેણે જૈનધર્મનો ત્યાગ કર્યો. પછીથી પોતાના જ્યોતિષશાસ્ત્રના જ્ઞાન-થી તેણે લોકોમાં ઘણી પ્રતિષ્ઠા મેલ્લી અને તે પ્રતિ-ષ્ઠાને એક કલ્પિતકથા ફેલાવી સૂચ-પ્રચલ વના-વી. ‘મારી મુક્તિથી સૂર્યદેવ મારા ઉપર પ્રસન્ન થઈ, મને પોતાના વિમાનમાં બેસાડી જ્યોતિર્મંડલમાં હરે ગયા હતા અને ત્યાં સર્વ નક્ષત્રાદિકની ગતિ વિગેરે તે-મણે મને પ્રત્યક્ષ બતાવી છે.’ આવી રીતે મોટા લોકોની આગળ તે પોતાની વડાઈ મારવા લાગ્યો, અને તેના-લંબે સુદ રાજાનો પણ તે સારો રૂપાવાક વર્તી ગયો. પોતાની આવી લાગવગના જોરે, તેણે જૈનોને રાજા-ના સન્માનથી વંચિત બનાવ્યા. એટલે મદ્રવાહુ સંધર્માં વંધુઓની સહાયે બાબ્યા અને જ્યોતિર્વિદ્યાના પોતાના ઉત્કૃષ્ટ જ્ઞાનથી પોતાના મૂંઠેને પરાજિત કર્યો વરાહ-મિહિરે ક્રોધ અને ગાનધર્મ ન સહી શકવાના કારણે પ્રાણત્યાગ કર્યો, અને મરીને તે એક દુષ્ટ વ્યંતર બન્યો. પછીથી પોતાનું જૂનું વેર બાલકા તેણે જૈનોના ઘરોમાં રોગનો ઉપદ્રવ શરૂ કર્યો. મદ્રવાહુપ ઉવસગાહર સ્તોત્રની રચના કરી તે વ્યંતરને નસાડી મૂકી ઉપ-દ્રવનો નાશ કર્યો. ત્યાર પછી તેમણે પોતાના નામ-ની સંહિતા રચી.

૧ ઉવસગાહર સ્તોત્ર જૈનધર્માર્ચમાં ઘણુંજ પ્રસિદ્ધ અને સર્વે પ્રમુખ હોવાથી તે ગ્રંથ આપું નથી—અતુલાદક.

આ ઉપર આપેલી કથા દેખીતી રીતેજ ફાંદ પળ એતિહાસિક ઉપયોગિતા વાઢી જણાતી નથી. તેમજ હેમચંદ્રે તેનો ઉલ્લેખ પળ કરેલો નહીં હોવાથી તે અર્વાચીન હોય તેમ માસે છે. તેથી આ સંવંધમાં આપણને કોઈ પળ જાતનો વિચાર કરવાની જરૂર નથી. પરંતુ ભદ્રચાહુસંહિતાના સંવંધમાં ફાંદક વિવેચન કરવાની જરૂર છે. ઢૅ૦ યુદ્ધર પોતે તે નામનું ંક પુસ્તક મેઢ્ઢથાનું જણાવે છે. તેઓ કહે છે કે ં સંહિતા અન્ય સંહિતાઓના જેવીજ છે. અને મુકાવલામાં તે અર્વાચીન સમયમાં વનેલી હોય તેમ જણાય છે. વરાહમિહિર, વીજા અનેક ગ્રંથકારોના ઉલ્લેખો સાથે સિદ્ધસર્ને નામના ંક જૈન ંથોર્વિદનો પળ ઉલ્લેખ કરે છે. (Kern, Brihat Samhita, Preface p. 29.) પરંતુ પ્રસ્તુત પુસ્તકના સંવંધમાં તે ફાંદ સૂચન કરતો નથી. આ ઉપરથી ંટલો નિર્ગય કરી શકાય છે કે માદ્રચાહુરી સંહિતા વરાહમિહિરની પઢીથી રચાણી છે. અને તેથી કેઈ પળ રીતે તેના કર્તા ભદ્રચાહુ, તે વલરસૂત્રના કર્તા મદ્રચાહુ તો નજ હોઈ શકે. કારણ કે વલરસૂત્રની અંતિમ આવૃત્તિજ—તેમાં જણાવ્યા પ્રમાણે—વીર સંવત્ ૧,૮૦ ંટલે ં. સ. ૪૫૪ અથવા ૫૨૪ માં થબ્લી છે. આ સમય વરાહમિહિરની પહેલોના છે—નિદાન તેના સમકાલીન તો સરોજ.

કાલકમપૂર્વક ગોઢવતાં ભદ્રચાહુના સંવંધમાં ઉપર પ્રમાણની હકિકત જૈનપ્રશોમથી મઢી આવે છે. ંતિહાસિક વૃદ્ધિ તેની ઉપયોગિતા ગમે તે હોય છતાં ંટલું તો વિવિવાદ છે કે સંપઢા જૈન લેલકો ંકમેતે તેમને પોતાના ંક પ્રાચીનતમ અને સૌથી વધારે સમર્થ લેલક માને છે. તેમની કૃતિઓ સમગ્ર જૈનસાહિત્યનો ંક વિશિષ્ટ ભાગ

૧ સિદ્ધમેન ંક પ્રમાણ જૈન લેલક છે અને ંયુ વહવાય છે કે સમય વિકલાદિવને નવીન સંયત પ્રવર્તેલા સારે કેટલીક સહાયતા આપી હતી કેવળાપર્મદિગતો પ્રનામની તેમની ંક કૃતિ ગનાય છે.

હોવાથી ં સમગ્ર સાહિત્યની સમાનજ તેમનું પળ ભવિતવ્ય સર્જાણું છે. અને આ કારણથી હવે આપણે સમગ્ર જૈન સાહિત્યનું સામાન્ય રીતે વિવેચન કરવું જરૂરનું છે. ં સાહિત્યનો સર્વોત્કૃષ્ટ અને પવિત્ર ભાગ તે ૪૫ આગમો ગણાય છે. આમાંના કેટલાકના કર્તાઓનાં નામો પળ વતાવવામાં આવ્યાં છે. ઉદાહરણ તરીકે દશવૈકાલિકસૂત્રના કર્તા શયંભવ, દશાશ્રુતાર્કંધ અને ંયવશાર સૂત્રના કર્તા મદ્રચાહુ, અને પ્રજાપનાના કર્તા ંયામાર્થને વતાવવામાં આવે છે. પાંતુ ંળા આગમો તો મહાવીર પોતેજ પ્રરૂપ્યા છે, ંમ કહેવાય છે. આ કહેવાનો અર્થ ંવો નથી કે સાધાર મહાવીરજ અંગો અને ઉપગાની રચના કરી છે. પળ તેનો માવાર્થ ંમ છે કે તે આગમોમાં વર્ણવેલી વધી હકિકતો મહાવીરે પોતેજ જાદેશી છે, અને તેથી તે તેમનાજ કોલા કહેવાય છે હિંદુસ્થાનમાં ગ્રંથકર્તૃત્વ માત્ર મૂઢ વસ્તુ—મૂલસૂત્તવના અર્થના ઉપદેશને આશ્રીને મનાય છે, નહીં શબ્દરચનાને આશ્રીને. શબ્દરચના ગમે તેમ થાય તેને પ્રાધાન્ય આપનામાં આવતું નથી. વયત અર્થમા ત્રેનેજ મહત્ત્વ અપાય છે. ગ્રંથકર્તૃત્વનો જ અર્થ આપે સમજીવ છીં તે અર્થમાં મહાવીર સૂત્રોના કલ્ત ગથીજ, ંમ આપણે સહેલાઈથી સિદ્ધ કરી શકી છીં. કારણ કે ંળાં લરાં સૂત્રોની શરૂઆતમાં આ પેલી નોંધ ઉપરથી જણાય છે કે તે સુખર્માં અમ્

૧ નાંવે આપેલી આગમની ઢીર ઢૅ૦ વલ્લરે કુપાત્ર મને મેઢવી આપી છે. ૨ અંગો:—આચારાંગ, સૂચસૂત્રાંગ, સ્થાનાંગ, સમવાયાંગ, મયવર્તી, જ્ઞાતાધર્મકથા, ઉપસરુદ્ધા અતહરુદ્ધા, અનુસીરપાત્રક, પ્રથમ્યાકરણ, અને વિપાક સૂત્ર; ૨ ઉપગા:—ઢીપપાત્રક, રાજપ્રથ, જાવગમિગમ પ્રણપના, જગ્ગુદીપપ્રણપ્તિ, વચ્છપ્રણપ્તિ, સૂત્રપ્રણપ્તિ, નિરયી વર્ણા, જિતો—કલ્પાવલેષ, વૃત્તિક, વૃણમુલિક અને વદિ દશા; ૨ અંતમેત થણી છે; ૨ પ્રકૃતિનો:—વતુ:કરણ અનુપચાનકાન, અપ, સંસ્તાર, તણ્ડલવશાલી, વચ્છાવીજ રેવંતરાત્ર, ગમ્પીગ્ગ, મંત્રાનુપચાન, વીરતક; ૨ ઢીટો—રિત્તિગ, મહાનિશીથ, રવરહાર, રસા શ્રુતરત્ત, સુદક્ષપ, વચ્છાવલ, ૫ મઢીમૂઢ, અનુયોગદ્વાર; ૬ મૂલપુણ:—રત્તારાવયન, આવરવક, દક્ષવર્ણાલક અને વિગ્ધનિર્ગમ્પ.

સ્વામીને કહેલા છે. ધણું કરીને તો મહાવીરના સિદ્ધાન્તો અને શ્રદ્ધા મૂલ્યમાં-પ્રારંભમાં જુદા જુદા ગ્રંથો રૂપે રચાયાજ ન હતા. પરંતુ મદ્દગાહના સમયમાં અગિયારે અંગો મોજુદ હતાં એમ હકિકતો ઉપરથી જણાય છે, કારણ કે તેમણે એ અંગોની વ્યાખ્યા રૂપે કેટલિક કૃતિઓ કરી હતી. ઉપર ટાંકેલી મદ્દગાહ અને સ્પૂલમદ્દની કથાનો માનાર્થ જોતાં માલુમ પડે છે કે પાટલીપુત્રના સંધે અગિ-આર અંગોનો સંગ્રહ કર્યો હતો. ત્યાર નાદ સૂત્રોમાં ઘણા ફેરફારો થયા હોવા જોઈએ. અને આ વાત સ્થાનાંન સૂત્રથી સાક્ષીત પણ થઈ શકે છે. એ સૂત્રોનાં ૭ માં સ્થાનમાં, સાત નિન્દ્યોનો વર્ણન કરેલું છે. આ સાતે નિન્દ્યોના સંવંધમાં આવશ્યકસૂત્રમાં વિશેષ વિવેચન આપવામાં અથિલું છે. આગાંતો સાતમે નિન્દ્ય વીર નિર્બોળ પછી ૫૮૪ વર્ષે પ્રાદુ-ર્ભૂત થયો હતો એમ લેણું છે. આ ઉપરથી એવું કલિત થાય છે કે મહાવીર પછી છઠ્ઠી-સાતમી સદી સુદમાં પણ સૂત્રો મહત્વના પરિવર્તનોના પાત્ર થઈ શકતાં હતાં.

છેલ્લામાં છેલ્લું જૈનસૂત્રોનું પુસ્તકાધિરોહણ સામાન્ય અને પ્રાચીનમાન્યતાના આધારે ધી. સં. ૧૮૦ માં દેવધર્મિણિ ક્ષમાશ્રમણે કર્યું.* વીરનિર્બોળની તારીખ,

૧ ઉત્તરાખ્યયનનો ટીકા જેવા વધારે અર્વાચીન ગ્રંથોમાં અલ્પતર વિદ્યવાદો નિન્દ્યોનો સંખ્યામાં વીજા એક નવોન વધુતર વિવંદો નિન્દ્યનો એમરો પણ યદ્યો છે અને એ નિન્દ્ય તે બી. નિ. સંવત્ ૬૦૫ માં હાજમ થયેલો વિગવાર મત છે. વિગવરો શ્રેતાશ્રવરોની હર્ષિત ગુપ્તિગુપ્ત નામના સ્થાવરના વસતમાં, જે સંવત્ ૩૬-૪૬ માં થઈ ગયા હતા, તે વસતે થઈ શકે છે.

* આ નોંધ સાથે, કલ્પસૂત્ર અને કપિમંડલસૂત્રની સ્થ-વિરાવલીઓ છેલ્લા સ્થાવર તરીકે દેવધર્મિણિનું જે નમ આપે છે તે, અને આવશ્યક અને નન્દીસૂત્રની સ્થાવિરાવલીઓ દેવ-ધર્મિણી સુધીનાં સ્થાવરોનાં નામ આપતાં છતાં પણ તેમનો (દેવધર્મિણીનો) જે નામનિર્દેશ કરતો નથી તે,—આ વધે શિક્ષકો, વધુ સંગત થાય છે. એ ઉપરથી એવું અનુમાન થાય છે કે તેમણે નન્દી અને આવશ્યક સૂત્રના પ્રારંભમાં આ સ્થાવિરાવલી મૂકી હશે.

જો તે વસતે વિક્રમ સંવત્ ૪૭૦ વર્ષ પહેલાં થઈ શકે તો તે બી. નિ. ૧૮૦ ની સાલ છે. સ. ૪૫૪ ની વરાવર થાય છે, પરંતુ તે વસતે જો બી. નિ. ની તારીખ આપણે ઉપર જે નવીન નિર્ણય કરી છે તે પ્રમાણે મનાતી હશે તો તે સાલ છે. સ. ૫૧૪ ની વરાવર થાય છે. જિનપ્રમણિને અને પદ્મ-મન્દિરગણી લેલ છે કે દેવધર્મિણીએ જ્યારે ૪૧ આગમો—સિદ્ધાન્તોને નષ્ટ થવાની તૈયારીમાં જોયા ત્યારે તેમણે વલ્મીપુરના સંધની મદ્દથી તે પુસ્તકાક્રુદ કરાવ્યા. એમ કહેવાય છે કે પ્રાચીન-કાલમાં આચાર્યો પોતાના શિષ્યોને પુસ્તકની અપેક્ષા સિવાય (‘પુસ્તકાનપેક્ષયા’) જ સૂત્ર શિસ્તવતા હતા. પણ પાછલથી પુસ્તકોની સહાયતાથી શિસ્તવ-વાની શરૂઆત થઈ. અને જૈન ઉપાશ્રયોમાં એ પ્રથા હજીવળ ચાલી આવે છે. આ વુદ્ધ સંપ્રદાયનો અર્થ એમ નથી કે દેવધર્મિણીએ પહેલીજ વસતે જૈનોના પવિત્ર જ્ઞાનને પુસ્તકાક્રુદ કરાવ્યું; પણ તેની પટ્ટલીજ મતલબ છે કે, પ્રાચીનકાલમાં આચાર્યો લિખિત પુસ્તકો કરતાં પોતાની સ્મૃતિ ઉપરજ વધારે આધાર રાખતા હતા.

જૈનધર્મના વુદ્ધગ્રોપ દેવધર્મિણીએ લાસ કરીને સમગ્ર સામ્પ્રદાયિક જૈન સાહિત્ય કે જે તેમને તે વસ-તના પુસ્તકોમાંથી અને વિચમાન આચાર્યોના મુલેથી મળ્યું હતું તે વધું, આગમોના રૂપમાં તેમણે ગોઠવ્યું. આ કાર્ય ધણું મોટું થયું હતું, કારણ કે તે વસતે ઘણાક આગમો તો ત્રુટિત થઈ ગયા હતા અને તેના અમુક અમુક ત્રુટક ભાગોજ વાકી રહ્યા હતા. આ

૧ આ સમયથી માત્ર ૩૦ વર્ષ પહેલાંજ પટ્ટલી સન્ ૪૧૦ અને ૪૨૨ ની વચે વુદ્ધગ્રોપ વૌદ્ધ પિટકો અને અપેક્ષાઓ-ને, ધર્મની ચિન્તાન સ્થિરતાને માટે પુસ્તકોમાં લખાવી, ચોલોનમાં વૌદ્ધગ્રોપ, અને ગુજરાતમાં જૈનધર્મો લખામ સમાન કાશમાંન પુસ્તકાક્રુદ થયા તે ઉપરથી એવું અનુમાન થઈ શકે કે જૈનોએ વૌદ્ધોનાં આ પ્રકૃતિનું અનુકરણ કર્યું હશે. અગર તો હિંદુત્વનમાં પાંચમી સદીથીજ સાહિત્યના હેતુર્થે લેખન (કવ્ય) નો વધારે ઉપયોગ થવા લાગ્યો હશે.

નુટિત ભાગોને દેવધર્મગણીય પોતાને જૈન યોગ્ય લાગું તે પ્રમાણે અનુસંધિત કરી એકત્ર કર્યા. ઘળાક આગમોમાં જે અસંવદ્ધ અને અર્પૂણ વર્ણનો મઠી આવે છે તેનું કારણ માત્ર આજ કલ્પના દ્વારા આપણે સમજી શકીએ છીએ. વિચારમાન જૈન આગમોની વ્યવસ્થા—(રચના) મુલ્યલે કરીને એના સંપાદક દેવધર્મગણીભેજ આમણી છે. તેમણેજ તેને અધ્યાયો-અધ્યયનોમાં વિભક્ત કર્યા, અને ગ્રંથગણના (પટલે ૩૨ અક્ષરનો એક શ્લોક એમ શ્લોક પ્રમાણ)ની પદ્ધતિ દાખલ કરી. આ ગ્રંથગણનાના હિસાબે, સો સો અગર હજાર હજાર શ્લોકની સંખ્યાસૂચક અંકો, હસ્તલિખિત પ્રતિઓમાં સર્વત્ર એકજ રૂપમાં લલ્લવામાં આવેલા છે. રસ્તાઓના માપને માટે ઉમા કરેલા માઈલના પથરાઓ જેવા આ સંખ્યા-સૂચક અંકો મૂકવાનો ઉદ્દેશ્ય એજ છે કે મૂળ સૂત્રોમાં પુનઃ વધારા—ઉમેરા ન થવા પામે. પરંતુ વાસ્તવિકતા આ ઉદ્દેશ્ય સફળ થયો હોય એમ લાગતું નથી.

દેવધર્મગણીના પઠીના સમયમાં પણ જૈન આગમોમાં ઘણા ફેરફાર થયા હોવા જોઈએ. હાલને હસ્તલિખિત પ્રતોમાં વિવિધ પાઠાન્તરો મળે છે છતાં, પરંતુ, જુદી જુદી લેક્ષન પદ્ધતિને લઈને તેની ઉત્પત્તિ થઈ છે. તે સિવાય તે વધારે ઉપયોગી કે વધારે પ્રમાણચાઝાં નથી. પણ પુરાતન સમયમાં કાંઈક જુદીજ સ્થિતિ હોવી જોઈએ. કારણ કે ટીકાકારો પોતાની ટીકાઓમાં અનેક પાઠાન્તરોનો નિર્દેશ કરેલો છે, કે જે હાલના હસ્તલેખોમાં જોવામાં આવતાં નથી. આથી મારું એમ માનવું છે કે વર્તમાનમાં જે સૂત્રપાઠ મૂઠની પ્રતિઓમાં જોવામાં આવે છે, તથા અર્વાચીન ટીકાકારોએ જેને પોતાનો

ટીકાઓમાં લીધેલો છે તે મૂળ ટીકાકારોએ નિર્ણીત કરેલો પાઠ છે. કલ્પસૂત્રના સંબંધમાં તો આ વાત નિશ્ચિત છે, એમ હું સ્વાત્રીપૂર્વક કહી શકું છું. સૂત્રોની જે જે ટીકાઓ અત્યારે વિદ્યમાન છે તે સઘટી સીધી અથવા આડકતરીરિતે પ્રાકૃતમાં રચાઈલી પ્રાચીન ચૂર્ણિઓ અગર વૃત્તિઓના આધારે લખાઈલી છે. એ ચૂર્ણિઓ તથા વૃત્તિઓ હાલમાં યા તો નષ્ટ થઈ ગઈ છે, અથવા તો કંઈત્ર જ અસ્તિત્વ ધરાવે છે. પ્રાચીન ટીકાકારોએ મૂળસૂત્રોને ઘણાજ અવ્યવસ્થિત રૂપમાં જોયાં હશે. કારણ કે તેમને તેના ઘણા પાઠાન્તરો નોંધવાની આવશ્યકતા લાગી હતી. આમાંના ઘણાંક પાઠાન્તરો પઠીના ટીકાકારોએ પણ પોતાની ટીકાઓમાં ટાંક્યાં છે. કેટલાક ટીકાકારો ફક્ત એકજ પાઠ સ્વીકારી તે ઉપરજ ટીકા કરવાનું જણાવે છે. ઉદાહરણ તરીકે ઉચ્ચાપ્પયનસૂત્રના ટીકાકાર દેવેન્દ્રગણી લઈ શકાય. બીજા કેટલાક ટીકાકારો પાઠાન્તરો જોવાની ઈચ્છાવાળાને તે ચૂર્ણી જોવાની ભલામણ કરે છે. પ્રમાણ તરીકે કલ્પસૂત્રના સૌથી પ્રાચીન ટીકાકાર, કે જેમની ટીકા મેળવવા હું શક્તિમાન થયો છું, તે જિનપ્રમમુનિ લઈ શકાય. આ કારણથી વર્તમાન વિવેચકોનો ઉદ્દેશ્ય તો માત્ર પ્રાચીન ટીકાકારોએ જે સૂત્રપાઠ સ્વીકાર્યો હતો તેનોજ પુનરુદ્ધાર કરવાનો હોવા જોઈએ. સાક્ષાત્ દેવધર્મગણીય પુસ્તકારૂઢ કરેલો સૂત્રપાઠ તો આજે મઠવો અશક્ય જ છે.

દેવધર્મગણીના સમય પર્વતની જૈન સાહિત્યની અવ્યવસ્થિત સ્થિતિ ઉપરથી એ અનુમાન પણ કરી શકાય એવું છે કે જે ભાષામાં તે પવિત્ર જ્ઞાન એક પેઢીથી બીજી પેઢિને આપવામાં આવતું હતું તેમાં કામથી ફેરફારો થતા ગયા હતા. જે માપા મહાવીર અને તેમના અનન્તર શિષ્યો—અર્થાત્ ગણધરો—બોલતા હતા તે તો સ્ત્રેસ્ત્ર મગધદેશનીજ ભાષા હતી. તેણે સંસ્કૃતભાષા પોતે એ તો અસંભવિત જ છે.

૧. એટ દેવધર્મગણીના સમય પર્વતની જૈન સાહિત્યની અવ્યવસ્થિત સ્થિતિ ઉપરથી એ અનુમાન પણ કરી શકાય એવું છે કે જે ભાષામાં તે પવિત્ર જ્ઞાન એક પેઢીથી બીજી પેઢિને આપવામાં આવતું હતું તેમાં કામથી ફેરફારો થતા ગયા હતા. જે માપા મહાવીર અને તેમના અનન્તર શિષ્યો—અર્થાત્ ગણધરો—બોલતા હતા તે તો સ્ત્રેસ્ત્ર મગધદેશનીજ ભાષા હતી. તેણે સંસ્કૃતભાષા પોતે એ તો અસંભવિત જ છે.

परंतु, जैन प्राकृत असोकना शिलालेखोनी अथवा प्राकृत वैयाकरणोनी मागधी भाषा साथे घणंज योडूं मळता णण धरावे छे, तेम छतां जेनो पोते तेने 'मागधी' कहे छे. हेमचंद्रे पोताना प्राकृतव्याकरणना चौथा पादना २८७ मां सूत्रनी व्याख्यामां जे अर्धा गाथा उद्धृत करेली छे तेमां लख्युं छे के प्राचीन सूत्रो एकली अर्धमागधी भाषामाज लखा-एलां हताः—

पोराणं अद्धमागधभासानिअयं हवइ सुत्तं ॥

हेमचंद्र आ स्थळे पोतानुं टिप्पण करे छे के, जो के आवे परंपरागत वृद्ध संप्रदाय छे, परंतु, मागधी भाषानुं जे लक्षण आगळ उपर आपसामा आवेशे ते जैन प्राकृतने लागु पडतुं नथी; अर्थात् जैन प्राकृत मागधीथी भिन्न छे.

जैनीनी पवित्र भाषाना स्वरूपनुं निरूपण करवा आगळ वधीए तेनी पहेलां आपणे एटलुं ध्यानमां राखवुं जोईए के तेमनी प्राकृत भाषामां वे भेदे दिलाइ आवे छे. १—प्राचीन गद्य ग्रंथोनी भाषा, अने, २—टीकाकारो अने कविवोनी भाषा. जे भाषामा प्राचीन गद्य ग्रंथो लखाया छे ते भाषा घणे अंशे टीकाकारो अने कविवोनी भाषाथी भिन्न छे. टीकाकारो अने कविवोनी भाषा महाराष्ट्री छे, अने ते प्राकृत व्याकरणना पहेला पादमां जे नियमो आपेला छे तेने सर्वथा अनुसरनारी छे. परंतु साथे ए णण जाणवुं जरूरतुं छे के हेमचंद्रनी महाराष्ट्री ते 'हाल', 'सेतुवन्ध', अने नाटकोनी महाराष्ट्री भाषा साथे एकमात्र धारण करती नथी. आ वक्ते वच्चेवे मोटा स्पष्ट भेदो छे. एक तो—आचरूपे अथवा द्विवचन रूपे दन्त्य 'न' नो उपयोग थाय छे ते, अने बीजो 'यश्चति' नो व्यवहार छे. आ भाषा के जेने उचितरीते जैन महाराष्ट्री कही शक्या तेनुं हेमचंद्रे संपूर्ण लक्षण आप्युं छे, आ लक्षण कालिकाचार्य कथा जेवा एक अर्वाचीन निबंधमां णण पूर्णरीते प्रयुक्त थएलुं कोई णण वाचक स्पष्ट

जोई शके छे. प्राचीन सूत्रोनी भाषा जेने हुं जैन प्राकृत कहूं छुं ते जैन महाराष्ट्रीथी फेटलीक वाच-तोमां जुड़ी पडे छे. जेम के, ज्यारे जैन महाराष्ट्री भाषाना ऐलिंगना प्रथमा तथा सप्तमीना एकवचन-ना रूपेने अंते 'ओ' अने '—मि' अनुक्रमे आवे छे, त्यारे जैन प्राकृतमां तेना स्थाने अनुक्रमे 'ए' अने '—सि' आवे छे. उदाहरण तरीके, जै० म०—'सको', जै० प्रा०—'सके', 'सं०—शकः, जै० म०—'वरंमि', 'मोलिमि', 'साहुं-मि' जै० प्रा०—'वरंसि', 'कुच्छिसि', 'साहुंसि. अव्यय भूतकृदन्तने अंते जैन महाराष्ट्रीमां साधारण रीते 'ऊण', 'ऊण', अथवा 'उं' आवे छे. परंतु तेनाथी प्राचीन एटले जैन प्राकृत भाषामां तेने अंते 'इत्ता' अगर 'इत्ता णं' आवे छे. दाखला तरीके जै० म०—'काऊण', 'नाऊण', गंतू-णं', 'काऊण', 'कांडं' इत्यादि; जै० प्रा०—'करिता', 'जानिता', 'गच्छिता', अथवा, 'करिता णं' इत्यादि. जैन—प्राकृतमां अद्यतनभूत रखो छे, परंतु जैन महाराष्ट्रीमां तेने बदले सामान्यरीते भूत कृदंत आवे छे. आवा साधारण भेदो उपरांत, जैन प्राकृतमां घणा आर्थ शब्दो, रूपो तथा वाक्यां-शो णण मळी आवे छे, जे जैन महाराष्ट्रीमांथी वहि-ष्कृत थयां छे.

जैन महाराष्ट्रीना स्वरूपना संबंधमां तो कोई णण शंकांने स्थान ज नथी. कारण के हेमचंद्रे तेना संबंधमां स्पष्टरीते वर्णन आप्युं छे. ए भाषा एकंदरी-ते 'हाल' नीज महाराष्ट्री भाषा छे. एम छतां वक्ते वच्चे जे भेदो दृष्टिगोचर थाय छे ते तेनी उत्प-त्तिस्थानना भेदने लईने छे. मारा मानवा प्रमाणे जैन महाराष्ट्री मुराष्ट्रीनी भाषा साथे घणोज निकट संबंध धरावनारी छे. केम के परंपरागत हकिकतने

१आ आधैयकार कथा मूलरूपे हुं थोडाज समयनी प्रक-ट करवा दच्छुं छे. कान के, तेनी अंदर फेटलीक साची अने ऐतिहासिक परंपराना सुराओ रहेला छे,

આધારે જૈન શાસ્ત્રોનું સંસ્કરણ; ઉપર જણાવ્યા પ્રમાણે વલ્હીપુરમાં થયું હતું. આ કારણને લઈને તેને જૈન સૌરાષ્ટ્રી નામ આપવું વધારે યુક્ત ગણી શકાય સ્વરૂપ; પરંતુ, સાધારણરિતે મહારાષ્ટ્રીને નામે ઓલસાતી પ્રાકૃતભાષાના સામાન્ય સ્વરૂપની સાથે તે ઘણે અંશે મઝઠી હોવાથી અને હેમચંદ્રે તેને તેલુંજ નામ આપી દીધેલું હોવાથી; * નવું નામ આપવાની હું હિમત કરી શકતો નથી.

વઠી જૈન પ્રાકૃતનું સ્વરૂપ પણ શોધી કાઢવું કઠણ નથી. તે એકદરરિતે જૈન મહારાષ્ટ્રીની સરલોચ ભાષા હોવાથી અને ભેદ માત્ર આર્પણની દૃષ્ટિએ જ ઉત્પન્ન થયેલો હોવાથી, આપણે તેને યોગ્ય રિતે પ્રાચીન મહારાષ્ટ્રી અથવા આર્પ મહારાષ્ટ્રી કહી શકીએ છીએ. હેમચંદ્ર તેને 'આર્પમ્' ઇટલે ઋષિઓની ભાષા કહે છે. અને જૈન મહારાષ્ટ્રીની અંદરજ તેનું વર્ણન કરે છે. તેના વિશિષ્ટ રૂપોને તેઓ સામાન્ય નિયમોના અપવાદ રૂપે માને છે, અને જણાવે છે કે, પ્રાયઃ સામાન્ય પ્રાકૃતના નિપનો ઋષિઓની ભાષાને વિકલ્પે લાગુ પડે છે. આ રિતે, તેઓ પોતાનું મન્તવ્ય પ્રકટ કરી સૂચવે છે કે જૈન પ્રાકૃતનું સાદુ-દ્રવ્ય બીજી કોઈ પણ પ્રાકૃત ભાષા કરતાં મહારાષ્ટ્રી સાથે વધારે છે. તેમનું આ કથન વળું પ્રમાણમૂલ છે, કારણ કે એક તો તેઓ પ્રાકૃત ભાષાના પૂર્ણ જ્ઞાતા છે, અને બીજું, સંપૂર્ણ લોકમાન્યતાથી પ્રતિકૂલ રહ્યો પોતાનો અભિપ્રાય તેમણે અપેલો છે. જૈન પ્રાકૃતમાં હેમચંદ્રે જે માગધીય જોયું તે માત્ર અકારાન્ત પુલિંગ શબ્દના પ્રથમાના એક વચ્ચની રૂપના અંતે આવતા 'વ' પ્રત્યય જ્ઞાત છે, અને હું પણ તે સિ-

હ હેમચંદ્રના વ્યાકરણમાં ફક્ત પ્રાકૃત એવું સામાન્ય નામજ મળે છે, મહારાષ્ટ્રી એવું વિશેષ નામ મળ્યું નથી. ઠો. એકોપીયું આ કથન કે, હેમચંદ્રે જૈનધર્મીની પ્રાકૃતને મહારાષ્ટ્રી એવું નામ આપ્યું છે, તે અમારા સમજવામાં યશાય આપતું નથી.—સંપાદક.

વાય બીજો કોઈ તફાવત જોઈ શક્યો નથી. * જે જે વાવતોમાં શૌરસેની અને માગધી સામાન્ય પ્રાકૃતથી જુદી પડેલે તેવથી વાવતોમાં જૈન પ્રાકૃત, ઉપર વતા-વેલા જે અપવાદો અને અન્ય જે અપવાદો વાદ કરતાં સાધારણ પ્રાકૃતને સર્વાંશે મઝઠી આવે છે. હેમચંદ્ર (૪, ૨૬૪, ૨૬૫; અને ૪, ૨૭૮) શૌરસેની (—અને માગધી) માં 'મગવાન્' અને 'મગવન્' તેમજ 'મથવાન્' અને 'મથવન્' રૂપી પ્રથમા અને સંધો-ધનના એકવચનના રૂપોને વદલે અનુક્રમે 'મથવં' અને 'મથવં' તથા 'તસ્માત્' ને વદલે 'તા' નું વિધાન કરે છે. આ રૂપો જૈન પ્રાકૃતમાં પણ આવે છે. મહારાષ્ટ્રી સિવાયની અન્ય પ્રાકૃત ભાષાની સથિ જૈન પ્રાકૃતની સમાનતાના આ દાસલાઓ, સામાન્ય ભાષા સાથેની તેના સામાન્યતાના દાસલાઓના સુ-

છાત્રો * ઘેવરનું નિધ્યવર્ધક એમ કહેતું છે કે, યૈ, યૈ, અને ડ્ય ને વદલે વ્ય, અને ધ્ ને વદલે દુ નો ફેરફાર થિદ કરે છે કે જૈન પ્રાકૃત તે માગધી છે. ઘેવર 'અ' અને 'અ' રૂપી સ્વરૂપ દર્શક ચિન્હોને (ચળોને) વ્ય અને દુ સુચક વધાવે છે. પરંતુ તે (ચિન્હો) વાસ્તવમાં ઝજ અને વલ્લ વોધક છે. આ ચિન્હો જૈન મહારાષ્ટ્રી તેમજ જૈન પ્રાકૃત એ વધે ભાષાના વપરાય છે. અને જૈન મહારાષ્ટ્રીમાં તો તેને નિર્ણીતરૂપેજ ઝજ અને વલ્લ સુચક ગણવામાં આવે છે. તેથી જૈન પ્રાકૃતમાં પણ તે તેજ અશુર સુચક હોવા જોઈએ. જો એમ ન ગણતા હોત અને હેમચંદ્રે તેને જૈન પ્રાકૃતમાં મિત્ર અશુર સુચક વાંચ્યા હોત તો જહર તેમણે તેને ૨, ૮૧ અને ૧૦ સુત્રોના અપવાદરૂપે જણાવ્યા હોત. આ ઉપરાંત ઘ્યારે હેમચંદ્રે શૌરસેનીમાં (૪, ૨૬૬ સુત્રમાં) યૈ ન વદલે ય, અને માગધીમાં યૈ અને યૈ ને માટે ય નો (૪, ૨૫૨) તેમજ સ્વરની મધ્યમાં આવેલા ય ને માટે 'ચ' નો (૪, ૨૫૬) આદેશ કરે છે, ત્યારે જો તેમણે ઘેવરનાં માધકર ઉચ્ચ અશુરો યાચ્યા હોત તો તે સુત્રોમાં જહર એમ જણાવ્યું હોત કે આર્પ માધમા વળ એમજ યાય છે. હિલિનાસની દૃષ્ટિએ ચક (કે એના પ્રાચીન રૂપો 'અ' અને 'અ' છે) અને 'અ' એ સંજ્ઞાઓની સમજૂતી માટે ડૉ. મુલ્કા ના કહેવા પ્રમાણે વાદ રાહતું જોઈએ કે અશુરો જોડવામાં જૈનો સાધારણ રિતે બોજા અશુરને વદેલા અશુરની પછી નહીં પણ તેની નાંબે મૂકે છે. પહેલું ધ્રન સંજ્ઞાઓ તે કુ નો ઉત્તરોત્તર થયેલું વાદો રૂપો છે. અને બીજી સંજ્ઞા 'મા' જ નું પુરાતન રૂપ ભાઈડ ઇ દૃષ્ટિ રોષ છે. આ નિયમાનુસાર વલ્લવ્યુત્તના મુદ્દમાં આ-પલા વર્ણો જોડાશે તોને મેં kkk અને ji ની દર્શાવ્યા છે.

કાવલે ધળા યોડા અને અનુપયોગી લાગે છે. તેટલા માટે હું જૈન પ્રાકૃતને મહારાષ્ટ્રી માપા તરીકે જાહેર કરતાં બિલકુલ સંકોચ પામતો નથી. પ્રો. લેપ્સને પણ પોતાના *Institutiones linguae Pracriticae* નામના પુસ્તકના પૃ. ૪૨ માં પણ તેમજ જાહેર કર્યું છે. જે જે વાચતોમાં જૈન પ્રાકૃત મહારાષ્ટ્રીયાં જુદી પડે છે, તે તે વાચતોમાં તેણે સાધારણતઃ પ્રાચીનરૂપે કાયમ રાખ્યાં છે. પ માપાના આનાથો પણ વધારે પ્રાચીન રૂપની નિશાની પૃ. ૫ ઉપર સૂચવેલા શબ્દોમાં જોવામાં આવે છે. આ નિશાની તે, પરસ્પર ન જોડાય તેવા બે વ્યંજનોની વચ્ચે લિખિત માપામાં, જેમ નિત્યરૂપે સ્વરનો અંતર્ભાવ થાય છે, તેમ ન થતાં વિકલ્પરૂપે થાય છે, તે છે. આવી જાતની—વિકલ્પે સ્વર ઉમેરવાની—છૂટ જ પ્રાચીન સૂત્રોમાં આવતાં પ્રાકૃત પદોની માત્રાગણનામાં લેવી જરૂરની છે, અને જે વૈદિક કાવિઓની પદ્ધતિ સાથે પણ કેટલીક સામ્યતા ધરાવતી જોવાય છે, તેનો, પાછળના પ્રાકૃત કવિઓ બિલકુલ સ્વીકાર કરતા નથી. તેમની કૃતિઓમાં તો પ્રત્યેક સ્વરનો ઉચ્ચાર એક સ્વતંત્ર વર્ણની માફક નિત્યરૂપે થયો જોઈએ. 'સેતુવન્ધ' 'સસચારી' અને સ્થાર પછીના પ્રાકૃત શ્લોકો આદિ ગ્રંથોની પદ્ધતિમાં, અને તેનાથી પ્રાચીન એવા પદ્યવંધ સૂત્રોની પદ્ધતિમાં જે ભેદ જોવામાં આવે છે, તેનું કારણ માત્ર માપામાં થયેલું પરિવર્તન જ છે, અને આવું પરિવર્તન વૈદિક અને સાહિત્યિક સંસ્કૃત માપામાં પણ પ્રત્યક્ષ થઈ જોવાય છે'. અહિં સુધી આપને જૈનોના પવિત્ર ગ્રંથોની માપાનો ક્રમિક વિકાસ આંલેખ્યો છે. પણ તેની, કેટલીક અનિયમિતતાઓ વડી જુદાજ પ્રકારનો છે; અને તે સ્પષ્ટરીતે એમ દર્શાવતી દ્રોષ તેમ લાગે છે કે લિખિત સૂત્રોની માપા કરતાં અસલ માપા જુદીજ હતી.

• ઉપર જેમ મેં જણાવ્યું છે તેમ મહાવીર અને તેમના મળધરોની મૂળ માપા મારાગ્રીજ હતી, અને તેની પુલ્હિપની પ્રથમાનો 'પ' પ્રત્યય જે કાયમ રહ્યો છે તે આ કથનનું પ્રમાણ સ્વરૂપ છે. સંક્ષેપમાં એટલું જ કહેવાનું છે કે જૈનગ્રંથોની છેલ્લી પુનર્વિચના થઈ તે પહેલાં તેની માપાનું સ્વરૂપ નહીં થયું ન હતું. મૂળમાં, જનસમુદાયની આ વ્યવહારુ માપામાં મુંથા-એલા ધર્મશાસ્ત્રીનું જ્ઞાન જે પુરુષો મુસપાટથી વીજા-અને આપતા જતા હતા, તેઓ તે માપાને પોતાના દેશ અને કાઠની પ્રચલિત માપા સાથે મંથ વેસતી કરતા રહેતા હતા. આપણા સ્ત્રીસ્ત્રી સનની આરંભની સદિઓમાં હિંદુસ્થાનનાં દર્શી માપાઓમાં મહારાષ્ટ્રની વાક-પદ્ધતિએ જ અમર્યાદા સંપ્રાપ્ત ફેરવું જણાય છે તેથી, અને વૈષ્ણવરણે સર્વપ્રાકૃત માપાઓની આધારમૂલ તરીકે તેનો જ ગણના કરેલી દેખાય છે તેથી, સ્થા તેનું સાહિત્ય—કે જેના કેટલાક પ્રતિષ્ઠિત નમુના આજે પણ વિદ્યમાન છે—વિશાળ હોવાથી, જૈનો તેના પ્રમાણે વંશ થયા હોય અને પોતાના ગ્રંથોને પુસ્તકારૂઢ કરતી વસંતે તે માપાની અનુસાર પોતાના પુસ્તકોની માપાની વ્યવસ્થા કરી હોય, તો તેમાં આશ્ચર્ય પામવા જેવું નથી. લિખિત પુસ્તકોની માપામાં આવું માપા-પરિવર્તન સાહિત્યના ઇતિહાસમાં વીજે ફોઈ સ્થલે જોવામાં નથી આવતું એમ નથી. મેં પાછળના એક પાના ઉપર, ઉત્તારા કરનારાગોના દાયે મધ્યકાલીન જર્મન ગ્રંથોની માપામાં આવું માપા-પરિવર્તન થયું હતું, એમ સૂચવ્યું છે. જૈન ગ્રંથોના સંપાદકને સર્વલક્ષણોપેત મહારાષ્ટ્રી માપાનો સર્વથા સ્વીકાર કરવો ગમ્યો નહીં હશે અને તેથી તેમણે ચિરકાલીન-પૂર્વપરંપરાથી ચાલતાં આવેલાં અને તેથીજ પવિત્ર મનાઈલાં એવાં ધર્મો આર્થ રૂપોને કાયમ રાખ્યાં હશે. કારણ કે

૧ ચેદોમાં સાસ કરીને 'ય' અને 'વ' ની પહેલાં વિકલ્પે સ્વર ઉમેરવાની જે પદ્ધતિ હતી તે પાછળના સંસ્કૃત સાહિત્યમાં સર્વથા પદ્ધિત કરવામાં આવી છે. પરંતુ જૈન પ્રાકૃતમાં આનાથી હલકું, એટલે, પૂર્વે વિકલ્પે સ્વરનો અંતર્ભાવ કરવાની જે પદ્ધતિ હતી, તે અર્વાચીન પ્રકૃતમાં, યમાં આગળ વ્યંજન સમુદાય સંયુક્ત ભાવ ન પામતો હોય ત્યાં, તે એક નિયમરૂપે થઈ ગઈ છે.

આર્ષ માપા હમેશાં ગંભીર પ્રકારની લેખનશૈલી માટે યોગ્ય મનાતી આવી છે.

જૈન મહારાષ્ટ્રી યથાર્થી પવિત્ર માપા તરીકે નક્કી થઈ, ત્યારથી તે ઘળા વચ્ચે સુધી જૈનોની સાહિત્યિક માપા તરીકે ચાલુ રહી હતી, પરંતુ પાછળથી તેનું સ્થાન સંસ્કૃતે લીધું હતું. પૂર્વેના સઘળી પ્રાચીન ટીકાઓ પડેલે વૃત્તિઓ અને વૃત્તિઓ, તથા વીજા પળ ઘળા સ્વતંત્ર ગ્રંથો પ્રાકૃત માપામાં લખાયા હતા. ૬૦ સં ૧૦૦૦ અને ૧૧૦૦ ની મધ્યમાં જૈનો પ સંસ્કૃતને પોતાની સાહિત્યિક માપા તરીકે અંગીકાર કરી હતી. પરંતુ આ ફેરફાર ફાઈ આકાસિક કે સંપૂર્ણ રૂપે ન હોતો થયો. કારણ કે, આ સમય પહેલાંનાં પળ ભક્તમરસ્તોત્ર, કલ્યાણમંદિર(તોત્ર, શોમનસ્તુતયઃ) જોવાં જૈનગ્રંથકારોનાં સંસ્કૃત કાવ્યો, મોજુદ છે. અને તેમજ જિનપ્રમખુનિનુ (—સંવત ૧૩૬૪) પરુપનાકલ્પનિયુક્તિન્યાયપ્રાન, અને વીજાં ઘળાં પ્રાકૃતસ્તોત્રો આદિ જોવા, વારસી સદીની પછી પળ રૂપાણા પ્રાકૃત ગ્રંથો વિચમાન છે.

આ ચાલુ વિષય છોડતાં પહેલાં હું જૈનગ્રંથોની શુદ્ધલેખન વિચા તરફ વાચકોનું ધ્યાન લેવું છું. જો કે, પ્રાયઃ સર્વ હસ્તલિખિત પ્રતિઓ ફક્ત રંગની જોવામાં આવે છે, તથાપિ નિચેની વાચકોમાં તે પરસ્પર વિરુદ્ધ પડતી દેખાય છે:—

૧) કેટલીક પ્રતિઓમાં 'ય'—શ્રુતિ 'અ' અને 'આ' ની પછીજ વપરાઈ છે; ત્યારે કેટલીક પ્રતિઓમાં 'શ' અને 'ઈ' 'ઉ' અને 'ઊ' તથા 'પ' અને 'ઓ' ની પછી પળ જોવામાં આવે છે. હેમચંદ્રપોતાના વ્યાકરણના ૧, ૧૮૦ માં સૂત્રમાં વિધાન કરે છે કે 'ય' શ્રુતિ 'અ' અને 'આ' ની પછી આવે છે. પળ ટીકામાં કહે છે કે કેટલેક પ્રસંગે તે અન્ય સ્થળે પળ જોવામાં આવે છે. તેમનો પ નિયમ અંતઃ અમારી હસ્તલિખિત પ્રતિઓથી સિદ્ધ થાય છે. કારણ કે 'ય' અને 'યા' દેશક સ્થળે 'અ' ને 'આ' ની પછીજ આવે છે. પરંતુ ઘળીક પ્રતિઓમાં 'ય'

અને 'યા' સઘળા સ્વરો પાછળ પળ લખેલા દેખાય છે. આ ચલે જાતની જોડણી (વર્ણરચના) ઘળી જુની તેમજ ઘળી સારી પ્રતિઓમાં નજરે પડે છે. તેથી આ બેમાંથી કયી વધારે શુદ્ધ છે તેનો નિર્ણય કરવો અશક્ય છે. વ્યુત્પત્તિશાસ્ત્રની દૃષ્ટિ 'ય' શ્રુતિ વધા સ્વરો પાછળ આવે તે વધારે સ્વરૂપ—સંગત છે. કારણ કે 'ય' શ્રુતિ તે માત્ર લુપ્ત વ્યંજનનો અવશેષ છે'. મેં કલ્પસૂત્રની મારી આ આવૃત્તિમાં પળ પદ્ધતિ સ્વીકારી છે.

૨) કેટલીક પ્રતિઓમાં સંયુક્ત-વ્યંજનો પહેલાંનાં પ અને ઓ અનુક્રમે ઇ અને ઊ ના રૂપમાં પરિવર્તિત થઈ જોવાય છે. આનું કારણ પછે કે દેવનાગરી લિપિમાં પ અને ઓ ના હ્રસ્વસ્વરૂપની સૂચક સંજ્ઞાઓના અભાવ છે. અને તેને લઈને નીચે પ્રમાણેનાં ગુંચવાડો ઊભો થયો છે. જો પ તથા ઓ લખવામાં આવે તો વર્ણ-પરિમાણની ઉપેક્ષા થાય છે. કારણ કે સંયુક્ત વ્યંજનની પૂર્વેનાં સ્વર હ્રસ્વ થયો જોઈએ, અને પ અને ઓ તો દીર્ઘસંજ્ઞક સ્વરો છે. જો આથી ઊલટી રીતે લખવામાં આવે અર્થાત્ ઇ તથા ઊ મૂકવામાં આવે તો પ અને ઓ વર્ણના સ્વરૂપનું વાસ્તવિક દર્શન ન થઈ શકે. આ કારણથી જ્યાં ઘવા વર્ણોના સંસ્કૃત પ્રતિરૂપો સંધિ સ્વારાત્મક. હોય ત્યાં મેં પ અને ઓ જ લખ્યા છે.

૩) કેટલીક પ્રતિઓમાં જ અને કેટલીક પ્રતિઓમાં ણ આવે છે. (જુઓ, હેમ ૧, ૨૧૮) મેં આવા દરેક પ્રસંગે ઉત્તમ પ્રતિઓના આધિક્ય તરફ લક્ષ્ય રાખી સામાન્ય રીતે તે પ્રમાણે વર્ણ-પ્રયોગ સ્વીકાર્યો છે.

૪) કેટલીક વચ્ચે, કેટલીક પ્રતિઓના મારં

૧ પશ્ચિમ હિંદુસ્થાનની ગુપ્તાઓનાં પ્રાકૃત સિલ્હ:લેખોમાં ડ ના પૂર્વેનાં અ નો આદેશ ય થયેલો છે ડ. ત. ધક્કીનિય અને પવહતિકા=પ્રમાનિવિચાર.

મમાં જ લહેલો જોવામાં આવે છે. સરલાવો, હેમ-
ચંદ્ર ૧,૨૨૯.

૫) જે સ્વરોની વચ્ચે આવતા વ્યંજનને કાયમ રાખવો અથવા તેનાં વધેલી સ્ત્રીઓને આદેશ કરવો, જો તો, તેનો લોપ કરવો, તે વાચત ગ્રંથોની નકલ કરનારાઓની-લઘિયાઓની પસંદગી ઉપર આધાર રાખતો હોય તેમ લાગે છે.

૬) કલ્પસૂત્રની એક પ્રતિમાં (ઈન્ડિઆ ઑફિસ લાઈબ્રેરી ૧૫૨૯) જ્ઞ ને વધેલું જ્ઞ અને કેવલ અથવા સંયુક્ત શબ્દોની આદિના વ ને મોટે વ લેલો છે. ઉદાહરણ તરીકે-વિવદ્ધન ને વધેલું વિવદ્ધન, મુદ્ધાત્રી, રિત્યાદિ. આ વિશેષતાનું કારણ એમ લાગે છે કે તે પ્રતિ પૂર્વે હિન્દુસ્થાનમાં લખાઈ હશે.

૭) ડ અને ડ (ઓ) નો ધ્વની વાર પરસ્પર વિનિમય (અદલાવરલો) થાય છે. પરંતુ તેનો ધ્વનિ સાથે કોઈ સંબંધ નથી. કારણ કે જ્યારે ડ અથવા ડની પહેલાં વ્યંજન આવેલો હોય છે ત્યારે તે ૦૨ માં ફહેલી વાચત વાદ કરતા ક્યારે પણ પરસ્પર આ વિનિમય થતો નથી. A અને B નામની કલ્પસૂત્રની પ્રતિઓમાં આ સંજ્ઞાઓના સંબંધમાં ભાગ્યેજ મૂલ થપ્પલી જોવામાં આવે છે.

ઉપર વર્ણવેલા વર્ણ-વિન્યાસ-વિષયક મેટો વ્યાકરણશાસ્ત્રની મિત્ર મિત્ર શાસ્ત્રાઓને અને ઉભા થપ્પલા છે. મારી આવૃત્તિના મુદ્દતો નીચે, મેં તમામ વિવિધ પાઠાન્તરો સમાહ-પૂર્વક નોંધ્યાં છે. માત્ર છટ્ટા અને સાતમા નંબરમાં જણાવેલી હકિકતને ઓગે ઉપસ્થિત થપ્પલાં પાઠાન્તરો લખ્યાં નથી. છટ્ટાં પણ સૌથી પ્રાચીન અને પ્રામાણિક જોડણી ફાઈ હશે તેને નિર્ણય કરી શક્યો નથી. કાગળની ધળીક હસ્તલેખિત પ્રતિઓ તપાસતાં મને એવી પ્રતીતિ થઈ છે કે તેના ઉપરથી જૈન પ્રાકૃત માધાના વિશુદ્ધ વર્ણ-વિન્યાસનો પતો મેલ્લી શકાય તેમ નથી. પરંતુ તાડપત્રની પ્રાચીનતમ પ્રતિઓને ચારીકાઈથી તપાસતાં વધારે સંતોષકારક પરિણામ

મેલ્લી શકાય તેમ છે. હું એમ ધારું છું કે પ્રાયઃ કોઈ પણ વચ્ચે સપટ્ટા જૈનલેલકોએ એક ચોક્કસ વર્ણ-વિન્યાસ-પદ્ધતિનું અચલેન કર્યું હોય તેમ લાગતું નથી. કારણ કે મુકાઓના શિલાલેખોના પ્રાકૃતની સાથે વાંચી પ્રાકૃત માધાઓમાં તેમજ આધુનિક ભારતવર્ષની પ્રચલિત દેશ માધાઓમાં પણ એક જ શબ્દની વારંવાર મિત્ર મિત્ર રીતિ, જોડણી કરા-
ણી જોવામાં આવે છે.

આ વિષય પૂર્ણ કરતાં પહેલાં મારે જણાવવું જોઈ-
એ કે, મેં જૈન-પ્રાકૃતના વર્ણવિન્યાસના સંબંધમાં એક-ગતિ સ્થાપવાનો ઉદ્દેશ રાખ્યો નથી. પણ એક જૈનગ્રંથના પ્રથમ આ પ્રકાશનના સમયે વસ્તુ-સ્થિતિનો કેટલોક ફ્યાલ આવો મને યોગ્ય લાગ્યો-
છે. જો કે મને આજા ગ્રંથમાં એક જ પ્રકારની જોડણી સ્વીકારવી સરલ પડત લાગી-જેમકે નિત્ય
જ્ઞ યા જ્ઞ જ લખવો. પરંતુ ભારતવાસિઓના હૃદયમાં જાણે મજબૂત રીતે જામી ગઈ હોય તેવી અનિયમિતતાની અંતઃપ્રેરણાને આધાતન પહોંચાડવા મોટે મેં અન્ય પ્રતિઓથી સમર્થિત એવી A નામની સૌથી પ્રાચીન પ્રતિનો જોડણી સાધારણ રીતે કબુલ રાખી છે. અને તેથી એક શબ્દની સદા એક જ રીતે જોડણી કરવામાં આવી નથી.

જૈન ધર્મે અને સાંહિત્યને લગતા સામાન્ય પ્રશ્નો-
ના સંબંધમાં હું જેટલી હકિકત એકઠી કરી શક્યો છું, તે આપી દર્શને, હવે સ્વાસ કલ્પસૂત્રના સંબંધમાં કેટ-
લુંક વિશેષ કરીશ. આ ગ્રંથની, જૈનોના પવિત્ર પુ-
સ્તકો તરીકે ગણાતા આગમોમાં તે સ્વાસ ગણના થતો નથી. અને દિગમ્બરો તે એ વનાવટી ગ્રંથ સુદાં કહેતાં અચકાતા નથી. તેમને આમ કહેવાનું કારણ એ છે કે, એની અંદર દિગમ્બર-માન્યતા વિરુદ્ધ, મહાધાર ત્રિશલાની કુશિમાં આવ્યા તેની પહેલાં દેવાનંદાની કુશિમાં આવ્યા હતા, આવું વર્ણન આવે-
છે છે. પરંતુ આ વર્ણન આચારંગસૂત્ર તથા આવ-
દ્યકસૂત્રમાં પણ આવું હોવાથી, એ પુરાતન હોય

એમ લાગે છે. અને તેથી દિગમ્બરોનો ઉપરોક્ત આક્ષેપ નિરર્થક નિવેદ છે. શ્વેતાવર સંપ્રદાયમાં કલ્પસૂત્ર એક પ્રતિષ્ઠિત ગ્રંથ મનાય છે. અને પ્રતિવર્ષ વર્ષાવાસ છૂટલે પંડુસળમાં તે જોહર રીતે (સભામાં) વંચાય છે.

આ કલ્પસૂત્ર તે મદ્વાહુ સ્વામીની કૃતિ મનાય છે. આ ગ્રંથની વસ્તુ તેમણે પ્રત્યાસ્થાનપ્રવાદ નામના નવમા પૂર્વમાંથી લીધી છે, એવું કિરણાવલી નામની ટીકાના નિમ્નલિખિત અવતરણ ઉપરથી માલુમ પડે છે.

‘ પ્રણેતા તાવત્ સર્વાક્ષરસન્નિપાત વિચક્ષણશ્ચતુર્દશપૂર્વવિદ્ યુગપ્રધાનઃ શ્રીમદ્વાહુસ્વામી દશાશ્રુતસ્કન્ધપ્રત્યાષ્ટમાધ્યયનરૂપતયા પ્રત્યાસ્થાનપ્રવાદાભિધાનનવમપૂર્વાત્ કલ્પસૂત્રમિદં સૂત્રિતવાનુ. ’

અર્થાત્—આના કર્તા તે, સર્વશાસ્ત્રપ્રણામી, ચતુર્દશપૂર્વના વેદા અને યુગપ્રધાન એવા મદ્વાહુ સ્વામી છે. તેમણે પ્રત્યાસ્થાન પ્રવાદ નામના નવમા પૂર્વમાંથી દશાશ્રુતસ્કંધના આઠમા અધ્યયન રૂપે આ કલ્પસૂત્ર રચ્યું છે.

કિરણાવલી ટીકાકારનું ઉપરોક્ત કથન,—કે જેનું પુનરાવર્તન યાજ્ઞ ટીકાકારોણે પણ પોતાની ટીકાઓમાં કર્યું છે,—કે કલ્પસૂત્ર તે પર્યુપણાકલ્પ છે, અને તે દશાશ્રુતસ્કન્ધનું આઠમું અધ્યયન છે; તે મૂલમેરું છે. આ મૂલ કલ્પસૂત્રના અંતિમ શબ્દોના આધારને ધરાવર ન સમજવાથી થઈ છે. એ શબ્દોનો જો ધરાવર અર્થ કરીએ તો તેનાથી છૂટલું સિદ્ધ થાય છે કે કલ્પસૂત્ર એ નામ, એ ગ્રંથના છેવટના પ્રકરણને અર્થાત્ સામાચારી, કે જેની અંદર યતિઓના આચારોના નિયમો આપવામાં આવ્યા છે, તેને જ લાગુ પડે છે. કારણ કે તેની અંતમાં એવું કથન છે કે ‘ મહાવીરે ’ આ પ્રમાણે પર્યુપણાકલ્પ નામના આઠમા અધ્યયનનું આસ્થાન કર્યું, ભાષણ કર્યું, પ્રજાપન કર્યું, અને વારંવાર ઉપદેશ આપ્યો. આ શબ્દો માત્ર સામાચારીને જ લાગુ પડી શકે; કારણ કે જિનચરિત્ર અને

સ્થવિરાવલી મહાવીરે પોતે કહી હોય એમ માની શકાય નહીં. જિનચરિત્રમાં મહાવીરના નિર્વાણ પછીની બનેલી યાજ્ઞાઓ લખેલી છે અને સ્થવિરાવલીમાં તેમની પછીનો જૈનધર્મનો ઇતિહાસ આપેલો છે. આ માગાનો પર્યુપણા યા વર્ષાવાસ સાથે કોઈ જાતનો સંબંધ નથી. તેથી તે પર્યુપણાકલ્પનું નામ ધરાવવાના બિલકુલ અધિકારી નથી. અને તદનુસાર, વાસ્તવિકરીતે દશાશ્રુતસ્કંધના આઠમા અધ્યયનના ભાગ તરીકે પણ તેને માની શકાય નહીં. આ અનુમાન ઉપરથી સ્થાવાધિકરીતેજ એવો અર્થ ફલિત થાય છે કે પર્યુપણાકલ્પ એ નામ વાસ્તવિકરીતે સામાચારીનું જ છે, અને તેમ હોવાથી દશાશ્રુતસ્કન્ધનું આઠમું અધ્યયન પણ તેટલાજ ભાગને કહી શકાય. તેટલા માટે, તેટલા ભાગને જ મદ્વાહુસ્વામીની કૃતિ તરીકે માનવો જોઈએ. છૂટલું તો સ્વયંસિદ્ધ છે કે મદ્વાહુસ્વામીની પછીની પણ ઘણી પેઢીઓની નાનાવલી આપતી સ્થવિરાવલી મદ્વાહુની રચેલી ન હોઈ શકે. તેમજ તે એક કર્તાની પણ કૃતિ નથી. સ્થવિરાવલીની સંક્ષિપ્ત વાચના અને વિસ્તૃત વાચના અર્થાત્ સ્થવિરોની ટુંકી અને વિસ્તૃત નામાવલી, અસલમાં, વજ્રે એકત્રેકથી સ્વતંત્ર હોવી જોઈએ. કારણ કે, તે વજ્રેની માપાપેલી અને વર્ણવેલું પાત્રમાં પરસ્પર ભિન્નતાઓ રહેલી છે. આ સ્થવિરાવલિઓ, જેની અંદર અસલમાં દેશી દશકેવલી (દશપૂર્વી ?) વજ્ર અને તેમના અન્તેવાસિઓનાં જ નામ હશે, તેની અંતે કેટલીક ગાથાઓ ઉમેરવામાં આવી છે; અને તેના અંદર કણ્ઠમિત્રથી માંડીને દેવધર્મિણી સુધીના સ્થવિરોનાં નામો આવેલાં છે. કલ્પસૂત્રની કેટલીક પ્રતિઓમાં આ ગાથાઓનું ગદ્યરૂપાન્તર, તેની પહેલાં દાસલ કરવામાં આવેલું છે એ તો દેશીતી રાજે અર્વાચીન ઉમેરો છે. કારણ કે ઘણી પ્રતિઓમાં એ ગદ્યરૂપાન્તરને પડતું મુકવામાં આવ્યું છે. તેમજ સૌથી પ્રાચીન ટીકાકારે આ કલ્પસૂત્રનો ઉલ્લેખ પણ કરેલો છે. આ ઉપરાંત, આગ્રંથને

અગિઆરમી ગ્રંથગતી (ગ્રંથ ૧૦૦૦—૧૧૦૦); પ્રમાણ કરતાં પ્રત્યક્ષરિતે વધારે ગ્રંથસંખ્યાવાળી થયેલી છે. તેથી જો એ પ્રસ્તુત પ્રકરણને ચાતલ કરવામાં આવે તો તેની સંખ્યા પણ બરાબર પ્રમાણસર થઈ રહે છે. વળી સ્થવિરાવલીના પ્રથમના ત્રે સૂત્રો બીજાં વર્ષાં સૂત્રોથી રચનામાં ખુદા પડે છે; અને તેથી મારા ધારણા પ્રમાણે, શાયદ એક વચ્ચે તેનો અંતર્ભાવ જિનચરિત્રમાં થતો હશે, આ રીતે આપણે સ્થવિરાવલીમાં ભિન્ન ભિન્ન પ્રકારના ચાર પાંચ પ્રકરણો જોઈ શકીએ છીએ. ડૉ. સ્ટીવન્સન જે એનું અનુમાન કરે છે કે અસલનું જિનચરિત્ર તે મહાધીર ચરિત્ર જેટલું જ હશે (કલ્પસૂત્ર પૃ. ૯૯), તેને હું હોંટું માનતો નથી. પરંતુ સાથે મારું એ પણ વિશેષ માનવું છે કે ડૉ. સ્ટીવન્સને જે ડેમરા દર્શાવ્યા છે તે ઉપરાંત બીજા પણ કેટલાક ડેમરા તેમાં થયા છે; અને તેને લઈને આ ભાગ આટલો વિસ્તૃત થયેલો છે. આ કથનતા પ્રમાણ તરીકે માત્ર હું ચૌદ સ્વપ્નોના વર્ણનનો નિર્દેશ કરું છું. આ વર્ણન સમય પુસ્તક નો આર્પ-માપાશૈલીથી તદ્દન ભિન્ન પડે છે. કારણ કે, એમાં જે ઘણા લાંબા લાંબા અને મુંઝવાડા મરેલા સમાસો ટુટીયોચર થાય છે, તે સાથે, મુકાવલામાં અર્ધાંશન પણ મરતવર્ણય કાવ્ય-સાહિત્યમાં આવતા સમાસોના આકારના છે. કહેવાની માયેજ જરૂર છે કે, એમાં બીરનિર્વાળના ૯૮૦ અને ૯૯૩ વર્ષ સંબંધી જે અવતરણો આવેલા છે, તે કર્તાના નિર્દેશક નથી પરંતુ કલ્પસૂત્રના સંપાદક દેવધર્મણીને ડેદેશીને લખાણ છે. જે આર્પ-માપા-શૈલીમાં આ જિનચરિત્રની રચના થયેલી છે તેજ માપા-શૈલી મધ્યરચનાવાળા પ્રાચીન સૂત્રોમાં પણ જોવાય છે. તેથી આના કર્તા ગદ્યવાદ ન હોઈ શકે એમ કહી શકાય તેમ નથી. પરંતુ, આ પ્રશ્નને પ્રત્યક્ષ પ્રમાણના અંશો અનિર્ણયપ્રત્યક્ષ સ્થિતિમાં રહેવા દેવો ઠીક લાગે છે.

જેન વિદ્વાનો કલ્પસૂત્રમાં ચર્ચાણા વિષયોના

વૈષમ્ય (ન્યુનાતિક્ય) થી સર્વથા વિજ્ઞાત છે, એમ તો સ્પષ્ટ દેખાઈ આવે છે. પરંતુ, તેઓ આનું કારણ એ વતાવે છે કે પર્યુષણ-સામાચારીની પહેલાં જે આ બે ભાગો મુકવામાં આવેલા છે તે 'મંગલાર્થમ્' પટલે મંગલમાટેજ મુકવામાં આવેલા છે. આ બાબત પર્યુષણાકલ્પાનુક્રિતિમાં નીચે પ્રમાણે જણાવી છે:—

પુરિમ-ચરિમાણ કપ્પો

ઉ મંગલં વદ્ધમાણ-તિત્થંમિ ।

તો પરિકહિયા જિનપરિ-

કહા ય ધેરાવલી ચેત્થ [મ] ॥

માવાર્થ—પહેલા અને છેલ્લા જિનોનો કલ્પ વર્ષ-માનના તીર્થમાં મંગલમૂત છે. અને તેટલા માટે જિનચરિત્રો, અને સ્થવિરાવલી અહીં કહેવામાં આવી છે. પછીના ટીકાકારોએ આ ગાથાના ઉત્તરાર્થને વદલી તેને 'અધિકારત્રયમ્' ની વચ્ચે વદ્યવિષયસૂચિના આકારમાં ફેરવી નાંચી છે:—

પુરિમ-ચરિમાણ કપ્પો

મંગલં વદ્ધમાણ-તિત્થંમિ ।

તો પરિકહિયા જિનમણ-

હરાદ-ધેરાવલિ-ચરિત્તં ॥

માવાર્થ—વર્ષમાનના તીર્થમાં પહેલા અને છેલ્લા જિનોનો કલ્પ મંગલ-સ્વરૂપ છે, તેટલા માટે જિન (ચરિત્ર) ગણધરાદિ સ્થવિરાવલી અને ચરિત્ર અર્થાત્ પર્યુષણ-સામાચારી કહેવામાં આવી છે.

પરંપરાગત કથાનુસાર જૈનાગમોના નવીન સંસ્કરણ વચ્ચે દેવધર્મગંથીએ જિનચરિત્ર, સ્થવિરાવલી અને સામાચારી એ ત્રણે ભાગોને કલ્પસૂત્ર એવા નામ નીચે એકજ પુસ્તકમાં પુસ્તકારૂઢ કર્યો હોય તેમ જણાય છે, —જો કે તેનો આગમોમાં અંતર્ભાવ થતો નથી. આ પરંપરાગત કથાની સત્યતાના પક્ષમાં બે દલીલો છે. પહેલી એ કે, આ બીનાની તારીસ કલ્પસૂત્રમાં આપેલી છે. અને બીજી એ કે, આણું કલ્પસૂત્ર સો સો ગ્રંથોની (૩૨ અક્ષરોનો એક ગ્રંથ) પ્રમાણવાળી ગ્રંથ-શતિઓમાં વહેંચી

નાંચ્યું છે. ઘણું કરીને મૂઠ મંથને પછીના ડેમરાઓથી વચાવવા મોટેજ સંપાદકને આ વ્યવસ્થા સ્વીકારવાની આવશ્યકતા લાગી હશે. આ મંથશતિઓનો નિશાની મૂઠમંથમાં ૩૦ ૧૦૦, ૩૦ ૨૦૦ इत्यादि रूपમાં મુકેલી છે. આ નિશાનીઓ સપટ્ટી હસ્તાલિ-લિખિત પ્રતિભામાં સમાન જમ્યાણ મુકેલી જોવામાં આવે છે. કલ્પસૂત્રમાં આવા ૧૨૧૬ મંથો હોવાનું કહેવાય છે. હ્રદાહરણ તરીકે Δ પ્રતિના પુણ્યકા-લેખમાં આપેલો નીચેનો શ્લોક લઈ શકાય:—

एकः सहस्रो (?) द्विशतीसमेतः

श्रुष्टप्रस्ततः पोटशभिर्भिदन्तु ।

કલ્પસ્ય સંસ્થા કથિતા વિશિષ્ટા

विशारदैः पर्युपपाभिधस्य ॥

આ સંસ્થાને લીધે વર્તમાનમાં સામાન્યરીતે આ પુસ્તક 'વારસે સૂત્ર' તરીકે પણ ઓલવાય છે.

આ આવૃત્તિમાં મારી ગણત્રી મુજબ વ્યવસ્થિત સંસ્થા ઉપરાંત એકસોથી વધારે મંથો (શ્લોકો) અધિક છે, અને કેટલીક મંથશતીનું પ્રમાણ ૧૦૦ થી ૧૨૫ જેટલા મંથોનું જોવામાં આવે છે. આ રીતે ન્યૂનાધિક મંથપ્રમાણવાળી અવ્યવસ્થા જોઈને, કેટલાક સંદેહજનક પ્રકરણો કાઢી નાંચી, આ સૂત્રને મૂઠસ્વરૂપમાં—અસલની મંથસંસ્થામાં—લાવી મુકવાનું માલું મન થઈ આવે છે. પરંતુ, આ સૂત્રની શિથિલ રચના, અને એમા વારંવાર આવતી પુનરુ-ક્રિઓ, કે જે સૂત્રરચાતાનું એક સાસ લક્ષણ જ છે, તેને લઈને આમાંના કયા ભાગો અમુલક છે, તે શોધી કાઢવાનું કામ કઠળ હોવાથી, હું તેમ કરતાં માત્ર મનને રોકી રાખું છે.

એવું કહેવાય છે કે, પહેલાના ચલતમાં આવું કલ્પસૂત્ર પજ્જનતણી પ્રથમ રાત્રિ ૫૫ વાંચવામાં આવતું હતું. પરંતુ, ત્યારથી તે. આનન્દપુરાના રાજા ધ્રુવસેનને,

❧ કલ્પસૂત્રની ટીકાસોમાં લક્ષ્યા પ્રમાણે તો 'મધ્ય રાત્રિ ૫' નહીં પણ અંતિમ રાત્રિ ૬ કલ્પસૂત્રનું અભ્યસન-ધ્વજન કરવામાં આવતું હતું.—સંપાદક.

પોતાના સેનાંગજ નામના પ્રિયપુત્રના મરણની ચોકથી મુક્ત કરવા અર્થે, તેને સમામાં વાંચવ આપ્યું ત્યારથી તે સૂત્ર નવ વાંચનાઓ અથવા વ્યાખ્યાનો દ્વારા સાર્થ સમજાવવામાં આવે છે. નવ વાંચનાઓ કેટલીક પ્રતિભામાં, તેમજ કેટલે ટીકાઓમાં ચિન્હ અથવા ઉલ્લેખ કરી જુદી જુદી રીતે વામાં આવી છે. પરંતુ આ વિષયમાં વધારો મત નહીં હોવાથી મારી આવૃત્તિમાં મેં આ વાચન-લક વિભાગો લાલ્લ કર્યા નથી. સાધારણ મહાવીરચરિત છ વાંચનામાં વિમુક્ત કરવામાં આવે છે. વાકીનાં જિનચરિતો સાતથી વાંચનામાં ગણ છે. અથવા તો મહાવીરચરિતની પાંચ, અને વાકી જિનચરિતોની બે, આવી રીતે પણ સાત વાંચના ગણાય છે. થેરાવડી અને સામાચારી ૫ દેવકા એક વાંચના કહેવાય છે,* જિનચરિત અને સામાચારી નામના ભાગમાં, સૂત્રો અથવા પ્રકરણો રૂપમાં મૂઠ મંથનો એક ધીજો પણ પેટાવિમાં ઘણીક પ્રતિભામાં આપેલો જોવામાં આવે છે, ૭ વિભાગ તે ઘણું કરીને ટીકાકારોને આભારી કે કારણ કે તેમણેજ આનો ઉપયોગ કરેલો છે. સ્થિતિ રાવડી ઉપર ટીકા રચાણી નહીં હોવાથી તે સૂત્રોમાં વહેંચણી થવા પામી નથી. યદ્યપિ આ સૂત્ર-લક વિભાગ સપટ્ટી પ્રતિઓ અને ટીકાઓમાં એક

† આ શોધનો મિત્રના હૈંધમાં એક મત નથી. કેટલાક તેને ધી. વિ. ૧૮૦ માં વર્ષમાં મુકે છે, કેટલાક ૧૯૧ માં અને કેટલાક વડી ધી. સં. ૧૮૮૦ માં મુકે છે.

❧ D નામનો હસ્તાલિખિત પ્રતિમાં નીચે પ્રમાણે ભ્યાલ્લા-નકોની વહેંચણી કરેલી છે:—પુરિમ-નરિમગામ-નાકરત્વ-વાપર-શકસ્તપમ-સોલતાર-ચંચાર, સ્વપ્રવિચાર-મર્યાદામિમહઃ, જમ્નો-સ્વલોકીશ-શ્રીવીર-કુટુમ્બાચારાઃ, દીક્ષા-જાન-પરિચા-નોદાઃ, ધીપાત્રેનામ-પ્રીતેમિ-ચરિતાન્દરાણિ, ધીઆદિનામ-ચરિત્ર-સ્વ-ચિશલયઃ, સામાચારીમિષ્ટા (૧) ધીકાલિસા-ધીધીપ્પા, કાલિસાચાર્યેધી કપા સ્વતંત્ર હોવાથી તે કલ્પસૂત્રની પાલ્લ તર ન અર્જીતીન ઇમયમાં લાલ્લ થયેલી છે. હરિ આપેલી વાંચનાની પગનામાં આદિનામ અથવા ધ્યપમચરિત અને સ્થિતિરાવડી ૫ અને એક વાંચનામાં મૂકી દેવા છે, આ

સરલો જોવામાં આવતો નથી; તથાપિ, તે વહુ મિત્ર પળ પડતો નથી. અને તેથી કરીને આ આવૃત્તિમાં કોઈ પણ સૂત્ર, હસ્તલિખિત પ્રતિઓમાં સરહતાપૂર્વક લેવામાં શકાય તેમ છે. થેરાવલીની તેર સૂત્રોમાં કરેલી વહેંચણી મારી પોતાની છે. કારણ કે, કોઈ પણ પ્રતિમાં આવી વહેંચણી કરેલી જોવામાં આવતી નથી.

કલ્પસૂત્ર ઉપર સૌથી પ્રાચીન ટીકા જો કે મેં જોઈ નથી, પણ તે ચૂર્ણ હોય તેમ લાગે છે. તે ઘાઝી ઘંધી ચૂર્ણોએની માફક પ્રાકૃતમાં જ લખાઈ હશે. કારણ કે ટીકાઓમાં કોઈ કોઈ પ્રસંગે તેનાં અવતરણો લીધેલાં જોવામાં આવે છે. તેના કર્તાનું નામ મળતું નથી, પણ તે હમેશાં ચૂર્ણકારના નામે ઓળખાય છે. ઘાઝીની ઘંધી અર્વાચીન ટીકાઓ સીધી અગર આડકતરી રીતે તેના ઉપર જ રચાઈ છે. અને પ્રાયઃ તે તેના સંસ્કૃત માપાંતર રૂપે જ છે. આમ માનવાનું કારણ એ છે કે એ ટીકાઓમાં મૂળના જે અર્થો આવેલા છે તે સપ્તઠી ટીકાઓમાં લગભગ એક જ સરસા, શબ્દે શબ્દ, મળતા આવે છે. આ યાવત સર્વ ટીકાઓનું. મૂળ એક જ માની લઈએ તો જ સમજાવી શકાય તેમ છે. ઘાઝી એ છે કે સર્વ ટીકાઓ ચૂર્ણિને મુખ્ય પ્રમાણ માને છે. તેથી આપણે પણ તે કૃતિને સ્વામાવેશકરિતે તે સર્વની પાયામૂલ—(મૂળમૂલ) માનવી જોઈએ. ઘણાક આધુનિક ટીકાકારોએ પોતાની ટીકાઓમાં ઉત્તરાધ્યયન અને આવશ્યકસૂત્રની ટીકામાંથી કેટલીક કથાઓ લઈને વચમાં દાસલ કરી દીધી છે. અને કોઈ કોઈ સ્થલે વિસ્તારયુક્ત એવી અમત્તુત હકિકતો ઉમેરી દીધી છે.

સૌથી જૂની ટીકા તારિકિમે સંદેહવિપોષધિ નામની પશ્ચિમીને ઉપયોગમાં લીધી છે. એના કર્તા

જિનપ્રમમુનિ છે. તેમણે એ ટીકા અયોધ્યામાં સંવત ૧૩૬૪ ના આશ્વિન સુદી ૮ અર્ધાત સને ૧૩૦૭ માં પૂરી કરી હતી. એની ગ્રંથ સંખ્યા ૩૦૪૦ છે. એ ટીકાની અંદર તેમણે પર્યુષણાકલ્પનિર્યુક્તિની ૫૪ ટીકા લીધી છે, આ પર્યુષણાકલ્પનિર્યુક્તિની છાસઠ પ્રાકૃત માથાઓ છે, અને તે પર્યુષણા ઉપર એક નિવંધ રૂપે છે. આ નિર્યુક્તિની ટીકા તેના કર્તાના કહેવા મુજબ નિશીથચૂર્ણિમાંથી સંગૃહીત કરવામાં આવી છે, અને થોડા ટુંકા સંસ્કૃત વાક્યો સિવાય તે પ્રાકૃતમાં જ લખાઈ છે. આ આશ્ચર્યકારક યાવત આપણને ઉદાહરણ આપી સમજાવે છે કે જૈન-ગ્રંથકારો પોતાના પૂર્વજોની કૃતિઓમાં કેટલો વધો સ્વાચ્છંદ્ય ઉમેરો કરતા હતા. જો પર્યુષણાનિર્યુક્તિ ઉપર તેના પહેલાની સંસ્કૃત ટીકા હોત તો જિનપ્રમમુનિએ જરૂર તેની નકલ કરી હોત. પરંતુ પોતાને અન્ય સાધનોના અભાવે આત્મનિર્ભર થવાનું હોવાથી તેમણે નિશીથચૂર્ણિમાંથી અવતરણો લીધાં. પરંતુ તે અવતરણોનું સંસ્કૃત માપાંતર સુદ્ધાં કરવાની તેમણે તસ્દી લીધી નથી. આપણને માનવાને કારણ મળે છે કે જિનપ્રમમુનિના સમયમાં કલ્પસૂત્ર ઉપર કોઈ એક સંસ્કૃત ટીકા વિચિત્ર હતી. કારણ કે તેઓ પોતાની ટીકા સંસ્કૃતમાં લખે છે; પરંતુ ચૂર્ણિને સારાંશ આપતા નથી. આ ટીકાની મારી પ્રતિ કે જેને માટે હું ડૉ. બુલ્હરની ઉદારતાનો કળી છું, તે સંવત ૧૬૭૪ માં લલવામાં આવી હતી. એમાંના ઉત્તરા તથા એમાં નિર્દિષ્ટ કરેલાં વિવિધ પાઠાંતરો મેં ટિપ્પણમાંડના કિન્હી દર્શાવ્યાં છે.

મૂળગ્રંથના અર્થાવગોચનના વિષયમાં ઉપરની ટીકા સિવાય નીચે સૂચવેલી ઘાઝી ત્રણ ટીકાઓ પણ થોડેજ અંશે મિત્ર પડે છે. પરંતુ આ ટીકાઓમાં એક ઉપોદ્ધાત ઉપરાંત અન્ય ગ્રંથોમાંથી ઘણાં અવતરણો અને કથાઓ આવેલાં છે. તેમાં પર્યુષણાકલ્પનિર્યુક્તિની ટીકા નથી, તે ત્રણ ટીકાઓ નીચે પ્રમાણે છે:—

જે માગીને જો આપણે તે જુદો જુદો શાસ્ત્રનામો વિનયત કરીએ, અને કાલિકાવાચીની કથાને ઘાઝી નાંખીએ તો તે શાસ્ત્રનામો મહિષ વ્યવસ્થાની વચાવર થઈ રહે છે.

૧-વિનયવિજયકીકૃત સુવોધિકા. સં. ૧૬૯૬. આ ટીકાનું મંથપરિમાણ ૫૪૦૦ છે. આની જે પ્રતિ મેં વાપરી છે તે મુંબઈના સંમહની છે.

૨-ધર્મસાગરકૃત કિરણાવલી ઉર્ફે વ્યાસ્યાનપદ્ધતિ. સંવત્ ૧૬૨૮. મંથસંખ્યા, ૭૦૦૦. મુંબઈ.

૩-સમયસુંદરકૃત કલ્પલતા. આમાં સાલ આપેલી નથી. પણ લેસક કહે છે કે તેના ગુરુ, સકલ-ચંદ્રના ગુરુ, જિનચંદ્ર અકવરના વસતમાં વિચમાન હતા. આ ઉપરથી તેમના સમયનું અનુમાન કરી શકાય તેમ છે. આ કલ્પલતા તે, જેના ઉપોદ્ધાતનું ટાં. સ્ત્રીવન્તન માપાન્તર કર્યાનો ઢાંગ કરે છે, તે કલ્પલતા નથી. આ કલ્પલતાની એક પ્રતિ ડાં. બુલ્હેરે છપા કરીને મને વાપરવા આપી હતી. તેની મંથસંખ્યા મૂળ અને ટીકા બંનેની મળીને ૭૭૦૦ છે. તેના ઉપર મિતિ સંવત્ ૧૬૯૯ ની છે.

આ ટીકાઓથી વધારે અર્વાચીન અને પગાથી અલ્પ મહત્ત્વના મંથો નીચે પ્રમાણે છે.—

૪-લક્ષ્મીવલ્લભકૃત કલ્પદ્રુમ. આમાં દરેક સ્વર્ણ પાછળ તેનું સંસ્કૃત માપાન્તર આપેલું છે. આ મંથનો મોટો ભાગ અન્ય ટીકાઓમાં ઉપલબ્ધ થતી કથાઓનો બનેલો છે. આ ટીકાને અંતે કાલિકાચાર્યની કથા પણ ઉમેરેલી છે. મારી પાસે કલ્પદ્રુમની એક હસ્તલિખિત પ્રતિ છે. પણ તે સરાવ અને અર્વાચીન છે. સં. ૧૯૦૨.

૫-મૂલની બધ્વે પંક્તિઓ વચ્ચે આવેલા માપાન્તર રૂપ એક નવાના લેસકનો ટયો. કથાસમૂહ અને સ્વપ્નોનું ગુજરાતી સ્પષ્ટીકરણ તેનાં યોગ્યસ્થાને દાખલ કરેલાં છે. આ આવૃત્તિમાં મેં તેને C નિશાનીથી દાખલ્યો છે. આના લેસક ભ્રમયસુંદર મુનિ હતા (કદાચ તે કર્તા પણ હોઈ શકે !). સંવત્ ૧૭૬૧.

૬-કથાદિ રહિત એક ટયો. આ પ્રતિ ઇન્દિમા ઑફિસ લાહોરીની તં. ૧૫૯૯ ની છે. કોલકા

પોતાના સારાંશો (Abstracts) તૈયાર કરવામાં આ પ્રતિનો ઉપયોગ કર્યો હતો.

મેં તપાસેલા અને કેટલેક પ્રસંગે ઉપયોગમાં લંબિલા એવા ઉપરોક્ત મંથો ઉપરાંત નીચેના મંથો પણ અહિંયાં હાજિર કરવાં યોગ્ય ધારું છું.

૭-વિજયતિલકની કલ્પદીપિકા. સં. ૧૬૮૧ મંથસંખ્યા. ૪૫૦૦. ડાં. બુલ્હેરની આ ટીકાની પ્રતિ મેં જોઈ છે.

૮-યશોવિજયનો શાસ્ત્રાવધ (?). ડાં. સ્ત્રી-વન્તને પોતાના કલ્પસૂત્રની પ્રસ્તાવનાનાં નવમા પૃષ્ઠ ઉપર આનો નિર્દેશ કરેલો છે.

૯-કલ્પસૂત્રટીકા. જુઓ, ડાં. બુલ્હેરનો સંસ્કૃત હસ્તલિખિત પુસ્તકોની શોધનો રીપોર્ટ. ૧૮૭૨-૭૩.

૧૦-ગોલિનના સંમહની એક નવાની ટીકાની પ્રતિ. (પ્રતિ અંથવા પંત્ર, ૬૩૮.) આ પ્રતિ તદ્દન વેપરવાઈથી લલેલી છે અને તે મને કોઈ રીતે ઉપયોગી નિવડી નથી. સંવત્ ૧૭૫૯.

ટિપ્પણમાં મેં માત્ર સંદેહવિપીપથિમાંથી ઉતારા આપ્યા છે. પહેલાં મેં સુવોધિકા અને કિરણાવલી-માંથી ઉતારા કર્યા હતા, પરંતુ મને સંદેહવિપીપથિ મઝવાથી, સૌથી પ્રાચીન ટીકાકારના શબ્દોમાત્ર સમંજુતી આપવાનું મેં વધારે યોગ્ય ધાર્યું છે.

કલ્પસૂત્રનું એક અંગ્રેજી માપાન્તર ૨૦ ડાં. સ્ત્રી-વન્તને પ્રકટ કર્યું છે. જૈનમંથોમાં આજ સુધીમાં પ્રમાણ ગણાતું માત્ર આ એક જ પુસ્તક પ્રકટ થયું છે. પરંતુ મારે દિલ્હીની સાથે લાવ્યું પડે છે કે તે માત્ર સંધર્થે તૈયાર પટલુંજ નહીં પણ તે અવિશ્વસનીય પણ છે. જો કે એ એક માપાન્તર ગણાય છે

૧ 'કલ્પસૂત્ર અને નક્ષત્ર' આ બંને મંથો જૈન ધર્મ અને વારસાન વિષયના છે, અને માપથી માપામાંથી માપાન્તર કરેલા છે. આમાં એક પરિશિષ્ટ આપવામાં આવ્યું છે, અને તેની અંદર મૂળપ્રતી માપા ઉપર વિવેચન કરેલું છે. માપાન્તરકર્તા રે. એ. સ્ટ્રીવન્સન, ડી. ડી. પી. આર. એ. પટ્ટન ૧.

પરંતુ વાસ્તવિકતા તે માપાન્તર નથી, ઇટલુંજ નહીં પણ ઘણે ભાગે તે વેકાલ્ઝીથી ઘસડી કાઢેલો એક સારાંશ માત્ર છે. આનો પ્રથમનો ભાગ માપાન્તરમાં, સામાચારીના વિશેષ કઠિન ભાગ કરતાં સાધારણ-તયા વધારે વિશ્વસનીય રીતે ઉતારવામાં આવ્યો છે. કારણ કે એ પ્રકરણમાં ડૉ. સ્ટીવન્સન કોઈ પણ મહત્ત્વનો ભાગ મૂકી દેતા નથી. મૂઠમાં જ્યાં જ્યાં ફિટ ભાગો આવે છે ત્યાં ત્યાં તેઓ માપાન્તર કરવાને વહેલે માત્ર વિવરણ કરે છે. પરંતુ સામાચારીમાં તો નિરાઠ્ઠીજ વાવત દૃષ્ટિગોચર ચાય છે. ત્યાં તો તેમણે યા તો મોટા ભાગેને ઉઢાવીજ દીધા છે, અથવા તો સંક્ષિપ્ત રૂપમાં મૂકી દીધા છે. એમાં અર્ધની સ્પષ્ટતા તરફ માથેજ ધ્યાન આપવામાં આવ્યું છે.^૧

વાસ્તવિકતા ડૉ. સ્ટીવન્સનના પુસ્તકને, આજ-કાલ પ્રકટ થતા પ્રાકૃત-સંસ્કૃત માપાના મંથો તથા તેના માપાન્તરોની પદ્ધતિ એ તપાસવું તે તેમને શ્રેષ્ઠ અભ્યાસ કરવા જેવું છે. કારણ કે ત્રીસ વર્ષ પહેલાંનો તે સમય પૌર્વાત્ય સાહિત્યના અધ્યયનની ચાલ્યાવસ્થાનો પ્રારંભિક કાલ હતો. અને માપાવિ-જ્ઞાનની યથાર્થતાના સંઘર્ષમાં જેટલો વિચાર અત્યારે જરૂરમાં આવે છે તેટલો તે વસ્તુ કરવામાં આવતો ન હતો. ડૉ. સ્ટીવન્સન પોતાના સંશોધન-ક્ષેત્રમાં હેલુ કરનાર હતા અને તેમણે મહાનું ઉત્સાહ અને શ્રદ્ધાશ્રાન્ત ઉમંગથી પોતાના કાર્યક્ષેત્રમાં ઉષ્મ કર્યો હતો. પરંતુ દિલ્હીની પામવા જેવું ઇટલુંજ છે કે ડૉ. સ્ટીવન્સન પોતાના માપાવિજ્ઞાનના અભ્યાસના અમાવ-ધી* તેમજ તેમનું માનસિક વલણ ઈશ્વરવિષયક જ્ઞાન

૧ જા ટેકાને ટિપ્પણમાં ડૉ. એકોર્બી સામાચારી-પ્રાંના એક સૂત્રનું, ડૉ. સ્ટીવન્સને કરેલા તેજ સૂત્રના માપાન્તર સાથે, પોતાનું માપાન્તર તુલનાર્થે મૂકેલું છે. પરંતુ તે આ વચ્ચેના અનુપમેની હોવાથી, અહીં આપ્યું નથી.

અનુવાદક.

* ડૉ. સ્ટીવન્સનનું પ્રાકૃતમાપા સંબંધી જ્ઞાન કેટલું ચતુરં પર્વોદિત હતું, તે આખે તેમને કરેલી માગધીમાપા ઉપરની ટીકા ઉપરથી સહેલાઈથી સમજી શકીએ છીએ. ઇ. ૧૪૧ ઉપર

તરફ ફુકેલું હોવાથી તેઓ પોતાની મહેનતના પ્રમા-પર્મા યોગ્ય પરિણામો ઉપજાવી શક્યા નથી. હું માત્ર યથાર્થિયાતેને સંક્ષેપમાં લઈને જ પ્રાચ્યવિદ્યાના અભ્યાસિઓને તેમના કલ્પસૂત્રને ન વાપરવાની સૂ-ચના કરું છું.

કલ્પસૂત્રની પ્રસ્તુત આવૃત્તિ નીચે જણાવેલી પ્ર-તિઓ ઉપરથી તૈયાર કરવામાં આવી છે.

A સંજ્ઞાવાઢી પ્રતિ મારા કરેલા સંગ્રહમાં સર્વોત્તમ છે. તેના ૧૧૨ પાનાં છે, અને તે ચાંદીની શાહીથી લેખેલી છે. આનાં ઘણાં સરા પાનાં કમથી કાઢ્યા અને રાતા રંગથી રંગેલાં છે, એકેક પાના ઉપર છ છ લીટિ-ઓ છે. મૂઠ મંથમાં ઘણાં ચિત્રો ઓપલાં છે. તેના હાંસિઆમાં શ્રવણસ્થાનના શિરપશાક્ષના નિયમમ-માણે વેલ-બુટિઓ કોતરેલી છે. (આવી જાતની હસ્તલિખિત પ્રતિઓ જૈનો પાંચે ઘણાં જોવામાં આવે છે.) તેના લાંબા પુષ્પિકાલેખમાં, તેની લેખાંધાની સાલ વિક્રમ સંવત્ ૧૪૮૪ (સન ૧૪૨૭) આપેલી છે. એ પ્રતિમાં સૂત્ર અગર વાચનાના વિ-

તેઓ લેખે છે કે 'તિલ્લા' અને 'માહણી' આ વચે પ્રથમના રૂપો છે; ઇ. ૧૪૨ ઉપર તેઓ 'કલિદલિ' અને 'સમગોતિ' ની અનુક્રમે 'કુલમિસ' અને 'શમણમિસ'ના રૂપમાં ઓઢેળો કરે છે અને 'પ્રાક્ષિતા' કે 'પ્રશિતા'ને લેખે છે. આટલું કથન તેમના પ્રાકૃતના જ્ઞાનના સંબંધમાં થયે છે. સંસ્કૃતભાષા સંબંધી પણ તેમનું જ્ઞાન કેરેલા કેચા દરજાનું હતું તે કલ્પલ-તામાંના (ઇ. ૧૨) એક સંસ્કૃત પદ્યનાં તેમણે કરેલા અંગ્રેજી માપાન્તરને, આગળ ઇ. ૧૨ ઉપર ઓપેલા તેજ પદ્યનાં મારા માપાન્તર સાથે સરલાવવાથી જણાઈ આવશે. ડૉ. સ્ટીવન્સનનું માપાન્તર નીચે મુજબ છે.— 'હવે હું કલ્પસૂત્રના કતાંનો ઉલ્લેખ કરું છું. તેમનું નામ શ્રીમદ્રવાલુચ્ચામી હતું. તે એક વિચક્ષણ શુદ્ધ હતા. તેઓ પોતાના વિવચની (ટિપ્પણ, મૂળ શબ્દ-પૂર્વ) વીધે જ્ઞાતાના જાળનાર હતા, અને વિચક્ષણ આપ્યા હતા. અહીં જ્ઞાન સૂચવાતાં મંથો—

દશાધુતસ્કન્ધ, અદમાવ્યયન, અને પ્રત્યાલ્યાનપ્રવાદ કે જેમાં તેમણે જવ શાખાઓ જોઈ—તેને, માર્ગદર્શક તરીકે રાક્ષીને તેમને આ કલ્પસૂત્ર ધનાયું હતું.

મામો વતાવેલા નથી. તેમાં આપેલું સ્વપ્નવર્ણન પ્રસિદ્ધ વર્ણનથી ભિન્ન જણાય છે. અને સ્પષ્ટરીતેજ તે અસલી હોય તેમ લાગતું નથી. કારણ કે આ સ્વપ્ન-વર્ણ-નના પ્રારંભમાં સાધારણરિતે મૂકવામાં આવતું યં.૨૦૦ નું ચિન્હ અહીં મૂકેલું નથી. ?

[A સંજ્ઞાવાળી પ્રતિનું ચળેન કર્યા બાદ, ડૉ. જે-ફોર્સી, અન્ય અત્ય મહત્વની પ્રતિઓ—કે જેમાંની કેટલીકને તેમણે પરસ્પર મેલવી હતી અને કેટલીકને માત્ર તપાસીજ હતી તેનાં નામો અને વર્ણનો આપે છે. પરંતુ, તે આ પત્રની દૃષ્ટિએ અનુપયોગી હોવા થી, અહીં આપ્યો નથી. અનુવાદક.]

અનુવૃત્તિ.

આ સંપૂર્ણ ઉપોદ્યાતમાં સર્વેત્ર મેં શ્વેતાંવર સંપ્રદાય-નોજ આધાર લીધો છે. દિગંવરોની પળ પોતાની સાંપ્રદાયિક માન્યતા છે, અને તે શ્વેતાંવર સંપ્રદાયથી કેટલીક પરંતુ અગત્યની બાષતોમાં ભિન્નતા રાખે છે. આ સંપ્રદાયની માન્યતાની માહિતી મેં, ડૉ. બુલ્હેરે ધાંચવા આપેલી એક આધુનિક ગુર્વાલ્લી ઉપરથી મેલવી છે. તે જય-પુરમાં, તેજ શહેરની ભાષામાં રુલાયેલી છે. ૫ ગુર્વાલ્લીમાં ધળી પ્રાકૃત ગાથાઓ સમજાવવામાં આવી છે. અને તે ગાથાઓની પ્રાકૃતભાષા ધૌરસેની સાથે આશ્ચર્યજનક મઠ્ઠતાપણું ધરાવે છે. આ ગુર્વાલ્લીમાં બે મદ્રવાહુનો ઉલ્લેખ છે. પહેલા મદ્રવાહુ, જે અંતિમ શ્રતકેવલી હતા, તે વીર નિર્વાળના ૧૬૨ મા વર્ષમાં ગુજરી ગયા હતા. અને વીજા મદ્રવાહુ જે સ્યવિર કહેવાતા હતા, તેમની મિતિ વી. સં. ૪૯૨—૫૧૧ આપેલી છે. તેઓ યશોમદ્રના અંતેવાસી હતા. આ યશોમદ્રના ગુરુનું નામ સુમદ્ર હતું અને તેઓ (વી. સં. ૪૬૮—૪૭૪ માં) વિચમાન હતા. સુમદ્રના અસ્તિત્વના વીજા વર્ષમાં અર્થાત્ વી. સં. ૪૭૦ માં વિક્રમનો જન્મ થયો હોતો. આ હકિકતને ૫ ગુર્વા-

લ્લીમાં ઉદ્ધૃત કરેલી. અર્ધી ગાથા દ્વારા પુષ્ટિ મળે છે:—

સત્તરિ ચતુસદશુતો

તિળ કાલા વિક્રમો હવદ જમ્મો ।

આ ટેકાળે ૫ ધ્યાનમાં રાખતું જોઈએ કે વિક્રમના સંવત્સરી શરુઆત તેના જન્મથી થતી નથી પરંતુ તેના રાજ્યારોહણના સમયથી અર્થાત્ તેના આયુષ્યના ૧૮ મા વર્ષથી થાય છે. આ હિસાબ પ્રમાણે ૫ ગુર્વાલ્લીમાં, વીર નિર્વાળનું ૪૯૨ મું વર્ષ, કે જેમાં મદ્રવાહુની કારકીર્દીની શરુઆત થાય છે, તને વિક્રમ સંવત્ ૪ ની સાથે સરલાવવામાં આવેલું છે. વળી તેની અંદર વીજા મદ્રવાહુથી માંડીને સંવત્ ૧૮૪૦ સુધીના સ્થવિરોની અનવરત નોંધ આપવામાં આવી છે. અને તે સ્તરી પરંપરાના આધારે મોટા વેલી હોય તેમ દેખાય છે.

આ ગુર્વાલ્લીની અનુસાર પુષ્પદંત (સમય—વી. સં. ૬૩૩ થી ૬૮૩) પછી સપ્તઞ્જા ઝંજો નષ્ટ થઈ ગયાં હતાં. તેમણે સમગ્ર પવિત્ર પ્રવચન પુસ્તકોમાં રુલાયું હતું. તેમના અવસાનનું વર્ષ જે વી. સં. ૬૮૩ છે, તેને પણ વિક્રમના જન્મ વર્ષ તરીકે મતાવવામાં આવ્યું છે.

મદ્રવાહુના સંબંધમાં દિગંવર પરંપરા મોટે ઝુજો Lewis Rice, મદ્રવાહુ અને શ્વળ વેલ્ગોલ; ફિટિ. ઇન્ટિ. ૩. ૫૦ ૧૫૩. કર્ણાટકની દિગમ્બર પંપરામાં મદ્રવાહુને ઉત્તરહિંદુસ્થાનમાંથી સ્વદેશ છોટી પરદેશ જતા સંપના નેતા તરીકે જણાવ્યા છે; અને પાટલીપુત્રના રાજા ચન્દ્રગુપ્તને, તેમાં, તેમના એક વીક્ષિત શિષ્ય તરીકે જણાવ્યો છે.

૧ ઉપરોક્ત કપ્પનાનુસાર મદ્રાવીર અને વિક્રમના સંવત્સરી વચ્ચે ૪૮૮ વર્ષનું અંતર પડે છે. અને તેથી મદ્રાવીર નિર્વાળનો સમય દ. સ. પૂર્વે ૫૪૫ માં આવે છે, આ દિવાસે આ સાલ અને છોલેંગની કાલગણનાનુસાર નિર્ણય કરેલી મુદ્ર-નિર્વાળની સાલની વચ્ચે માંચ થે જ પડેનો ફરક રહે છે.



જૈનધર્મનું અધ્યયન.

[લેક્ચર—શ્રીયુત સી. વી. રાજવાડે, એમ્. એ. સી. એસ. સી. પ્રોફેસર ઑફ પાલી, ચરોડા કૉલેજ.]

પ્રો. વેવર, ચુલ્હર, જેકોબી, હૉર્નલ, માળ્ડારકર, હ્યુમન, રાઈસ, ગેરિનૉટ વિગેરે વિદ્વાનોએ જૈનધર્મના સંવેધમાં અંતઃકરણપૂર્વક અયામ પરિશ્રમ કરી અનેક મહત્ત્વની શોધો પ્રકટ કરેલી હોવા છતાં, ભારતવર્ષીય વિદ્વાનોએ હજી સુધી એ ધર્મના અભ્યાસ તરફ પુરતું ધ્યાન આપ્યું નથી. પ્રાચ્યવિદ્યા-કળા-સાહિત્યના સંશોધનના પ્રારંભ કાળમાં, કદાચિત્ જૈનસાધુઓની ઉદાસીનતાને લીધે, તથા, હસ્તલિખિત પુસ્તકોમાં છુપાણું પોતાના ધર્મનું પવિત્ર જ્ઞાન જૈનેતરોને આપવામાં તેઓની નાસુચી હોવાને લીધે, સદ્વિષયક અધ્યયનમાં વિદ્વાનોને પ્રેરણા થઈ નહીં હોય. પણ તો, વિદ્વાનોનો અનુરાગ બૌદ્ધધર્મના અભ્યાસમાં વધતો ગયેલો હોવાથી કેટલેક અંશે, તેઓની ધર્મવિષયક અભ્યાસમાં આ એક મહત્ત્વની યાત્રા તરફ ઉપેક્ષા થઈ ગઈ હતી. વસ્તુતઃ, પ્રારંભમાં વિદ્વાનોના મગજ ઉપર બૌદ્ધધર્મની પટલી તો પ્રવલ્લ સત્તા ઝામી ગઈ હતી કે તેઓ જૈનધર્મને બૌદ્ધધર્મની એક શાखा તરીકે જ ગણાવવા લાગ્યા હતાં, પરંતુ, હવે તેઓની દૃષ્ટિ-મર્યાદાને આચ્છાદિત કરનારાં પડ્યો નષ્ટ થવા માંડ્યાં છે અને તેથી જૈનધર્મ પૂર્વના ધર્મોમાં પોતાનું સ્વતંત્ર સ્થાન પ્રાપ્ત કરતો જાય છે. જૈનસમાજ પણ સુસ્તીમાંથી જાગ્રત થતો જાય છે. અનેક નિયંત્રકાલિક અને સામયિક પવાદિ પ્રકટ થતાં દૃષ્ટિગોચર થાય છે. સાધુઓને પણ પોતાની જવાબદારીનું માન થતું હોય તેમ જણાય છે. કોમના ધનિકવર્ગ તરફથી મઠની ઉદારતાના આશ્રિત બનેલાં પરોપકારી મંઠલો દિવસે દિવસે વિશેષ રૂપમાં જૈન ગ્રંથો પ્રકટ કરતાં જાય છે. જૈનધર્મ અને સાહિત્યવિષયના અનેક

લઘુ ગ્રંથો, સાર ગ્રંથો, સ્થૂળવર્ણનાત્મક ગ્રંથો, રહસ્યો-દ્વારકાગ્રંથો (Keys=કુચીઓ) શબ્દકોશો, હયા-દિ ભારતવર્ષના વિદ્વાનો દ્વારા સંપાદિત થઈ, પ્રકાશિત થતા જાય છે. અને આ સર્વે ઉપરાંત, દેશી ભાષામાં પણ પ્રતિવર્ષ મોટા પ્રમાણમાં જૈનસાહિત્ય બહાર પડતું જાય છે.

આમ હોવા છતાં હજી ઘણું કરવાનું બાકી છે. જૈનધર્મ તે માત્ર જૈનોને જ નહીં, પરંતુ તેમના સિદ્ધાંત પ્રાચ્યસંશોધનના પ્રત્યેક વિદ્યાર્થી અને જ્ઞાસ કરીને જેઓ પૌર્વાત્ય દેશોના ધર્મોના તુલનાત્મક અભ્યાસમાં રસ લેતા હોય તેમને તહીન કરી નાંચે એવો રસિક વિષય છે.

જૈન-સાહિત્યની અર્વાચીન સંશોધન પદ્ધતિ અનુસાર અને ગુણદોષની વિવેક દૃષ્ટિએ અભ્યાસ થવાની વધુ આવશ્યકતા છે. આ વિષયના નિષ્ણાત વિદ્વાનો ભણે જગાવે છે કે આવી રીતે તુલનાત્મક પદ્ધતિએ તેનો અભ્યાસ થવાથી હિંદુધર્મના પ્રાચીન ઇતિહાસના સંવેધમાં અત્યાર સુધીમાં અજ્ઞાત રહેલી ધર્મીક હકિકતો પ્રકટ થશે, અને ઇતિહાસિક કાલની માહિતી વગરની ધર્મીક જ્ઞાતી જગ્યાઓ પૂર્ણ થશે. આવી રીતે, ઇતિહાસ-પ્રેમી, તેમજ આર્યાવતના પ્રાચીન ધર્મોના અને તત્ત્વજ્ઞાનના અભ્યાસીને જૈન-સાહિત્ય એક તદ્દન નવું અને અજાણેડાણું વિસ્તૃત ક્ષેત્ર છે, પરંતુ વર્તમાનમાં જૈનધર્મના અભ્યાસીને-કે જે નિષ્પક્ષપાતી અને સમવર્ણી મનથી એ વિષયનો અભ્યાસ કરવા માંગતો હોય, તેને પોતાના કાર્યમાં કેટલીક મુશ્કેલિઓ નડે છે. પ્રથમ અને પ્રધાન મુશ્કેલી એ છે કે યોગ્ય રીતે સંપાદન કરેલા મૂળ

અને પ્રામાણિક ગ્રંથોનો અત્યાર અભાવ છે. પૃથક્કરણ તો સુવિજ્ઞાત છે કે જૈનોના પવિત્ર ગ્રંથોની માપા અર્ધમાગધીના નામે ઓઢસાતી પ્રાકૃત છે. આ માપા અત્યારે ઘણા જૈનસાધુઓ પળ બરાબર સમજતા નથી. કારણ કે જ્યારે તેઓ તે ગ્રંથોના અર્થને સમજાવવાનો પ્રસંગ આવે છે ત્યારે તેઓ પળ મૂઝ સાથે આવેલા સંક્રુત છાયા અથવા ટીકા ઉપરથી જ પોતાનું કામ ચલાવે છે. આવી પદ્ધતિનું વિશેષ અનુસરણ થવાને લીધે મૂઝ માપા—પ્રાકૃતમાપાના અધ્યયનની ઉપેક્ષા થઈ છે, અને પરિણામે ઘણીક મૂલો અને અસંગતિઓ સ્વાભાવિકરીતે તે માપામાં દાખલ થઈ ગઈ છે. ઘણી હસ્તલિખિત પ્રતિઓ શુદ્ધ પાઠાન્તરોની દૃષ્ટિએ તો નિરાશાજનક સ્થિતિવાળી જ જોવામાં આવે છે. તેથી જૈનસાહિત્યના વ્યાસંગિઓએ પ્રથમ તો વિવિધ પુસ્તકાલયોમાં સંગ્રહિત સઘળી પ્રતિઓ એકત્ર કરી, રૂઢ્ધનિરીક્ષણપૂર્વક તેને પરસ્પર મેળવવાનું કાર્ય હાથ ધરવું જોઈએ. ત્યાર પછી પાઠી-ટેક્સ્ટ સોસાઈટીએ છપાવેલી યોદ્ધ ગ્રંથોની આવૃત્તિઓની પદ્ધતિ ઉપર જૈનોના પવિત્ર ગ્રંથોની વિશ્વાસ-પાત્ર આવૃત્તિઓ તૈયાર કરવી જોઈએ. અલગત, આ કાર્ય પૂર્ણ જ ત્રાસદાયક અને શ્રમસાધ્ય છે. પરંતુ જ્યાં સુધી આ કાર્ય થાય નહીં ત્યાં સુધી એક પગલું પણ આગલ વધવાની આશા રાહી શકીએ નહીં.

આ કાર્ય એકાદ વ્યક્તિથી થાય તેવું નથી. પણ તેમાં વિવિધ મંડલો અને સંસ્થાઓની સહકારિતાની જરૂર છે. વર્તમાનમાં આ દિશામાં જે કેટલાક પ્રયત્નો થઈ રહ્યા છે તેમાં તો માત્ર નિરાશાજનક બેવડાપણું જ જોવામાં આવે છે. લગભગ સઘળી સંસ્થાઓ ઉત્તરાધ્યયનસૂત્ર અને કલ્પસૂત્ર જેવા અતિ-શય લોકપ્રિય થયેલા મૂઝમંથ્રો છપાવે છે. પરંતુ તેમના જેટલાજ મહત્ત્વના અન્ય ગ્રંથો તદ્દન ઉપેક્ષાપાત્ર બન્યા છે. આ કાર્ય માટે ઉચ્ચ માર્ગ તો એ છે કે આ દિશામાં પ્રયત્ન કરનારી સઘળી સંસ્થાઓએ સંપત્તિ એકત્ર થઈ પ્રામાણિક પદ્ધતિએ મૂઝ મંથ્રો

તૈયાર કરવાનું કામ ઉપાડવું જોઈએ. મારું માનવું છે કે આરાના 'સેન્ટ્રલ જૈન પબ્લિકિંગ હાઉસ' જેવા મંડલને આ પ્રકારનું સહકારી કાર્ય ઉપાડવું કઠણ પડે તેમ નથી. આ ઉપરાંત, હાલમાં છપાતા સઘળા ગ્રંથો પોથી સાઈદમાં—(પત્રાકોર) છપાય છે અને તેથી તેનાં પાનાં છુટાં રહેતાં હોવાથી તેનો ઉપયોગ કરતી વ્યક્તિ વિચારિઓને ઘણીજ અડચણ પડે છે. વઢી કેટલાક સંપાદકો તો પોતાનું કતેવ્ય એટલે સુધી મૂલી જતા (મૂલી નથી જતા પણ જાણતા જ નથી) એમ કહેવું વધારે ઉચિત છે.—મુનિ જિનવિજય) હોય તેમ જણાય છે કે ગ્રંથમાં આવતાં અવતરણોને જુદા પાડવા માટે નિશાની સંરહી પણ કરતા નથી.

ઉપર નિર્દેશેલું કાર્ય જ્યારે અર્વાચીન પદ્ધતિ અનુસાર યોગ્યરીતે પૂર્ણ થશે—એટલે કે જ્યારે મૂઝમંથ્રોમાં, પ્રકરણો અને સૂત્રોના આકારમાં જુદા જુદા સ્પષ્ટ વિભાગો પાડવામાં આવશે, તેમાં આવતાં અવતરણોને ઓઢસાવવામાં આવશે, અનુગમનિઓને અન્વેષણ કરવામાં આવશે, અનુક્રમણિકાઓ અને સૂચિપત્રો તૈયાર કરવામાં આવશે, ત્યારબાદ અર્વાચીન વિવેચનશાસ્ત્રની પદ્ધતિના નિયમોની સહાયતા પૂર્વક આ સાહિત્યની તપાસ માટે યોગ્ય સમય આવશે ગંજાશે. તથા સાહિત્યમાંથી જુદું સાહિત્ય સંભાળપૂર્વક તારવવું પડશે. વિવિધ ગ્રંથોની વર્ગીકરણ ત્યાં સુધી સમયનિર્ણય કરવો પડશે, અને તેની શુદ્ધતા યા નિર્દોષતા તપાસી તપાસીને જોવી પડશે. આમ કરતી વ્યક્તિ સ્વાભાવિકરીતે ચર્ચાપાત્ર મુદ્દાઓના સંબંધમાં ઝહાપોહ કરવા માટે દૂટ રહેવી જોઈએ, અને તે ઉપર પ્રામાણિક મતભેદ પ્રકટ કરવાની સ્વતંત્રતા હોવી જોઈએ. અત્યારે પ્રાચ્ય-વિશ્વાવિષયક વિવેચનશાસ્ત્રના બે મિશ્ર સંપ્રદાયો નજરે પડે છે. એક પક્ષ મૂઝમંથ્રોને જેટલા બને જેટલા પુરાતનકાલના વતાવવા પ્રયત્ન કરે છે, અને બીજો પક્ષ તેને યેન કેન પ્રકારેન કાર્દસ્તના પછીનાં ફોઈ એક કાલમાગમાં—અર્થાત્ અર્વાચીન સમયમાં

તેથી લાંબા પ્રયત્નશીલ દેશાય છે. કેટલાક વઢી
પવા પળ લોકો છે, જેમનાં મગજ પુરાણપ્રિયતાના
વિચારોથી અતિશય સંકુચિત થઈ જોવાય છે.
અને તેથી પ્રાચીન ધર્મોમાં એક પળ મૂલ યાં દોષ
વતાવવામાં અધિ છે તો તેઓ સ્વયં ચીઢાઈ જાય છે.
તેમનું પમ માનવું હોય છે કે મૂલ ધર્મના કોઈ પળ
લિખિત અર્થ યા વિચારના સંબંધમાં સ્વતંત્ર ચર્ચા વિ-
લગુલ કરી શકાયજ નહીં. પરંતુ આ મત અત્યારે
ટકી શકે તેમ નથી. છતાં પળ ઇટું તો જરૂર
યાદ રાખવું જોઈએ કે પુરાણપ્રિયતાના પળ ઘળાક
વપયોગો છે. તે દ્વારા આપળને પુરાતન પરંપરાઓનો
પરિચય મળે છે અને ઘળીક વલતે અન્ય સાધનોના
અભાવે તેજ માત્ર આપળને માર્ગદર્શક હોય છે.
જો કે પરંપરાઓની પળ મંથીરપણે પરીક્ષા તો કરવીજ
જોઈએ; પરંતુ તેનો સર્વથા સ્થાગ કરવો પળ કોઈ
રિતિ ન્યાય નથીજ. અને આ વાચતમાં સાધુવર્ગજ
લાસ મદદ કરવાની છે. તેણે પોતાની હમિશની
સુપકીનો સ્થાગ કરી, પોતાની પાસે જે પરંપરાગત
મોટો માહિતિઓનો મંજોલ હોય તે ઉપાસકો સમક્ષ
રજુ કરવો જોઈએ. હવે તેઓને એવો મય રાસવાની
જરૂર નથી કે આમ કરવાથી કદાચિત્ તેઓ પોતાના
ધર્મને જોલમમાં નાલી દેશે. કારણ કે સંતાડી રાસ-
વાથી કદાપિ સત્યની વૃદ્ધિ થઈ શકતી નથી.

પળ આ વધી વ્યવસ્થા કરવા અને જૈનધર્મના
અભ્યાસને સંગીન પાયા ઉપર લાવી, મુકવા માટે
એક ઉસાહી અને શક્તિશાલી વિદ્વન્મંડલે આગલ
આવવું જોઈએ; અને પોતાના દુદતામરેલા કામ દ્વારા
જગતને વતાવવું જોઈએ કે આજ સુધીમાં શોધાઈલી
અન્ય જ્ઞાનશાલાઓ જેવી આ પળ એક શાલા છે,
અને તે વીજી વધી શાલાઓથી સેશ માત્ર પળ મહ-
ત્ત્વમાં ઉતરે તેવી નથી. સુમાયે પવિત્ર આગમોની
માપામાં નિપુણ થવાની એક મુસકેલી તો હવે મુય-
દેના વિશ્વવિદ્યાલય પોતાના અભ્યાસક્રમમાં
અર્ધમાગધીને સ્થાન આપી દૂર કરી છે. હવે

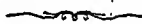
તો જૈન વિદ્યાર્થીઓની એ ફરજ છે કે તેમણે
અંતઃકરણપર્વક આ માપાનો અભ્યાસ સ્વીકારી
લેવો જોઈએ, અને જૈનકોમના ધનિકવર્ગો આ કાર્ય-
માં વિશેષ ઉત્તેજન આપવા, દરેક પ્રકારની, તેમને
મદદ કરવી જોઈએ. ને સામંજ્યું છે કે એક જૈન
સંસ્થા જૈન-ધર્મના વિદ્યાર્થીઓને જે મદદ જોઈએ તે
સમઢી આપવા તૈયાર છે; તેથી આ વિષયના ઉસાહી
વિદ્યાર્થીઓ આગલ આવી આ મહાન કાર્યના પ્રથમ
પલ્લો દૂક સમયમાં વતાવશે એ આપળે આશા
રાલી છે. ૯



જૈન આગમ સાહિત્યની મૂલ માપા કરે ?

અથવા

અર્ધમાગધી ઇટલે શું ?



[લેલક—શ્રીયુત પં. યેચરવાસ જીવરણ,
ન્યાય-ન્યાયકરણતીર્થ.]

જૈન ધર્મનું પ્રાચીન સાહિત્ય, જે અંગ, ઉપાંગ,
નિરુક્તિ, માપ્ય અને પુર્ણ વિગેરેના રૂપમાં અસારે
ઉપલબ્ધ થાય છે, તે વધમાં વિશેષતઃ પ્રાચીન ગ-
ળાંતું અંગસાહિત્ય કરે. માપામાં લલાયું છે ? એ
પ્રથમ અવાધિ વિવાદાસ્પદ રહ્યો છે. જો ધારે તો
મારતવર્ષના માપાશાસ્ત્રિઓ એ પ્રશ્નને એક પંક્તમાં પળ
સમાહિત કરી શકે, પરંતુ તે મહાશયો પાસે એવા
અનેક પ્રશ્નો ઉપસ્થિત રહેલા હોવાથી અત્યાર સુધી
આ પ્રશ્નને વગર સત્કારે જ ઉમા રહેવું પડ્યું છે.

• The study of Jainism ના શિરોલેખ નહે
આ લેલ, લેલકે મૂલ અંગેઓમાં, વરોડા કોલેજના ગયા
કેશુશારી માલના મેગેડીનમાં, પ્રગટ કરાવ્યો હતો. પરંતુ
મુલ્ય કરીને જૈન યમાગમાં વંચાવવા માટે જ આ લેલ
રુલાઈલી હોવાથી લેલકની લાસ રુચાનુસાર, અહીં એનો
મુનરાવી અનુવાદ પ્રકટ કરવામાં આવે છે. —સપાદક.

આ યુગે પ્રત્યેક પ્રાચીન સાહિત્યની भाषानો इतिहास निर्णीत થई ते ते साहित्यना आरंभ-सम-यो पण लगभग अवधारवामां आव्या छे, तेवा प्रसंगे जैन धर्मेना प्राचीन साहित्यनी शुरुआतने लगतो वा तेमां योजाएल मूळ भाषा संबंधी इतिहास पण निर्णीत थवो अत्यंत आवश्यक छे.

संसारनी प्रत्येक प्रजाने वारसामां मळेल तत्त्व-ज्ञान वा आचारपद्धतिनी सत्यतानो मूळ पावो ते ते प्रजाना मूळ साहित्यना इतिहास उपर ज बंधाएल छे; तेम जैन प्रजाना वारसा उत्तर तत्त्वज्ञान वा आचारशैलीनी तथ्यता, ते प्रजाना मूळ साहित्यना इतिहास उपर अवलंबे, ए कार्यकारणना अस्खलित नियमने अनुसरतुं ज छे. आटली प्रस्तावना करी हुं मारा प्रश्ननी चर्चानी शुरुआत करीश. कहेवाय छे के,

‘ अद्धमागहाए भासाए भासति अरिहा ’

एइले ‘ अर्हन् (वर्तमान शासनाधीश श्रीज्ञात-पुत्र-महावीर पण) अर्धमागधी भाषा द्वारा बोले छे ’ ए उक्ति उपरांत, आ पण एक धीजी उक्ति छे के,

‘ अत्थं भासइ अरिहा

सुचं गंधंति गणहरा निजणं ’

अर्थात् ‘ अर्हन् अर्थेनि-भाषेने-तत्त्वज्ञानना मूळ मुद्दाओने-भाषे छे अने गणधरो से मुद्दाओने (लोकप्रामाण्य करवा माटे) निपणता पूर्वक गठि छे के गुंथे छे. ’ आ वने उक्तिअधी एम जाणी सकाय छे के, शासनाधीश दीर्घतपस्वी महावीरनी सार्वजनिक भाषा अर्धमागधी होखी जेईए, अने एउपरधी ज एवी परंपरा चाली आवि छे के, जैन धर्मेना अंग-साहित्यनी (जे अत्यारे विद्यमान छे तेनी पण) मूळ भाषा मागधी वा अर्धमागधी छे. पण आ परंपराने, अत्यारे उपलब्ध भता अंग-साहित्य तरफ दृष्टि-

पात करतां तो, हुं इतिवृत्तनी कोटिमां मूक्ततां नीचे-नां कारणोधी अचकाउं छु.

प्रस्तुत चर्चाનું लंबાણ કરતાં પહેલાં મારે જણાવ-તું જરૂરનું છે કે, જેમ સંસ્કૃત, પ્રાકૃત અને પાલી વિશેરેનાં વ્યાકરણો છે તેમ જો અર્ધમાગધીનું પણ એકાદ સાંગોપાંગ વ્યાકરણ હોત તો, મારે આ પ્રશ્ન સાથે અર્ધમાગધીના સ્વરૂપને લગતો બીજો પ્રશ્ન ન જ કરવો પડત.

વ્યાકરણકાર આચાર્યો જેવા કે-વરલુચિ, ચંડ, હેમચંદ્ર, કાત્યાયન, શ્રિવિક્રમ, સિંહરાજ, વાલ્મિકિ, સ્કંધમીધર અને માર્કંડેય વિશેરે પંદિતોએ પોત પોતાના પ્રાકૃત વ્યાકરણમાં પ્રાકૃત, શૌરસેની, માગધી, પૈશાચી અને અપભ્રંશ भाषाओंનાં સ્વરૂપ દર્શાવતો વેળા જો વધાંય અર્ધમાગધી भाषાનું પણ પૂરપૂરું સ્વરૂપ વતાવવા કૃપા કરી હોત તો આપણે તેઓનાં અલંકારની થાત. પણ તે મહાશયો તરફથી તેવો પ્રયત્ન ન થયલ હોવાથી અત્યારે હું ‘ જૈન સાહિત્યની મૂળ भाषा કઈ ? ’ એ પ્રશ્નને ચર્ચાના પ્રસંગ પહેલાં તે સંબંધે ચારણો આવતો ‘ અર્ધમાગધીમયતા ’ કે ‘ માગધીમયતા ’ નો પ્રવાદ ત્યારે જ ચર્ચા શરૂ. ત્યારે પ્રથમ અહીં અર્ધમાગધી અને માગધી भाषાનું પૂરપૂરું સ્વરૂપ ઉપસ્થિત કરી શકું. એ હેતુથી જ પ્રારંભમાં પ્રકૃત ચર્ચાના મૂળરૂપ તે બન્ને भाषाओंના સ્વરૂપની ચર્ચા કરતો ક્રમશઃ મારા અંતિમ દ્વેય સુધી પહોંચવા યથામતિ પ્રયત્ન કરીશ.

આ સ્થળે મારે વાંચકોનું લક્ષ્ય ‘ અર્ધમાગધી ’ શબ્દની વ્યુત્પત્તિ તરફ વિશેષ સંચવાનું છે. કારણ કે તે વ્યુત્પત્તિમાં જ તેનું સ્વરૂપ રહસ્ય છુપાયેલું છે. ‘ અર્ધમાગધી ’ શબ્દ ‘ અર્ધ ’ અને ‘ માગધી ’ શબ્દના એકીકરણથી બનેલો છે, તે વાત છી કોઈ સમઘી શકે તેમ છે. તદ્વત ‘ અર્ધ ’ શબ્દ એક વિશિષ્ટ અર્થને સૂચવતો હોય એમ તેના પહે નિર્ણય ઉપરથી અવગોધી શકાય છે. સાધારણ રીતે ‘ અર્ધ ’ શબ્દ ‘ સગમમ અડધું ’ અને ‘ બરાબર અડધું ’ એ

મને અર્થનો સૂચક છે. જે સમાસમાં તે 'અર્થ' શબ્દ અવ્યયિથી પૂર્વના સ્થાનને શોભાવતો હોય, ત્યાં તે, 'ચરામર અડધા' અર્થને. સૂચવવા સાથે નાન્યતર જાતિમાં રહે છે, અને જે સમાસમાં તે ('અર્થ' શબ્દ) અવ્યયિથી પૂર્વના કે પછીના સ્થાનને અલંકૃત કરતો હોય ત્યાં, તે સાધારણ અર્થને જણાવે છે, અને તે સાથે તેને મરજાતિમાં રહેવું પડે છે. આ દૃષ્ટિકૃત આદિમ વૈયાકરણ પાણિનિજીય પોતાની અટ્ટાષ્ટાધીમાં "અર્થ નંપુંસકમ્ । ૨।૨।૨।" એ સૂત્રમાં અને હેમચંદ્રજીય "સર્વેડશેડર્થે નવા । ૩।૧।૫૪।" એ સૂત્રમાં સ્વપણે જણાવેલી છે. અર્થોત્ 'માગધ્યા અર્થમ્-અર્થમાગધી' એ જ્યુલ્પત્તિથી મનતો અર્થમાગધી શબ્દ એમ સ્વપણે સૂચવે છે કે, જે ભાષામાં ચરામર અડધી માગધી ભાષા અને ચરામર અડધી બીઝી બીજી ભાષાઓ મિશ્રિત થયેલી હોય, તે જ ભાષા અર્થમાગધી શબ્દથી સંબોધી શકાય. જો આપણે શબ્દોનો હિસાબ લગાવીએ તો એમ કહી શકાય કે, જે ભાષામાં સો શબ્દોમાં વચાસ શબ્દો તે માગધી ભાષાના, અને વચાસ શબ્દો બીજી બીજી ભાષાના—પ્રાકૃત, પાલો, સૌરસેની અને પેશાવી વિગેરેના—મિશ્રિત થયેલા હોય તે જ ભાષા 'અર્થમાગધી' શબ્દનો અર્થ ધારણ કરી શકે છે. પરંતુ એમ તો ન જ હોઈ શકે કે, જે (સાહિત્યની) ભાષામાં પ્રકાટ રૂપ માગધી ભાષાનું હોય અને બીજા મધ્યમ રૂપે પ્રાકૃત' કે હત્તર ભાષાનાં હોય તેને અર્થ-માગધીનું નામ પડી શકે.

આ રીતે હું પ્રસિદ્ધ વૈયાકરણોનાં રાજ્ય આપવા ઉપરાંત જ્યુલ્પત્તિ ઉપરથી પણ અર્થમાગધી શબ્દના ઉપર જણાવેલા અર્થને જ સ્થિર કરું છું. અને એ જ અર્થને લક્ષ્યામાં રાહો મારે અહીં સપ્તોત્તરો ચર્ચા કરવાની છે.

સીધુંકર માખિત અર્થને મળખરો જે સૂક્ષ્મ રૂપમાં મુખે છે તે સૂત્રો કઈ ભાષાનું નિચદ્દ હોય છે, તેના માટે જૈન સાહિત્યમાં નીચે પ્રમાણેનો જૂનો ઉલ્લેખ મળી આવે છે:

“પૌરાણમદ્દમાગધ—

માંસાનિયયં હવડ સુત્તં ।”

અર્થોત્ “મળખર માખિત પુરાતન સૂત્ર, અર્થમાગધી ભાષામાં હોય છે.” આમાં આવેલ અર્થમાગધ શબ્દનાં અર્થને સ્ફુટ કરતાં નિશીય-ચૂર્ણિકાર શ્રીજિનદાસ મહત્તરજી જણાવે છે કે—

“મગદ્દવિસયમાંસાનિયયં અદ્દમાગધં; અદ્દયાં અદ્દારસદેસીમાંસાનિયયંતે અદ્દમાગધં”

—નિશીયચૂર્ણિ, લિ. પૃ. ૩૫૨.

અર્થોત્ “મગધદેશની અહમી ભાષામાં નિવેધાં-એલ તે અર્થમાગધ; અથવા અદ્દાર મકારની દેશી ભાષામાં નિયત થયેલ તે અર્થમાગધ.”

મારા વિચાર પ્રમાણે આર્થ શ્રીજિનદાસ મહત્તરજી એ જણાવેલ ઉપરનો અર્થ, મેં સ્થિર કરેલ અર્થથી જુરો હોય એમ જણાતું નથી.

તેઓ જે અદ્દાર મકારની દેશી ભાષામાં નિયત સાત્રને અર્થમાગધનું નામ આપે છે, તે સંબંધે કાંઈ સ-વિશેષ જણાવતા નથી, પટ્ટલે મારાથી એ જાણી શકાતું નથી કે, અહીં તેઓ એ અદ્દાર મકારમાં કઈ કઈ દેશી ભાષાઓની વિવક્ષા કરી છે. તે પણ હું પટ્ટલું તો કહી શકું છું કે, એમ સાહિત્યની મુલ્ય સંબંધ શ્રી મદાધીરની જન્મભૂમિ (મગધદેશ) ની ભાષા સાથે હોવાથી તે અદ્દાર મકારની દેશી ભાષામાં પણ મા-ગધી ભાષાની પ્રવાનતા હોવી જ જોઈએ. વઠી-પધી એ પણ સંગ્રહે છે કે, મગધના નિકટવર્તી બીજા બીજા પ્રાંતોની ભાષાઓનો પણ માગધીને સંપર્ક થયેલ હો-વાને લીધે બીજી બીજી પ્રાંતિક (દેશી) ભાષાઓથી મિશ્રિત પૃથ્વી માગધીને પણ તે મહત્તરજીય અર્થમાગધ કહી હોય.

૧ અહીં હું 'પ્રાકૃત' તથા ગામઝ આપતા 'સાત્રાપ્ત' શબ્દોથી થોડેમંતર સંકલિત અટ્ટમ અષ્ટાધ્યાયમલ તે માગધે નિચદ્દ હું કે જે ભાષાનું વ્યાકરણ સૌ-વેર્ણના પ્રકારનું પડેલાં આવેલું છે.

વ્યાખ્યાથી પણ અહીં જણાવેલ 'અર્ધમાગધી' નો અર્થ સંવાદિત થતો જણાય છે.

૫. જ પ્રકારે મહર્ષિમાર્કંડેય પણ પોતાના 'પ્રાકૃત-સર્વસ્વ' નામના વ્યાકરણમાં જણાવે છે કે—

“શૌરસેન્યા અદૂરત્વાદ્ ઇયમેવાર્ધમાગધી ।”

—પ્રાકૃત સર્વસ્વ, પૃ. ૧૦૩

અર્થાત્ “મગધ દેશ અને શૂરસેન દેશ પાસે પાસે હોવાને લીધે મગધની (માગધી) ભાષાને શૂરસેન દેશની ભાષાનો (શૌરસેનનો) સંપર્ક થયેલ હોવાથી માગધી ભાષાને જ અર્ધમાગધી સમજવાની છે.” શૌરસેની ભાષામાં પ્રાકૃતનું અને પાલીનું કેટલુંક મિશ્રણ રહેતું હોવાથી તેના સંપર્કવાળી માગધી ભાષામાં પણ તે મિશ્રણ સંભવે છે. એટલે માર્કંડેયજીના આ લક્ષણથી પણ ‘માગધ્યા અર્ધમ્’ વાળી વ્યુત્પત્તિને જરા પણ આંધ આવતી હોય તેમ જણાતું નથી.

આટલા ઉપરથી એટલું જ સમજી શકાય છે કે, ગણધરો દ્વારા ગુણાદ્ય અંગ-સાહિત્ય તો મૂળ અર્ધ-માગધી ભાષામાં જ હતું અને તે અર્ધમાગધી ભાષા, બરાબર અડધી માગધી અને અર્ધ અંશમાં વીંછી વીંછી પાલી વિગેરે ભાષાઓથી મિશ્રિત થયેલી હતી. આ હ-ક્રિકત ઉપરનાં પ્રમાણોથી મારા વિચાર પ્રમાણે નિ-ર્વિવાદ જેવી છે.

હવે હું હાલમાં જે જૈન આગમ-સાહિત્ય વિદ્યમાન છે તેની મુખ્ય ભાષા કઈ છે, તે સંબંધમાં સ્ફાપોહ કરવા ઇચ્છું છું.

આ પ્રશ્નને મોરે જે દૃષ્ટિ, વિચારવાનો છે—એક તો વિદ્યમાન અંગસાહિત્યની ઉત્તરોત્તર થયેલ સ્થિતિની દૃષ્ટિ, અને વીજું તેમાં જણાતી ભાષાની દૃષ્ટિ.

જે અંગ-સાહિત્ય અત્યારે વિદ્યમાન છે તે અનેક પરિવર્તનો પામતું-પામતું કદી કદી સ્થિતિઓમયથી પસાર થઈ જાણી પાસે આવેલું છે, તે વાચક ભીષેની હકિકત ઉપરથી જાણી શકાયે.

પરમ શ્રમણ શ્રીમહાવીરનું વર્તન જ એક મહોપદેશ-કની ગૂંજ સોર તેવું હોવાથી અને તેમના તથા તે-

મના શ્રમણોના આચાર એટલા વધા નિવૃત્તિપરાયણ હતા કે જેથી આત્મ-નિષ્ઠ એવા તેમનામાંના કોઈને, ગૃહ તરફથી પ્રાપ્ત થયેલ આત્મજ્ઞાનના સંક્ષિપ્ત પરંતુ મંદીર ઉપદેશાત્મક વાક્ય-સમૂહોને લિપિવદ્ધ કર-વાની જરા પણ અહર હતી નહીં. એટલે તેઓ તે ઉપદેશાત્મક વાક્ય-સમૂહોને પોતાની આત્મજાગૃતિ મોટું જોવાને તેવા કંઠસ્થ રાખતા હતા. અને એ ઉપ-દેશો બહુજ ટુંકા વાક્યોમાં સમાવેલા હોવાથી તે સૂત્ર એવા નામે પ્રસિદ્ધ થયા હતા. અને એ જ કારણથી અત્યારે ઉપલબ્ધ થતા તે સૂત્રોના વિશાળ વિસ્તારનું પણ સૂત્ર એવું જ નામ પ્રસિદ્ધ થઈ રહ્યું છે. અર્થાત્ જે સૂત્ર શબ્દ, તે ગણધર મહાશયોજીના સમયે પોતાની (‘સુચનાત્ સૂત્રમ્’ વાળી) સ્ત્રી વ્યુત્પત્તિને ચુરિતાર્થ કરતો હતો, તે જ સૂત્ર શબ્દ, અત્યારે પોતાની તે વ્યુત્પત્તિને કોરે મુકી, જૈન સંપ્રદાયની રૂઢિને વશ થઈ, પ્રમાણમાં લાંબા શ્લોકો જેટલા ગણાતા (?) શ્લોકોને પણ પોતાના માથમાં સમાવવા લાગ્યો છે.

કહેવાની અહર નથી કે, જ્યાં સુધી ગણધરોનું અનન્તર શિષ્ય એવા સ્વધિર મહાશયોદ્ય તે સંક્ષિપ્ત સૂત્રોને કળસ્થ રાખ્યાં હતાં ત્યાં સુધી તો તેની અર્ધ માગધી જરા પણ પરિવર્તન નહીં પામી હોય. જ્યારે તે સૂત્રો શિષ્ય પરંપરામાં પ્રચાર પામ્યા હશે અને તે શિષ્યપરંપરા મિત્ર મિત્ર દેશોમાં વિહાર કરતી હશે, ત્યારે સંભવ છે કે જરૂર તે સૂત્રોની મૂળ ભાષા—અર્ધમાગધી ભાષા—મિત્ર મિત્ર દેશના સંતોને લીધે, સ્મૃતિપ્રશંને લીધે અને ઉચ્ચારભેદને લીધે પરિવર્તન પામવા લાગી હોય.

વધારે આગળ ન જતાં પરમ શ્રમણ મહાવીરના બીજા સંકાતો જ વાત તરફ લક્ષ્ય કરતાં જણાય છે કે—“જ્યારે આર્ય શ્રીસ્તૂલમ્બ વિદ્યમાન હતા ત્યાં દેશમાં (મગધમાં ?) એક સાથે ઉપરાડના

૧. સુબો સુમન્દરિભાવા.

૨. સુબો-પરિશિષ્ટ-૨ (અષ્ટમ મંડી, શ્લો. ૧૧૩ તથા ૧૧૪, ૧૧૫, ૧૧૬, ૧૧૭, ૧૧૮, ૧૧૯, ૧૨૦, ૧૨૧, ૧૨૨, ૧૨૩, ૧૨૪, ૧૨૫, ૧૨૬, ૧૨૭, ૧૨૮, ૧૨૯, ૧૩૦, ૧૩૧, ૧૩૨, ૧૩૩, ૧૩૪, ૧૩૫, ૧૩૬, ૧૩૭, ૧૩૮, ૧૩૯, ૧૪૦, ૧૪૧, ૧૪૨, ૧૪૩, ૧૪૪, ૧૪૫, ૧૪૬, ૧૪૭, ૧૪૮, ૧૪૯, ૧૫૦, ૧૫૧, ૧૫૨, ૧૫૩, ૧૫૪, ૧૫૫, ૧૫૬, ૧૫૭, ૧૫૮, ૧૫૯, ૧૬૦, ૧૬૧, ૧૬૨, ૧૬૩, ૧૬૪, ૧૬૫, ૧૬૬, ૧૬૭, ૧૬૮, ૧૬૯, ૧૭૦, ૧૭૧, ૧૭૨, ૧૭૩, ૧૭૪, ૧૭૫, ૧૭૬, ૧૭૭, ૧૭૮, ૧૭૯, ૧૮૦, ૧૮૧, ૧૮૨, ૧૮૩, ૧૮૪, ૧૮૫, ૧૮૬, ૧૮૭, ૧૮૮, ૧૮૯, ૧૯૦, ૧૯૧, ૧૯૨, ૧૯૩, ૧૯૪, ૧૯૫, ૧૯૬, ૧૯૭, ૧૯૮, ૧૯૯, ૨૦૦, ૨૦૧, ૨૦૨, ૨૦૩, ૨૦૪, ૨૦૫, ૨૦૬, ૨૦૭, ૨૦૮, ૨૦૯, ૨૧૦, ૨૧૧, ૨૧૨, ૨૧૩, ૨૧૪, ૨૧૫, ૨૧૬, ૨૧૭, ૨૧૮, ૨૧૯, ૨૨૦, ૨૨૧, ૨૨૨, ૨૨૩, ૨૨૪, ૨૨૫, ૨૨૬, ૨૨૭, ૨૨૮, ૨૨૯, ૨૩૦, ૨૩૧, ૨૩૨, ૨૩૩, ૨૩૪, ૨૩૫, ૨૩૬, ૨૩૭, ૨૩૮, ૨૩૯, ૨૪૦, ૨૪૧, ૨૪૨, ૨૪૩, ૨૪૪, ૨૪૫, ૨૪૬, ૨૪૭, ૨૪૮, ૨૪૯, ૨૫૦, ૨૫૧, ૨૫૨, ૨૫૩, ૨૫૪, ૨૫૫, ૨૫૬, ૨૫૭, ૨૫૮, ૨૫૯, ૨૬૦, ૨૬૧, ૨૬૨, ૨૬૩, ૨૬૪, ૨૬૫, ૨૬૬, ૨૬૭, ૨૬૮, ૨૬૯, ૨૭૦, ૨૭૧, ૨૭૨, ૨૭૩, ૨૭૪, ૨૭૫, ૨૭૬, ૨૭૭, ૨૭૮, ૨૭૯, ૨૮૦, ૨૮૧, ૨૮૨, ૨૮૩, ૨૮૪, ૨૮૫, ૨૮૬, ૨૮૭, ૨૮૮, ૨૮૯, ૨૯૦, ૨૯૧, ૨૯૨, ૨૯૩, ૨૯૪, ૨૯૫, ૨૯૬, ૨૯૭, ૨૯૮, ૨૯૯, ૩૦૦, ૩૦૧, ૩૦૨, ૩૦૩, ૩૦૪, ૩૦૫, ૩૦૬, ૩૦૭, ૩૦૮, ૩૦૯, ૩૧૦, ૩૧૧, ૩૧૨, ૩૧૩, ૩૧૪, ૩૧૫, ૩૧૬, ૩૧૭, ૩૧૮, ૩૧૯, ૩૨૦, ૩૨૧, ૩૨૨, ૩૨૩, ૩૨૪, ૩૨૫, ૩૨૬, ૩૨૭, ૩૨૮, ૩૨૯, ૩૩૦, ૩૩૧, ૩૩૨, ૩૩૩, ૩૩૪, ૩૩૫, ૩૩૬, ૩૩૭, ૩૩૮, ૩૩૯, ૩૪૦, ૩૪૧, ૩૪૨, ૩૪૩, ૩૪૪, ૩૪૫, ૩૪૬, ૩૪૭, ૩૪૮, ૩૪૯, ૩૫૦, ૩૫૧, ૩૫૨, ૩૫૩, ૩૫૪, ૩૫૫, ૩૫૬, ૩૫૭, ૩૫૮, ૩૫૯, ૩૬૦, ૩૬૧, ૩૬૨, ૩૬૩, ૩૬૪, ૩૬૫, ૩૬૬, ૩૬૭, ૩૬૮, ૩૬૯, ૩૭૦, ૩૭૧, ૩૭૨, ૩૭૩, ૩૭૪, ૩૭૫, ૩૭૬, ૩૭૭, ૩૭૮, ૩૭૯, ૩૮૦, ૩૮૧, ૩૮૨, ૩૮૩, ૩૮૪, ૩૮૫, ૩૮૬, ૩૮૭, ૩૮૮, ૩૮૯, ૩૯૦, ૩૯૧, ૩૯૨, ૩૯૩, ૩૯૪, ૩૯૫, ૩૯૬, ૩૯૭, ૩૯૮, ૩૯૯, ૪૦૦, ૪૦૧, ૪૦૨, ૪૦૩, ૪૦૪, ૪૦૫, ૪૦૬, ૪૦૭, ૪૦૮, ૪૦૯, ૪૧૦, ૪૧૧, ૪૧૨, ૪૧૩, ૪૧૪, ૪૧૫, ૪૧૬, ૪૧૭, ૪૧૮, ૪૧૯, ૪૨૦, ૪૨૧, ૪૨૨, ૪૨૩, ૪૨૪, ૪૨૫, ૪૨૬, ૪૨૭, ૪૨૮, ૪૨૯, ૪૩૦, ૪૩૧, ૪૩૨, ૪૩૩, ૪૩૪, ૪૩૫, ૪૩૬, ૪૩૭, ૪૩૮, ૪૩૯, ૪૪૦, ૪૪૧, ૪૪૨, ૪૪૩, ૪૪૪, ૪૪૫, ૪૪૬, ૪૪૭, ૪૪૮, ૪૪૯, ૪૫૦, ૪૫૧, ૪૫૨, ૪૫૩, ૪૫૪, ૪૫૫, ૪૫૬, ૪૫૭, ૪૫૮, ૪૫૯, ૪૬૦, ૪૬૧, ૪૬૨, ૪૬૩, ૪૬૪, ૪૬૫, ૪૬૬, ૪૬૭, ૪૬૮, ૪૬૯, ૪૭૦, ૪૭૧, ૪૭૨, ૪૭૩, ૪૭૪, ૪૭૫, ૪૭૬, ૪૭૭, ૪૭૮, ૪૭૯, ૪૮૦, ૪૮૧, ૪૮૨, ૪૮૩, ૪૮૪, ૪૮૫, ૪૮૬, ૪૮૭, ૪૮૮, ૪૮૯, ૪૯૦, ૪૯૧, ૪૯૨, ૪૯૩, ૪૯૪, ૪૯૫, ૪૯૬, ૪૯૭, ૪૯૮, ૪૯૯, ૫૦૦, ૫૦૧, ૫૦૨, ૫૦૩, ૫૦૪, ૫૦૫, ૫૦૬, ૫૦૭, ૫૦૮, ૫૦૯, ૫૧૦, ૫૧૧, ૫૧૨, ૫૧૩, ૫૧૪, ૫૧૫, ૫૧૬, ૫૧૭, ૫૧૮, ૫૧૯, ૫૨૦, ૫૨૧, ૫૨૨, ૫૨૩, ૫૨૪, ૫૨૫, ૫૨૬, ૫૨૭, ૫૨૮, ૫૨૯, ૫૩૦, ૫૩૧, ૫૩૨, ૫૩૩, ૫૩૪, ૫૩૫, ૫૩૬, ૫૩૭, ૫૩૮, ૫૩૯, ૫૪૦, ૫૪૧, ૫૪૨, ૫૪૩, ૫૪૪, ૫૪૫, ૫૪૬, ૫૪૭, ૫૪૮, ૫૪૯, ૫૫૦, ૫૫૧, ૫૫૨, ૫૫૩, ૫૫૪, ૫૫૫, ૫૫૬, ૫૫૭, ૫૫૮, ૫૫૯, ૫૬૦, ૫૬૧, ૫૬૨, ૫૬૩, ૫૬૪, ૫૬૫, ૫૬૬, ૫૬૭, ૫૬૮, ૫૬૯, ૫૭૦, ૫૭૧, ૫૭૨, ૫૭૩, ૫૭૪, ૫૭૫, ૫૭૬, ૫૭૭, ૫૭૮, ૫૭૯, ૫૮૦, ૫૮૧, ૫૮૨, ૫૮૩, ૫૮૪, ૫૮૫, ૫૮૬, ૫૮૭, ૫૮૮, ૫૮૯, ૫૯૦, ૫૯૧, ૫૯૨, ૫૯૩, ૫૯૪, ૫૯૫, ૫૯૬, ૫૯૭, ૫૯૮, ૫૯૯, ૬૦૦, ૬૦૧, ૬૦૨, ૬૦૩, ૬૦૪, ૬૦૫, ૬૦૬, ૬૦૭, ૬૦૮, ૬૦૯, ૬૧૦, ૬૧૧, ૬૧૨, ૬૧૩, ૬૧૪, ૬૧૫, ૬૧૬, ૬૧૭, ૬૧૮, ૬૧૯, ૬૨૦, ૬૨૧, ૬૨૨, ૬૨૩, ૬૨૪, ૬૨૫, ૬૨૬, ૬૨૭, ૬૨૮, ૬૨૯, ૬૩૦, ૬૩૧, ૬૩૨, ૬૩૩, ૬૩૪, ૬૩૫, ૬૩૬, ૬૩૭, ૬૩૮, ૬૩૯, ૬૪૦, ૬૪૧, ૬૪૨, ૬૪૩, ૬૪૪, ૬૪૫, ૬૪૬, ૬૪૭, ૬૪૮, ૬૪૯, ૬૫૦, ૬૫૧, ૬૫૨, ૬૫૩, ૬૫૪, ૬૫૫, ૬૫૬, ૬૫૭, ૬૫૮, ૬૫૯, ૬૬૦, ૬૬૧, ૬૬૨, ૬૬૩, ૬૬૪, ૬૬૫, ૬૬૬, ૬૬૭, ૬૬૮, ૬૬૯, ૬૭૦, ૬૭૧, ૬૭૨, ૬૭૩, ૬૭૪, ૬૭૫, ૬૭૬, ૬૭૭, ૬૭૮, ૬૭૯, ૬૮૦, ૬૮૧, ૬૮૨, ૬૮૩, ૬૮૪, ૬૮૫, ૬૮૬, ૬૮૭, ૬૮૮, ૬૮૯, ૬૯૦, ૬૯૧, ૬૯૨, ૬૯૩, ૬૯૪, ૬૯૫, ૬૯૬, ૬૯૭, ૬૯૮, ૬૯૯, ૭૦૦, ૭૦૧, ૭૦૨, ૭૦૩, ૭૦૪, ૭૦૫, ૭૦૬, ૭૦૭, ૭૦૮, ૭૦૯, ૭૧૦, ૭૧૧, ૭૧૨, ૭૧૩, ૭૧૪, ૭૧૫, ૭૧૬, ૭૧૭, ૭૧૮, ૭૧૯, ૭૨૦, ૭૨૧, ૭૨૨, ૭૨૩, ૭૨૪, ૭૨૫, ૭૨૬, ૭૨૭, ૭૨૮, ૭૨૯, ૭૩૦, ૭૩૧, ૭૩૨, ૭૩૩, ૭૩૪, ૭૩૫, ૭૩૬, ૭૩૭, ૭૩૮, ૭૩૯, ૭૪૦, ૭૪૧, ૭૪૨, ૭૪૩, ૭૪૪, ૭૪૫, ૭૪૬, ૭૪૭, ૭૪૮, ૭૪૯, ૭૫૦, ૭૫૧, ૭૫૨, ૭૫૩, ૭૫૪, ૭૫૫, ૭૫૬, ૭૫૭, ૭૫૮, ૭૫૯, ૭૬૦, ૭૬૧, ૭૬૨, ૭૬૩, ૭૬૪, ૭૬૫, ૭૬૬, ૭૬૭, ૭૬૮, ૭૬૯, ૭૭૦, ૭૭૧, ૭૭૨, ૭૭૩, ૭૭૪, ૭૭૫, ૭૭૬, ૭૭૭, ૭૭૮, ૭૭૯, ૭૮૦, ૭૮૧, ૭૮૨, ૭૮૩, ૭૮૪, ૭૮૫, ૭૮૬, ૭૮૭, ૭૮૮, ૭૮૯, ૭૯૦, ૭૯૧, ૭૯૨, ૭૯૩, ૭૯૪, ૭૯૫, ૭૯૬, ૭૯૭, ૭૯૮, ૭૯૯, ૮૦૦, ૮૦૧, ૮૦૨, ૮૦૩, ૮૦૪, ૮૦૫, ૮૦૬, ૮૦૭, ૮૦૮, ૮૦૯, ૮૧૦, ૮૧૧, ૮૧૨, ૮૧૩, ૮૧૪, ૮૧૫, ૮૧૬, ૮૧૭, ૮૧૮, ૮૧૯, ૮૨૦, ૮૨૧, ૮૨૨, ૮૨૩, ૮૨૪, ૮૨૫, ૮૨૬, ૮૨૭, ૮૨૮, ૮૨૯, ૮૩૦, ૮૩૧, ૮૩૨, ૮૩૩, ૮૩૪, ૮૩૫, ૮૩૬, ૮૩૭, ૮૩૮, ૮૩૯, ૮૪૦, ૮૪૧, ૮૪૨, ૮૪૩, ૮૪૪, ૮૪૫, ૮૪૬, ૮૪૭, ૮૪૮, ૮૪૯, ૮૫૦, ૮૫૧, ૮૫૨, ૮૫૩, ૮૫૪, ૮૫૫, ૮૫૬, ૮૫૭, ૮૫૮, ૮૫૯, ૮૬૦, ૮૬૧, ૮૬૨, ૮૬૩, ૮૬૪, ૮૬૫, ૮૬૬, ૮૬૭, ૮૬૮, ૮૬૯, ૮૭૦, ૮૭૧, ૮૭૨, ૮૭૩, ૮૭૪, ૮૭૫, ૮૭૬, ૮૭૭, ૮૭૮, ૮૭૯, ૮૮૦, ૮૮૧, ૮૮૨, ૮૮૩, ૮૮૪, ૮૮૫, ૮૮૬, ૮૮૭, ૮૮૮, ૮૮૯, ૮૯૦, ૮૯૧, ૮૯૨, ૮૯૩, ૮૯૪, ૮૯૫, ૮૯૬, ૮૯૭, ૮૯૮, ૮૯૯, ૯૦૦, ૯૦૧, ૯૦૨, ૯૦૩, ૯૦૪, ૯૦૫, ૯૦૬, ૯૦૭, ૯૦૮, ૯૦૯, ૯૧૦, ૯૧૧, ૯૧૨, ૯૧૩, ૯૧૪, ૯૧૫, ૯૧૬, ૯૧૭, ૯૧૮, ૯૧૯, ૯૨૦, ૯૨૧, ૯૨૨, ૯૨૩, ૯૨૪, ૯૨૫, ૯૨૬, ૯૨૭, ૯૨૮, ૯૨૯, ૯૩૦, ૯૩૧, ૯૩૨, ૯૩૩, ૯૩૪, ૯૩૫, ૯૩૬, ૯૩૭, ૯૩૮, ૯૩૯, ૯૪૦, ૯૪૧, ૯૪૨, ૯૪૩, ૯૪૪, ૯૪૫, ૯૪૬, ૯૪૭, ૯૪૮, ૯૪૯, ૯૫૦, ૯૫૧, ૯૫૨, ૯૫૩, ૯૫૪, ૯૫૫, ૯૫૬, ૯૫૭, ૯૫૮, ૯૫૯, ૯૬૦, ૯૬૧, ૯૬૨, ૯૬૩, ૯૬૪, ૯૬૫, ૯૬૬, ૯૬૭, ૯૬૮, ૯૬૯, ૯૭૦, ૯૭૧, ૯૭૨, ૯૭૩, ૯૭૪, ૯૭૫, ૯૭૬, ૯૭૭, ૯૭૮, ૯૭૯, ૯૮૦, ૯૮૧, ૯૮૨, ૯૮૩, ૯૮૪, ૯૮૫, ૯૮૬, ૯૮૭, ૯૮૮, ૯૮૯, ૯૯૦, ૯૯૧, ૯૯૨, ૯૯૩, ૯૯૪, ૯૯૫, ૯૯૬, ૯૯૭, ૯૯૮, ૯૯૯, ૧૦૦, ૧૦૧, ૧૦૨, ૧૦૩, ૧૦૪, ૧૦૫, ૧૦૬, ૧૦૭, ૧૦૮, ૧૦૯, ૧૧૦, ૧૧૧, ૧૧૨, ૧૧૩, ૧૧૪, ૧૧૫, ૧૧૬, ૧૧૭, ૧૧૮, ૧૧૯, ૧૨૦, ૧૨૧, ૧૨૨, ૧૨૩, ૧૨૪, ૧૨૫, ૧૨૬, ૧૨૭, ૧૨૮, ૧૨૯, ૧૩૦, ૧૩૧, ૧૩૨, ૧૩૩, ૧૩૪, ૧૩૫, ૧૩૬, ૧૩૭, ૧૩૮, ૧૩૯, ૧૪૦, ૧૪૧, ૧૪૨, ૧૪૩, ૧૪૪, ૧૪૫, ૧૪૬, ૧૪૭, ૧૪૮, ૧૪૯, ૧૫૦, ૧૫૧, ૧૫૨, ૧૫૩, ૧૫૪, ૧૫૫, ૧૫૬, ૧૫૭, ૧૫૮, ૧૫૯, ૧૬૦, ૧૬૧, ૧૬૨, ૧૬૩, ૧૬૪, ૧૬૫, ૧૬૬, ૧૬૭, ૧૬૮, ૧૬૯, ૧૭૦, ૧૭૧, ૧૭૨, ૧૭૩, ૧૭૪, ૧૭૫, ૧૭૬, ૧૭૭, ૧૭૮, ૧૭૯, ૧૮૦, ૧૮૧, ૧૮૨, ૧૮૩, ૧૮૪, ૧૮૫, ૧૮૬, ૧૮૭, ૧૮૮, ૧૮૯, ૧૯૦, ૧૯૧, ૧૯૨, ૧૯૩, ૧૯૪, ૧૯૫, ૧૯૬, ૧૯૭, ૧૯૮, ૧૯૯, ૨૦૦, ૨૦૧, ૨૦૨, ૨૦૩, ૨૦૪, ૨૦૫, ૨૦૬, ૨૦૭, ૨૦૮, ૨૦૯, ૨૧૦, ૨૧૧, ૨૧૨, ૨૧૩, ૨૧૪, ૨૧૫, ૨૧૬, ૨૧૭, ૨૧૮, ૨૧૯, ૨૨૦, ૨૨૧, ૨૨૨, ૨૨૩, ૨૨૪, ૨૨૫, ૨૨૬, ૨૨૭, ૨૨૮, ૨૨૯, ૨૩૦, ૨૩૧, ૨૩૨, ૨૩૩, ૨૩૪, ૨૩૫, ૨૩૬, ૨૩૭, ૨૩૮, ૨૩૯, ૨૪૦, ૨૪૧, ૨૪૨, ૨૪૩, ૨૪૪, ૨૪૫, ૨૪૬, ૨૪૭, ૨૪૮, ૨૪૯, ૨૫૦, ૨૫૧, ૨૫૨, ૨૫૩, ૨૫૪, ૨૫૫, ૨૫૬, ૨૫૭, ૨૫૮, ૨૫૯, ૨૬૦, ૨૬૧, ૨૬૨, ૨૬૩, ૨૬૪, ૨૬૫, ૨૬૬, ૨૬૭, ૨૬૮, ૨૬૯, ૨૭૦, ૨૭૧, ૨૭૨, ૨૭૩, ૨૭૪, ૨૭૫, ૨૭૬, ૨૭૭, ૨૭૮, ૨૭૯, ૨૮૦, ૨૮૧, ૨૮૨, ૨૮૩, ૨૮૪, ૨૮૫, ૨૮૬, ૨૮૭, ૨૮૮, ૨૮૯, ૨૯૦, ૨૯૧, ૨૯૨, ૨૯૩, ૨૯૪, ૨૯૫, ૨૯૬, ૨૯૭, ૨૯૮, ૨૯૯, ૩૦૦, ૩૦૧, ૩૦૨, ૩૦૩, ૩૦૪, ૩૦૫, ૩૦૬, ૩૦૭, ૩૦૮, ૩૦૯, ૩૧૦, ૩૧૧, ૩૧૨, ૩૧૩, ૩૧૪, ૩૧૫, ૩૧૬, ૩૧૭, ૩૧૮, ૩૧૯, ૩૨૦, ૩૨૧, ૩૨૨, ૩૨૩, ૩૨૪, ૩૨૫, ૩૨૬, ૩૨૭, ૩૨૮, ૩૨૯, ૩૩૦, ૩૩૧, ૩૩૨, ૩૩૩, ૩૩૪, ૩૩૫, ૩૩૬, ૩૩૭, ૩૩૮, ૩૩૯, ૩૪૦, ૩૪૧, ૩૪૨, ૩૪૩, ૩૪૪, ૩૪૫, ૩૪૬, ૩૪૭, ૩૪૮, ૩૪૯, ૩૫૦, ૩૫૧, ૩૫૨, ૩૫૩, ૩૫૪, ૩૫૫, ૩૫૬, ૩૫૭, ૩૫૮, ૩૫૯, ૩૬૦, ૩૬૧, ૩૬૨, ૩૬૩, ૩૬૪, ૩૬૫, ૩૬૬, ૩૬૭, ૩૬૮, ૩૬૯, ૩૭૦, ૩૭૧, ૩૭૨, ૩૭૩, ૩૭૪, ૩૭૫, ૩૭૬, ૩૭૭, ૩૭૮, ૩૭૯, ૩૮૦, ૩૮૧, ૩૮૨, ૩૮૩, ૩૮૪, ૩૮૫, ૩૮૬, ૩૮૭, ૩૮૮, ૩૮૯, ૩૯૦, ૩૯૧, ૩૯૨, ૩૯૩, ૩૯૪, ૩૯૫, ૩૯૬, ૩૯૭, ૩૯૮, ૩૯૯, ૪૦૦, ૪૦૧, ૪૦૨, ૪૦૩, ૪૦૪, ૪૦૫, ૪૦૬, ૪૦૭, ૪૦૮, ૪૦૯, ૪૧૦, ૪૧૧, ૪૧૨, ૪૧૩, ૪૧૪, ૪૧૫, ૪૧૬, ૪૧૭, ૪૧૮, ૪૧૯, ૪૨૦, ૪૨૧, ૪૨૨, ૪૨૩, ૪૨૪, ૪૨૫, ૪૨૬, ૪૨૭, ૪૨૮, ૪૨૯, ૪૩૦, ૪૩૧, ૪૩૨, ૪૩૩, ૪૩૪, ૪૩૫, ૪૩૬, ૪૩૭, ૪૩૮, ૪૩૯, ૪૪૦, ૪૪૧, ૪૪૨, ૪૪૩

મદ્દામીપણ બાર દુકાળી પડી હતી. તે સમયે સાધુ-ઓનો સંઘ પોતાના નિર્વાહ માટે સમુદ્ર કાંઠાના પ્રદેશમાં રહેવા ગયો હતો. ત્યાં સાધુઓ નિર્વાહની પીઠાને લીધે કંઠસ્થ રહેલ શ્રુતને ગણી સકતા ન હતા, અને તેથી તે શ્રુત વિસરાવા લાગ્યું. આ રીતે અન્ના દુકાળની અસર પવિત્ર શ્રુત ઉપર પણ એક સરસી પડવાથી એક દુકાળ્યાની જેવા જ તે શ્રુતના પણ હાલ હવાલ થયા. જ્યારે તે મીપણ દુકાળ મટી સુકાળ થયો ત્યારે પાટલીપુત્રમાં (પટનામાં) શ્રીસંઘ મેગો મળ્યો અને જે જેને યાદ હતું તે બધું એકઠું કરાવ્યું. આ રીતે માંડ માંડ અગિઆર-અગો સંધાયાં. પણ દૃષ્ટિવાદ નામનું વારસું અંગ તો સમૂહનું નાશ પામ્યા જેવું જ થઈ ગયું હતું. કારણ કે, તે સમયે આર્ય મદ્રબાહુ એકલા જ દૃષ્ટિવાદના અમ્યાસી હતા. ” આ ઉપરથી જાણી શકાય છે કે, શ્રીવીરના યીજા સૈકાથી જ શ્રુતની છિન્ન મિત્રતા-શ્રુતની માપામાં અને ભાવોમાં પરિવર્તન, ન્યૂનાધિકતા-ની શરૂઆત થવા લાગી. આપણા કમ-ગામ્યે આ શરૂઆત પટેલથી જ અટકી નહીં, પણ ઉત્તરો-ચર વિશેષ વિશેષ વધતી ગઈ, પટેલ કે તે દુકાળી હતર્યા પછી આગલ આપતાં લગભગ ત્રણસે ચારસે વર્ષે-વીર નિર્વાણથી પાંચમાં છઠ્ઠા સૈકામાં-આર્ય શ્રીકંદિલ અને વૃજૈસ્વામિની નિકટના સમયમાં તેવી જ એક યીજી મીપણ, બાર દુકાળી આ દેશે પાર કરી હતી. તે હકિકતનું વર્ણન આપતાં જણાવ-વામાં આવે છે કે-” બૈર વર્ષનો મયંકર દુકાળ પડ્યો સાધુઓ અન્ને માટે જુદે જુદે સ્થલે દિંદતા હોવાથી શ્રુતનું મદ્દણ, સુણત અને ચિંતન ન કરી શક્યા. ધથી તે શ્રુત વિપ્રનદુ થયું, અને જ્યારે ફરી બાર દુકાળ થયો ત્યારે મથુરામાં શ્રીકંદિલાચાર્ય પ્રમુલ સંધે માટો સાધુસમુદાય મેગો કરી જે જેને સાંભળ્યું તે બધું કૌલિકશ્રુત સંપટિત કર્યું. ” આ દુકાળે તો

માંડ માંડ વચી રહેલ તે શ્રુતની ઘણી વિશેષ હાની કરી. આ ઉદ્ધાર શરસેન દેશની પાટનગર મથુરામાં ચલ્લ હોવાથી તે શ્રુતમાં શૌરસની માપાનું ઘણું મિશ્રણ થવા સાંધે તેમાં જુદાં જુદાં અનેક પાટાંતરો પણ વધવાં લાગ્યાં.

હવે તો રેવદ સાથે જણાવવું પડે છે કે, તે વિષમ દુઃખનો પ્રસંગ વતિયા પછી પણ પ્રકૃતિ દેવીની અક્ર-પાથી પાછી તેવી જ બાર દુકાળીએ શ્રીવીરાર્ત ૧૦ માં સૈકામાં દેશ ઉપર પોતાનો પંજો ચલાવ્યો અને તે વસતે તો ઘણાં બહુશ્રુતોનું અવસાન થવા સાથે જે જીર્ણ શીર્ણ શ્રુત રહ્યું હતું તે પણ બહુ જ છિન્ન મિત્ર થઈ ગયું. આ થી તે સમયના અંગ સાહિત્યની સ્થિતિ સાથે શ્રીવીરના સમયના અંગ સાહિત્યની તુલના કર-નારને, જે ઓરમાન ભાઈ વચ્ચે ડેટલું અંતર હોય તેટલું અંતર, તે જે વચ્ચે લાગે એ સર્વથા સંપટિતકલ્પ છે. એ વિષમ સમયની સ્થિતિ દર્શાવતાં જણાવવામાં આવે છે કે—

” શ્રીદેવધિગણિશ્વમાશ્રમણેન શ્રીવીરાર્ત અર્ચો-ત્પધિકનવશત (૧૮૦) વર્ષે જાતેન દ્વાદશવર્ષીયદુ-મિશ્વવશાદ્ બહુતરસાધુવ્યાપતૌ બહુશ્રુતાવિચ્છિતૌ ચ જાતાયાં + + + મવિષ્યદ્મમ્બલોકોપકારાય, શ્રુત-મવતથે ચ શ્રીસંપામહાર્દ મૃતાવશિષ્ટદાકોલોનસર્વ-સાધૂન્ વલમ્યામાકાર્ય તન્મુલાદ્ વિનિહ્નનાવશિષ્ઠાન્ ન્યૂનાધિકાન્ કુટિતા-કુટિતાન્ આગમાલાપકાન્ અનુકમેણ સ્વમત્યા સંકલ્પ્ય પુસ્તકારુઢાઃ કૃતાઃ । તતા મૂલતો ગણધરમાપિતાનામપિ તત્સંકલનાન્તરં સર્વેપયપિ આગમાનાં કર્તા શ્રીદેવધિગણિશ્વમાશ્રમણ એવ જાતઃ. ” સમયસુંદરગણીરચિતસામાચારીશંતકે.

૧. જુઓ-પ્રજાપતા, આર્યદેશવિચાર.

૨. બહુ પાઠ્યભેદોથી મુસાતા શ્રીઅમયદેવસૂત્રીજી જણાવે છે કે-

અહા વર્ષે શાસ્ત્રમિદે ગમ્મીરે

પ્રાયોડસ્ય કુટાનિ ચ પુસ્તકાનિ । ”

પ્રત્યભ્યાકરણવાંસધારમ્બે.

” કિમપિ સ્ફુટીકૃતમિદ્ સ્ફુટેડ પ્યથેતઃ

સકલમતિદેશતો વિવિધવાચનાતોડપિ યત્ ”

જ્ઞાતામન્યકપાશ્વતિપ્રાન્તે.

૧-૨. જુઓ, શ્રીમેક્તુંગપુરિની વિચરચેનિ.

૩. જુઓ, મીદનુર્ણિ, સિ. પ. ૪.

૪. કૌલિકશ્રુત માટે જુઓ મીદનુર્ણિ.

અર્થાત "શ્રીદેવર્ધિગણિ ક્ષમશ્રમણે, ચાર ટુકાઢીને લીધે ઘળા સાધુઓનો નાશ થયે અને અનેક વહુશ્રુતનો વિચ્છેદ થયે, શ્રુત ભક્તિથી પ્રેરાઈ ભાવી પ્રજાના (આપણા) ઉપકાર માટે શ્રીવીરાત ૯૮૦ વર્ષે શ્રી-સંઘના આમ્રહથી તે કાઢે બચેલ સાધુઓને વલ્મી-પુરમાં બોલાવી તેઓના મુલ્યથી અવશેષ રહેલ જોછા-વૃષતા, ત્રુટિ અને અત્રુટિ આગમના પાઠોને અનુ-ક્રમે પોતાની બુદ્ધિથી સાંકઢી પુસ્તકારૂઢ કર્યા. આવી રીતે મૂલમાં સૂત્રો ગણધરોનાં ગુંથેલા હોવા છતાં દેવર્ધિગણિ તેનું પુનઃ સંકલન કરેલું હોવાથી તે ઘણા આગમોના કર્તા શ્રીદેવર્ધિગણિ ક્ષમાશ્રમણ જ કહેવાય છે."

ઉપરની હકિકતથી સમજી શકાશે કે ગણ-ધરોએ ગુંથેલ સૂત્રો (અંગો) ઉપર કેવા કેવા યુગો પસર્યા છે. જે સાહિત્ય ઉપર કુદરત તરફથી જ આવો શીષણ પ્રકોપ થાય તે સાહિત્ય, પરંપરામાં એક સરહું જ હતરી આવે, એ વાત મારી કરૂપનામાં તો વંધ બેસતી નથી આવરી. કિંતુ જે અંગસાહિત્ય અત્યારે વિદ્યમાન છે તે ટુકાઢોના મીપણ પ્રદરોને લીધે કાઢ, રૂઢિ, સ્પર્શ અને સ્વાચ્છંદનાં અસહ જલ્મોથી જલ્મપાલ સ્થિતિમાં આપણાં પાસે હયાતી ધરાવે છે.

આ રીતે અંગ સાહિત્યની ઉત્તરોત્તર થયેલ સ્થિતિના નિરીક્ષણથી આપણે સમજી શકીએ છીએ કે વિદ્યમાન અંગ સાહિત્ય તે ગણધરકૃત અંગસાહિત્યનીં પરિવર્તિત પ્રતિચ્છાયા છે. અને એ અનુમાન કરવાને ઉપરનાં પ્રમાણો પૂરતાં જણાય છે. જ્યારે અંગ-સાહિત્યના મૂલ ભાવોમાં પણ ન્યૂનાધિકતા થવા લાગી, ત્યારે તેમાં યોજાણ વિચારી માપા શી રીતે સ્થિર રહી શકે? પટેલે આ વિદ્યમાન અંગ સાહિત્યમાં "માગધ્યા અર્થ" ની દૃષ્ટિએ અર્ધમાગધી માપા પણ ટકી શકી નથી, તો પછી તેમાં માગધી માપાનો પ્રયોગ તો શી રીતે રહી શકે!

જો કે વૃદ્ધપ્રવાદ અને સાંપ્રદાયિક પરંપરા તો

આ અંગોમાં પણ માગધી વા અર્ધમાગધી માપા પ્રયોજાયાનું સૂચવે છે, પરંતુ આપણે માપાદૃષ્ટિએ અંગોમાં યોજાણ માપાનું પરીક્ષણ કરી તે પ્રવાદની સમૂલતા વા નિર્મૂલતા જાણી લેવી જરૂરની છે. આ વિષયને ચર્ચતાં પહેલાં મારે જ્ઞાન સૌક્યને લા-તર માગધી માપાનું પૂરેપૂરું શબ્દશરીર પ્રથમ અહીં દેખાડવું જોઈએ, જે દ્વારા માગધી માપાના શબ્દ શરીર સાથે અંગસાહિત્યના શબ્દપિંડને સરલાવવાથી ડારના પ્રવાદની તથ્યતા આપોઆપ જખાઈ આવે.

માગધી માપાની પ્રક્રિયાનો ઘણો ભાગ પ્રાકૃત માપાની પ્રક્રિયાને મળતો છે, પરંતુ હું તે મળતા ભાગનો ઉલેખ નહીં કરતાં અહીં તેના કેટલક અવવાદોનો જ એક કોઠો આપીશ; અને સાથે તે કોઠામાં પ્રાકૃત માપાનાં અને અંગ સાહિત્યનાં રૂપો પણ આપીશ કે જેથી તે અંગ સાહિત્યનાં રૂપોનું માગ-ધીનાં કયાં કયાં રૂપો સાથે વિશેષ સામ્ય છે તે શીઘ્ર તારવી શકાશે અને તે તારવણી ઉપરથી જ અંગ સાહિત્યની માપાનો નિર્ણય થવા સાથે ઉપરના પારંપરિક પ્રવાદનું પ્રામાણ્ય પણ પ્રત્યક્ષ થઈ જશે.

તુલનાની દૃષ્ટિએ રૂપોનું કોષ્ટક આ પ્રમાણે છે.

૧ સંસ્કૃત.	પ્રાકૃત.	માગધી.	અંગસાહિત્ય.
મીમઃ	મીમે	મીમિ	મીમે, મીમો
મીમાત્	મીમાઓ	મીમાદો	મીમાઓ
		મીમાહુ	
મીમસ્ય	મીમસ	મીમાસ	મીમસ
		મીમાહ	
મીમાનામ્	મીમાણં	મીમાણં	મીમાણં
		મીમાહં	
અહમ્	અહં	હમે	અહં
અમ્	અમે	હમે	અમે
કચ્ચુકિન્	કંચુદ્	કંચુદા	કંચુદા
		કંચુદ	કંચુદ
રાજન્	રાયા	રાયં	રાયં

અગવન્ !	મગવન્તો ! મયવં !	૦	નાથ	નાહ	નાથ - નાહ
અવાન્	મવંતો મવં	૦	હહ	હહ	નાહ
મગવાન્	મગવંતો મગવં	મગવં	ગચ્છત	ગચ્છહ	હથ હહ
તિ, તે	હ, ઇ, દિ, દે	મયવં	મવહ	મવહ	ગચ્છહ
પુરુષ	પુરિસ પુલિશ	તિ, તે.	પૂર્વ	પુર્વ	ગચ્છહ
સમશરીર	સમસરીર શમશલીલ	હ. પ.	કૃત્વા	કૃત્વા	ગચ્છહ
કાષ્ટ	કટ્ટ કસ્ટ	પુરિસ	ગત્વા	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
હસ્ત	હથ્થ હસ્ત	સમસરીર	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
પટ્ટન	પટ્ટણ પસ્ટણ	કટ્ટ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
સુષ્ટ	સુટ્ટુ શુસ્ટુ	હથ્થ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
ઉપસ્થિત	ઉવટ્ટિઅ ઉવસ્તિદ	પટ્ટણ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
અર્થ	અસ્થ અસ્ત	સુટ્ટુ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
જનપદ	જણવય યણવદ	ઉવટ્ટિઅ-ત	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
અગ્ર	અજ્ઞ અચ્ચ	અર્થ-ટ્ટ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
યથા	જહા યંધા	જણવય	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
અન્ય	અજ્ઞ અજ્ઞ	અજ્ઞ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
પુણ્ય	પુણ્ણ પુજ્ઞ	અજ્ઞ-ણ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
પજ્ઞા	પણ્ણા પજ્ઞા	પુણ્ણ-જ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
સર્વજ્ઞ	સર્વજ્ઞુ સર્વજ્ઞ	પણ્ણા	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
અજ્ઞાલિ	અંજલિ અજ્ઞાલિ	સર્વજ્ઞુ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
વજતિ	વચ્ચદિ વજ્જદિ	અંજલિ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
ગચ્છામિ	ગચ્છામિ ગચ્છામિ	વચ્ચદિ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
મોક્ષ	મોક્ષ મોક્ષ	ગચ્છામિ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
યક્ષ	યક્ષ યક્ષ	મોક્ષ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
સંપેક્ષતે	સંપેક્ષદિ સંપેક્ષદિ	યક્ષ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
તિષ્ઠતિ	ચિટ્ટદિ ચિટ્ટદિ	સંપેક્ષદિ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
સુખ	સુખ સુદ	ચિટ્ટદિ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
અન્તઃપુર	અન્તેઝર અન્તેઝર	સુદ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
તાવત્	તાવ દાવ	અન્તેઝર	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
પૃથવ	પૃથવ પૃથવ	તાવ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ
		પૃથવ	ગમિચ્છ	ગમિચ્છ	ગચ્છહ

ઉપરના કોષ્ટકમાં જ્યાં મેં ૧ નો અંક મૂક્યો છે તે કોષ્ટક વિમક્તિના વિકારને લગતું છે, અને જ્યાં મેં ૨ નો અંક મૂક્યો છે તે કોષ્ટક વ્યંજનના વિકારને સૂચવે છે. ઉપરના કોષ્ટકમાં ચતાવ્યા સિવાયની માગધીની બીજી વધી પ્રાકૃતિ પ્રાકૃતની જેવી જ છે જો કે, ઉપરના કોષ્ટકથી અંગ સાહિત્યનાં રૂપો. માગધી માપાનાં રૂપો સાથે કેટલું સામ્ય છે, તે સ્પષ્ટ જાણી શકાય તેમ છે; તો પણ મારે જણાવવું જોઈએ કે, આટલાં વધાં માગધી માપાનાં રૂપો સાથે અંગ સાહિત્યનાં માત્ર એકાદ બે જ રૂપો સામ્ય ધરાવે છે—વિમક્તિના વિકારમાં આવેલ 'મિમે' અને 'મગવં' (એ, પ્રથમાનાં એક વચન

૧. આ કોષ્ટકની વધુ સમજૂતી માટે જુઓ હેમચં. અષ્ટમ અધ્યાય.

છે) એ વે રૂપનું જ માગધી રૂપો સાથે સામ્ય જાણાય છે. પરંતુ વ્યંજન વિકારમાં તો એક પણ રૂપ એવું નથી જણાતું કે જેનું માગધીનાં તે રૂપો સાથે સામ્ય હોય.

આવી વસ્તુ સ્થિતિના લીધે સહજ પ્રશ્ન થાય છે કે, જે અંગ સાહિત્યનાં રૂપોમાં માત્ર એ જ રૂપો માગધી જેવાં હોય અને બીજાં વધાં રૂપો પ્રાકૃત જેવાં હોય તો, શું તે સાહિત્યની ભાષા માગધી ગણાશે કે પ્રાકૃત ? આ પ્રશ્નનો જે ઉત્તર આવે છે તે જ ઉત્તર ‘અત્યારના અંગસાહિત્યની ભાષા કઈ ?’ એ પ્રશ્નને લાગુ પડે છે.

સમસ્ત અંગસાહિત્યની ભાષામાં મઝી આવતા માત્ર માગધી ભાષાના રૂપ દ્વિતયને જ આશ્રીને તે ભાષાને માગધી કે અર્ધ-માગધી કહેવાનું સાહસ કોઈ પણ સાક્ષર કરે એ સંભવતું નથી. આમ હોવા છતાં પ્રાચીન પ્રવાદને માન આપવા સ્વાતંત્ર આચાર્ય દેમચંદ્રજીએ અને નૃત્તિકાર અભયદેવસૂરિજીએ માત્ર ઢોઢ પંક્તિ દ્વારા પુલિંગી પ્રથમાનાં એકારાન્ત પ્રત્યયવાળા રૂપને આશ્રીને વિષયમાન અંગસાહિત્યની ભાષાની અર્ધમાગધીમયતા હોવાનું જે જણાવ્યું છે તે ઇતિહાસમૂલક છે, કે શ્રદ્ધામૂલક છે ? તે વાચકો પોતે જ વિચારી શકશે.

ઉપરના હેતુઓથી હું તો આ અનુમાન ઉપર આવ્યો છું કે, ગણધર મહાશયોના સમયનું અંગ સાહિત્ય, જ્યાં સુધી કોઈ જાતના પરિવર્તનને પામ્યું ન હતું ત્યાં સુધી તેનું અર્ધમાગધીત્વ સ્વીકારી શકાય, પણ જ્યારે તેને પૂર્વોક્ત અનેક વિષમ કારણોથી પરિવર્તનની સ્થિતિમાં ચારંચાર આવતું પડ્યું ત્યારે તેનાં માવ અને ભાષા એ બંનેને એકાનુસારી થવાની જાણે કારજ ન પડી હોય તેમ વદલવા લાગ્યાં, અને આરંભે આરંભે તેની સમૂહગી અર્ધમાગધી ભાષા સ્વેચ્છી જઈ તેનું સ્થાન કેટલાક સમય સુધી માગધી મિશ્રિત શીરસેનીએ લીધું. અને પછી છેવટે વલમીપુરમાં થયેલ ઉદ્ધારને વસ્તે તો તે શીરસેની પણ

અન્તર્હિત થઈ અને તેને સ્થાને સૌરાષ્ટ્રના પ્રમાણે શ્રીહિ-માચાર્યજીનાં આઠમા અધ્યાયમાં પ્રયોજાઈલ પ્રાકૃત ભાષાનો પ્રયોગ થયો. આમ છતાં તેની પ્રાકૃત ભાષાની પ્રાચીનતા કોઈ સમૂહગી વિગતી નથી, એટલે વિષયમાન અંગોમાં પણ કેટલાંક પ્રાચીન રૂપો (આર્ષ રૂપો) રહેલાં છે, પણ તે માગધીનાં તો નહીં જ. એથી વિષયમાન અંગ સાહિત્યને અર્ધમાગધીમય અંગ સાહિત્યથી જુદું માનવા સાથે તેની ભાષાને પણ આર્ષ પ્રાકૃત મિશ્રિત સૌરાષ્ટ્રી પ્રાકૃત કહેતાં જરા પણ અપ્રમાણ્યનો મય રહે તો હોય, એવું ઉપરના હેતુઓથી જણાતું નથી.

છેવટે આ સંબંધે વિશેષ વિચાર કરી વિદ્વાનો પોતે પોતાનો વિશિષ્ટ અભિપ્રાય પ્રકટ કરશે તો હું મારા વિચારોની પુનઃ સત્યાસત્યતાની કસોટી કરી શકીશ.*

“હરિમદ્સૂરિનો સમયનિર્ણય.”

[લે.—શ્રીયુત હીરાલાલ અમૃતલાલ શાહ, ધો. ૫.]

૧) મુનિશ્રી જિનવિજયજી મહારાજે હરિમદ્સૂરિના સમયનિર્ણયના સંબંધમાં બહુપરિશ્રમપૂર્વક ઘણા પ્રમાણે એકત્ર કરી જે ઉદ્ઘોષોદ્ધ કર્યો છે અને તેના પરિણામ રૂપે જે સમય તેમણે નક્કી કર્યો છે તે સંબંધમાં સ્ફુરી આવતા મારા કેટલાક વિચારો હું અહીં રજુ કરું છું.

આ વિષયમાં વિશેષ આધારમૂલક સવચ્છ પ્રમાણ મહારાજશ્રીને દાક્ષિણ્યચિન્હ ઉર્ફે ઉચોતનસૂરિની ગુણવત્તાવાળા કથામાંથી મઝી આવ્યું છે. એ કથામાં, પ્રસ્તાવનામાં સમરાદિત્ય ચરિત્રની પ્રસંશા કરતાં “મયવિરહ” શબ્દના પ્રયોગથી હરિમદ્સૂરિનો નિર્દેશ કરવામાં આવ્યો છે. તેમજ પ્રશસ્તિમાં હરિમદ્સૂરિને પોતાના અધ્યાપકગુરુ તરીકે જણાવ્યા છે.

છ આ નિષ્પેષ મેં પૂનામાં મળેલ પ્રથમ પ્રાચ્યવિદ્યાધર્મોપદેય પરિવટ માટે સંચાર કર્યો હતો.—લેક્ષક.

કવલયમાઝાની રચના શક સંવત્ ૭૦૦ માં થઈ. ઇસ ૮૩૫—ઈ. સ. ૭૭૮ નો સમય હરિભદ્રસૂરિનો નિર્ણાત થાય છે.

૨) ૫ કથાકર્તા દાક્ષિણ્યચિન્હ સંબંધી હકિકત પ્રમાણકચરિત્રમાં (જુઓ, નિર્ણયસાગર પ્રેસની આવૃત્તિ, પૃષ્ઠ ૨૦૧—૨, શ્લોકો ૮૮—૯૭) મઢી આવે છે. ત્યાં તેમનો અને સિદ્ધર્ષિનો પરસ્પર સંવાદ મુકેલો છે અને સાથે સિદ્ધર્ષિના ગુરુમાઈ તરીકે તેમને જણાવ્યા છે. આ વાત જો સત્ય હોય તો સિદ્ધર્ષિનો સમય પણ શક સંવત્ ૭૦૦—૬૦ સં ૭૭૮ વિક્રમ સંવત્ ૮૩૫ લગભગ આવે. ૫૬ વીજી હકિકત (તેમાં કેટલું વજુદ છે તે તો કહેવાય નહીં) પણ ધ્યાન દેવા જેવી છે. જૈન શ્વેતામ્બર કોન્ફરન્સ હેરલ્ડ નામના માસિકના સને ૧૯૧૫ ના જુલાઈ—ઑક્ટોબરના અંકમાં, પૃષ્ઠ ૩૫૧ ઉપર એક તપાગચ્છની પટ્ટાવલી આપેલી છે. ૫ પટ્ટાવલીમાં સિદ્ધર્ષિને હરિભદ્રસૂરિના માળેજ તરીકે લખેલા છે. આ હકિકત અન્યત્ર જોવામાં આવતી નથી. આના ઉપરથી હરિભદ્રસૂરિ, ઉદ્યોતનસૂરિ અને સિદ્ધર્ષિ ત્રણે સમકાલીન ઠેર તેવી સૂચના મળી આવે છે.

૩) સિદ્ધર્ષિ હરિભદ્રસૂરિનો અનેક પ્રકારે નિર્દેશ કર્યો છે. ઇસ ૮૩૫ નો સમય હરિભદ્રસૂરિના સમયની સાથે જ તપાસવો પડે છે. ઉપર જણાવેલ હેરલ્ડ માસિકના અંકમાં ડૉ. જૈકોબી તથા શ્રીયુત મોતીચંદ ગિરપર કાપાડિયા વચ્ચે, સિદ્ધર્ષિના સમયના સંબંધમાં ચાલેલો પત્રવ્યવહાર છપાવેલો છે. તેમાં સિદ્ધર્ષિની તારીખ વાંચત ધર્મીક ચર્ચા ચર્ચાળી છે. સુપ્રસિદ્ધ સંસ્કૃત કવિ માર્ધને પ્રમાણસૂરિ (પ્રમાણકચરિત્રમાં) સિદ્ધર્ષિના કાકાના દાકરા તરીકે લખે છે. ડૉ. જૈકોબીના જણાવ્યા પ્રમાણે (હેરલ્ડ, પત્રવ્યવહાર, પૃષ્ઠ ૨૪૪) માણકવિના શ્લોકોનો ઉપયોગ લગભગ ઇ. સ. ૮૦૦ માં થયેલા વામનાચાર્ય, તથા ઇ. સ. ૮૫૦ માં થયેલા આનંદવર્ધને કરેલો છે, માટે માણ-

કવિ અને સાથેસાથે સિદ્ધર્ષિ પણ ઇ. સ. ૮૦૦ પહેલાં વિદ્યમાન હોવા જોઈએ. [અત્રે જણાવવાની જરૂર છે કે માણ કવિનો સમય તપાસવામાં પ્રો. મેક્ડોનેલે ૫ મોટી મૂલ કરેલી છે કે તેમણે વામનાચાર્ય તથા આનંદવર્ધને સંબંધી હકિકત બિલ્કુલ ધ્યાનમાં લીધી નથી.]

ઉપમિતિ ૦ની પ્રસ્તાવનામાં ડૉ. જૈકોબીએ વીજી હકિકતો સાથે પ્રમાણકચરિત્રમાં જણાવ્યા મુજબ માણ અને સિદ્ધર્ષિના કૌટુંબિક સંબંધનું ટેવલ આપેલું છે જે નોંધ મુજબ છે:—

સુખમદેવ (વર્મલાટ રાજાનો અમાત્ય)

દત્ત

સુખમદેવ

માણ

સિદ્ધર્ષિ

માણ કવિ દત્તકના પુત્ર અને સુખમદેવના પૌત્ર હતા, એમ તેમણે જાતે શિશુપાલવધમાં લખેલું છે. રાજા વર્મલાટ વસન્તગદના લેખમાં જણાવ્યા મુજબ સં ૬૮૨ માં રાજ્ય કરતો હતો. બાટલી હકિકત જાણ્યા પછી ઇસ ૮૩૫ માં ચોક્કસ માનવું જોઈએ કે સુખમદેવ અને માણ વચ્ચે ઓછામાં ઓછું પચાસ વર્ષનું અંતર હોવું જોઈએ. અર્થાત્ માણ કવિનું જન્મસમય સંવત્ ૭૩૨ લગભગ આવે છે, અને તેજ સમય સિદ્ધર્ષિનો પણ મળી શકાય. આ સંવત્ ૭૩૨ તે ઇ. સ. ૬૭૫ ની બરાબર થાય છે. [વસન્તગદ માઢો લેખ જે સંવત્ આપે છે તે વિક્રમ સંવત્ છે કે અન્ય કોઈ સંવત્ છે, તે ચોક્કસ થવાની જરૂર છે.]

૪) ઉપરના વીજા અને ત્રીજા કક્ષરમાં આપેલી હકિકત ચરિત્ર ઉપરથી લીધી છે. તેમાં દત્તકથા હોય તે ના કવલ કરી શકાય નહીં. પરંતુ તેની તારવણી કરતાં જો તેમાં સર્યાંશ મળી આવે તો, તે નિર્મૂલ તો નહીં જ ગણી શકાય. હરિભદ્રસૂરિનું સ્વર્ગમન સુચવનારી પ્રસિદ્ધ ગાથામાં જે ૫૮૫ મું વર્ષ આપ્યું છે તે વિક્રમ સંવત્નું તો હઈ શકાય. જ. નહીં. કારણ કે હરિભદ્ર-

સૂરિ ઉદ્યોતનસૂરિ (શક વર્ષ ૭૦૦) ના સમકાલીન હતા, તેમજ સિદ્ધાર્થિ પણ પ્રમાવકચરિત્રમાં જણાવ્યા પ્રમાણે માધ કવિ (ઈ. સ. ૮૦૦ પહેલાં) અને ઉદ્યોતનસૂરિ (શક. સ. ૭૦૦) ના સમકાલીન હતાં, તેથી તેમણે આપેલું ૯૬૨ જે વર્ષ પણ વિક્રમ સંવત્તું વર્ષ ન માની શકાય. મત્તુહરિ અને કુમારિલ મટ્ટનાં અવતરણો હરિમદ્રસૂરિના મંથમાં મળે છે, તેથી પણ મહારાજશ્રી જિનવિજયજી કહે છે તેમ, ઈ. સ. ૭૦૦ પૂર્વે તો તેમનો સમય મુકાય જ નહીં; અર્થાત્ આ રીતે પણ ૫૮૫ મું વર્ષ તે વિક્રમતું તો ન જ સંભવી શકે.

૫) હરિમદ્રસૂરિના સંબંધના અન્ય ઉલ્લેખો તપાસીએ. હેરલ્ડમાનાં ઉક્ત પત્રવ્યવહારના પૃષ્ઠ ૨૫૦ માં મુનિસુન્દરસૂરિએ માનતુજ્ઞને વાળમટ્ટના સમકાલીન તરીકે જણાવ્યાની હકિકત છે. ત્યાં જ માનદેવસૂરિને હરિમદ્રના મિત્રતરીકે લખ્યાનો પણ ઉલ્લેખ છે. માનતુજ્ઞસૂરિ, મહાવીરની પટ્ટપરંપરામાં વીસમા નંબરે છે અને માનદેવસૂરિ અઠાવીસમા નંબરે છે. (જુઓ, તેજ હેરલ્ડમાંની પટ્ટાવલી, પૃ. ૩૪૭-૩૫૦) વાળમટ્ટ રાજા હર્ષનો સમકાલીન હોવાથી તેનો સમય ઈ. સ. ૬૨૯-૬૪૫ લેતાય છે. હવે વીસમી અઠાવીસમાં સૂરિ સુધીના વર્ષોનો જો પછો લોગે તો હરિમદ્રસૂરિના સમયનો નિર્ણય, આ રીતે પણ, કરી શકાય. આ ઉપરથી પટ્ટેલે તો સ્પષ્ટ થાય છે કે હરિમદ્રસૂરિ ઈ. સ. ૬૨૯-૬૪૫ પહેલાં પટ્ટેલે વિક્રમ સંવત્ ૬૮૧-૭૦૨ પહેલાં ન જ હોઈ શકે. કારણકે એ સમય તો માનતુજ્ઞ સૂરિની વિદ્યમાનતાનો છે, જે હરિમદ્રના મિત્ર માનદેવથી આઠ પેઢી પહેલાં ચડે ગયા હતા. [ડૉ. જેકોબીથી આ સ્થાને મૂલ ચડે ગઈ છે (હેરલ્ડ, વત્રવ્યવહાર, પાને, ૨૫૦.) : વાળમટ્ટનો સમય ગણવામાં ઈ. સ. ૬૨૯-૬૪૫ ના ગાઢામાં ૧૭ વર્ષે ઉમેરીને વિક્રમ સંવત્ તારવેલાં જોઈએ તેને વડે મૂલથી તેમણે ૫૭ વર્ષ વાદ કર્યો છે !] આ હકિકતથી પણ હરિમદ્રસૂરિનું ૫૮૫ મું વર્ષ તે વિક્ર-

મ સંવત્તું તો ન જ હોઈ શકે, તે વાવાત વાચક વર્ગ સહજ સમજી શકશે.

આ સ્થાને પટ્ટાવલિઓની વધુ મદદ આપેને હાં શકીએ તેમ નથી. કારણ કે તેનો પરસ્પર ક્રમ ઘણો જ ગુંચવળીમોલો હોઈ, સંવત્સરની ગણતરી નિયમ વિનાની અને મૂલ ઉપર મૂલોથી મિશ્રિત થયેલી છે. અને તેથી તે નિરુપયોગી ઠરે છે. હરિમદ્રસૂરિના સ્વર્ગવાસના ૫૮૫ માં વર્ષને વિક્રમ સંવત્ તરીકે માંની હઈ તેમાં ૪૭૦ વર્ષ ઉમેરીને તેને વીર સંવત્ ૧૦૫૫ મું નહીં કર્યું એ પ્રથમ મૂલ ચડે ! બીજે ટેકાણે-પટ્ટાવલિમાં મૂલ મૂલ એક મૂલ તરીકે ન રહેતાં બન્ને-૫૮૫ વિક્રમ સંવત્ અને ૧૦૫૫ ને વીર સંવત્-મૂલ વસ્તુ તરીકે મૂકાયાં ! ! મૂલતું મૂલ અંસાઈ ગયું.

૬) આપ્રમાણે એક અગર વીંજા મંથકારની સાધી જોઈ, જે હાકિકત મઠી તે ભેળીં તપાસીને અનુમાનો કર્યાં. હવે સંવત્સરની ગણતરી શી સાધી પૂરે છે તે તપાસીએ. મૂલ ગાથામાં ૫૮૫ મું વર્ષ કયા સંવત્તું છે તે જણાવેલું નથી. જિનવિજયજી મહારાજે વાધક પ્રમાણે ૨જુ કરી સ્પષ્ટ જણાવ્યું છે કે ૫૮૫ ને વિક્રમ સંવત્ તરીકે તો ન જ લઈ શકાય. ગુપ્ત સંવત્ લેતાં તેમને ઉદ્યોતનસૂરિનાં વર્ષ (૭૦૦ શક) નો મેલ નથી મળ્યો. કારણ કે તેમણે ગુપ્ત સંવત્ની શરૂઆત, અત્યારે મૂલથી જે રીતે ગણાય છે તેમ, શક વર્ષ ૨૪૧ માં ગણી છે. અને તેને લીધે ૫૮૫ ગુપ્ત વર્ષ; તેમને શક ૮૨૬ (૫૮૫+૨૪૧=૮૨૬) ની વારાવ લાગ્યું, તેથી તેમણે ગાથાને નિર્મૂલ ઠરાવી છે.

વસ્તુતઃ તેમ કરી શકાય નહીં. ૫૮૫ વર્ષ કોઈ પણ સંવત્સરનાં તો હરાં જ. અને મારા નમ્ર મત મુજબ તે ગુપ્ત વર્ષ જ છે. પરંતુ ગુપ્તવર્ષની જે ગણના સામાન્યતઃ અત્યારે ગણાય છે, અને મહારાજશ્રીએ પણ તેજ પ્રકારે ગણી છે, તે ગણના યથાર્થ નથી. ગુપ્ત સંવત્, જિનસેન આનાર્ય પોતાના હરિવંશપુરાણમાં,

ગાથાઓ ઉપરથી આપેલા સરવાળા મુજબ વીરાત્ ૭૨૭ માં શરુ થયેલો સમજાય છે. વીરાત્ ૬૦૫ વર્ષ અને ઈ. સ. ૭૮ વર્ષ શક વર્ષની શરુઆત થાય છે. આ હિસાબે વીરનિર્વાણનો સમય ઈ. સ. પૂર્વ ૧૨૭ માં નક્કી થાય છે. અને તે મુજબ ગુપ્ત સંવત્ વીરાત્ ૭૨૭ = ઈ. સ. ૨૦૦ = શક ૧૨૨ = વિક્રમ સંવત્ ૨૫૭ માં શરુ થયો જોઈએ. આ ગણતરી અનુસાર હરિમદ્ના સ્વર્ગવાસના ગાથોક્ત ૫૮૫ માં સંવત્સરને ગુપ્ત સંવત્ તરીકે લેતાં, ૫૮૫ માં ૧૨૨ વર્ષ ઉમેરીએ તો શક વર્ષ ૭૦૭ (૫૮૫ + ૧૨૨ = ૭૦૭) થાય છે. એટલે આ રીતે ઉચોત્તન-સરિએ અજાણેલી હકિકત અને ગાથા ઉપરથી મળતી હકિકતનો વિરોધ નિર્મૂલ થઈ જાય છે. શક વર્ષ ૨૪૧ માં (અલ્લેરુનીના લેલા-નુબાર) એ સંવત્સરની શરુઆત મનાય છે તે ગુપ્ત સંવત્ નથી પરંતુ ગુપ્ત-વલ્મી સંવત્, અર્થાત્ વલ્મી સંવત્ છે. આ બાબતનું વિશેષ સ્પષ્ટીકરણ મેં મારા ગુપ્ત સંવત્ પરના લેખમાં કરેલું છે. ગુપ્ત સંવત્ માટે વાચકવર્ગ આગળ એક ઉદાહરણ રજુ કરશિ. ડૉ. જેકોબીએ (હેરલ્ડ, પત્રવ્યવહાર પૃ. ૨૫૦ માં) મુનિસુંદરસરિની ગુર્વાચલી પરથી લેલેલ કવ્યો છે કે મહાધીરની પટ્ટપરપરાના, એકત્રીશમા આચાર્ય રવિમમસરિ વિક્રમ સંવત્ ૭૦૦ માં થયા. હેરલ્ડના તેજ અંકમાં જે પટ્ટાવલી મુદ્રિત છે તેમાં (પૃ. ૩૫૪ ઉપર) તેજ સરિને ત્રીશમા ગણ્યા છે. (આટલી મૂલ તો માફ કરી શકાય.) અને કહ્યું છે કે તેમણે નાહટુલ નગરમાં સં. ૯૫૨ માં શ્રી નેમિવિ-સ્વની પ્રતિષ્ઠા કરી હતી. “વિક્રમ સંવત્” ૭૦૦ અને “સ.” ૯૫૨ માં પરસ્પર વિરોધ છે તે સહજ જણાઈ આવે છે. પરંતુ તે જ સંવત્ને આ નવી ગણ-તરી પ્રમાણેનો ગુપ્ત સંવત્ માનીએ અને તેમાં ૨૫૭ વર્ષ ઉમેરીએ તો વિક્રમ સંવત્ ૯૫૭ મળી આવે છે. અને આ રીતે આ બંને લેખોનો પરસ્પર વિરોધ ટક્કી જાય છે.

૭) ગુપ્ત સંવત્ ને વડલે મૂલથી ૫૮૫ ને વલ્મી સંવત્ ગણીએ તો તેની વરાવર (૫૮૫ માં ૩૭૬ વર્ષ ઉમેરતાં) વિક્રમ સંવત્ ૯૬૧ આવે. આ સાલ સિદ્ધર્ષિ મહારાજે પોતાની કથાની પ્રશસ્તિમાં જે ૯૬૨ ની સાલ આપેલી છે તેને મળતી આવે છે. પરંતુ પ્રશ્ન એ થાય છે કે આવી મૂલ તેમના સમયમાં થવાનો સંભવ હશે? અને સિદ્ધર્ષિ મહારાજે પોતે તેથી મૂલ કરી હોય તેમ મનાય સહ? આ વાચતમાં કાંઈ કહી શ-કાય તેમ નથી. પરંતુ અંતે ઉપામિતિ ૦ પર ડૉ. જેકોબીએ લેલેલી પ્રસ્તાવના તથા તેના પરિશિષ્ટોનાં અંતે ડૉ. એન. મારોનોએ આપેલા સ્લોકનું સ્મરણ અસ્થાને નહીં ગ-ણાય. શ્રીચંદ્રકેવલિચરિત્રમાં, સં. ૫૯૮ માં સિદ્ધ-ર્ષિ આ પ્રંથ રચ્યો હતો, એમ લેલેલું છે. આ ૫૯૮ ને વર્તમાન ગણતરીએ ગણતા ગુપ્ત સંવત્ તરીકે લેતાં એ પૂર્વોક્ત ૫૮૫ ગુપ્ત સંવત્ની નક્કી આવી જાય છે. જો આથી સિદ્ધર્ષિની તારીલ નિર્ણીત થતી હોય તો કાલક્રમ આ રીતે આવે છે—

ગુપ્ત સંવત્ ૫૭૮ દાક્ષિણચિન્દે ‘કુવલયમાલા’ રચી.

” ” ૫૮૫ હરિમદ્સરિનું સ્વર્ગગમન.

” ” ૫૮૬ (મૂલથી વલ્મી સંવત્ ગણાઈને તે પરથી લખાણ વિક્રમ સંવત્ ૯૬૨ માં) સિદ્ધર્ષિએ ઉપમિતિ મવમપંચા કથા રચી.

” ” ૫૯૮ સિદ્ધર્ષિએ શ્રીચંદ્રકેવલિચરિત્ર રચ્યું.

અને ફરી વાંદે દેવાની જંઝર છે કે અહીં આપેલો ગુપ્ત સંવત્ ૫૮૫ તે ઈ. સ. ૭૮૫ = વિક્રમ સંવત્ ૯૬૧ = શક સંવત્ ૭૦૭ વરાવર સમજવો. હું આ પ્રમાણે કાલગણના નોંધું છું. તે ઉપરથી એ નિર્ણય પરિણમે સર્વમાન્ય થાય તે હશે. વાકી ઉચોત્તિપત્ની ગણતરીએ ગુપ્ત સંવત્ ૫૮૫—૫૮૭ માં, એટલે ઈ. સ. ૭૮૫—૭૮૭ માં નક્ષત્ર વિગેરેની હકિકત એ સિદ્ધર્ષિ મહારાજે મુકી છે તે જો વરાવર મળી રહે, તો મૂલ થયેલી છે તેમ નિશ્ચિત માની શકાય.

જ્યોતિપત્ની ગળતરી કરી હો. જેકોથી તે યાત્રનો નિર્ણય ઘળી સહેલાઈથી કરી શકે તેમ છે. સાથે સાથે પત્ની પણ તપાસ થી જોઈએ કે નક્કરનો જે યોગ સિદ્ધિર્પિનીએ લખ્યો છે તે કરી કરીને વ્યારે આવે છે.

૮) હવે સિદ્ધિર્પિના હરિમદ્સૂરિ પરત્વેના ઉલ્લેખો તપાસીએ. ‘અનાગતં પરિજ્ઞાય’ પદનો અર્થ ડૉ. જેકોવીએ સાક્ષાત્ ગુરુ તરીકે લીધો છે. અન્ય સર્વ તે પદનો અર્થ પરીક્ષ ગુરુ તરીકે લે છે. પરીક્ષ ગુરુ તરીકે લેતાં પૈવી કલ્પના થાય છે કે હરિમદ્સૂરિએ વિશિષ્ટજ્ઞાનથી ભાવી જન્મનારા સિદ્ધિર્પિને જાણીને “લલિતાવિસ્તરા” લખી. આ અર્થ ડૉ. જેકોવીને અત્યંત અસંગત લાગે છે. મારા નમ્ર મત મુજબ “અનાગતં પરિજ્ઞાય” પદ સિદ્ધિર્પિના અસ્તિત્વ પરત્વે ન લેતાં તેમના માનસિક પરિવર્તનો પરત્વે (Knowing his psychological development) સમજીએ તો ક્લિષ્ટતા દૂર થાય છે. સિદ્ધિર્પિ મહારાજનું વલણ શું છે, તે સમજી રહેલ ગુણે તેમનું માધી વલણ અને દેશકાલ સમજવાં મુશ્કેલ નથી; અને તેથી જાણે આગમચેતીપૂર્વક તેમણે તે “લલિતાવિસ્તરા”ની રચના કરી કે જે સિદ્ધિર્પિને પરમ ઉપકારક થઈ પડી.

ઉપમિતિ ૦ ના આચ પ્રસ્તાવમાં ધર્મબોધક ગુરુનું વર્ણન આપેલું છે. ત્યાં સદુપદેશ આપવાવાળા પૂર્વસૂરિઓને વિશિષ્ટ જ્ઞાનવાળા તથા મધિવ્ય પારલનારા કહ્યા છે. કારણ કે તેમના ઉપદેશો (અંગર ઉપદેશક મંથો) મધિવ્યમાં સર્વ માંણીને ઉપકારક રહે છે. પટલે સાક્ષાત્ ગુરુ ન હોવા છતાં સાક્ષાત્ ગુરુ અને પરીક્ષ ગુરુ વચ્ચે રહેતું કાલજ્યવધાન નિકળી જાય છે. હરિમદ્સૂરિ વિષયમાં ન હોય ત્યારે આવા પરીક્ષ ગુરુની કક્ષામાં તે આવે તેમાં નવાઈ નથી. પ્રશ-

સ્તિમાં “ધર્મબોધક ગુરુ”નો સાક્ષાત્પણનો અર્થ લેવામાં પણ તેથી હાની નથી આવતી. પ્રશસ્તિનો હેતુ યંત્રકારનો યત્નિકત્ત્વ પરિચયે દેવાનો હોઈને તેમાં વર્ણવેલ ધર્મબોધક ગુરુ સાક્ષાત્ ગુરુ તરીકે જ લેવા જોઈએ. પોતાના ગુરુની વિશિષ્ટતા માટે અગર વિશેષ ઓઢાણ માટે ગુરુપરંપરાનો નિર્દેશ મળે આવે પણ તેનું મૂલ્ય તો સાક્ષાત્પણમાં જ રહે. સાક્ષાત્પણમાં વિનાનો નિર્દેશ પ્રશસ્તિમાં. તો, મારા નમ્ર મત મુજબ, અત્યાને જ ગંગાય. દાક્ષિણ્ય ચિન્હની પ્રશસ્તિ જોઈશું તો આ હકિકત સારી રીતે સ્પષ્ટ થશે. ઉપમિતિ ૦ ની રચના વચ્ચે હરિમદ્સૂરિ વિષયમાં ન હોય તેથી “માવત:” શબ્દના પ્રયોગ પૂર્વક (“પ્રસ્તાવે માવતો હ્યત”) અન્યત્ર નિર્દેશ પણ સાક્ષાત્ પ્રસંગને વાધક ન રહે.

વઢી પૂર્વસૂરિઓ અને તેમની કૃતિઓ સામાન્ય રીતે સર્થને સદુપદેશકારક થઈ પડે, તો વઢી સામાન્ય વર્ગનો જ્યવચ્છેદ કરી પોતાને માટે જ “લલિતાવિસ્તરા”નો વધો પ્રયાસ કલ્પવાનું આવે કાલે તો પ્રયોજન જ નથી રહેતું, કારણ કે લેલક પોતે સર્વની સાથે ઉપકૃતવર્ગમાં તો આવી જ જાય છે.

૯) ઉપસાર તથા જુદી જુદી કથાઓપરથી હરિમદ્સૂરિ અને સિદ્ધિર્પિ માટેની હકિકતો વાચકવર્ગે આગળ વિશેષ ચર્ચા માટે રજૂ કરી છે. ઉપલખમાલા તથા ઉપમિતિ ૦ ની અન્ય પ્રતિઓમાં તે મુજબ જ ઉલ્લેખો છે કે ફેરફાર છે તે તપાસવાની જરૂર છે. તેમ છતાં અને જ્યોતિપત્ની ગળતરી મેલવેલ સર્વ હકિકતનો નિર્ણય થશે તે નિઃસંદેહ છે.

જૈન સાહિત્યથી અજ્ઞાતજન મહારાજધર્મીના તેલ પર દૃષ્ટિપાત કરતાં હેલ હલે, તેમાં જો દોષ-દૃષ્ટિ-ગોચર થાય તો તે સ્વતંત્ર ગણવા યાચના કરે છે.



સંપાદકીય વિચાર.



भांडारकर प्राच्यविद्यासंशोधन मन्दिर

અને

જૈન સાહિત્ય સંશોધન કાર્ય.

હૉ. સર રામકૃષ્ણ ગોપાલ ખાંડારકરનું નામ સંસ્કૃત શાસ્ત્રયુગના પારદર્શી વિદ્વાન્ તરીકે અને પુરાતત્ત્વના પરમ-પણ્ડિત તરીકે જગત્પ્રસિદ્ધ છે. તેમણે પોતાનું સમગ્ર જીવન અને સર્વસ્વ સાહિત્યસેવાના ચરણે સમર્પણ કરી, ભારતભૂમિના શૂંતકલીન ગૌરવનો, અન્યકોરના અજ્ઞાતમાંથી ઉદ્ધાર કરવામાં ઉત્તમ ભાગ ભજવ્યો છે. અને તરુણ ભારતીઓને મહિષ્યમાં ફેડે દિશામાં પ્રયત્ન કરવાની જરૂરત છે, તે વિષયમાં આદર્શનો માર્ગ આંકી આપ્યો છે. શિર્વાળગિરાના એ પરમ ઉપાસક અને ભરતભૂમિના મહાન્ મન્વંતરનું હજ્જલ નામ અને આદર્શ કાર્ય મહિષ્યની પ્રજાની દૃષ્ટિ આગલ હમેશાં શ્લોકતું રહે અને તેના યોગે એ પ્રજા પોતાના કર્તવ્યની પૂર્તિમાં પ્રયત્નશીલ બની રહે તેવા શુભ હેતુથી, સર રામકૃષ્ણના સમાનશીલ દેશવન્યુઓ, તેમના સામ પ્રશંસકો અને મિત્રો, તેમજ હંતાહી શિષ્યોએ મઠીને, તેમના જન્મની ૮૦ મી વર્ષગાંઠના દિવસે, ૧૯૧૭ ના રોજ, પના રાહરમાં, 'ખાંડારકર પ્રાચ્યવિદ્યાસંશોધન મન્દિર (Bhandarkar Oriental Research Institute)' નામની એક અત્યાવશ્યક સંસ્થાની સ્થાપના કરી છે.

પ્રાચ્યવિદ્યાસંશોધનનો અર્થ—પૃથ્વીના પૂર્વીય ગોલાદર્શમાં આવેલા દેશોમાં (જેમાં હિન્દુસ્થાન પ્રધાનપણે યોગદે છે) વસંતી પ્રજાઓના વિદ્યા, કલા, સાહિત્ય, ઇતિહાસ, આદિની શોધ—શોધ કરવી, પત્રો થાય છે. યુરોપ અને અમેરિકા જેવા વિદેશોનાં આ વિષયની શોધશોધ કરનારી અનેક સંસ્થાઓ

સ્થાપિત થઈ છે, એ સંસ્થાઓમાં અનેક મોટા મોટા અધ્યાપકો અને અધ્યાપકો સતત કાર્ય કર્યા કરે છે,—પ્રતિવર્ષ નવી નવી શોધો કરી જમત આગલ રજુ કરતા રહે છે. પરંતુ જે પ્રજાની સંસ્કૃતિની શોધશોધ માટે એ વિદેશી લોકો ઘણા ડમગથી કાર્ય કર્યા કરે છે તે પ્રજાના સુદ પોતાના દેશમાં તો એવી એક પણ સંસ્થા આજ સુધીમાં અસ્તિત્વમાં આવી ન હતી, એ સ્વેચ્છર દેશના અને દેશ ઉપર રાજકર્ત્રી સત્તાના માટે પૂર્ણ લગ્ગાજનક બાવત છે. અત્તુ સર રામકૃષ્ણપંતના પુણ્ય નિમિત્તે મારતને હવે આવી જાતની એક વ્યાપક સંસ્થાની પ્રાપ્તિ થઈ છે, અને તેથી એ વિષયના રસિકોને આનંદ થાય તે સ્વાભાવિક જ છે.

એ સંસ્થાની સ્થાપનાનો મુખ્ય હેતુ એ છે કે—પ્રાચ્યવિદ્યાની શોધશોધમાં રસ લેનારા વિદ્વાનો અને વિદ્યાર્થીઓને અપેક્ષિત એવું સપ્લું સાહિત્ય પૂરું પાડી શકે તેનું એક અચતન (up to date) પુસ્તકાલય સ્થાપન કરવું. એ પુસ્તકાલયમાં સપ્લું જાતના હસ્તલિખિત અને મુદ્રિત પુસ્તકો, જુદા જુદા દેશી અને જુદી જુદી ભાષાઓમાં પ્રકટ થતા આ વિષયના સપ્લું સામયિક અને નિયતકાલિક પત્રો અને રિપોર્ટો, તથા આવી જ જાતનું પ્રકટ થતું વીજ્ઞ વિવિધ પ્રકારનું સમગ્ર સાહિત્ય, એકત્ર સંગ્રહીત કરવામાં આવશે.

વીજો મુખ્ય હેતુ આ સંસ્થાનો એ પણ છે કે—આવી શોધશોધના મવૃત્તિમાં રસ લેવાની ઇચ્છા રાલનારા પ્રેજ્યુપ્ટો અને પાણ્ડિતો—શાંતિ-ઓને, સંશોધન વિદ્યાનું અર્વાચીન પદ્ધતિ ઉત્તમ શિક્ષણ આપી નવા સંશોધકો તૈયાર કરવા.

આ સંસ્થાના પત્રા હવે હેતુઓ તથા પદમાં કાર્ય કરવા માટે જાણપણ નિઃસ્વાર્થ સ્કૉલરોના સતત

પ્રયત્નથી સંતુષ્ટ થઈ, મુંબઈની સરકારે પોતાના કબજામાં જે, ડેકન કૉલેજમાં સંરક્ષિત જુનાં હસ્તલિખિત પુસ્તકોનો સુપ્રસિદ્ધ અમૂલ્ય સંગ્રહ હતો, તે આ સંસ્થાને સ્વાધીન કરી, આ કાર્યમાં પ્રશંસનીય ઉદારતા અને માયાહુ સહાનુભૂતિ દેખાઈ છે. તેવી જ રીતે ડૉ. સર રામકૃષ્ણપેટે પણ પોતાના લાંબા અને માન-મેરલા જીવનમાં સંગૃહીત કરેલાં વિવિધ માપા અને વિવિધ જાતનાં પુસ્તકોનેા મોટો મંડાર, એ સંસ્થાને અર્પણ કરી, એ વાતની સંસ્થાની પ્રધાન આવશ્યકતાને કેટલેક અંશે પૂર્ણ કરી છે.

દાનવીર પારસી ગૃહસ્થ તાતાબન્ધુઓ, આ સંસ્થાને સૌથી પ્રથમ એક સારા પ્રમાણમાં આર્થિક મદત કરી આ કાર્યને પ્રારંભિક ગતી આપી, ધીમી ચાલે, પણ મક્કમ પણ ચાલવું કર્યું છે. તાતાબન્ધુઓના દાનથી સંસ્થાનું પ્રથમ મકાન વાંધવામાં આવ્યું છે, અને તેનું નામ 'તાતા રીસર્ચ હૉલ' એવું રાખવામાં આવ્યું છે. ઉપર જણાવેલા વધાં પુસ્તકો હાલ તુરંતમાં એ હૉલમાં જ સ્થાપન કરેલાં છે. તા. ૬, જુલાઈ, ૧૯૧૭ ના દિવસે મુંબઈના માજી ગવર્નેર લૉર્ડ વિલિંગ્ટનના હોથે એ સંસ્થાનો ઉદ્ઘાટન-સમારંભ કરવામાં આવ્યો હતો.

..

ડેકન કૉલેજમાંથી આ સંસ્થાની સ્વાધીનતામાં આવેલા હસ્તલિખિત પુસ્તકોના મહાન અને અમૂલ્ય સંગ્રહમાં જૈન પુસ્તકોની સંરૂપા ઘણી મોટી અને ઘણી કિંમતી છે. એમાં ૬૦૦ જેટલા ગ્રંથો તાદ્વપ્ત ઉપર લેખલા છે અને લગભગ ૬૦૦૦ જેટલા કાગળ ઉપર લેખલા છે. એ ગ્રંથોમાં કેટલાક તે એવા અપૂર્વ છે કે જેની બીજી નકલ અન્યથ ક્યાંપ જોવામાં આવતી નથી. પાટણ, સંભાત, જેસલમેર, બીકાનેર, આદિ સ્થળોમાં જે જૈનોના જુના પુસ્તક મંડારો હતા તેમાંથી આ વધાં પુસ્તકો સરકારે શોધાયા પૈસા આપીને સંરક્ષિત કર્યા છે; અને આવી રીતે હાલો રુપિઆના પુસ્તકો એ સંગ્રહમાં સંગૃહીત થઈ રહ્યા છે.

આટલી મોટી સંખ્યામાં જૈન ગ્રંથો દુનિયાની બીજી કોઈ હાઈબ્રેરીમાં નથી. આ કારણથી, એ પુસ્તકોના ઉત્તમ નિમિત્તે જૈન સમાજ તરફથી હાર્દિક સહાનુભૂતિ અને આર્થિક સહાયતા મળે એવી ઇચ્છા થી, આ સંસ્થાના નિઃસ્વાર્થે કાર્યવાહકો મુંબઈના કેટલાક આપણા જૈન માર્દેઓને મળ્યા અને તેમની સાથે આ સંબંધમાં કેટલીક વાતચીત કરી, જૈન સમાજના વિશેષ પરિચયમાં આવવા તેમણે પ્રયત્ન કર્યો. એ પ્રયત્નનો પરિણામ કેમ અને કેવો આવ્યો તેનો ટૂંક બહેવાલ, આ સંસ્થા તરફથી છેલ્લા જુલાઈ મહિનામાં બહાર પડેલા 'એનાલ્સ ઓફ ધી મેમ્બર-રકર્ ઓ. રી. ઇન્સ્ટીટ્યુટ' ના પ્રથમ અંકમાં આપેલા વર્કિંગ કમીટીના રીપોર્ટના ૫૩ માં પાન ઉપર નીચે પ્રમાણે આપેલો છે.

'The opening of the Institute by His Excellency had already made the Institute's name well-known in Bombay and elsewhere, and the Secretaries lost no time in availing themselves of this opportunity. They approached some of the big merchants of Bombay and especially the leaders of the Jain community. After repeated visits to Bombay and interviews with various persons, it was possible to arrange for a meeting of the Jain community in Godiji Maharaja's Upas'raya on 17th February 1918 under the presidency of Pravartaka Kantivijayaji Maharaja. Dr. Belvalkar and Dr. Sirdesai spoke there on behalf of the Institute, explaining its objects and calling upon the Jain community to do their own share for the cause, which by reason of the fact that the Deccan College MSS. Library was specially rich in Jain works, had a special claim upon them. Shet Gulabchand Dervchand and others also made appropriate speeches. And a committee was appointed to collect subscriptions from the leaders of the

Jain community. Pravartaka Shri Kantivijayaji in conclusion urged upon the audience to do their utmost to help the noble cause, which was of more spiritual significance than the mere accumulation of commercial gains.

It is unnecessary to recount here the various ups and downs which our negotiations with the Jain community had to pass through, raising at times high hopes of our being immediately able to secure Rs. 25 or even 50 thousand that the community thought they would contribute, and at another time making us despair of being able to collect for all this add even Rs. 5,000. Suffice it to say, that, thanks to the energy and untiring efforts of Muniraj Jinavijayji, the Jain community empowered him on the occasion of our first Anniversary (6th July 1918) to make the following announcement:—

मान्यवर प्रमुख महोदय, और अन्य सभ्यवृन्द,

आप जानते ही हैं कि इस संस्थाके स्थापन करनेका मुख्य उद्देश्य, भारतीय साहित्यका संशोधन और प्रकाशन करनेका है। भारतीय साहित्यमें वैदिकधर्म, जैनधर्म और बौद्धधर्म तीनों धर्मों के साहित्यका समावेश होता है। इस संस्थाका आदर्श वातावरण और धार्मिक भेदभावकी दृष्टिसे निरुक्त हो। फल कार्य करनेका है। अतः इसके सम्मान्य संचालक महाशयोंने कुछ समय पहले जैन समाजके कतिपय गृहस्थोंके साथ इस संस्थाके बारेमें कुछ ज्ञातव्य बातें कही थीं और जैनसमाजकी भी इस इन्स्टीट्यूटमें कुछ सहायता और सहानुभूति दिखलानेके लिये निवेदन किया था। मुझे कहनेके लिए हर्ष होता है कि जैन समाज इस संस्थामें अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट करती है और मुझे निश्चित सूचना मिली है, कि हमारे उत्साही सज्जन इस इन्स्टीट्यूट को सहायतार्थ २५ हजार

रुपयेका दान करनेका संकल्प कर थोड़े ही समयमें यह द्रव्य समर्पण किया चाहते हैं। यह बात इस इन्स्टीट्यूटके प्रिय आरम्भ ही में मंगल समान है। और इससे संस्थाकी लोकप्रियता, उपयोगिता और भाविमहत्ताका सूचन होता है। अतएव आशा है कि यह खबर यहां पर उपस्थित सब सज्जनोंकी खुशी दिलानेवाली होगी।

The following are the terms of the agreement that passed between the Working Committee, and the Secretary Jain Conference:—

1. Should the Jain Committee agree to contribute a sum of Rs. 25,000 (twenty-five thousand) as free donation to the Institute, the Institute would in return—

(a) give the individual donors the usual privileges of Life-members, Benefactors, Vice-Patrons or Patrons according to the amount of their contribution;

(b) inscribe on a tablet the names of individual donors of Rs. 10,000 (ten thousand) or more, should the donors so wish it;

(c) agree to devote a due proportion (about 1th) of such sums as might be available for publication to the publication of Jain works; and

(d) set apart 1/10th of the net sale proceeds of the Jain works so published for Jain purposes exclusively.

2. Should the Jain Community agree to further contribute an additional sum of Rs. 25,000 (twenty-five thousand) the Institute undertakes to

(a) erect, with the money thus made available, one of the side-halls (estimated to cost about Rs. 30,000) and name it suitably in consultation with the donor (should there be only one such) or the Jain Association; or

(b) set apart this amount as a permanent fund the interest of which (less five per cent, deducted as contribution for the general funds of the Institute) would be exclusively devoted to such Jain purposes as the Association might mention.

તાત્પર્ય—નામદાર ગવર્નરના હાથે આ સંસ્થાની ઉદ્ઘાટન ક્રિયા થઈ ગયા પછી મુંબઈ વિગેરે સ્થળોમાં આ સંસ્થા પ્રસિદ્ધિ પામી ચુકી હતી. અને તેથી સેક્રેટરીઓ આ અવસરનો લાભ લેવામાં વિલકુલ ટીલ ન કરતાં તુરતજ મુંબઈના કેટલાક મોટા વ્યાપારીઓ પાસે ગયા હતાં. ત્યાં ટાલસ કરીને તેમણે જૈનકોમના કેટલાક ઓગવાનોની મુલાકાત લીધી. આ પ્રમાણે અનેકવાર મુંબઈ જઈ આવ્યા પછી અને અનેક ગૃહસ્થોની સાથે આ વિષયમાં વાતચીત થયા પછી જૈન સમાજની એક મીટિંગ ધરવાની ગોઠવણ થઈ શકી હતી. આ મીટિંગ તા. ૧૭ ફેબ્રુઆરી, ૧૯૧૮ ના દિવસે ગોડીજોના જૈન ઉપાશ્રયમાં પ્રવર્તક શ્રીકાન્તિવિજયજી મહારાજના પ્રમુલપણા નીચે મઠી હતી. સંસ્થા તરફથી ડૉ. બેલ્લકર અને ડૉ. સરદેશઈનાં ભાષણો થયાં હતાં અને તેમાં સંસ્થાના ઉદ્દેશ્યો સમજાવવા સાથે જૈનકોમને આ કાર્યમાં પોતાનો ભાગ ભજવવા માટે નિવેદન કરવામાં આવ્યું હતું. આ શુભ કાર્યમાં જૈનકોમને સાસ સહાનુભૂતિ બતાવવાનું કારણ એ હતું કે ડેવન કૉલેજના હસ્ત લિખિત પુસ્તકોમાં મોટી સંખ્યા જૈનધર્મનાં ગ્રંથોની છે અને તેટલા માટે તેમની સહાનુભૂતિ ઉપર એ સંસ્થાનો હક છે. શેઠ ગુલાબચંદ્ર દેવચંદ આદિ ગૃહસ્થો પણ એ મીટિંગમાં પ્રસંગોચિત ભાષણો કર્યાં હતાં. તે પછી, કંઠ મેળો કરવા માટે જૈનકોમના કેટલાક ઓગવાનોની એક કમિટી નીમવામાં આવી હતી. છેવટે, પ્રવર્તક શ્રીકાન્તિવિજયજી મહારાજે શ્રોતાજનોને આ ઉમદા કાર્યમાં મદત કરવા માટે પોતાથી ચનતું કરવા પ્રેરણા કરી હતી. તેમણે જાણ્યું હતું કે આ કાર્યની ઉપયોગિતા છે, તે આપ્યા

ત્મિક દૃષ્ટિએ છે, વ્યાવહારિક કે આર્થિક દૃષ્ટિએ આ માવત જોવાની નથી. इत्यादि.

જૈનકોમની સાથેના અમારા કોલકરાર કરવાના ઈંગે કેવા કેવા પ્રકારની મુશ્કેલીઓ ઊભી થવા પામી છે તેનું આ સ્થલે સવિસ્તર વર્ણન કરવું અનાવશ્યક છે. આ કોલકરારની માંજગડ થવા દરમ્યાન જૈનગૃહસ્થોના સૂચકવા ઉપરથી કેટલીક વસ્તે અમને આશા થતી કે, એ કોમ પાસેથી રૂ. ૫-૫૦ હજાર રૂપિયા પ્રાપ્ત કરવા અમે શક્તિમાન થઈશું, ત્યારે કેટલીક વસ્તે એવી નિરાશા થતી કે આટલી થી માંજગડ કે વાટાઘાટનાં પરિણામમાં માત્ર પાંચ હજાર રૂપિયાનો જ લાભ થવાનો છે. છેવટમાં અમે માત્ર મુનિ જિનવિજયજીને ધન્યવાદ આપીને છીએ કે જેમના ઉત્સાહ અને અશ્રાન્ત પ્રયત્નને લઈને સંસ્થાની પહેલી સંવત્સરી (તા. ૬, જુલાઈ, ૧૯૧૮) ના પ્રસંગે જૈન સમાજ તરફથી નિમ્ન લિખિત ઉદ્ગાર પ્રકટ કરવા તેઓ અધિકારી થયા હતા.

× × × ×

જૈન કોન્ફરન્સના સેક્રેટરી અને આ સંસ્થાના કાર્યકારી મંડળ વચ્ચેના કરારની શરતો નીચે પ્રમાણે થયેલી છે:—

૧—જૈન કોમ તરફથી આ સંસ્થાને રૂ. ૨૧૦૦૦ ની રકમ, સાસ કોર્ડે પળ પ્રકારના વિશિષ્ટ પ્રતિમન્ચ સિવાય જો દાન કરવામાં આવશે તો સંસ્થા તેના બદલામાં નીચે આપેલી શરતો ફરજ કરશે.

(ખ) વ્યક્તિગત દાતાઓને, તેમની વક્ષીસના પ્રમાણમાં, સંસ્થા તેમને પેટન, વાર્ષિક પેટન, બેનીફિટર અને લાઈફ મેમ્બરના સાધારણ હકો વક્ષશે.

(ગ) ૧૦ હજાર અથવા તેથી અધિક રકમ આપનાર દાતાની ગૃહસ્થનું, તેમની રચ્છા હશે તો, તક્તી ઉપર નામ કોતરવામાં આવશે.

(ક) પુસ્તક પ્રકાશન કાર્યમાં જે રકમ સંસ્થાને મલ્લેશે તેનો યોગ્ય હિસ્સો—અગમ્ય ૨ જૈનમંથ પ્રકાશનના કાર્યમાં સ્વચં કરવા કબુલતા આપશે. અને

(ઠ) છપાંપણ જૈનમંથનેના વેચાણના સ્વરૂપ સુદન માદ કરતાં રહેલા નફાની ૨ રકમ સવૈયા જૈન સાહિત્યના અર્થે જૂદી રાંહી મૂકવામાં આવશે.

૨-આ અપરાંત, જૈન સમાજ વધારાની ૨૦ ૨૫૦૦૦ ની રકમ આપવા કબુલતા આપશે તે સંસ્થા તરફથી તેના વદલામાં

(અ) સંસ્થાનો જે વિધમાન હોલ છે તેની વાજુમાં ૨૫૦૦૦ નો ફરેલો છે) વાંધવામાં આવશે, અને તે દાતા (જો તે એક વ્યક્તિ હશે તો) ની અથવા જૈન સમાજની સમ્મતિ અનુસાર તેનું યોગ્ય નામ આપવામાં આવશે, અથવા

(બ) આ રકમ એક સ્થાયી ફંડના રૂપમાં અલગ રાખવામાં આવશે અને તેના વ્યાજની રકમનો, (સંસ્થાના સાધારણ ફંડ માટે તેમાંથી પાંચ ટકા કાઢી લઈ) જે જે કાર્યમાં ઉપયોગ કરવાનું જૈન સમાજ સ્વચં તે તે કાર્યમાં તેનો ઉપયોગ કરવામાં આવશે.

આ રીપોર્ટમાં, ઉપર મારું નામ લેવામાં આવ્યું છે તેથી એ સમ્બંધમાં મારે અહીં કેટલોક સુલસો કરવાની આવશ્યકતા છે. આ રીપોર્ટમાં પ્રારંભમાં જણાવ્યા પ્રમાણે જ્યારે મુર્દના ગોઠીજીના જૈન ઉપાશ્રયમાં પ્રવૃત્ત શ્રીકાંતિવિજયજી મંના પ્રમુલ્લેખનાં નોંધે, આ સંસ્થાને જૈનસમાજ તરફથી સહાયતા કરવા માટે જે મીટિંગ મલ્લી હતી તે વલ્લે હું પણ ત્યાં હાજર હતો. સંસ્થા તરફથી ડૉ. વેલ્લેલકર વિરેણે જે માંગણી આપ્યાં હતાં તેમાં, સંસ્થાની સ્થાપનામાં અવિલા વિશાલ જૈન સાહિત્યની કેટ-

લીક સ્કૂલ રૂપરેલાનું પણ ધર્મન કરવામાં આવ્યું હતું. એ વર્ણન સાંમલ્લી મારા મનમાં તે મધું સાહિત્ય જોવાની પ્રવલ ઉત્કંઠા થઈ આવી, અને તેથી, હું મુંબઈથી વિદ્યાર કરી અહીં (પૂનામાં) આવ્યો. અહીં આવ્યા પછી, એ સંસ્થાના કાર્યવાંહકો સાથે વિશેષ પરિચય થયો. મુર્દનાં જે મીટિંગ મરાળી હતી અને તેમાં જે આ કાર્યમાં મદત કરવા માટે કેટલાકેક માર્દોની કમીટી નીમવામાં આવી હતી, તેનું પરિણામ અંતે શૂન્ય જેવું જણાતું લાગતું હોવાથી, એ લોકોના મનમાં મહુ જ નિરાશા થઈ આવી હતી. મારે સમાગમ થવા પછી, એ કાર્યમાં પ્રવૃત્ત કરવા મને જ એ માર્દો લાસ પ્રેરણા કરવા લાગ્યા, ત્યારે મને મહુ મુશ્કેલ થવા લાગી. મારી પરિસ્થિતિનો વિચાર જણાવતાં મેં, પ્રથમ તો એ માર્દોને એમ જ ચોક્કસ જવાબ આપ્યો કે, આ કાર્યમાં, મારા જેવાં એક અજ્ઞાતમાર્ગી, એકાંતવાસી અને એકાંકી રમતા (અથવા રહતા) બિહુણ માંગ લેવાથી કાઢી સફળતા મલ્લે તેમ નથી; કારણ કે પૈસા આપનારાં હમેશાં કાર્યની ઉપયોગિતા-અનુપયોગિતાનો વિચાર કરવા કે સમજવા જેટલી પુરસદવાલા હોતા નથી અને તેથી સીધા-સાદા માણસના કહેવાં ઉપરથી તેઓ સંસામાંથી એક કાઢી એપે; એવી આશા રાંહી મૂલતા ગણાય. લોકો હમેશાં મ્હોંડે જોઈ ચાંદલો કરવાની ટેવથી ટેવાઈ રહેલા છે; તેથી તેવા મોટા મ્હોંડાવાલા માણસના કપાલે જ તેઓ વંદન-ચોલા ચોટાડવા સ્યાર થાય છે; માટે, આ કાર્યમાં તો, કોઈ મહુશ્રુતપદવિમુખિત, મહુજનસમ્મત અને મહુશિષ્યપરિવૃત્ત ગણાતા નામવર આચાર્યની સેવા-સ્તવના કરવાથી તમારી આશા સફળ થાય તેમ છે. પરંતુ, મને એ સંસ્થાહસ્તક રહેલાં સમગ્ર જૈનપુસ્તકોને ધ્યાનપૂર્વક જોવાનો અને તેમાં છપાંપણ વિવિધ ઐતિહાસિક સાધનો-પ્રમાણોનું વિસ્તૃત ટાંચણ કરી લેવાનો પ્રયત્ન હોતો હતો, તેથી વિચાર થયો કે જો હું આ લોકોને ઉપર પ્રમાણેનો સૂકો જવાબ આપીને જે

બેસી રહીશ તો, જે કાર્ય માટે હું અહીં આવ્યો છું તે યોથેય રીતે પૂર્ણ થાય તેમ નથી. કારણ કે, એ ગાઈ-ઓની પ્રસન્નતા ભરેલી સહાનુભૂતિ, સિવાય મારાથી એ વિશાલ જૈન સાહિત્યનું સ્વેચ્છાપૂર્વક નિરીક્ષણ કરી શકાય તેમ સંભવતું નથી. બીજું, સંસ્થાનું કાર્ય પણ મને વહુ જ ઉપયોગી અને અત્યુત્તમ જણાયું. એ સંસ્થાને જો પ્રારંભમાં જૈન સમાજ તરફથી સારી સહાયતા મળે તો, તે, સમાજ અને દેશ-વત્રેની દૃષ્ટિએ એક માનવદ કાર્ય ગણાશે. જૈન સમાજ પોતાના નિર્જીવ સ્વાતાઓમાં જ્યારે દર વર્ષે હજારો-લાલો-રૂપિયા (ફક્તની આકાંક્ષા વગર જ ?) સ્વર્ગે છે ત્યારે આવા એક સજીવન અને સાર્વજનિક સ્વાતામાં ૨૫-૨૦ હજાર રૂપિયા આપવા તેને કાંઈ હિસાબમાં નથી. તેમ જ આજ સુધીમાં, આવી જાતના કોઈ પણ જૈનતર સજ્જનો જૈનસમાજ પાસે વિશિષ્ટ રીતે સહાયતા માંગવા આવ્યા નથી અને જો આ પ્રસંગે આવ્યા છે તો તેમને નિરાશ મને પાછા વાલ્કવામાં જૈન કોમને એક પ્રકારનું કલંક જેવું છે. તથા સાતા વન્ધુઓ જેવા પારસી સજ્જનોએ, કે જેમના સાહિત્ય કે ધર્મનો એ સંસ્થા સાથે કોઈ પણ પ્રકારનો સ્પર્શ નથી, તેમણે સૌથી પ્રથમ એક ઉદાર રકમ આપી પારસીકોમની કિર્તિ વધારી છે, ત્યારે જૈનસમાજનો તો, એ સંસ્થામાં એક દૃષ્ટિએ સ્વાર્થ પણ છે; તેથી જો કાંઈક સહાયતા આપવામાં આવે તો પરમાર્થ સાથે સ્વાર્થ સાધન પણ થાય તેમ છે. આ વધા વિચારોના હોથે, મને એમાં 'યથાશક્તિ' પ્રયત્ન કરી જોવાનું સાહસ થઈ આવ્યું. અને તદનુસાર, મેં કેટલાક પરિચિત અને સાહિત્યમિય ગૃહસ્થોને, આ કાર્યમાં કાંઈક સહાયતા આપવા-અપાવવા માટે, પ્રત્યક્ષમાં તેમ જ પત્રો દ્વારા સૂચનાઓ કરવા માઢી. તેના પરિણામે, કેટલાક માર્દઓની આશા આપનારી અને વિશ્વાસ ભરેલી સન્મતિથી, મેં, એ સંસ્થાના પ્રથમ વાર્ષિકોત્સવના મોટા મેઢાવડા પ્રસંગે, ઉપર જણાવ્યા પ્રમાણે, ૨૫ હજાર રૂપિયા, જૈનસમાજ તરફથી એ

સંસ્થાને મેટ આપવાની કબૂલાત આપવાનું સાહસ કર્યું હતું. અને તેના વડલામાં, સંસ્થા પાસેથી, કેટલીક વાટાઘાટ કર્યા પછી, ઉપર કલમ ૧ માં જણાવ્યા પ્રમાણે શરતો કબૂલ કરાવવામાં આવી હતી.

જૈન સમાજના સદ્માત્રે, મેં આપેલી ઉપરોક્ત કબૂલાતના સમાચાર વર્તમાનપત્રોમાંથી કલકત્તા નિવાસી જૈનજાતિશિરોભૂષણ ધર્મપ્રિય વાવુ શ્રીવદ્રીદા-સજી મુકીમના સુપુત્ર વાવુ શ્રીરાજકુમાર સિંઘજીની જાણમાં આવ્યા અને તેથી તેમણે મને એક પત્ર દ્વારા એ સંબંધમાં વિશેષ હકીકત જણાવવાની સૂચના કરી. તે જ પ્રસંગે વડોદરા નિવાસી અને ગાયકવાડ સર-કારના માનવંતા સ્વેચ્છા સેઠ લાલમોઈ 'કલ્યાણમુર્દી' કાર્યે પ્રસંગે અહીં (પૂનામાં) આવતાં મને મલ્લા આવ્યાં. તેમને પ્રત્યક્ષમાં એ સંબંધી વધી હકીકત સમજાવતાં, તેમ જ ઉક્ત વાવુજીને સવિસ્તર પત્ર લેલી મોકલતાં, એ બન્ને ઉત્સાહી, ઉદાર અને ડર્મી સદ્-ગૃહસ્થોએ આ કાર્યમાં યોથે મદત આપવા-અપાવવાનો માર આનંદપૂર્વક પોતાના માથે ડપાડી લેવાનો સ્વીકાર કર્યો. થોડા જ દિવસ પછી મને વાવુ શ્રીરાજકુમારસિંઘજીનો એક બીજો પત્ર આવ્યો. તેમાં તેમણે ૨૫ હજાર જ નહીં પરંતુ ૫૦ હજારનો મોટી રકમ ભેગી કરી આપવાની ઇચ્છા પ્રદર્શિત કરી, અને એ બીજી ૨૫ હજારની વધારાની રકમના વડલામાં જૈનકોમના અથવા કોઈ જૈન ગૃહસ્થના નામે એક હોલ બાંધવા સંબંધી વ્યવસ્થા કરવાનું જણાવ્યું. વાવુ સાહેબ પોતાની પૂરી લાગણી અને વજનદાર પ્રયત્નના હોથે થોડા જ દિવસોમાં જુદા જુદા સદ્ગૃહસ્થો પાસેથી આપવા કબૂલેલી રકમનાં મોટા ભાગનાં વચ્ચે મેઢવી લીધાં હતાં. તથા ૨૫ હજારની સામઢી. એક નાદર રકમ, વાનવીર સેઠ દીરજી સેતલ્લી પાસેથી તેમના નામે લાઈબ્રેરી હોલ બંધાવવાની શરતે, લ-લાવી લીધી હતી.

આવી રીતે આ કાર્યને પાર ઉતારવાનું અને તે દ્વારા જૈન સમાજનું મોરવ વધારવા સાથે જૈનસાહિત્યના

સંશોધન માટે એક નવું દ્વાર ઓપાડી આપવાનું શ્રેયસ્કર્મ માનવાયું. શ્રીરાજકુમારસિંઘજી અને સેઠ શ્રીલાલભાઈ એ બન્ને સજ્જનોને ધટે છે. તેઓ જ વાસ્તવિક ધન્યવાદને પાત્ર છે. તેમના જ સુખચલન અને પ્રારંભિક ઉદારતાને લીધે આ કાર્ય મૂર્તિમત સ્વરૂપ પ્રાપ્ત કરી શક્યું છે.

પરંતુ, આપણે જૈનો આરંભે શૂરા ગણાઈએ છીએ. કોઈ પણ કાર્યનો પ્રારંભ કરતાં જેટલો ઉત્સાહ આપણે ધરાવીએ અને ચતાવીએ છીએ તેટલો ઉત્સાહ અંત સુધી આપણામાં રહેતો નથી. અને તેથી આપણે કોઈ પણ કાર્યે વીસેવિશ્વા સફળ થઈ શકીએ નથી. આપણા સમાજનું એ જન્મસિદ્ધ લક્ષણ આ કાર્યમાં પણ આવીને ઊભું જ રહ્યું છે. શરૂઆત કરતી વલતે બે જ દિવસમાં જેટલી રકમ આ કાર્ય માટે ઉક્ત બન્ને ભાઈઓ અન્ય ગૃહસ્થો પાસેથી ભરાવી શક્યા હતા તેટલી રકમ, તે ગૃહસ્થો પાસેથી ઉપરાવીને હજી સુધી એમાં પહોંચાડી પણ શક્યા નથી. તેમ જ ૮-૧૦ હજારનો વચનો જે લેવાનો ચાકી હતાં તે હજી સુધી લેવાનો નથી. સંસ્થાની મૂળ શરત એવી હતી કે, ૧૯૧૮ ના ડીસેમ્બરના અંત સુધીમાં જો કચ્છેલી વધી રકમ સંસ્થાને સ્વાધીન કરવામાં આવશે તો જ સંસ્થા, ઉપર આપેલી પોતાની શરતો કબૂલ રાખશે. તેના બદલે, આજ ૧૯૨૦ ને એપ્રિલ મહિને પૂર્ણ થાય છે; તો પણ હજી સુધી વધી રકમ પહોંચતી કરવામાં આવી નથી. અને તેથી સંસ્થાએ અદ્યપિ કોઈ પણ પ્રકારનું જૈન સાહિત્ય સંબંધી કાર્ય હાથમાં નીધું નથી. કચ્છેલી રકમ જેલીમોઢી આપવાની થો છે જ, અને તે આપવા માટે ઉક્ત બન્ને સજ્જનોની કાઢી પણ છે જ, પરંતુ ફક્ત નજીવા આઠસને રહેને એ આવત-હજી અથવાચે રાહડ્યા કરે છે, અને તેના લીધે આટલી મુદત દરમ્યાન, ૩-૪ હજાર જેટલા રૂપિયા, જૈન સાહિત્ય માટે સર્વાંશ અટક્યા છે. અને પરિણામે આપણા લાભમાં નુકસાન થતું આવે છે. તેથી હવે જેમ અને તેમ તુરતમાં જ કચ્છેલી

વધી રકમ સંસ્થાને પહોંચતી કરવા માટે ઉક્ત બન્ને ભાઈઓને સામ્રાહ નિવેદન છે. તેમના કહેવા પ્રમાણે ફક્ત બે કલાકનું જ કામ છે, અને એ બે કલાક કાઢવાથી એક તો આપણા માથેથી પ્રતિજ્ઞા પાલનનો મોટો ભાર ઓછો થઈ જશે અને વીરું એ લોકોને દશાનુ પૂર્વક, આપણે આપણા સાહિત્યના સંવન્ધમાં હીલચાલ કરવા માટે કહી શકીએ. નહીં તો આટલી મોટી રકમ એન અઢચળના પ્રસંગે આપણે આપવા છતાં પણ એ સંસ્થાના કાર્યવ્યવહારમાં આપણો અવાજ યોગ્ય રીતે સાંભળવામાં આવે, તેવી આશા રાખવી ફોકટ છે; અને આપણા સાહિત્યના સંશોધનની જે તીવ્ર ઇચ્છાથી આપણે આટલો પરિશ્રમ ઉઠાવ્યો છે, તે ઇચ્છા ઠીક ઠીક સફળ થાય તેમ માનવું મૂલ મેળું છે. મનુષ્યને ઘ્યોર અનુક પ્રકારની ત્રાસ ગરજ હોય છે ત્યારે તેને જે કહો તે કરવા કબૂલ થાય છે, પરંતુ ગરજરે તેમાંનું કેટલું પડાય છે, તે સી કોઈને અનુમતિસિદ્ધ છે. એ જ મનુષ્યસ્તમાવ આ વાચતમાં પણ લાગુ પડે તો તે વતવા જોગ છે, અને તેમાં વઢી આપણી ઢીલ આપણને જ શુભે મ્હાંડે સ્પષ્ટ યોલતાં અટકાવી શકે છે.

શુભે સરકારના પબ્લિકવર્ક્સ ડીપાર્ટમેંટ તરફથી આજ ઘણાં વર્ષો થયાં સંસ્કૃતસીરીશ નામે એક પ્રેમ-પાટલ પ્રકટ થય્યું છે, એ કામમાં સરકાર દરખે ૧૨ હજાર રૂપિયાનો લર્ચ કરે છે. એ સીરીશમાં આપણા જૈન ગ્રન્થો પણ પ્રકટ થયા કરે છે. દેશીનામાલા, કુમારપાલચરિત, અને પ્રાકૃતવ્યાકરણ તથા દ્વિશ્રવ્યકાવ્ય, ધિગેરે આપણા ગ્રંથો એ જ સીરીશમાં છપાયા છે. છતાં બે વર્ષોથી સરકારે આ સીરીશનું કંઈક કામ માંડારકર ઇન્સ્ટીટ્યુટને સ્વાધીન કર્યું છે અને તે કાર્યની વ્યવસ્થા, એ સંસ્થા પોતાની ઇચ્છા પ્રમાણે કરે છે. જૈન સમાજ તરફથી અંધાતી ૨૫ હ૦ ની રકમ મના બદલામાં, આ સંસ્થાએ કલમ ૧ ની પેટા કલમ 'દી' માં જળાવેલી શરતે જ કબૂલ કોલી છે, તે શરત પ્રમાણે, સરકાર તરફથી મઠ્ઠી ઉપરોક્ત

૧૨ હજારની માંદમાંથી ૩ ઇટલે ૩ હજાર રૂપિયા સીધા જૈનસાહિત્યના સંશોધન-પ્રકાશન અર્થે જ સ્વર્ચવા જોઈએ. પરંતુ હજી સુધી કોઈ પણ રકમ તે કામમાટે એ સંસ્થાએ સ્વર્ચવા કાઢી હોય તેમ જણાતું નથી. એ સંબંધમાં કોઈ પૂછપરછ કરવામાં આવે છે તો સીધો ઇટલો જ જવાબ મળે છે કે, તેમ સમારી કબૂલાત હજી પૂરી પાડી શક્યા નથી, તેથી અમે એ સંબંધમાં કોઈ સ્પષ્ટ જાણ આપી શકતા નથી. (—જો કે આપણે અત્યારસુધીમાં લગભગ ૩૦૦૦૦ રૂપિયા તો એમને પહોંચાડી પણ ચુક્યા છીએ.) મારી અહીં પ્રત્યક્ષ હયાતી હોવા છતાં, અને એ ચંપા કાર્ય-વાહકો સાથે મારી અંગત મૈત્રી હોવા છતાં, આપણા આંટલસને લીધે, આવી પરિસ્થિતિ નજરે પડે છે, તો પછી પાછલ્લો, હાંના સમયે આપણી આશા કેટલે અંશે સફળ થઈ શકશે, તે સહજ સમજી શકાય તેવી વાત છે.

હું આ કાર્યમાં કેટલેક અંશે નિમિત્તમૂત થયેલો હોવાથી અને અંતરંગ વધી વ્યવસ્થા કરવાની વિશ્વાસ મારા ઉપર જ વધા માર્દાઓ રાલેલો હોવાથી, આ સમ્બન્ધી મારા સ્પષ્ટ વિચારો સમાજ આગલ રજૂ કરવાની મારી સાસ ફરજ છે, અને તેથી આટલો અંગત ચુલાસો કરવો મેં અહીં ઉચિત ધાર્યો છે.

છેવટે, હવે હું ઇટલું જ નિવેદન કરું છું કે જે જે સદ્ગ્રહસ્થોએ આ કાર્યમાં રકમ મરી હોય, તે તુરત આપી દઈ અને શાકી જે થોડી ધણી રકમ સૂટલી હોય તે મંદાવી લઈને, જેમ જે તેમ જહદીથી આ સંસ્થાને પહોંચતી કરવી જોઈએ, કે જેથી આપણા લાભમાં વિના કારણે નુકસાન ન થાય. લીડું એ પણ એક નિવેદન છે કે સંસ્થા સાથે જે કોઈ વ્યવહાર રાલવામાં આવે તે વધો વ્યવસ્થાપૂર્વક અને નિયમસર રહેવો જોઈએ. એ કાર્ય, કોઈ એક વ્યક્તિ સાથે સમ્બદ્ધ નથી પરંતુ સમાજ સાથે સમ્બદ્ધ છે, અને તેથી જ મેં શરૂ-આતથી હરેને આજ સુધીનાં વધો વ્યવહાર મારા નામે ન રાલતાં, જૈન ધેતાન્ધર કોન્કરન્સનાં જનરલ સેક્રે.

ટરીના નામે રાલ્યાવો છે. પરંતુ સેદ તો એ છે કે, અહીંથી જે પત્રો વિગેરે તે સેક્રેટરીના નામે મોકલવામાં આવે છે તેનો સવિસ્તર જવાબ મળ્યો તો બાંજુએ રહ્યો પરંતુ પત્રની પોંચ સુધી પણ મળતી નથી. વાળિ-આમાઈના હાથમાં અનેક વલતે સામ્રાજ્ય સ્થાપવાના સાધનો આવેલાં છતાં એક ગામડું પણ તેમના કબજામાં રહી શક્યું નથી તેનું કારણ આવી અવ્યવસ્થા જ છે. માટે, હવે દરેક કાર્ય ચોક્કસ લક્ષ્યાગ અને નિયમપુરસ્સર કરતાં સીલવાની આવશ્યકતા છે. તેમ થશે તો જ આપણે આપેલી ઉદારતાનો આપણને કોઈ પણ પ્રકારનો જવાબ મળી શકશે. નહીં તો સવાલ કરવાનો અધિકાર. પણ નહીં મળે. શાકી, અહીંના એ સંજનો કાર્ય કરવામાં બહુ જ ઉસાહી અને નિઃસ્વાર્થ વૃત્તિવાલો છે. આપણી અન્નમૂમિનું ગૌરવ કેમ વધે એવી ભાવનાને આદરે રાખી પ્રવૃત્તિ કરનારા છે. સર્વસ્વનો ભોગ આપણે પણ અંગીકૃત કરેલા કાર્યને પારંપરનારા છે. વિદ્વત્તા સાથે જિજ્ઞાસુ માત્ર ધરાવનારા છે અને જાતિ અભિમાન જાલ્લી રાલવાની ઇચ્છા રાલતાં છતાં વધાની સાથે વન્યુમાત્ર દેલાડવાની વૃત્તિ મતાવનારા છે. તેથી, વ્યવસ્થાપૂર્વક અને નિરીક્ષણપુરસ્સર એ આપણે આપણું વચન શીમ પાડીશું તો આપણા સાહિત્ય માટે, આ સંસ્થા દ્વારા કેટલુંક ઉપયોગી કાર્ય, કાલાંતરે પણ થઈ શકશે એવી આશા છે. તથાસ્તુ.

જૈન સાહિત્ય પ્રકાશન કાર્ય.

એ બહુ સુધી ચવા જેવું છે કે, છતાં કેટલુંક વધોથી આપણા સમાજમાં પ્રાચીન પુસ્તકોના પ્રકાશનનું કાર્ય ઠીક શરૂપથી ચાલી રહ્યું છે. આજ સુધીમાં સેક્રેટો મંત્રો છપાઈ બહાર પડી ગયા છે અને પડતા જાય છે. જે મંત્રોનાં વર્ણન પણ દુર્લભ મનાતાં હતાં તેવા મંત્રો આજે દરેક સાધુ-બ્રાહ્મ

ના હાથમાં ફરતા જોવામાં આવે છે. જે ગ્રંથની એક નકલે ઉત્તરાવતાં સેકડો રૂપિયા સ્વર્ણ કરવા પડતા હતા તે ગ્રંથ આજે મફત મુદ્રાં મળી શકે છે. એ ગ્રંથો પ્રતાપ ઝસાહી પુસ્તક-પ્રકાશકો અને તેમને સહાયતા આપતા-અપાવતા મુનિજનોનો છે.

પરંતુ, હાલમાં જે પદ્ધતિ આપણામાં આ સાહિત્ય પ્રકાશન કાર્ય ચાલે છે તે પદ્ધતિ—જો કે એ પદ્ધતિ પણ મૂલ્ય ગ્રંથોને સર્વથા નષ્ટ થવામાંથી રક્ષાવી રાખવા જેટલી ઉપકારક તો છે જ, પરંતુ—સમયની આવશ્યકતાની અવેશાએ, બહુ જ અલ્પ ફલ-પ્રદાયક છે. વર્તમાનમાં એક તો ગ્રંથનિરીક્ષણની અનેક પદ્ધતિઓ વહાર આવતી જાય છે; બીજું લોકોનું સાધારણ જ્ઞાન વિસ્તૃત થતું જાય છે, અને તેથી તેમનામાં આગલ કરતાં વધારે વિચારપૂર્વક ગ્રંથ જોવાની ઝિજ્ઞાસા વધતી જાય છે; અને ત્રીજું જન-સમાજનો મોટો ભાગ, ઝિજ્ઞાસા ધરાવવા છતાં, જુના ગ્રંથોને પરિશ્રમપૂર્વક સાર્યત વાંચી-સમજી, અન્યથા હાથે આપણાં લક્ષણા અસ્પષ્ટ વિચારોને પોતાના મગજમાં ઊઠાવવા જેટલું કષ્ટ ઊઠાવવા રાજી નથી. તેથી હાલની પદ્ધતિએ પ્રકટ થતું આપણું સાહિત્ય લોકદુષ્ટિએ તો અપ્રકટ જેવું જ છે. આજની પદ્ધતિનો ઉપયોગ ૫૦ વર્ષ પહેલાં હતો. તે સમયે જ આવી પદ્ધતિએ છાપણા ગ્રંથો લોકોના મનમાં આનંદ ઉત્પન્ન કરી શકતા હતા. હવે તેમ કરી શકે તેવી પરિસ્થિતિ નથી. આજે હું, અહીં ગ્રંથ પ્રકાશનની પદ્ધતિ ઉપર વિશેષ વિવેચન ન કરતાં, જે પદ્ધતિએ ગ્રંથો વર્તમાનમાં છપાય છે તેનો પણ લોકોને પૂરો લાભ મળતો નથી, તે સંચયમાં બે શબ્દો જણાવવા ઇચ્છું છું.

જે વ્યક્તિઓના પ્રયત્ને આ પુસ્તક-પ્રકાશન કાર્ય ચાલી રહ્યું છે, તેમના ઉત્સાહ, પરિશ્રમ અને આશ્રય ઉપમ હોવા છતાં વિચારસંકુચિતતાનો એક મોટો દોષ તેમનામાં પ્રધાન પળું ઓગળી રહ્યું છે; અને તેથી સરા ઝિજ્ઞાસુઓને, એ નિર્જાવ પદ્ધતિ

છપાતા પુસ્તકો પણ જોવા-વાંચવા માટે મળી શકતાં નથી. આજ સુધીમાં સેકડો ગ્રંથો છપાઈ પ્રકટ થઈ ચુક્યા છે, છતાં, સાધુઓની પેટીઓ સિવાય બીજે ઠેકાણે તેનાં દર્શન થવાં દુર્લભ છે. આ કારણથી જૈનેતર સેકડો વિદ્વાનોને તો પૂરી એ પણ સ્વર નથી કે કોઈ જૈન સંસ્થા પણ હિન્દુસ્થાનમાં જૈન પુસ્તકો છપાવવાનું કામ કરે છે કે કેમ ! જે સાધુઓને પુસ્તકનું નામ સુધાં પણ વરાવર વાંચતાં ન આવડતું હોય તેમની પાસે પણ, સીસમના કચાટોમાં અને રેશમના રમાલોમાં બાંધી મુકેલી દરેક પુસ્તકની એક—બે નકલો અવશ્ય મળી આવશે, પરંતુ જૈનોની રાજધાની જેવા ગણતા શહેર અમદાવાદમાં વસતા પ્રો. શ્રી આનંદરાંકર કે સાશ્વર શ્રી કેશવલાલ ધ્રુવ બેવાને, તેમ જ, જૈન પુસ્તકપ્રકાશનના કાર્ય માટે પાટનગર મનાતા માવનગર શહેરમાં રહેતા પ્રો. મીટ્ટે જેવા વિદ્વાનોને જોવા પુરતું પણ પુસ્તક મળવું દુર્લભ થઈ રહે છે. આવી સ્થિતિમાં જૈન સાહિત્યનો શી રીતે ભાગ્યેય પ્રસાર થાય અને શી રીતે વિદ્વાનો તેમાં રસ લેતા થઈ શકે ? તે સહજ સમજી શકાય તેમ છે.

યુરોપની લિપિમાં છપાણા અને સોનાના મૂલ્યે વેચાતા ચૌદ ધર્મના પિટક ગ્રંથો હિંદુસ્તાનની લગભગ દરેક કાલેજની લાઈબ્રેરીમાં વિદ્યમાન છે, ત્યારે પક્ષ્ત કાગલની કિંમતે વેચાતા કે મફત વહેંચતા જૈન આગમો સુંબેઈની યુનિવર્સિટીની લાઈબ્રેરી સુધામાં પણ ઉપલબ્ધ નથી !

સુંબેઈ યુનિવર્સિટીએ ચાલુ વર્ષથી, જૈનસાહિત્યની મૂલ અને પૂલ્યભાષા અર્થમાગધીને પોતાના પઠન-ક્રમમાં દાખલ કરી છે. એ પઠન-ક્રમમાં જે પુસ્તકો નિયત કરવામાં આવ્યાં છે (એ ગ્રંથો સ્વાસ કરીને મારી સૂચનાનુસાર જ નોંધવામાં આવ્યાં છે અને તેનાં નામો નોંધેલી નોટમાં આપ્યા છે) તેની નકલો પણ વિદ્યાર્થીઓને મળી શકતી નથી. હૉ. મુણે કે, જૈનજે જ અર્થમાગધીના સાહિત્યને પોતાના પઠનક્રમમાં

ठराव मुक्यो हतो, मने थोडा दिवस उपर, एक
संदेशो कहवडावता जणावे छे के—

Please say to Muniji that students of Ardhmagadhi are complaining that the Jain Publishers do not sell them the books although in stock. People who were keen upon introducing Ardhmagadhi into the University should, I think, behave better.

P. D. Gune.

अर्थात्—‘महेरवानी करी मुनिजीने कहेशो के
अर्थ-मागधीना विवाथांकी फर्याद करे छे के जैन
पुस्तक प्रकाशको पुस्तको शिलीकमां होवा छतां
तेमने बेचातां आपतां नथी. हुं धारुं छुं के जे
लोको अर्थमागधी भापाने युनिवर्सिटीमां दाखल
कराववा मोटे उत्सुक हता तेमणे अधिक सुंदर
चर्तन राखवुं जोईए.

पी. डी. गुणे,

આવી જ રીતે કેટલાય વિદ્યાર્થીઓની પળ સૂચના
આવ્યા કરે છે. અને કેટલાક તો યુનિવર્સિટીના રજીસ્ટ્રાર-
ને કાર્યાલય પળ કરી જુદા છોકરા, જે પુસ્તકો વિદ્યા-
ર્થીઓને અપાસ અર્થે મળી શકતા નથી તેવાં
પુસ્તકો યુનિવર્સિટી શું સમજીને કોર્સમાં દાખલ
કરે છે ! इत्यादि.

મારા એક વિદ્વાન્ મિત્ર, યો. રાજવોડે (ચરોડા કૉલેજના પાઠી માધાના અધ્યાપક) જૈન આગમોનો અભ્યાસ કરવા પ્રવલ ઉત્કંઠા ધરાવે છે. તેઓ આજ વે વર્ષથી મને વારંવાર તે પુસ્તકો મેલવાની આપવાની સૂચના કર્યા કરે છે, પરંતુ સાપુલોના કવાટોમાં વંધ થયેલા એ પુસ્તકો શી રીતે વહાર આવી શકે ! એ પુસ્તકો લેવા માટે તેઓ જાતે, આગનોદય સમિતિની ઑફિસમાં—ધુવડે અને સુરત પેરા સ્ટાઈ અબ્યા દતા, પરંતુ જૈનતર દેવાથી સમિતિના નોકરો ત્રિમને તે પુસ્તકો આપવાની ના પાડી હતી !

चालू वर्षमा, अहीं (पूना) ना एक बुद्धिशाली

ब्राह्मण विशार्थिए, बी. ए. मां आनर्स सबजेक्ट तरीके जैन साहित्य लीधुं हवुं, परंतु तेने छेळा अकरो-
वर मास सुधी पाठव पुस्तक न मेल्लवाथी ते नितरा-
थयो हतो; अने आखरे, में मारी पासैथी पुस्तक आपुं
त्यारे मात्र पंदर दिवसमां तेणे मारी पास ते नवुं
पुस्तक वांची जई पोतांनी परीक्षानी तैयारी करी
हती. आखी युनिवर्सिटीमां जैन साहित्यनो ते एक
ज विद्यार्थी हतो. तेंनु परीक्षापत्र तैयार करवांनी
ज्योरे जरूरत पडीं त्यारे परीक्षकने पण ते पुस्तक
क्यांथी मेल्लवतुं तेनीं चिंता थई पडतां. मारी पास
तेनी मांगणी करवामां आवी हतीं. आवी रिते अध्याप-
कोने पेपरो काढवां मोटे पण ज्योरे पुस्तको मेल्लां
नथी तो पछी वांचवा के सीखवा मोटे तो कथा
था ज मळे ?

આ તો ઉદાહરણરૂપે એક વેદાંતલો નોંધ્યા છે. આવી જાતના તો અનેક ઉદાહરણો મારા અનુભવ વાનાં આંધ્યા છે અને અધિ છે. જે લોકો નિષારા ધર્મેપ્રેમથી શોઝાઈને હજારો હાલો રૂપિયા પુસ્તકોદ્ધારના નામે આપતાં રહે છે, તેમનો આલ્સા જો આ સત્ય હકીકત સમજવા જેટલો જીનિયાત હોય તો તેમના મનને કિયું લાગી અધિ ! આવી કારણોથી મારું એ કહેવું થાય છે કે વર્તમાનમાં જે પદ્ધતિ પુસ્તક પ્રકાશન પ્રવૃત્તિ ચાલે છે તે સમયનો આવશ્યકતાની દૃષ્ટિએ અનુપયોગી જ છે.

જેન સાહિત્ય માટે કઈ વિશાળાં અને કઈ પદ્ધતિયં કાર્ય કરવાની હવે આવશ્યકતા છે, તેનું દિગ્દર્શન આ અંકમાં અન્યત્ર પ્રકટ સંપન્ન પ્રો. રાજવાડેના ગુજરાતી લેખમાં, અને લાહોરની ઓરિન્ટલ કોલેજના પ્રો. શ્રીચનાસી દાસ જૈનના રૂમ્મી લેખમાં, ઉત્તમ રીતે કરાવવામાં આવ્યું છે. પ્રો. રાજવાડે પાલીમાપાના અને બૌદ્ધ ધર્મના ઉદ્ભાવ અધ્યાયી છે. તેઓ જૈન આગમોનો માર્મિક અધ્યાસ કરી બૌદ્ધ અને જૈન સાહિત્ય (પાલી અને પ્રાકૃત વાક્ય) ના તુલનાત્મક દૃષ્ટિયં વિશિષ્ટતા અને વિક્ષિં

દુતાઓ તારવી કાઢવાની ઉત્કટ इच्छा રાखે છે. જૈન સાહિત્ય ઉપર તેમનું વળુ પ્રેમ છે. જ્યારે અમારા આ ત્રૈમાસિકની છાપાવાની શુરુઆતના તેમને સમાંચાર મળ્યા ત્યારે એક પત્ર દ્વારા તેઓ પોતાની સહાનુમતિ બતાવતાં મને લેલે છે કે—

I am glad your quarterly is starting its life so early. I shall certainly do all, I can to help it by contribution for I love the Jainagama and am anxious that its Knowledge should spread in our country.

અર્થાત્—‘આપના ત્રૈમાસિકને આટલું વહેલું પોતાનું જીવન પ્રારંભ કરવું જાણી મને વળો આનંદ થાય છે. હું તેને લેલો દ્વારા જેટલી મદદ થઈ શકશે તેટલી અવંચ્ય કરીશ. કારણ કે હું જૈન આગમોને ધાદું છું, અને તેના જ્ઞાનનો આપના દેશમાં પ્રસાર થાય તેમ જોવા ઉત્સુક છું.’ આ ઉપરથી જણાશે કે જૈન સાહિત્ય માટે તેમની માવના કેટલી સુંદર છે. આવા રસિક અને જિજ્ઞાસુ-વિદ્વાનો માટે તો આપણને માન હોવું જોઈએ અને પુસ્તકાલેખી જે જે સહાયતાઓ તેમને જોઈતી હોય તે ઉદારમને આપવી જોઈએ. આવી જાતના યોગ્ય વિદ્વાનોના હાથમાં જો પુસ્તકો જાય તો જ પુસ્તક પ્રકાશકો અને સંશોધકોનો પરિશ્રમ સફળ છે. બાકી તો સાધુઓ મહે રશ્મીરુમાલોમાં બાંધી મુકી તેમને ધપ આપ્યા કરે. એવું અને કંસારીઓ શિવાય તેમનો રસાસ્વાદ બીજા લઈ શકે તેવી સ્થિતિ આજે તો જણાતી નથી.

આ કહેવાનું સાર્થક્ય એટલું જ છે કે, એક તો પુસ્તકપ્રકાશકોએ જરા પોતાની વિચાર સંકુચિતતા દૂર કરી, યોગ્ય વિદ્વાનોના હાથમાં આપણું સાહિત્ય જવા પામે તેવો સાત પ્રયત્ન કરવો જોઈએ. બોલું, હવે ૫ જુની (નિર્માલ્ય) પદ્ધતિને છોડી, નવીન પદ્ધતિએ નવું સાહિત્ય તૈયાર કરાવવું જોઈએ. અને ૫ સાહિત્ય યોગ્ય વિદ્વાનોના હાથે સંશોધિત

થઈ પ્રકાશિત થવું જોઈએ. હાલમાં જે પ્રત્યો છપાય છે તે શુદ્ધતાની દૃષ્ટિએ વધુ જ અસંતોષ આપે તેવા છે. મૂઠ પ્રત્યને બનતી રીતે શુદ્ધ કરવા તરફ વધુ જ ઓછી કાઠજી રચાય છે. શોધનારા કે પ્રકટ કરનારાઓને સચી વસ્તુસ્થિતિનું ખાન હોવું જોઈએ અને તેથી કેટલીક વસ્તુઓ તેમના હાથે પૂર્વી મૂલો થતાં જોવાય છે, કે જે વિદ્વાનોની દૃષ્ટિમાં નિલ્કુલ અલગ્ય ગણાય છે. આ સમ્બન્ધમાં અમે આગળ ઉપર સંવિસ્તર લખવા ઇચ્છીએ છીએ. તેથી આજે તો એટલું જ જણાવીને વિરમીએ છીએ કે આપણા ઉત્સાહી પુસ્તક સંશોધક-પ્રકાશકોએ હવે ૫ વિષયનું જરા સારું જ્ઞાન મેલવી ચાલે પદ્ધતિમાં પરિવર્તન કરી સમયાનુસાર સફળ પ્રયત્ન કરવાની આવશ્યકતા છે. તેમ કરવાથી જ દ્રવ્ય આપનાર અને પરિશ્રમ કરનાર બંનેનાં પ્રયત્નો સફળ થશે.



મુંઝડ યુનિવર્સિટીમાં માગધી (પ્રાકૃત) માપા.

આજે કેટલાંય વર્ષો થયાં, જૈન કોન્ફરન્સ અને શ્રી મનુસુલલાલ રવજીભાઈ મેદતા જેવા જૈનસાહિત્ય રસિક મુદ્દાઓએ મુંઝડ યુનિવર્સિટીને, પોતાનાં પઠન-ક્રમમાં જૈન-સાહિત્યની મૂળ અને પવિત્ર માપા જે સાધારણ રીતે માગધી અથવા અર્ધમાગધી કહેવાય છે, તેને સ્થાન આપવા માટે અનેક વાર વિચિત્રિઓ કરી હતી. પરંતુ, એક તો તે માપાનું સાહિત્ય યોગ્ય રીતે તૈયાર થયેલું ન હોવાથી, અને બીજું તેના અભ્યાસીઓ નિકલ્લશે કે નહીં તેની સ્વાત્રી ન હોવાથી, યુનિવર્સિટીએ તે વાતમાં કાંઈ સાત ધ્યાન આપ્યું ન હતું. પરંતુ જ્યારે ૧—૭ વર્ષ ઉપર બૌદ્ધ સાહિત્યની પવિત્ર માપા પાલીને યુનિવર્સિટીએ પોતાના અભ્યાસક્રમમાં દાંલલ કરી અને છેક હાઈસ્કૂલો સુધીમાં તેનો અભ્યાસ ચાલવા માંડ્યો; ત્યારે, પ્રાકૃત માપાના પ્રેમીઓ પોતાની પ્રિય માપાને પણ તેવી રીતે અભ્યાસક્રમમાં દાંલલ કરવા માટે યુનિવર્સિટીને

વિશેષ આગ્રહ કરવા માંડ્યો. તેના પરિણામે આ વર્ષે, યુનિવર્સિટીએ માગધી (પ્રાકૃત) માપાને વીજી માપા તરીકે પોતાના કોર્સમાં દાખલ કરી છે, જેવાત જાણી તે માપાના ઉપાસકોને આનંદ થયા વિના નહીં રહે. પાલી માપા જો કે હાઈસ્કૂલમાંથી જ સીંચવાય છે પરંતુ માગધી (પ્રાકૃત) માપાનું શિક્ષણ કૉલે-જમાં જ આપવામાં આવશે અને તે પણ મેટ્રીકમાં વીજી માપા તરીકે જેણે સંસ્કૃત લીધી હશે તેને જ. (—પાલી માપાને પણ હવેથી હાઈસ્કૂલમાંથી ફાટી નાંખવાનો ઠરાવ થયો છે.) અમારા વિચાર પ્રમાણે આ નિયમ આવશ્યક છે, કારણ કે પ્રાકૃતની મૂલ પ્રકૃતિ સંસ્કૃત છે, તેથી જો સંસ્કૃત માપા અવગત ન હોય તો પ્રાકૃત માપાનો એક તો અભ્યાસ પણ વહુ કઠિન થઈ પડે તેમ છે; અને વીજું, તેના અભ્યાસીને પોતાનું જ્ઞાન વધારવાનું અન્ય સાધન ન મળવાથી તે માપા તેને અનુપયોગી અને કંટાળો ભરેલી થઈ પડે તેમ છે. સીલોન વિગેરે દેશોમાં સંસ્કૃત સિવાય જ પાલી સીંચવવામાં આવે છે સત્તી; પરંતુ, તે માપા-નો સાધનો પ્રાકૃતની અવેક્ષણ વહુ જ વિસ્તૃત છે. સંસ્કૃત માપાનાં શાળિકા અને હેમચન્દ્રનાં વ્યાકરણો જેવાં પાલીમાપાનાં સ્વતંત્ર અને સર્વાંગપૂર્ણ કેટલાંય વ્યાકરણો બનેલાં છે. કોષો પણ અનેક છે. સિવાય, નવીન પદ્ધતિએ અનેક પાઠમાલાઓ અને વાચનમા-લાઓ પણ થપ્તી છે. તેથી તે માપા સીંચનારને કોઈ પણ પ્રકારની અડચણ પડે તેમ નથી. તેમ જ પાલી માપાનું સાહિત્ય પણ વહુ જ વિશાલ અને સુંદર હોવાથી તેના અભ્યાસીને પોતાના જ્ઞાન માટે જોઈએ તેવા વિચારો તેમાંથી મળી આવે તેમ છે.

માગધી (પ્રાકૃત) માપાના અભ્યાસીને માટે તેવી કોઈ પણ જાતની સગવડ નથી. તેમ જ તેનું સાહિત્ય પણ વહુ જ અલ્પ અને સાપારણ પ્રતિનું છે. તેથી, સંસ્કૃત સિવાય, ફેવલ પ્રાકૃત મળનારને તે મારરૂપ જ થઈ પડે તેમ છે. અત્યુ.

આવતા બે વર્ષ માટે, યુનિવર્સિટીએ નીચે પ્રમા-

નેના પ્રયોગ અભ્યાસક્રમમાં નિયત કર્યો છે:—
પ્રથમવર્ષ (પ્રીવિયસક્લાસ).

૧૯૨૧

- ૧ હરિમદ્ગ્રંથ—સમરાઈચક્રકા, પ્રથમ બે ભવ.
- ૨ પટમચરિયં, વિમલસૂરિકૃત, ઉદ્દેશ ૧-૧૮.
- ૩ પ્રાકૃતમાર્ગોપદેશિકા, પં. બેચરદાસકૃત.

૧૯૨૨

- ૧ હરિમદ્ગ્રંથ—સમરાઈચક્રકા, ભવ ૩-૪.
 - ૨ પટમચરિયં, વિમલસૂરિકૃત, ઉદ્દેશ ૧૯-૩૭.
 - ૩ પ્રાકૃતમાર્ગોપદેશિકા, પં. બેચરદાસકૃત.
- દ્વિતીયવર્ષ (ઇન્ટર મીડિયમ ક્લાસ).

૧૯૨૧

- ૧ કર્પૂરમંજરી, રાજશેષરકૃત.
- ૨ હેમચંદ્રકૃત પ્રાકૃતવ્યાકરણ (અદ્યાધ્યાય), પાદ ૧ થી ૩.

૧૯૨૨

- ૧ વાક્યતિરાજકૃત, ગડબહો, ગાથા ૫૧૨.
 - ૨ રાયપસેનીય સુત.
 - ૩ હેમચંદ્રકૃત પ્રાકૃત વ્યાકરણ (ઉપર પ્રમાણે).
- વી. એ. ક્લાસ.

૧૯૨૨

- ૧ આચારંગ સૂત્ર.
- ૨ હેમચંદ્રકૃત સંપૂર્ણ પ્રાકૃત વ્યાકરણ.
- ૩ કુમારપાલચરિત (પ્રાકૃતદ્રવ્યાશ્રય).

૧૯૨૩

- ૧ સૂત્રકૃતાન્ગ સૂત્ર.
- ૨ હેમચંદ્રકૃત સંપૂર્ણ પ્રાકૃત વ્યાકરણ.
- ૩ કુમારપાલચરિત (પ્રાકૃતદ્રવ્યાશ્રય).

સ્થાપનાને લીધે પં. એ. ક્લાસનાં પાઠ્ય ક્રાંતિનાં નામો અહીં આવી શકતાં નથી.

JAINA SAHITYA SANSHODHAKA

OR

JAIN LITERARY RESEARCH

Vol. 1..]

April 1920.

[PART I.

THE UNDERCURRENTS OF JAINISM A REPLY TO CRITICISMS

By Dr. S. K. BELVALKAR, M. A. PH. D.,
Professor of Sanskrit, Deccan College, Poona.

My paper on the Undercurrents of Jainism contributed to the July 1917 issue of the Indian Philosophical Review has given rise to a good deal of stir and opposition which has expressed itself in critical notices published in several Magazines as also in private and friendly letters. It has therefore become necessary for me to re-state my position, which seems to have been somewhat misunderstood. Another paper on the Post-Upanishadic Thought-ferment which I read some time ago before the Poona Literary Club forms the needed preliminary to the paper on Jainism; and a critic of mine who was inclined to condemn my paper on Jainism had the goodness to confess that the other paper has been to him an "eye-opener." In what follows I am attempting to re-state my position in regard to Jainism, which aspires to be strictly impartial and consistent with the requirements of a genetic or historical study of philosophy.

Lord Mahavira is regarded as the last of the Tirthankaras, which means that the Jain religion was not founded by him in the sense in which Lord Gautama founded Buddhism. And yet Mahavira must have played an important part in the history of Jainism; else we could not account for the great reverence in which his name is universally held. A religion like Jainism with a history spreading over centuries cannot be supposed to have remained absolutely impervious to its changing and choquered environment. No religion—neither Christianity nor Brahmanism—has remained ever the same, whatever the strictly orthodox view might choose to maintain. The first question then is to determine the precise service and contribution of Mahavira to Jainism. This contribution of course must be important and sufficiently distinctive:

Lord Mahavira was an elder contemporary of the Buddha and their

sphere of activity was also largely identical. Both probably spoke the same language, had to deal with the same men and same problems, and though their conclusions might be conceivably different their starting point was also the same. The statements and references in their extant Scriptures tell the same story. While a passage from the Digha Nikaya speaks of 62 current philosophical systems another Jain Sutta speaks of 363 such systems; and persons like Makkhali Gosala, or Sanjaya Belatthiputta cut a somewhat similar figure in the estimation of both these religious teachers. The Nikaya has thus preserved to us the view of the latter:—

“If you ask me whether there is another world—well, if I thought there were, I would say so. But I don't say so. And I don't think it is thus or thus. And I don't deny it. And I don't say that there neither is, nor is not, another world. And if you ask me about the beings produced by chance; or whether there is any fruit, any result, of good or bad actions; or whether a man who has won the truth continues or not after death to each or any of these questions do I give the same reply”.

The Jain Sutta regards this view as a variety of the as many as 67 kinds of Agnosticism current at this time, and it is formulated as—‘अवि’ ति पि मे नो, ‘नवि’ ति पि मे नो, ‘अवि च नवि च’ ति पि मे नो, ‘नेववि न नवि’ ति पि मे नो.

When an extremely subtle and almost unimpeachable dialectic of which the above may serve as a specimen seemed to throw all established theories and traditions into the melting pot, it became imperative upon all who claimed to teach an old and positive doctrine to defend their position. The

Buddha who had no metaphysical creed to plead could afford to maintain a judicious silence when pressed to answer questions ‘that it were vain and bootless to inquire after.’ But how about a system like Jainism which had to accept the Jiva-Ajiva doctrine as a part of the inherited tradition? And it is just here that we must imagine Mahavira to have played his great role. Jacobi has said in one place:—“The similarity between some of these heretical doctrines on the one hand and Jain and Buddhist ideas on the other is very suggestive and favours the assumption that the Buddha as well as Mahavira owed some of his conceptions to these very heretics and formulated others under the influence of the controversies which were continually going on with them. Thus, I think, that in opposition to the agnosticism of Sanjaya, Mahavira has established the Syadvada; and we can also trace the influence of agnosticism in the Buddhist doctrine about Nirvana.”

What Lord Mahavira probably actually accomplished was a judicious tempering of the pronounced agnosticism of Sanjaya by lending to it an apparent positive aspect. While Sanjaya says “I cannot say if it is and I cannot say if it is not,” Mahavira says “I can say that the thing in a sense is and in a sense is not.” The difference between these positions is rather formal, but it was perhaps deemed enough to satisfy the subtle and high-strung logical acumen of the day: in any case Mahavira was able to harmonise with this tempered agnosticism his traditional Jiva-Ajiva metaphysics and so present a bold front to the attack which gave a death-blow to many an established dogma. Mahavira had in his own days to contend against many heretical

philosophers, and it is perhaps open to question whether in addition to the combative part he was able also to carry out a large constructive programme especially in the realm of metaphysics. It was already enough achievement for the Syadvada to have turned the tables against the free-thinkers and to have restored to pious men the peace of mind that was so violently disturbed by the thought-ferment of the period: the bringing out of the implicit positive assumptions of the Syadvada by the Utpada-Vyaya-Dhauvya doctrine (which so closely resembles the Samkhya view of reality) is perhaps the work of the disciples and commentators. [It was under this assumption that my original paper was written; and although possibly the paper may be admitted to contain some over-statements, the general position can be overthrown only if traces of the Utpada-Vyaya-Dhauvya doctrine can be found in the teachings of Mahavira himself, or if the Syadvada can be proved to be earlier than Mahavira.]

Sankarācharya was a Bhashyakara and the account he has to give of Jainism represents merely an expanded form of the view of Jainism which is as old as Bādāryana the author of the Vedānta-sūtras. The sūtra-वैश्वदेव्या (II. ii. 33) has been interpreted by all the Bhashyakaras in the same manner, and its very wording suggests that the view here taken of Jainism is an ancient view which cannot have been entirely a deliberate misrepresentation. Bādāryana may have perhaps failed to distinguish between the position of Sanjaya Bellatthiputta and that assumed by Mahavira, though it must be admitted that as far as Buddhism is concerned his account is surprisingly

accurate and can only have sprung from an actual first-hand acquaintance with that Canon. In any case that is the oldest account of Jainism in non-Jain texts that is to us available; and (the theory of a wilful and malicious misrepresentation apart) there is no reason why we should not regard it as not untruly representing a tendency in Jainism which was its weakest and the most vulnerable spot. In its later presentation of course Syadvada becomes all that my critics claim for it; nay more: it becomes almost a platitude which no body would care to seriously call into question; although just exactly why it should have been wedded to the rather simple Jiva-Ajiva doctrine and not with one subtler and more worthy of it needs explanation.

If all this is acceptable, there is no reason why the historical development of Jainism which I have presented and which sets forth the great reforming and reconstructing activity of the last Jain Tirthankara in its truest light, not dissociating it from its surroundings, should not also be regarded as an earnest effort to understand and not a purely ignorant and top-lofty essay to vilify this great religion of India.

* * In this reply I have not thought it necessary to notice all the points dealt with in the several criticisms. I am at present trying to study Jainism in the original in a more systematic fashion, and if I discover that I have been instrumental in spreading incorrect notions about a religion which I respect, I shall certainly take the first opportunity to admit my mistakes. There is nothing wrong in being wrong. In return I wish my critics would give me credit for honest intentions.

THE IMMEDIATE TASK BEFORE US.

BY BENARSI DASS JAIN, M. A. PROFESSOR ORIENTAL COLLEGE, LAHORE.

It is a matter of great joy to learn that we, the Jains, who had practically ignored the modern method of Historical Research, have after all realised its value and are now prepared to apply it to the problems connected with the history of our religion. Fortunately, the European Scholars have already made a start in this direction, the results of which are scattered in various books and articles devoted to Oriental Research, not an inconsiderable number of which are written in languages other than English, viz, German, Italian and French. Still there is much left for us to do.

I think it will not be out of place here to point out what work the world urgently demands of us. This work divides itself into two classes—archaeological and Scriptural. The nature and scope of the former class of work have been very ably and clearly set forth by the Late Prof. V. A. Smith in his appeal read at "the Literary Conference of the Jains" held at Ajmer in 1914. In support of the late professor's appeal I may state that, according to our Doctrine, the restoration of an old temple, image or manuscript brings a greater reward than the production of a new one. This belief inculcates Archaeological Research as a religious duty upon us.

The second class of work which mainly deals with Literature has many lines. Before proceeding to them, I shall show how important our literature is for a proper

understanding of the ancient History of India.

Prof. H. Jacobi writes, "The records of the Buddhists and Jains about the philosophical ideas current at the time of the Buddha and Mahavira, inasmuch as they be, are of the greatest importance to the historian of that epoch."

Prof. Rhys Davids remarks, "But they (i. e. Jain records) are none the less historically important, because they give evidence of a stage less cultured, more animistic, that is to say, earlier. And incidentally they undoubtedly will be found as the portions accessible already show, to contain a large number of important references to the ancient geography, the political divisions, the social and economic conditions of India at a period hitherto very imperfectly understood."

Prof. V. A. Smith says, "The sacred books of the Jain sect, which are still very imperfectly known, also contain numerous historical statements and allusions of considerable value."

The authenticity of our scripture has been established by Prof. G. Buhler. Some thirty years ago, a large number of inscriptions on the pedestals of Jain statues were discovered at Mathura. Most of them are dated from the

*1 Sacred Books of the East, Vol. XLV
p. XXVII.*

2. Buddhist India 1903 p. 163.

3. Early History of India 1914 p. 16

*4. Vienna Oriental Journal Vols I-IV
Epigraphia Indica Vols I-II.*

year 5 to 98 of the era of the Indo-Soythian kings Kaniska, Huviska and Vasudeva, and are hence generally assigned to the first and second centuries A. D. In a number of them, the dedicators of the statues give not only their own names, but also those of the religious teachers to whose communities they belonged. Further, they give those teachers their official titles, still used, among the Jains: *Vacaka* 'teacher' and *Ganin* head of a school. Lastly they specify the names of the schools (*Gana*), the subdivisions (*Kula*) and branches (*Sakha*) to which the teachers belonged. Exactly the same division into *Gana*, *Kula* and *Sakha* is found in the Kalpa Sutra. It is of the highest importance, that in spite of the mutilation and faulty reproduction of the inscriptions, nine of the names which appear in the *Kalpasastra* are recognizable in them.

This agreement of the inscriptions with the *Kalpasastra* proves "that the tradition of the Svetambaras really contains ancient historic elements, and by no means deserves to be looked upon with distrust."

Now that we are convinced of the importance and authenticity of our literature, we should get some idea of its extent. An idea of the bulk of the extant literature can well be formed from the various catalogues of Sanskrit and Prakrit Mss. published by the Government. The most important ones are—

Buhler's reports in the search of Sanskrit Mss

Peterson's	"	"	"
Bhandarkar's	"	"	"

5. Buhler's Indian Sect of the Jainas pp. 42, 43.

6. Buhler's Indian Sect of the Jainas p. 44.

especially the one for the years 1883-84

Weber's Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss in the Royal Library at Berlin (three parts, 1886, 1888, 1892).

From a perusal of these catalogues it will be clear that our extant Literature fully represents all branches of learning.

About our literary culture, Prof. Buhler remarks, "They (the Jains) did not rest content with explaining their own teaching; they turned also to secular sciences of the Brahmins. They have accomplished so much of importance, in grammar, in astronomy, as well as in some branches of letters, that they have won respect even from their enemies, and some of their works are still of importance to European Science. In Southern India, where they worked among the Dravidian tribes, they also advanced the development of these languages. The Kanarese literary language and the Tamil and Telugu rest on the foundations laid by the Jaina monks. This activity led them, indeed, far from their proper goal, but it created for them an important position in the history of literature and culture."

Now I come to the subject under consideration. The Bhandars or Jain libraries of the Panjab have not as yet been catalogued or examined by any one. I think I am not wrong in estimating the number of Mss. in these Bhandars to be about ten thousand. The following is a list of the chief Bhandars:—

Delhi, Ambala city, Rohtak, Hissar, Patiala, Samana, Malerkotla, Ludhiana, Zira, Jalandhar, Hoshiarpur, Jandiala,

7. Buhler's Indian Sect of the Jainas p. 22.

Patti, Amritsar, Vairawal, Gujranwala * and Narawal.

I am sure that several rare works will come to light if these Bhandars are carefully examined. Hence, the earliest opportunity should be availed to prepare a catalogue of their contents. Most of the Bhandars are the property of the Samgha or the Jain community at large, and the Jain Conference, therefore, can lay a claim to examine them. Moreover, individual *Sadhus* and *Pujas* have their own Mss. which also should be catalogued as far as practicable.

The want for critically edited Jain texts has been repeatedly brought to notice. Prof. Rhys Davids wrote, "The Jain records are unfortunately as yet known only in fragments. It is the greatest desideratum for the history of this period" that they should be made accessible in full, "10

Later on he wrote, "The Jains themselves have now printed in Bombay a complete edition of their sacred books. But the critical value of this edition, and of other editions of separate texts printed elsewhere in India, leaves much to be desired. "11

Dr. F. W. Thomas writes, "Most if not all, of the *Angas* have, indeed, been published in India, and some in Europe.

8. *The Panjab University Library has a Ms. copy of a catalogue of Mss. in the Bhandar attached to the Jain temple at Gujranwala. I have not been able to find out who prepared it. Presumably it was prepared by PT. Kashi Nath Kunte who examined some of the Sanskrit libraries of the Panjab in the eighties.*

9. *Several centuries preceeding the Christian era.*

10. *Buddhist India p. 163.*

11. *Encyclopaedia Britannica, Eleventh Edition, Sub voce 'Jain.'*

But it is not yet possible for any scholar to point to a shelf or shelves in his library and say, "There is the *Jaina Canon*" and so many books and essays have a tentative character through the impossibility of examining the whole collection. Would it not be possible and a great help to future studies, if the whole (I do not mean, of course, with all the commentaries) could be made available in such a preliminary but complete condition." 12 Prof. A. C. Woolner remarks, "Jain literature is neither so famous, nor so widely studied as the Pali Buddhist literature. Much of it is still in manuscript or in uncritical editions; Much of it again is difficult without (and even with) a commentary." 13

No doubt considerable progress has been made in India in the publication of the sacred texts, but a good deal yet remains. A complete set of the Svetambara Canon was published about forty years ago by Rai Dhanpat Singh Bahadur of Baluchar (Murshidabad). This set provided, as it is, with the usual Sanskrit commentary and the Gujrati paraphrase (Tabba) "is worthless as an edition, being made with no regard whatsoever to textual or grammatical correctness both in its Sanskrit and Prakrit portions. Still it has its uses for the purposes of collation." 14 Most of the volumes of this set are out of stock and cannot be had at any price.

Another attempt to bring out an edition of the Svetambara Canon, is being made by the trustees of the Devchand Lalbhai Pustakodhar Fund, Bombay. This edition, though decidedly superior

12. *Proceeding of a literary Conference of the Jains held at Ajmer 1914, last page.*

13. *Introduction to Prakrit p. 72.*

14. *Hoernle's Uvasagadasao, Introduction p. XI.*

to the Baluohar edition, yet falls short of many conveniences which a good edition should provide to its readers e.g. Introduction, Index, Notes, *Variae Lectiones* etc. Copies of this edition also are very difficult to have as only a limited number of copies is printed.

Similar activities have been at work in the publication of Digambar texts.

Stray texts have appeared in Europe most of which are printed in Roman characters and not therefore, suitable for Indians.

Under these circumstances, it is evident that we should lose no time in removing this long-felt want that has only partially been fulfilled.

In the course of a speech delivered at the S. S. Jain Conference in 1917, Principal A. C. Woolner of the Oriental College Labor remarked that the fact why European Scholars had done comparatively less work in Jainism was due to the absence of graded readers, grammars and dictionaries of Jain Prakrits. The want of such books has also been felt in India. One or two readers were published in Germany and Italy, but they were of no use to us.

So far as I know, there is not a single grammar that deals exclusively with our sacred languages. Hema Candra's Prakrit grammar was not written with any express object to help in the study of Jain literature. Dr. R. Pischel's *Grammatik der Prakrit-Sprachen* in German is an encyclopaedia of Prakrits and is not meant for beginners.

It is, therefore, the proper time that a graded series of Jain Readers and Grammars be brought out.

In 1912 Dr. Suali of Italy announced that he had collected materials for the compilation of a Prakrit Dictionary, and proved that the circumstances then fully

justified the undertaking of such a work.¹⁵ So far as I can say on the authority of price-lists of oriental books printed in Europe, Dr. Suali's dictionary never appeared.

Various attempts have been and are being made in India for a Prakrit Dictionary. I have seen the first four volumes of the *Abhidhana Rajendra* prepared at Ratlam. It does not seem to have proved useful in proportion to the amount of money and labour spent on it.

Under the management of Mr. Kesari Chand Bhandari of Indore, the S. S. Jain Conference is contemplating to bring out a Jain Prakrit Dictionary. The work of indexing words from Sutras has fairly advanced. How far this dictionary proves useful will be seen when it is out. Sometime ago I read an advertisement from Pt. Hargovind Das, of Calcutta about his proposed Prakrit Dictionary. But I do not know how far his work has progressed. These individual attempts on the part of the various sects show that the present circumstances are quite favourable for undertaking a Prakrit Dictionary.

Now the compilation of a dictionary is a huge task that cannot be successfully done by a single man. It requires a large staff of workers with a sufficient financial support. It is, therefore, extremely desirable that all those who have an inclination to undertake a Prakrit Dictionary should unite to make a combined effort.

A good and up-to-date Bibliography forms an indispensable book in a well-equipped library and a very valuable companion to a scholar. In 1906 Dr. Guerinot of France published his 'Essai

¹⁵ *Journal of the German Oriental Society* (Z. D. M. G.) 1912, p. 544.

de Bibliographie Jaina" in French to which a supplement entitled "Notes de Bibliographie Jaina" appeared in the *Journal Asiatique* for July-August 1909. Now that full eleven years have passed since the supplement was added, Dr. Guérinot's work can hardly be called up-to-date. This short-coming together with the fact that the work is written in French makes it quite necessary that a complete Bibliography should be undertaken in India.

The last work that seems to me important and urgent is the collection of materials for a history of Jainism in the Panjab. That Jainism existed in this province as early as the seventh century A. D. is proved by Hiuen Tsiang's description of a Jain temple near *Simha pura* (in the Salt Range between the rivers Indus and Jhelum). The ruins of this temple were discovered by Sir A. Stein in 1890. "

Sir Alexander Cunningham found at Kangra two Jain statues with inscrip-

16 Cunningham's *Archaeological Survey Report*, Vol. V p. 192.

17 *Vienna Oriental Journal*, Vol. IV p. 80.

tions on their pedestals which show that Jainism was prevalent in the Kangra valley a thousand years ago. " The latter statement is fully corroborated by mention of Kangra Jain temples in a *Pijnapti* edited by Muni Jina Vijaya in his *विक्रम-त्रिवेदि*.

It goes without saying that a book on the history of Jainism in the Panjab will be extremely valuable and interesting as well. For the writing of such a book local tradition will be of great value. Hence it is advisable that an early step " should be taken to collect local tradition which, if now neglected will soon die out for ever.

The above is only a brief resume of what should receive an early attention of our Research Society. There are however numerous minor lines which individual workers will find for themselves.

18 *Epigraphia Indica* Vol. I p. 119.

19 I think much matter will be forthcoming if the Research Society, or still better, if the Sectarian Conferences issue a circular letter to their various *Sabhas* in the Panjab mentioning in details the points about which information is sought.

સંપાદકીય વક્તવ્ય

બીજા અંકમાં અમે બાહેર કર્યું હતું કે ત્રીજો અંક લગભગ આશ્વિનપૂર્ણિમાએ પ્રકટ થશે. પરંતુ, પુરાતત્ત્વ મંદિર હસ્તકે છપાતા એક બે ગ્રંથોના કાર્યને અંગે અમારે એ વખતે ખાસ શુધાર્થ રહેવા જેવું થવાથી, ધારેલા સમયે આ અંક પ્રગટ ન કરી શકાયો.

*

*

*

આ અંક સાથે, પાલણપુરના શ્વેતાંબર સ્થાનકવાસી જૈન સરતુ સાહિત્ય પ્રચારક મંડળ તરફથી પ્રકટ થયેલું “આત્મ બાગૃતિ લાવના” નામનું લઘુ પુસ્તક ભેટ તરીકે મોકલવામાં આવે છે જેનો સ્વીકાર કરી યોગ્ય ઉપયોગ કરવાની અમારા વાચકોને ખાસ બલામુજી કરીએ છીએ.

—સંપાદક.

बहुएहि वि तारायणेहि रविपसर किं भिज्जइ,
 बहुएहि वि विसहरेहि मिलि वि किं गुरुडु मिलिज्जइ;
 बहु कुरंग आरुह करहि किरि कोइ मयंदह,
 पूणिहि बहुय तुरुक काइ सचउरि-जिणिंदह. ॥ ४ ॥

फसिणाणि शु चिरकालि आसि कुवि जोगनरेसर,
 उव्वसिपइ सचउरि दिट्ठु तहि वीरु जिणेसर;
 आरंभिउ आहुट्ट रंगु चामीयर वरतणु,
 वरतुरंगदो रहि निमित्तु नरवइहि चलिउ गणु. ॥ ५ ॥

रायाएसिहि दुट्ठभडिहि जिणु जाव न नामिओ,
 वडु सामि करिवरह खंधि रज्जुहुं संदामिओ;
 कडुंतह तुट्टेवि रज्जु हय गय धरणीयलि,
 निविडिय जिम परिचच रंड पेच्छंतह परयलि. ॥ ६ ॥

पुणवि कुहाडा हत्थि लेवि जिणवरतणु ताडिउ,
 पच्छुत्थडवि कुहाडेहिं सो सिरि अंचाडिउ;
 अज्जवि दीसहि अंगि घाय सोहिय तसु धीरह,
 चलणजुयल्लु सचउरि-नयरि पणमहु तसु वीरह. ॥ ७ ॥

गोसाला संगमय अमर उवसग्ग सहेविणु,
 जो न चलिउ ज्ञाणह जिणिंदु सिवसुद्धतगंयमणु;
 तसु किच्चिय उवसग्ग सहवि किय नरह नरिंदह,
 नमहु नमहु सचउरि-वीरु जो चरमजिणिंदह. ॥ ८ ॥

असु चिरज्जइ समवसरणु चउदेवनिकायदि,
 जसु पणमिज्जइ चल्णारविंदु सुरवरसंघायदि;
 चउदसरज्जह भुवणनाहु जो जंतुहियंकरु,
 सो पणमहु सचउरि-नयरि सिरिवीरु जिणेसर. ॥ ९ ॥

पुग्गमयुट्ठि किंकिळि चमर किन्नरदेवशणि,
 उच्चचिंथं दुंदडिनिथोस संठिउ सीहासणि;
 भामंउल्लु देहाणुल्लगु जगु तिहुयणि उज्जइ,
 वइसाट्ठि सचउरि-वीरु सो किम पणमिज्जइ. ॥ १० ॥

जिम महंतु गिरिवरह मेरु, महगणह दिवायरु,
 जिम महंतु सु सयंभुरमणु उवहिहि रयणायरु;
 जिम महंतु सुरवरह मज्झि सुरलोइ सुरेसरु,
 तिम महंतु तिपलोयतिलउ सच्चउरि जिणेसरु. ॥ ११ ॥

उद्दालवि दिणयरह तेउ, गहवइ सोमत्तणु,
 गंभीरिम सायरह, हरवि मंदिरह थिरत्तणु;
 घडिउ वीरु नं अमिउ लेवि सच्चउरि सुणिज्जइ,
 तिहुअणि तसु पडिंविउ नत्थि जसु उप्पम दिज्जइ. ॥ १२ ॥

कोरिंट, तिरिमाल, धार, आहाडु, नराणउं,
 अणहिलवाडउं, विजयकोट्टु, पुण पालित्ताणुं ।
 पिक्खिवि ताव बहुत्त ठाम मणि चोज्जु पईसइ,
 जं अज्जवि सच्चउरि वीरु लोयणिहि न दीसइ ॥ १३ ॥

सहस्सेण वि लोयणह तित्थु न होइ नियंतह,
 वयणसहस्सेहि गुणनतुट्टु निट्ठियहि धुणंतह;
 एक जीह धणपालु भणइ इक्कु जं मह नियत्तणु,
 किं वचउ सच्चउरि-वीरु हउं पुणु इक्काणणु. ॥ १४ ॥

रविख सामि पसरंतु मोहु नेहुंडुय तोडहि,
 सम्मदंसणि नाणु चरणु भडु कोहु विहाडहि;
 करि पसाउ सच्चउरि-वीरु जइ तुहु मणि भावइ,
 तइ तुट्टइ धणपालु जाउ जहि गयउ न आवइ. ॥ १५ ॥

पं० धणपालकृतः श्रीसत्यपुरमंडन-श्रीमहावीरउत्साहः

समप्तः

સત્યપુરીય શ્રીમહાવીર ઉત્સાહ પરિચય

જૈન સાહિત્ય સંશોધકના વાચકને આજે અને પરમાર્થ મહાકવિ ધનપાલની જે આલમ્ય કૃતિઓની અપૂર્વ ભેટ આપીએ છીએ. એમની પ્રાપ્તિથી દરેક શ્રદાળુ જૈનને અતિઆનંદ થવા લાગ્યો છે. સાથે જ મહાઆજ્ઞા કવિ ધનપાલની આ બે કૃતિઓ અપૂર્વ છે. એમાં પ્રભુ મહાવીરની અતિભક્તિ ભરેલી ગંભીર અને આંશ્લોક શતુતિ કરવામાં આવી છે જે દરેક જૈનને કંટે કરવા લાયક અને નિત્ય પાઠ કરવા લાયક છે.

મહાકવિ ધનપાલ જૈન સાહિત્યકારોનો એક મહાતેજસ્વી અને આદ્યેશુપ્રકાશી નક્ષત્ર છે. એના પ્રતિભાપ્રકારો જૈન વાસ્તવના શરીરપિંડને અને એ આપ્યું છે: જૈન સાહિત્યસંપત્તિના વિશાળ ભંડારમાં એક અણુગોણ અને આદિતીય રત્ન સમાર્પી એણે આદર્શ મંતાનુયાયીઓના પાંડિત્યાભિમાનને અતિ ઉન્નત બનાવ્યું છે. એનું એ રત્ન તે તિલકમંજરી કથા છે. આખા સંસ્કૃત સાહિત્યના અનંત શ્રેય સંગ્રહમાં બાણુની કાદળરી સિવાય એ કથાની તુલનામાં આવી શકે એવી બીજી કોઈ કૃતિ વિવરમાન નથી. અલગત, બાણુ ધનપાલનો પુરોગામી હોઈ તે એના શુરુઆતે છે; કાદળરીની અનુપમ રચનાયે જ ધનપાલને તિલકમંજરી રચવા પ્રેર્યો છે એ નિઃશંક છે; છતાં ધનપાલ પ્રતિભાની સ્પર્શમાં બાણુથી બે અંક નહિ તો ઉતરે તેમ પશુ નથી જ. એથી કાલકૃત ન્યેટ-લઘુ-સંબંધવાળા હોવા છતાં શુદ્ધધર્મથી તો ગિર્વાણગિરાના એ બંને ગુણમહાકવિઓ સમાન આસને જ બેસનારા છે; અને તેથી ધનપાલનું કવિ-હૃદય એ બાણુના જેટલું જ ગૌરવશાલી છે, એમ કહેવામાં આવે તો તે કથમપિ અસંકલિતવાળું નથી.

આવા મહાકવિની અઘાપિ અપ્રસિદ્ધ એવી બે કૃતિઓ પ્રસ્તુતઅંકમાં પ્રથમ જ પ્રકાશમાં આવે છે. આમાંની (૧) એક કૃતિ આપદશામાં છે અને એક પ્રાકૃતમાં છે. પ્રાકૃત કૃતિનો પરિચય જૂદો તે સાથે આપવામાં આવ્યો છે. અહિં, પ્રથમ આપેલી અપભ્રંશકૃતિનો પરિચય કરાવવામાં આવે છે. આ કૃતિ પાટણના ભંડારમાંથી પ્રાપ્ત થઈ છે. સંવત્ ૧૩૫૭-૫૮ માં લખેલી એક પ્રત, જેમાં આવાં અનેક શતુતિ-રોતિઓ એકત્ર લખેલાં છે તેમાંથી આ શતુતિ ઉતારી લીધેલી છે.

આ શતુતિનો વહુવે-વિષય સત્યપુરરથ મહાવીરનો યમકારિક પ્રણામ છે. તેથી અહિં પ્રથમ થોડોક એ રથગતો પરિચય આપવો આવશ્યક છે.

મારવાઠના બેઠપુર રાજ્યના દક્ષિણ ભાગમાં રાચોર કરીને એક ગ્રામ છે. એ ગ્રામનું અસલ સંસ્કૃત નામ સત્યપુર છે, એનો પ્રાકૃત ઉચ્ચાર સચડર થઈ અપભ્રંશ રૂપાંતર રાચોર બન્યું છે. એ સ્થાન ઘણું જૂનું છે. ત્યાં આગળ ભગવાન શ્રીમહાવીર સ્વામિનું પ્રાચીન, તીર્થજૂત, પવિત્ર જૈન ધામ છે. જૈન કેમમાં છે એક તીર્થરથગ ગણાય છે. 'જગિયાનખણી' નામના એક જાડું વૃક્ષ કહેવાતા સ્તેનામાં જયડ ધીર સચડરમિલેષણ એવા શબ્દોથી એ રથગતો નમસ્કરણીય ઉદ્દેશ્ય કરેલો છે અને દરેક મેનાંબર-મૃતિપૂજક જૈન એ સ્તેનાનો પ્રતિદિન પાઠ કરે છે.

જૈન તીર્થસંરક્ષક આચાર્ય શ્રી જિનપ્રભસુદિએ પોતાના સમયના જૈન ધર્મના વિવિધ તીર્થોની લોકીકત આપનારા જે વિવિધ તીર્થસ્થાન નામનો મહત્ત્વનો ગ્રંથ લખ્યો છે તેમાં એ સત્યપુરનો પણ ખાસ કથ લખ્યો છે. એ કથના અનુસાર, મહાવીર નિર્વાણ પછી લગભગ ૬૦૦ વર્ષ ચએલા નાદક નામના રાજાએ, શ્રીજિનપ્રભસુદિ નામના આચાર્યના ઉપદેશથી, એ સ્થાનમાં ભગવાન મહાવીરદેવનું મંદિર બાંધ્યું અને તેમાં પિત્રકની પ્રભુપ્રતિમા સ્થાપિત કરી. અલગાંત નામનો યજ્ઞ એ સ્થાનનો અધિષ્ઠાતા બળો અને તેથી એનું મહાત્મ્ય અનિશય વખનું.

જિનપ્રભસરિના લગેલા એ આખા સત્યપુર કલ્પનો સાર નીચે પ્રમાણે છે.

આગળના સમયમાં, મરુમંડળ એટલે મારવાડમાં આવેલા નંદુલ (નાંડોલ) પ્રાંતના મેઝનજૂત મેઝાવર નગરના રાગને બલવાન એવા દાઈ (ડાળી) લોકોએ મારી-નાખી તેનું રાજ્ય હીનવી લીધું. તે રાગની રાણી તે વ્યવસ્થા કરી હતી. તેથી તે નાસીને બંધાણપુરમાં વધેને રહી, અને ત્યાં તેને સર્વ લક્ષણસંપન્ન પુત્ર જન્મ્યો. તે નગરની બહાર એક ઝાડ, ઝાળી વળગારી તેમાં તે બાળકને તેણે સુવાડ્યો અને પોતે કાંઈ કામ કરવા લાગી. ત્યાં આગળ દેવયોગથી જન્મ્યાસરિ નામના એક જૈનઆચાર્ય આવી ચડ્યા. તેઓ તે ઝાડની ડાબી બાજુએ બેસીને તે ઝાળીમાંના બાળકને એકા દસે જોઈ રહ્યા, અને તરત જાણી ગયા કે ભવિષ્યમાં આ બાળક મોટા પુણ્યવાન થશે. એટલામાં તે રાણીએ આવડીને પૂછ્યું કે—ભગવાન! આ બાળક શું કુલનો ક્ષય કરનારો કુલકણ્ઠો દેખાય છે કે કેવો છે ? સૂરિએ જવાબ આપ્યો કે—ભંદે, એ તો મહાપુરુષ થવાનો છે. મારે સર્વ પ્રયત્ને આનું પાલન કરવું નેહ્યું. ત્યાર પછી વત્સલતાવા આણીને તે બંને માતાપુત્રને સૂરિએ પોતાના મંદિરના જે વપરચાપકો હતા તેમની પાસે સુક્યાં. તે બાળકનું નામ નાહડ એવું રાખવામાં આવ્યું અને તેને પંચનમસ્કાર મંત્ર સીખાડ્યાં. તે બાળક બહુ સમૃદ્ધ હતો. નાન-પણમાં જ ધનુષ્યબાણ હાથમાં લઈને, મંદિરમાં મૂકેલી ચાખા મૂકવાની પાટ ઉપર આવતા ઉઢરોને તારી તોડીને મારવા લાગ્યો. શ્રાવકોએ તેના આ કૃત્તને જોઈ તેને મંદિરમાંથી કાઢી મૂક્યો, તેથી તે કોઠાની ઝાણો ચરાવવાનું કામ કરવા લાગ્યો. એક દિવસે કોઈ નામ બહાર ફરતા યોગિએ તે બાળકને દોઢા તેને, એ પત્નીસ-બળણો મહાપુરુષ દેખાવે. તેના મનમાં સુવર્ણપુરુષની સાધના કરવાની ઇચ્છા થઈ તેથી તે ઝોની પાછળ પાછળ ઝોની મા પાસે ગયો અને એ માને સમજાવી-વીનવીને ત્યાં જ રહેવા લાગ્યો. અવસર જોઈને યોગિએ નાહડને કહ્યું કે—જન્મકામાં ગયો ચારવતાં થકાં જો તારી નજરે, રાત્રે દૂધ મરતું કોઈ કુલિશનું ઝાડ, પછી જ્યારે તો તે ઉપર નિશાન કરીને મને તેની ખબર આવશે. બાળક નાહડે જોગિની તે વાતનો સ્વીકાર કર્યો અને દેવયોગ થોડા જ દિવસમાં તેની દષ્ટિએ એવું એક ઝાડ પડ્યું. યોગિને ખબર કરવાથી તે તેની સાથે ગયો. ગાંજી થયોક્ત વિધાનપૂર્વક યોગિએ ત્યાં અગ્નિ સળગાવ્યો અને તેમાં તે રક્તદીપ્ત વૃક્ષને પ્રજ્વળાવી તેની આસપાસ પ્રદક્ષિણા કરવા લાગ્યો અને બાળક નાહડને પણ તેમ કરવાનું સૂચન કર્યું. નાહડ પોતાની ચંચલ શુદ્ધિએ યોગિના મનની દુષ્ટદૃષ્ટિને તારી ગયો અને તેથી તે પંચનમસ્કાર મંત્રનું સ્મરણ કરવા લાગ્યો. તે મંત્રના પ્રભાવથી જોગિનું સામર્થ્ય હજીજ ગયું અને આખરે નાહડે જ તેને ઉપાડી તે અગ્નિમાં નાખી દીધો. અગ્નિમાં પડતાંની સાથે જ તે સુવર્ણમય બની ગયો. આથી નાહડના મનમાં મંત્રના માદાત્મ્ય વિશે હડી થકાં જોડી. તે મનમાં વિચાર કરવા લાગ્યો કે—હું શી રીતે એ મંત્રપ્રદાયક શરતો પ્રત્યુપકાર કરી શકું ? એમ વિચાર કરીને તે શરૂ પાસે આવ્યો. ને તેમના પગે પડી તે બંધી હકીકત કહી; અને કહ્યું કે હવે મારે શું કરવું નેહ્યું. તેની મને આશા કરો. શરૂએ જિનમંદિર બંધાવવાનો ઉપદેશ આપ્યો અને તેથી તેણે ૨૪ ચૈત્યો બંધાવ્યાં. કમે કમે તેણે મોટી રાજ્યમહાદિ ગોળી અને તે વડે પોતાનું પૈતૃક રાજ્ય પાછું પાળ્યું.

એક દિવસે તેણે ફરી જન્મ્યાસરિને વિનંતી કરી કે—પૂજ્ય, આણું કોઈ કાર્ય બતાવો જેના કરવાથી તમારી અને મારી કીર્તિ લાંબા સમય સુધી વિવિધમાન રહે. ત્યારે જ્યાં આગળ, ચ્યારે સ્તનમાંથી ગાય દૂધની ધારા છોડતી હતી, એવી એક ભૂમિ શરૂએ તેને બતાવીને કહ્યું કે આ અબુ-ધકારક સ્થાન છે. એથી તે રાજ્યે ત્યાં આગળ, ભગવાન મહાવીરના નિવારણ પછી ૬૦૦ વર્ષ, મોટું, આશ્વસુધી જેનું સિખર પહોંચે એવું મંદિર બંધાવ્યું; અને તેમાં પિતાત્રની બનેલી મહાવીરચામિની ભવ્ય મૂર્તિ સ્થાપિત કરી જન્મ્યાસરિના હાથે તેની પ્રતિષ્ઠા કરાવી. જ્યારે પ્રતિષ્ઠા કરવા આવ્યાં

આવતા હતા ત્યારે વચ્ચે માર્ગમાં એક સારા મુહૂર્તમાં નાહડરાખના પૂર્વપુરુષ વિંઝરાય (વિંધ્વરાજ) ની આધારક મૂર્તિની પ્રતિષ્ઠા કરી. બીજા એક સારા મુહૂર્તમાં, ત્રીજી જેટી જળીન જોષને, ગુરુજના આ દેશથી સંખ્યાનાને વેલાએ દાંડાને થોડા મારી ફેલા બનાવી દીધા. લોકો આજે પણ તેને સંખકુવાના નામે જાણે છે. એ ફેલા બાજીના દિવસોમાં સડો હેલ્ય તેા પણ વૈશાખપૂર્ણિમાના દિવસે તેા પાણીથી ભરાએલો હોય છે. ત્રીજા લક્ષમાં વીરમૂર્તિની પ્રતિષ્ઠા કરી. જે લક્ષમાં એ વીરસ્વામિની પ્રતિષ્ઠા કરી, તે જ લક્ષમાં દુઃખામૃત્યુ ગામે અને વયજીવ ગામે પણ મહાવીરની બે મૂર્તિઓની સાધુ અને આવકના નામે પ્રતિષ્ઠાઓ કરવામાં આવી. એ વીરપ્રતિમાની નાહડરાજ રાજ પૂજા-અર્ચા કરતો. આ રીતે નાહડરાજએ તિમાની સ્થાપના કરી હતી, તેના પ્રતીકારિ તરીકે બ્રહ્મશાંતિ યજ્ઞ સદા તેની સાંનિધ્યમાં રહેતો અને તે પ્રતિમાની પર્યાપાસના કરતો હતો.

આ પછી જિનપ્રભસરિએ બ્રહ્મશાંતિ યજ્ઞનો પરિચય આપ્યો છે. એ યજ્ઞ તે બીજે કોઇ નહિ પણ કૃત્યમૃત્યુમાંની રીકામાં વર્ણવેલો શલ પાણી યજ્ઞ છે. યજ્ઞનું વર્ણન આપાને પછી જિનપ્રભસરિએ એ તીર્થને લગતી કેટલીક ઉપયોગી ઐતિહાસિક બીના આપી છે જે નીચે પ્રમાણે છે.

એકલે, ગુરુરાતભુમિના પશ્ચિમ ભાગમાં વલ્લભી એવે નામે મદ્ધિ-સમૃદ્ધિથી ભરપૂર એવી નગરી છે. ત્યાં શિલાદિત્ય નામનો રાજા રાજ્ય કરે છે. તેણે રત્ને જડેલી કાંકરીના લોભે પ્રેરાઈ રૂંક નામે સેકને સતાવ્યો. તેથી તે સેક કોષે ભરાયો, ને રાજગતો નારા કરવા માટે, ગજનીના સ્વામી હમ્મીરને ખૂબ ધન આપી, તેના મોટા સેન્યને જોવારી લાગ્યો. તે વખતે, અધિષ્ઠાયક દેવતાના બળે વજ્રીમાંથી બ્રહ્મપ્રભ સ્વામિની પ્રતિમા, બંબા અને શ્વેતપાદની મૂર્તિઓ સાથે, આકારામાળે યજ્ઞ, દેવપાટણમાં જઈ પહોંચી. વીનાચની જે પ્રતિમા હતી. તે તેના અધિષ્ઠાયકના સામર્થ્યથી, ક્રોધએ ન જાણેલા શૂરમાર્ગે, રચાઈ યજ્ઞને ચાલતી ચાલતી આસો જ સુદી પૂર્ણિમાના દિવસે શ્વેતમાસપુરમાં જઈ પહોંચી. બીજા પણ અતિશયવાળા દેવો વચોચિતસ્થાને જઈ વસ્યા. નગરદેવતાએ શ્વેતમાસપુર નામના આશ્રયને ચતારા ઉત્પાતની આગાહી આપી અને કહ્યું કે, જ્યાં આગળ સાધુઓને મળેલું દૂધ રૂધિર યજ્ઞને ફરી પાછું દૂધ બની જાય ત્યાં તમારે વસનું. પછી ગજનીથી આવેલા તે હમ્મીરના સેન્યે ચિક્રમ સંવત્ ૮૪૫ માં વજ્રી નગર લાગ્યું અને તે રાજ્યને મારી નાંખ્યો. પછી તે હમ્મીર પોતાના રથને ચાલ્યો ગયો.

તારાણ, બીજી વખતે, બીજે એક ગજનીપતિ, શૂર્વરદેવને ઉપરતે કહીને ત્યાંથી ચાલતો ચિક્રમ સંવત્ ૧૦૮૧ ના વર્ષમાં સાચીરમાં આવ્યો. ત્યાં તેણે વીર ભગવાનનું ચતોદર મંદિર બેસ્યું. મારો મારો કરતા તે મેરેજો મંદિરમાં પેઠા મોટા દાખીઓ જોડીને તે મહાવીરની પ્રતિમાને બહાર તાણવા લાગ્યા. પણ તે પોતાના રથાનેથી લેરામાન પણ ન હાવી. ત્યારે બગદોલી જોડીઓ લગાડીને તેને ખેંચવા માંડી. તે વખતે પૂર્વભવના અનુરાગબળે બ્રહ્મશાંતિ યજ્ઞે માત્ર ૪ આંગળ તે મૂર્તિને ખસવા દીધી. તે પછી સ્વં ગજનીપતિએ હાંકવા છતાં પણ જળદો જરાયે તે મૂર્તિને ખસેડી ન શક્યા. છેવટે મેરેજાણીય વિરજો શો, તેથી તે મૂર્તિ ઉપર તેણે ઘણોના ધા કરવા માંડ્યા. પણ તે ધા મૂર્તિને લાગવાને બદલે તેની અંતઃપુરની સ્ત્રીઓ ઉપર પડવા માંડ્યા. તેથી જિન યજ્ઞને તે તુરંતે ખજૂના પ્રદારવટે વીરની માત્ર એક આંગળી કાપી લીધી, અને તે લાઇને ચાલતા યજ્ઞ. પણ તેથી તેગના યોગાઓની યુગ્મીઓમાં આવ લાગી. મેરેજોને મૂર્ત્યે આવવા લાગી. પછી તેઓ યોગાઓને તરબે પગે ચાલવા લાગ્યા પણ તેથી તે તેઓ ધપ કરતાં જળીન ઉપર જ પડવા લાગ્યા. આથી રદમાનને રગરતા ચકા દીન જેવા બની ગયા. તે વખતે આકાશવાણીવટે તેગને સંભળાવું કે મહાવીરની આંગળા કાપીને તમે તમારા અંતરને આ પ્રમાણે સંસારમાં નાંખ્યું છે. તે સાંભળી ગજનીપતિ વિરમયપાથી ગાયું ધુણવતો હતો પોતાના સિપાહીએ

તરત હુકમ આપ્યો કે આ આંગળી પાછી ત્યાં જઈને મુકી આવે. પછી કરતા થકા તેઓ પાછી તે આંગળી ત્યાં મુકવા આવ્યા. તેમણે આશ્વર્યની સાથે બેઝું કે મુકતાંની સાથે જ તે આંગળી લાગવાનના દાથે ચોંટી ગઈ. એ ચમત્કાર જોઈને તુરંતે તે પછી સચોરમાં પેસવા પણ માગ્યું નહિ. જેના સંપ બહુ ખુશી થયો. ગીત, નૃત્ય, વાદ્ય, પૂજા અને દ્રવ્યના દાન વગેરે વડે કરી તે મૃતિની પ્રજા મહિમા કરવા લાગ્યો.

અન્ય વખતે, યશ્યું વળેં વીત્યા બાદ, માલવાનો રાજા, ગૂજરાતની ભૂમિને લૂટતો થકા સચોરના સીમાડામાં પહોંચ્યો. તે વખતે અલ્લાશાંનિ થકે મોટું સેન્ય દેખાડીને તેના લશ્કરને નાસાડ્યું. તેના પડાવમાં અગ્નિ સળગી ઉઠ્યો, અને માલવાનિપતિ ખાજનો વગેરે મુકીને છવ લાખ નાહો. તે પછી સંવત ૧૩૪૮ માં પ્રજાજા એવું કફરનું લશ્કર આવ્યું. ચામલોડા નારી છૂટા અને મંદિરના દરવાજાઓ બંધ કરવામાં આવ્યાં. તે વખતે અલ્લાશાંનિ યજ્ઞના માહાત્મ્યથી જયોજન દરથી જ અનાહત એવા વાજિત્રોના ગંબીર સૂરો સાંભળી, સારંગદેવ મદારાવના આગમનની સંકાથી એ યુગલોનું લશ્કર નારી ગયું. તેણે સચોરની સીમામાં પગ પણ ન મુક્યો. તે પછી ૧૩૫૬ ની સાવમાં અણહિવાનનો નાનો ભાઈ ઉલખાન, મંત્રી માધવની પ્રેરણાએ દિલ્લીથી ગૂજરાત તરફ નીકળ્યો. ચિતોડના સ્વામિ સમરસિંહે હંડ દબને જેમ્તેમ મેરાડનો બચાવ કર્યો. ત્યાંથી તે યુવરાજ કમ્પીર (બાદશાહનો ભાઈ) વાગડદેશ અને મેરાડાનમરને લૂટી આસાવસીમાં પહોંચ્યો. કહ્યુંદેવ રાજા નારી ગયો. સોમનાથ જઈ, ત્યાંના શિવલિંગને ધજના થા મારી તોડી નાંખ્યું અને મેરાડમાં ભરી દિલ્લી મોકલી દીધું. પછી વણુપથી જઈ મંડસિકરણને હંડ્યો અને સોરઠમાં પોતાની આજી પ્રતાવી પાછો આસાવસીમાં આવીને રહ્યો. ત્યાં તેણે મઠ, મંદિર, દેવળ વગેરે બાળા નાંખ્યા. પછી અનુક્રમે ત્યાંથી સચોર પહોંચ્યો પણ આગળની મારફ જ અનાહત ફેવીસૂરો સાંભળીને એ મેન્ડા સેન્ય પણ જતું રહ્યું.

આવા અનેક ચમત્કારો સચોરના મદાવીરદેવના વિષયમાં સાબળવામાં આવે છે. પણ ભવિતવ્યતાના બજે, કલિકાળના પ્રભાવે, દેવતાઓ પણ પ્રમાદી બની ગય છે. તેમ જ મોખાંસના લોકોના અંતઃક્રાંધી દેવતાઓ દૂર નારી ગય છે. આવા કેમ કરેલોને લઈને અલ્લાશાંનિ થકે કયાંએ પ્રમાદી થઈ દૂર ગયો હતો તેવે વખતે અણહિવાને તે જ અનંત માહાત્મ્યવાળી ભગવાન મદાવીરની મૃતિને, સંવત ૧૩૬૧ ની સાવમાં, દિલ્લીમાં આણીને તેની આસાવના-અવમાનના કરી !

આ પ્રમાણે જિનપ્રભસૂરિયે વંશિત કળ આપનાર એવો આ સત્યપુરતીયનો કલ્પ બનાવ્યો છે. તેનું ભવ્યજતો નિત્ય ત્યાંન કરો અને ધર્મજન કળ પામો.

(જુઓ, કલકતાની ઐસિપાટિક સોસાયટી માર્ગેટ પ્રગટ થયેલ તીર્થકલ્પ, પૃષ્ઠ ૮૮-૬૧)

જિનપ્રભસૂરિયે આ કલ્પમાં વર્ગેવેલી સચોરના મદાવીરદેવની અનિશ્ચયનાનું સંક્ષિપ્ત સૂચન કલિ ધનપાવના આ અપભ્રંશ સ્તોત્રમાં પણ સ્પષ્ટ રીતે કરેલું જણાઈ આવે છે. ચમત્કારિક વિગતો સિવાયની જે કેટલીક ઐતહાસિક ભાસતી વિગતોનો ઉલ્લેખ જિનપ્રભસૂરિના કલ્પમાં આવેલો છે તે બધીનો, પ્રવૃત્ત સ્તોત્ર સાથે સંબંધ ન હોવાથી વિચારવા જોઈએ કરવાનો અર્થ પ્રસંગ નથી. જિનપ્રભસૂરિના કથન પ્રમાણે સચોર ઉપર મુસલમાનોના ૩-૪ વાર ચડાઈ થઈ હતી. એમાં પહેલી એક ચડાઈ સિવાય બાકીની બધી ધનપાવના સમય પછી એ ચત્રી લેકા બાદ ચમેલી છે, એથી તુરંતે કરેલા જે ઉત્પાનનું સૂચન ધનપાવ આ સ્તોત્રમાં કરે છે તે જિનપ્રભસૂરિના કથન પ્રમાણે વિક્રમ સંવત ૧૦૮૧ માં કરેલી મજબીપતિ મહેશ્વરણની સ્વારીના લીધે જ ચમેલો હોવો જોઈએ.

મહાકવિ ધનપાલ એ જ જ્ઞાનાત્મા વિદ્યમાન હોતો. ધનપાલ કે જિનપ્રભ બંને એ ગજનીપતિ મહેન્દ્ર રાજાનું નામ આપતા નથી પણ આપણે ઇતિહાસ ઉપરથી તરત સમજી શકીએ તેમ છીએ કે એ ગજનીપતિ તે બીજો કોઈ નહિ પણ ભારતની પરાધીનતાનો સૂરપાત કરનાર ઇતિહાસ પ્રસિદ્ધ મહમ્મદ ગજનવી જ છે. મુસલમાની તવારીખો પ્રમાણે એણે સંવત ૧૦૮૦-૮૧માં ગૂજરાત ઉપર ચડાઈ કરી હતી અને ગૂજરાતની રાજધાની પાટણને લૂંટી કરી ભારતવિખ્યાત સોમનાથની મદનીય મૂર્તિને ખંસ કર્યો હતો. ગૂજરાતનો રાજા સોલંકી ભીમદેવ તે વખતે રાજ્યધાની છોડીને કચ્છમાં બધા ધુપાર્ક રહ્યો હતો, એમ મુસલમાન લેખકોનું કથન છે. પણ અબુદિલાવુર કે સોમનાથના આ પરાજયનો ઉલ્લેખ ગૂજરાતના અન્ય કોઈ ગ્રંથકરે કરેલા, હજી સુધી ગળુવામાં આવ્યો ન હતો તેથી, ઇતિહાસના અભ્યાસીઓ માટે આ એક મોટો કાયડો જ કહેવાય છે. પરંતુ, જિનપ્રભસૂરિએ, ઉપર બહુવિધું તેમ, સંવત ૧૦૮૧ માં ગજનીપતિએ કરેલી ગૂજરાત ઉપરની સ્વારીની સ્પષ્ટ ઉલ્લેખ કરેલો છે અને ધનપાલે પોતાના આ સ્તોત્રમાં અબુદિલાવુર, સોરઠ, અને સોમેશ્વર વગેરે સ્થાનો તુરકો વડે ભગ્ન થયેલાં બહુવિધાં છે. તેથી એ કાયડોનો ઝોલસા ઉકેલ આવી જાય તેમ છે. આમ ઐતિહાસિક દૃષ્ટિએ ભેદનાં ધનપાલનું આ સ્તોત્ર એક ઘણી મહત્વની નોંધ પુરી પાડે છે. આ સ્તોત્રની ત્રીજી કડીમાં ધનપાલ કહે છે કે-તુરકોએ શ્રીમતદેવ, અબુદિલાવુર, મહુવાહિલ (મહાવતી) સોરઠ, દેલવાઘ અને સોમેશ્વર એ બધાં સ્થાનોને તાસ કર્યો છે. અને એક માત્ર સાચોરના મહાવીરને જ તેઓ ભાગી નથી શક્યા. ધનપાલે સૂચવેલા આ નામોમાંથી એકાદ નામ સિવાય બાકીનાં બધાં નામો મહમ્મદ ગજનવીની મદદ સંબંધીનાં જે મુસલમાની વર્ણનો છે તેમાં અસાચર મળી આવે છે.

મહમ્મદ ગજનવી સાચોર ગયો હતો કે નહિ તેનો કશો ઉલ્લેખ મુસલમાની તવારીખોમાં મળતો નથી. તેથી સાચોરની મહાવીરની મૂર્તિના સંબંધમાં જે ચમત્કારિક પ્રસાવ આ સ્તોત્રમાં વર્ણવેલો છે તે માટે કોઈ અન્ય ઐતિહાસિક પ્રમાણ આપી શકાય તેમ નથી. તેમ જ આવાં ચમત્કારિક કથનોનું સમર્થન કરવાનું ધોરણ વૈજ્ઞાનિક ઇતિહાસશાસ્ત્રને સમ્મત પણ નથી. પણ જેમ હિંદુ ગ્રંથકરોમાં ચમત્કારો વિધિની બાંધી શ્રદ્ધા રહેલી હોય છે તેમ મુસલમાન ગ્રંથકરોમાં પણ રહેલી હોય છે, તેથી એ ગ્રંથોમાં બનેલાં આવી આપતને લગતા પુરાવાઓ શોધી કાઢવાનું વલણ રખાય તે તેને શોધખોળના ક્ષેત્રમાં રહ્યાનું અવશ્ય આપી શકાય તેમ છે. એટલા માટે અમે આ બાબતની અહિં નોંધ માત્ર લીધી છે. બાકી મુસલમાન લેખકો કારર લોકોના દેવતાઓની ચમત્કારિક શક્તિનો સ્વીકાર કરે એમ થોડું માની શકાય તેમ છે ? મારે એમના સાહિત્યમાં આવી નોંધની ગાણી રાખવી એટલા અર્થ નથી જ છે.

હિંદુઓનાં ઐતિહાસિક સાધનોમાં મહમ્મદે કરેલી સોમનાથની સ્વારીનું સૂચન સરખું ને ન મળી આવતાં છતાં, જેમ મુસલમાનોના કથન ઉપરથી આપણે તે વાતને ઇતિહાસમાં સ્થાન આપીએ છીએ, તેમ ધનપાલ અને જિનપ્રભસૂરિના કથન ઉપરથી સાચોર સંબંધી આ દર્શકતને (મદમ્મદ કે તેના સેન્યરી એ સ્થળ ઉપર ચડાઈ થઈ અને સોમનાથની માફક ત્યાંના મહાવીરની મૂર્તિને પણ તેણે તોડવા પ્રયત્ન કર્યો પણ તે સફળ ન થયો એ બાબતને) પણ ઐતિહાસિક ઘટના સા માટે ન ગણી શકાય. જૈન ગ્રંથોના અવલોકનથી એ તો સ્પષ્ટ સખળ્ય છે કે, સોરઠના સોમનાથની મગના સાચોરના મહાવીર પણ તે જ્ઞાનાત્મા પણા પ્રખ્યાત હોવા બોધાએ. ધારાની રાજ્યધાના મુખ્ય પંડિત જેવો મદદકવિ ધનપાલ, જેમ આગળ ઉપર બહુવિધ, એ સ્થાને તીર્થસ્થા કરવા માટે આવીને વસી રહે તેમાં એ સ્થાનની મોટી પ્રતિષ્ઠા જ મુખ્ય કારણ હોઈ શકે. એના મુપ્રસિદ્ધ તીર્થસ્થળમાં, જૈન લેવી બદ્ધ સમદિશાળા-અને તે કાળે તો ખૂબ સત્તાધારી પણ-ગણાની ભતિએ, પોતાની પાર્શ્વિક ઉદારતાના ઉદાહરણ રૂપે કેટલી

બધી અઘળક સંપત્તિ અર્થાં નાંખી હશે તેની કલ્પના, આજના જૈન તીર્થોની સમૃદ્ધિને જોઈને પણ સંભવ કરી શકાય તેમ છે. આવા એક સમૃદ્ધિસંપન્ન દેવસ્થાનની મહત્ત્વને ખબર ન પડે એ માની શકાય તેમ નથી. કારણ, એક તો તે ભારતના પ્રસિદ્ધ દેવસ્થાનોને બદલ કરવાની કીર્તિનો ભયંકર ભુખ્યો હતો અને બીજું તે સ્થાનોની સંપત્તિને લૂટવાનો પણ તેટલો જ ઉત્તરસ્યો હતો. પોતાના આ સ્વભાવને લઈને તેણે ભારતના બધાં સંપત્તિશાલી અને કીર્તિશાળી સ્થાનોની ચોક્કસ ભાળ મેળવી લીધી હતી અને એક પછી એક તે બધાનો વિધ્વંસ કરવો તેણે આરંભ્યો હતો. અને તેમાં વળી સાચોરના આસપાસના પ્રદેશમાં તો તે સારી પેઢે ફરી વળ્યો પણ હતો. મારે તેના જેવા મહાકુશલ લૂટારાથી સાચોરના દેશ પ્રસિદ્ધ મહાવીર અગાત રહે એ માનવું ભૂલ ભરેલું ગણાય. આ કારણથી આપણને માનવાનું પ્રાંત થાય છે કે તેણે સાચોર ઉપર સ્વારી તો કરી જ હશે; પણ ગમે તે કારણથી, તેને એમાં સફળતા નહિ મળી હોય અને તેથી મહાવીરની મુર્તિનો વિધ્વંસ કર્યો સિવાય એ જતો રહ્યો હશે એવા જ કોઇ અગાત કારણને ધનપાશ અને જિનપ્રભસરિ અતિશયતા ગાનતા હોય એમ ગણાય છે જિનપ્રભસરિ ગૂજરાત ઉપર યજ્ઞેશી એ મહાદ્યુત્ત જે ચોક્કસ વર્ષ આવે છે તે અન્ય ઇતિહાસો ઉપરથી યથાર્થ કરતું હોવાથી, તેમ જ એમના સિવાય બીજા કોઇ દિવ્ય ગ્રંથકારે આ ચક્રાધને લગતી કશીયે હકીકત આપેલી ન હોવાથી, તેની ઉપયોગિતા અને પ્રામાણ્યિયતા પુરવાર થાય છે. ધનપાશનું કથન તો એથીયે વધારે પ્રમાણભૂત છે; કારણ કે તે તો એ વખતે પ્રત્યક્ષ વિદ્યમાન હતો. પ્રભાવકચરિત્ર અને પ્રત્યક્ષિતામણી ગ્રંથોમાંના વર્ણન ઉપરથી સમગ્રપણે કે, મહામુદ્ ગજનીની ભારતમાંની આખી કારકીર્દી દરમ્યાન એ જીવિત હશે. સાચોર ઉપર તુર્કોના યજ્ઞેશી હુમલા પછી તરત જ કે બેચાર વર્ષની અંદર જ એ ત્યાં જન્મને રહેલો હશે. કારણ કે તે વખતે એની ઉંમર સારી પેઢે યુગ્મ થવા આવી હતી. પાંચપચ્છી નામના આ નામે જે પ્રાકૃતશબ્દ કોણ એણે બનાવેલો છે તેની સમાપ્તિ સંવત ૧૦૨૬ જેટલા પાછળના વર્ષમાં જ થઇ ગઈ હતી. જો આપણે એ રચનાને એની બહુ નાની ઉંમરમાં યજ્ઞેશી ગણીએ તો પણ તે જોડામાં જોડી ૨૦ વર્ષ જેટલી તો હશે જ અને તે રીતે જોતાં સંવત ૧૦૮૧ માં તેની અવસ્થા લગભગ ૭૦ વર્ષ જેટલી મવા આવી હશે. સંભવ છે કે એ પછી પણ તે ૧૦-૨૦ વર્ષ જીવિત હોય. પણ તે કરતાં કોઈ વિશેષ કહી ન શકાય. એટલે તુર્કોની સાચોરવાળી સ્વારીનું જે સૂચન, એના કરેલા આ પ્રસ્તુત સ્તોત્રમાંથી મળી આવે છે; તે બનેલા બનાવના બહુ જ નિકટવર્તી સમયમાં જ યજ્ઞેશી છે એ અચોક્ષિતિથી જ સાબીત થઇ બપ છે.

આ સ્તોત્રનું નામ ઉત્સાહ એવું આપેલું છે. 'ઉત્સાહ'ની રચના પ્રતિષ્ઠા વગેરે જેવા કોઇ સ્તોત્ર મહોદ્ધસવના પ્રસંગે મળ્યા મારે કરવામાં આવેલી હોય છે. જેમ કે કોઇ રાત્નચંદ્રિકાસન ઉપર સમુત્તી ચક્રાધ થાય અને તે ચક્રાધમાં એ ચંદ્રિકાસન અચળ રહી ફરી પાછી નવી પ્રતિષ્ઠા પામે, ભારે એ રાત્નપના ઉપાસકોને જે જાતનો હર્ષોદ્વેગ થાય અને એ હર્ષોદ્વેગના નિદર્શક તરીકે રાત્નકવિઓ જે જાતના ઉત્કર્ષક ગીતો ગાય તે જાતના કવનોને ઉત્સાહ નામ આપવામાં આવે છે.

ધનપાશકૃત આ મહાવીરોત્સાહ પણ એ જ પ્રકારની કૃતિ છે. આમાંથી એ સ્પષ્ટ ધ્વનિત થાય છે કે મહાવીર ઉપર કોઈ અતિશય આક્રમણ થયેલું છે અને તે આક્રમણમાંથી એ દેવમુર્તિ મહીસલામત બચી ગઇ છે, જેથી કવિ તેના અભયપણનાં ગૌરવવાળાં યુગ્મગાન કરે છે. જિનપ્રભસરિ તીર્થકલ્પમાં જે એમ જણાવે છે કે—મહાવીરના દેવી સમર્થને લઈને મગ્ધનીપતિ બ્યારે વિષ્ણો થઇને જતો રહ્યો ભારે પરિતુષ્ટ થયેલો જૈન સંઘ ધીરમવળે પૂજા મંદિરમા ગોય નહ ઘાદિત દક્ષિણદ્યારેદિ પમાયળ કરેદ એટલે કે મહાવીરના મંદિરમાં પૂજા, મંદિરમા, ગીન, મુસ, વાર્તિન અને દ્રવ્યનાં દાન

વગેરે વડે પ્રભાવના કરવા લાગ્યો. સંભવ છે કે, એજ પ્રભાવના પ્રસંગે મહાકવિ ધનપાલે આ ઉપરિચિત હોય અને પોતે પંચુ આ ગીત બનાવી એ પ્રભાવનાના કોઈમાં સમિલિત થયો હોય !

આ બધી હકીકત વાંચી વાંચકોને એ શંકા થશે કે કવિ ધનપાલે માલવાની ધારાનગરીની રાજ-સભાને અચ્છેદી પંડિત હોઈને તે મરજૂમિના સાચેરમાં શા માટે જઈને રહ્યો અને તે માટે શું પુરાવો છે ? આ નીચે એજ બાબત સ્પષ્ટ કરવામાં આવે છે.

પ્રભાવક ચરિત્રમાં થીમહોન્દસુરિના પ્રબંધમાં કવિ ધનપાલને લગતી વિસ્તૃત હકીકત આપેલી છે તેમાં જણાવ્યું છે કે-ધારાના વિકાન નૃપતિ બોજદેવને કોઈ જૈન કથા સાંભળવાની ઇચ્છા થવાથી કવિ ધનપાલે આર હજાર શ્લોક પ્રમાણવાળા તિલકમંજરી નામે નવરસ પરિપૂર્ણ ઉત્કૃષ્ટ પ્રકારની કથા બનાવી. તેને ગૂજરાતના મહાવિકાન વાદિવેતાશ્રી શાન્ત્યાચાર્ય પાસે, જૈન પદ્ધતિની સંગતિની દૃષ્ટિએ તપાસવાની ને પછી તે રાજને રસપૂર્વક સંપૂર્ણ સંભળાવી. રાજ.બોજ એ કથા સાંભળીને બહુ મુગ્ધ બન્યો. તેના મનમાં આવ્યું કે આ કથા સાથે માફ નામ સંકલિત થાય તો તેથી હું અમર બનું; એટલા માટે તેણે કવિને કહ્યું કે, જો તમે બોહું ન જગાડો તો હું એમાં થોડાંક પરિવર્તનો કરવા સૂચન કરું. એમ કહી તેણે જણાવ્યું કે આ કથાની આદિમાં મારા છટ્ટેવ શિવનું મંગલ કરવું, અયોધ્યા નગરીના નામને બદલે ધારાનું નામ મુકવું, શકાવતાર તીર્થના સ્થાને મહાકાશનું નામ લખવું, અપભ્રંશવના નામની જગ્યાએ શંકરના નામનો નિર્દેશ કરવો અને મેઘવાહન રાજાના બદલે માફ-બોજરાગનું નામ દાખલ કરવું. આટલું પરિવર્તન જો આમાં કરાય તો હું તને થથેજ દાન-માન આપી તારી કીર્તિને જગતમાં ફેલાવું. રાજાનો આ વિચાર સાંભળી કવિએ કહ્યું કે, મહારાજ શું તમે નથી જાણતા કે શ્રોત્રિયના હાથમાં રહેલા પવિત્ર પથ્થપાત્રમાં જો એક છોટો સરખો પંજુ મળે તો પડી જાય તો તે સર્વ અપવિત્ર બની જાય છે. તેમ આ કથા રચનામાં કેવિચિત્ માત્ર પરિવર્તન કરવાથી પંજુ આની પવિત્રતામાં થોડી હાનિ થાય, અને તેના લીધે કુળ, રાજ્ય અને રાષ્ટ્રનો પંજુ ક્ષય થાય. કવિનાં આવાં વચનો, સાંભળી રાજા કોષે ભરાયો અને તે કેવિના આવેશમાં મોટા આગળ જો અગ્નિ જળતી સગડી પડી હતી તેમાં તે કથા-પુસ્તક તોંબી લીધું. આ ભોઈ કવિ પંજુ મુકસે ચાલે ગાને, આજ પછી તારું મોહું જોવું તો દરમિયે છે, એમ કહી લાંબી ઉઠી પોતાને ધરે આવ્યો. ખિન્ન ચિત્ત થવાથી બીજાના ઉપર પડ્યો પડ્યો આમતેમ આવોદંપા કરે પંજુ સ્નાન, દેવપૂજા, કે બોજન વગેરે નિત્યનિયમ પંજુ કરવા ન હો. એ ભોઈ તેની સાક્ષાત્ સંસ્વતીની મૂર્તિ જેવી નવ વર્ણની જે નાની પુત્રી હતી તેણે બહુ આચર્યપૂર્વક ખિલતાં કારણ પૂછ્યું. કવિએ રાત્રે બેઠી બધી વાત કહી સંભળાવી. ત્યારે તે પુત્રીએ કહ્યું કે, આમાં શું છે તે આટલા બધા ખિન્ન થયા. એ કથા હું તમને ફરી જણાવી દઉં-ગતે તે બધી માટે છે. એમ કહી તેણે તરતજ કથા પીઠ જેટલા ભાગ તેની આગળ બોલી બતાવ્યા જેથી કવિના મનને આલ્સાદ થયો અને પછી કમળી તે પુત્રીના મોટાથી આખી કથા ફરી જુષી લીધી. બન્યું એમ હતું કે, કવિ ન્યારે એ કથાની રચના કરવા બેસતો ત્યારે તે પુત્રી રાજ-નિષયથી એ સાંભળી લેતી અને પોતાની અદ્ભુત સ્મરજીવિતા બળે એને થવાવત ધારી લેતી. આ રીતે આખી કથા તેને કેટલેક સ્મર રહેલી હતી. ફક્ત ન્યારે વચ્ચે કેટલેક વિષયો તેના સાંભળવામાં નહિ આવ્યે હોય તેટલો ભાગ ખંડિત રહ્યો, જે કવિએ પોતાની શુદ્ધિ પૂરી કાઢ્યો અને એમ એ કથા ફરી જાણી પુરી ફરી લીધી. છતાં, તેમાં ત્રણ દગ્ગર શ્લોક જેટલી તુટી રહી અને તેથી આર દગ્ગરને બદલે નવ દગ્ગર શ્લોક પ્રમાણ જેટલી એ કથા પ્રસિદ્ધિમાં આવી. રાજ તરફથી આ રીતે અપમાન થયેલું માની કવિ ધારાનગરી છોડીને પશ્ચિમ દિશા તરફ ચાલી નીકળ્યો અને એમ એના સત્યપુર નામના નગરમાં આવી પહોંચ્યો. આ આગળ થી મહાવીરદેવનું ચાલતરવાનું

જેવું કૈવ્ય જોઈને તે પરમાનંદ પામ્યો. પછી ત્યાં આગળ તેણે વિરોધાભાસ સંપ્રદાયભરેલી જિન્મલગ્નદે વિ એ પ્રદેશી શરૂ થતી મહાવીરની સુંદર સ્તુતિ કરી જે અદ્યપિ વિદ્યમાન છે (અને તે આ અંકમાં અન્યત્ર આપેલી છે). આ રીતે એ તીર્થની ઉપાસના કરતાં તે કવિ ત્યાં જ રહેવા લાગ્યો. આમ કેટલોક સમય કવિ સત્યપુરમાં રહે છે. તે દરમ્યાન ધારામાં એક રોટો વાદી આવે છે અને તે બોજની સલાને વાદવિવાદ માટે 'એલેજ' આપે છે. ત્યારે બોજને એની ગરહાજરી લાગે, ખુંચે છે અને તેથી તે પોતાના પ્રધાન પુરુષો મોકલી એને ફરી આદરપૂર્વક તેડાવે છે. સ્વદેશાનુસારને લીધે કવિ ફરી ધારા જાય છે. તે વખતે રાજા બોજ એની સામે આવે છે અને એને અત્યંત આદર કરી પોતે કરેલા અપરાધની ક્ષમા માંગે છે. કવિ ઉદાર મનથી તે આપે છે અને આવેલા વાદીને પોતાના પાંડિત્યથી પરાજિત કરી બોજની સલાનું સુખ ઉજળવડ કરે છે.

આ કથન ઉપરથી કવિ ધનપાકનું સત્યપુર-સાચોરમાં થયેલું આગમન અને ત્યાં રચેલી મહાવીર સ્તુતિ વગેરે બાબતનું સ્પષ્ટીકરણ થઇ ગયું છે.

પ્રસ્તુત ઉત્સાહમાં, સાચોરના એ મહાવીર ઉપર તુર્કો સિવાય બીજા પણ એક કોઈ રાજાએ કરેલા આક્રમણનો નિર્દેશ કરેલો છે જે ૫-૬-૭ નંબરવાળા કડીઓમાં જોવાય છે. પણ એ નિર્દેશ બહુ સ્પષ્ટ સમજાતા નથી તેથી એ વિષે કોઈ બહાપોહ કરી શકાય તેમ નથી. કોઈ જોગ નામના રાજાએ એ આક્રમણ કરેલું હોય એમ લાગે છે. તેણે યોધા અને હાથીઓને જોડી ભગવાનની મૂર્તિને દોરડાઓ વડે તાંથી કાઢવાનો પ્રયત્ન કર્યો છે તેમ જ કુહાડાના ધા મારીને પણ એ મૂર્તિને તોડી નાંખવાનો ઉપાય એજમાવી જોયો છે. છતાં એ મૂર્તિ, દેવજગે સ્થિર થઈને રહી છે અને એના ઉપર લાગેલા કુહાડાના ધાના નિશાન, 'આજે પણ નજરે દેખાય છે' એમ એ શ્રદ્ધાળુ કવિ ભક્તિપૂર્વક કહે છે.

આગળ જતાં ૧૩ મી કડીમાં કવિ એક બીજા પણ સુદાની વાત જણાવે છે. એ કહે છે કે:— કોરિંદ, શ્રીમાત્ર, ધાર, આહાડ, નરાણા, અણહિલવાડ, વિજયકોટ અને પાલીતાણા વગેરે સ્થાનોમાં ઘણી દેવમૂર્તિઓ જોધ (?) પણ સાચોરના મહાવીરને જોધને જેવું મન હરે છે તેવું ક્યારે હરે તેમ નથી. આમાં જે સ્થાનોનાં નામ જણાવ્યાં છે તે બધાં ઇતિહાસ પ્રસિદ્ધ છે અને તે વખતે સુપ્રસિદ્ધ સ્થાનો તરીકે તે ગણાતાં હતાં. કવિએ તે બધાં સ્થાનો જોયાં હોય તેમ આ કડી ઉપરથી સ્પષ્ટ સમજાય છે; અને એ બધાં સ્થાનો કરતાં સાચોરમાં જ એને વધારે ચિત્તસંતોષ થયો હોય તેવું લાગે છે.

આમ આ સ્થાનોમાંથી તીર્થ મહાદેવ ઉપરાંત ઐતિહાસિક દૃષ્ટિએ વિચારણીય એવી જે વાત મળી આવે છે તે શ્રદ્ધાળુઓને સિવાય અન્યને પણ મનન કરવા પ્રેરે તેમ છે. બાપા અને સ્વનામી દૃષ્ટિએ જોતાં પણ આ કૃતિ બહુ સરસ છે. સંપ્રદેશી પ્રાસાદિક અને વસ્તુ ભક્તિરસપૂર્ણ છે.



મહમૂદ ગઝનવી અને સોરઠના સોમનાથ

આ પહેલાંના લેખમાં મહમૂદ ગઝનવીએ કરેલા સોરઠના સોમનાથના ધ્વંસ વિશેની વાત આવી છે. પ્રસ્તુત પત્રના પાંદેકા કદાચિત એ વાતથી વિશેષ માહિતગાર ન હોય; તેમ જ મહમૂદ ક્યાં કારણોને લઈને ભારતના આ મહાન દેવસ્થાનોને નષ્ટબ્રષ્ટ કરવા યોરણો અને તેમાં ઘણે ભાગે સફળ થયો, તેનો વિચાર પણ ઘણાં જિનાસુઓને નહિ આવ્યો હોય, તે માટે અહિં એ સંબંધી કેટલીક વિચારણીય હકીકત આપવાનું ઉચિત ધાર્યું છે.

મહમૂદ ગઝનવીએ હિંદુસ્થાનને લૂટવા અને સામર્થ્યહીન બનાવવા માટે, એક પછી એક એમ લગભગ ૧૬-૧૭ ચઢાઇઓ આ દેશ ઉપર કરી હતી. તેમાં સૌથી છેલ્લી ચઢાઇ સોમનાથ ઉપરની હતી. સોમનાથને ઉપરત કથી પછી તેણે ખીચ કાઢ મહરતની ચઢાઇ કરી નથી. સોમનાથના વિન્ય પછી તેને લાંબું દશે કે તેના પ્રાકમરૂપી પ્રાચાદ ઉપર એ વિજયથી કળશોરોપણ થઇ ગયું, ને હવે ખીન્નું કાંઈ મેળવવા કે જીતવા લાયક બાકી રહ્યું નથી. સોમનાથનો નાશ કરી તે સિંધના રસ્તેથી સીધા ગઝની જતો રહ્યો અને ત્રણેક વર્ષ પછી તે ત્યાં પોતાની જીવનસીસા સમાપ્ત કરી ગયો.

ભારતનાં દેવસ્થાનોમાં સોમનાથ તે વખતે એક ઘણું પ્રસિદ્ધ અને પૂજનીય સ્થળ ગણાતું હતું. હિંદુલોકો તે વખતે મોટે ભાગે શિવની ઉપાસના કરતા હતા અને સોમનાથ શિવનું એક સર્વોદ્દેષ ધામ મનાતું હતું; તેથી એ સ્થળે ભારતના ચારે ખૂણેથી અસંખ્ય મનુષ્યો યાત્રા કરવા આવતા હતા. મોટા-મોટા રાજા મહારાજાઓ અને ધનવાન ગૃહસ્થો એ સ્થળમાં આવીને દિવસોના દિવસો રહેતા અને લાંબો કરોડો રૂપિયા એ સ્થાન નિમિત્તે દાન કરતા. મહમૂદ ગઝનવીના દરબારનો પ્રસિદ્ધ વિદ્વાન અહમેરુની-જેણે ભારતવર્ષના પરિચયને લગતો અરખીલાખમાં એક અનન્ય ગ્રંથ લખ્યો છે તેણે-પોતાના ગ્રંથમાં સોમનાથની ખ્યાતિ વિશે સ્પષ્ટ ઉલ્લેખ કર્યો છે. આવા મહાન સ્થાનને જાદ કરવું અને તેની સમૃદ્ધિ લૂંટી લેવી એ મહમૂદની એકી ઇચ્છા હતી અને તેથી તેણે જીવનના અસ્તકાળમાં પણ પોતાની એ ઇચ્છાને પૂરી કરવાનો આખરે સમર્થ પ્રયત્ન કર્યો અને ભારતના કમનસુખે તેમાં તે સફળ થયો.

મહમૂદ સોમનાથ ઉપર જે ચઢાઇ લઇ ગયો તે યુવતાન, મારવાડ, ગૂજરાત અને કાશ્મીરાના રસ્તે થઈ, લઇ ગયો હતો. એ વખતે જ તેણે, કવિ ધનપાલે જણાવેલાં શીમાનદેશ (આખૂરી પશ્ચિમનો પ્રદેશ), ચંદ્રાવતિ (ચંદ્રાવતી) અને અણહિલપુર વગેરે સ્થળો લૂટ્યાં ભાગ્યાં હશે. અણહિલપુર ને દેવવાડા ભાગ્યાનો ઉલ્લેખ તો મુસલમાન લેખકોએ એકબે બે કરેલા જ છે. અણહિલપુરમાં તે વખતે બીમદેવ રાજ્ય કરતો હતો. પ્રબંધચિંતામણિ વગેરે ગ્રંથોના આધારે બીમદેવ સંવત ૧૦૭૭ માં આદીએ એકેસા હોય તેમ જણાય છે. એમનો એ રાજા માટે જુદા પરાક્રમી હોવાના પુરાવાઓ મળી આવે છે. માળવાના પ્રસિદ્ધ વિદ્વાન રાજા બોન્દેવ અને ચેદિના રાજા કર્ણદેવ ઉપર એણે ચઢાઇઓ કર્યાના ઉલ્લેખો મળે છે. ગૂજરાતના સર્વોદ્દેષ વિદ્વાન આચાર્ય હેમચંદ્રે, પોતાના દ્વિયાશ્રય મહાકાવ્યમાં, એ રાજાના પરાક્રમી પણાનાં ખૂબ વખાણ કર્યાં છે. પણ એની નજર આગળ યએલા સોમનાથના ભેગનું સુચન સરખાં એ આચાર્ય કરતા નથી. આથી પુરાતત્ત્વજ્ઞોના મનમાં એની કારકીર્દીના વિષયમાં સંદેહ રહ્યાં કરે છે. કાર્મલ સાદેખ, રાસમાળા નાથના ગૂજરાતના પ્રધાન ઇતિહાસ ગ્રંથમાં, આ વિશે પોતાનો અભિપ્રાય આપતાં જણાવે છે કે-“જેન ગ્રંથકારે પોતાના વર્ણવેલીની પ્રતિજ્ઞાને દાનિ લાગે તેવી કરી વાત પોતાના ગ્રંથમાં જણાવતા નથી. દ્વિયાશ્રયમાં સોમનાથની વાત હેમચંદ્રેએ જે વખત લખી છે. તેમાં એકવર સિદ્ધરાજ નાના દરજા નય છે ત્યારે, અને બીજવાર કુમારપાલ તેનો જીવોદાર કરાવે છે ત્યારે, પણ એક વખત એ દેવાગય ભાગ્યાનો ઇસરો સરખાવે તે કરતા નથી.” અતઃપત, કાર્મલ સાદેખનું આ

કથન વિચારણીય છે ન; પણ એની સાથે એ વાત પણ એટલી જ વિચારણીય લાગે છે કે મહમૂદ ગજનવીનો ઇતિહાસ લખનારાઓમાં જે વ્હાતામાં જૂના લેખકો છે તેઓ પણ, તેના આ વિવંચનો ઉલ્લેખ, પોતાના ગ્રંથોમાં બિંદુક્રમ નથી કરતા. એ લેખકોમાં, સૌથી પહેલાં તો ઉત્તમી ગણાય છે જે ખુદ મહમૂદના શિસ્તેદાર હતા અને સોમનાથ ઉપર ચઢેલી ચઢાઇ પછી લગભગ ૪ વર્ષ તો ચોકસર રહિત હતા. તેણે મહમૂદના જીવનચરિત્રની સારી મેંધ લખી છે પણ તેમાં તેણે આ વિવંચનો બિંદુક્રમ ઉલ્લેખ કેવો નથી. એ પછી લગભગ બસો વર્ષ રસીનુદીન અને તે પછી ૨૦ વર્ષ હમીદુલા નામના ગ્રંથકારો થયા જેમણે મહમૂદના વિષયમાં ઘણીકે હકીકતો લખી છે પરંતુ તેમણે પણ એ વિવંચનો ઉલ્લેખ કેવો નથી. સોમનાથની ચઢાઇનું પહેલું વર્ણન લખનાર ઇબ્ન અસીર નામનો લેખક છે જે વિ. સ. ૧૨૮૬ (ઇ. સ. ૧૨૩૦)ની આસપાસ વિદ્યામાન હતા. એના જ લખેલા વર્ણન ઉપરથી પાછળના મુસલમાન લેખકોએ એ વિષયને ખૂબ સમગ્રી-પ્રવાહની તે લખ્યો છે. આ વિષયમાં મહારાષ્ટ્રીય વિદ્વાન શ્રી ચિતામણી વિનાયક વૈદ્ય, એમ. એ. એલ્. એલ્. બી.એ મધ્યયુગીનભારત નામના પોતાના મરાઠી ઐતિહાસિક ગ્રંથ (ભાગ ૩, પૃષ્ઠ ૧૩૨-૩૪)માં જે વિચારો લખ્યા છે તે અહિં આપવાથી આ બાબત વધારે સ્પષ્ટતાથી સમજ શકાયો.

“વૈદ્ય મહાશય લખે છે કે—“ગૂજરાતના સોલંકી રાજ્યોનો ઇતિહાસ, એ રાજવંશના મૂળ પુરુષ મૂજરાજના સમયથી માંડીને, જૈન અને હિંદુ ગ્રંથકારોએ, પૂર્ણપણે આપ્યો છે. પરંતુ સોલંકી રાજ્યોના અત્યંત વૈભવવાળા દિવસોમાં, ગૂજરાત ઉપર આવેલી આ આપત્તિનું, તેમાં નામ સુધાં નથી. મૂજરાજ અશક્તિવાળી માઠી ઉપર, ઇ. સ. ૬૬૧ માં એટલે સજીવગીનની પહેલાં ૧૬ વર્ષ ખેડો...આજ સુધીમાં જે શિલાલેખો ઉપલબ્ધ થયા છે તેમાં પણ આ આપત્તિ માટે એકે અક્ષર મળતો નથી. આથી કરી, ગૂજરાત, જેવા દુરમા પ્રાંતમાં, કે ત્યાં જવા માટે એક વિસ્તીર્ણ મરજુમિ પસાર કરવી આવશ્યક હતી. મહમૂદે અરખંર સ્વારી કરી કશે કે નહિ એની સહેજે શંકા થઈ આવે છે. પરંતુ, પોતાના અત્યંત પવિત્ર દેવચાના અને રાત્ર ઉપર તૂટી પડેલા આ અનર્થનો ઉલ્લેખ કરવા માટે હિંદુલેખક અનુસુક જ હોય; અને જે મુસલમાન લેખકોએ આ સ્વારી માટે લખ્યું છે તે તેમણે સંકેતો વર્ગો પછી લખેલું હોવા છતાં પણ, તેમની આગળ તે મારેનો કાંઇક પણ ઉલ્લેખ શહેરો હોવા જોઇએ. તેમણે બિંદુક્રમ કાદપત્રિક વાત લખી દીધી હોય એમ સંભવિત લાગતું નથી; આનો વિચાર કરીને ઇસ્તિયદ સાહેબે ઇબ્ન અસીરના પુસ્તકમાંથી જે ઉતારો લીધો છે તે ઉપર આ જગત લખવાનો અગ્રે વિચાર રાખ્યો છે.”

આ ઉત્તમીએ પોતાના ‘કામિલુ-ત-તવારિખ’ નામના ગ્રંથમાં આ ખાતતી જે હકીકત લખી છે તે નીચે પ્રમાણે છે—“ઈ. સ. ૧૦૨૪ (હિજરી ૪૧૪) મહમૂદે હિંદનાં કેટલાંક શહેર અને કેટલાંક કિલ્લા તાબે કરી લીધા અને વળી તેણે સોમનાથ નામની મુસ્તિ લીધી. હિંદની સૌ મુસ્તિઓમાં આ મુસ્તિ સૌથી મોટી હતી. દરેક દરજ્જાને વખતે હિંદુ લોકો ત્યાં જતા કરવા જતા અને એકે લાખ માણસ ભેગ થતું. હિંદુ લોકોના પૂનર્જન્મના મત પ્રમાણે હિંદુ લોકો એવું માને છે કે શરીરમાંથી જુદા પડ્યા પછી બધા માણસના આત્મા સોમનાથ ભેગા થાય છે; દરિયામાં ભરતિજોટ થાય છે, એ સોમનાથની પૂજા કરવાના દરિયે પ્રહણ કરેલા સૌથી સરસ રસ્તા છે. હિંદુસ્તાનની કિમતીમાં કિમતી પરંતુઓ સોમનાથમાં આવતી હતી. એ દેવગના પૂનરીએને કિમતીમાં કિમતી જ્ઞાન મળતાં અને દેવજને ૧૦,૦૦ ગોંધ દાનમાં આપેલાં હતાં. દેવજમાં ઘણામાં ઘણાં મુસ્લમાનાં અને ઘણાંમાં ઘણાં પાણીવાળાં રત્નો એકેલાં થયાં હતાં. હિંદુસ્તાનમાં ગંગા નામે એક મોટી નદી છે. જેને હિંદુ લોકો ધણું માન આપે છે, અને મૂળ પછી સ્વયં પહેલિયવાની ધારણાથી મરેલા માણસનાં હાડકાં તેમાં નાંખે છે. આ

મહામુદ ગજનવી અને સોરઠના સોમનાથ

આ પહેલાંના લેખમાં મહામુદ ગજનવીએ કરેલા સોરઠના સોમનાથના ખ્વંસ વિષેની વાત આવી છે. પ્રસ્તુત પત્રના પાંદોડો કદાચિત એ વાતથી વિશેષ મહિત્તમાર ન હોય; તેમ જ મહામુદ ક્યાં કારણેને લાંબે ભારતનાં આ મહાન દેવસ્થાનેને નષ્ટક્રષ્ટ કરવા પ્રેરણા અને તેમાં ધણે ભાગે સફળ થયો, તેનો વિચાર પણ ઘણાં જિજ્ઞાસુઓને નહિ આવ્યો હોય, તે માટે આદિ એ સંબંધી કેટલીક વિચારણીય હકીકત આપનાં ઉચિત ધાર્યું છે.

મહામુદ ગજનવીએ હિંદુસ્થાનને લૂટવા અને સામર્થ્યહીન ખતાવવા માટે, એક પછી એક એમ લગાતાર ૧૬-૧૭ ચઢાઇઓ આ દેશ ઉપર કરી હતી. તેમાં સૌથી છેલ્લી ચઢાઇ સોમનાથ ઉપરની હતી. સોમનાથને ઉપરત કચ્છી પછી તેણે ખીજ કોઇ મહત્વની ચઢાઇ કરી નથી. સોમનાથના વિજ્ઞ પછી તેને લાંબું હશે કે તેના પ્રક્રમશી પ્રાસાદ ઉપર એ વિજયથી કળશરોપણ થઇ ગયું, ને હવે ખીજું કોઇ ગેળવવા કે છતવા લાગ્યું બાકી રહ્યું નથી. સોમનાથનો નાશ કરી તે સિંધના રસ્તેથી સીધે મજની જતો રહ્યો અને ત્રણેક વર્ષ પછી તે ત્યાં પોતાની છત્રનકીલા સ્થાપ કરી ગયો.

ભારતનાં દેવસ્થાનેમાં સોમનાથ તે વખતે એક ઘણું પ્રસિદ્ધ અને પૂજનીય સ્થળ ગણાતું હતું હિંદુઓ તે વખતે મોટે ભાગે શિવની ઉપાસના કરતા હતા અને સોમનાથ શિવનું એક સર્વોદ્ધ ધામ મનાતું હતું; તેથી એ સ્થળે ભારતના મારે ખુલ્લેથી અસંખ્ય મનુષ્યો યાત્રા કરવા આવતા હતાં મોઢા મોઢા રાજા મહારાજાઓ અને ધનવાન ગૃહસ્થો એ સ્થળમાં આવીને દિવસોના દિવસો રહેતા અને લાખો કરોડો રૂપિયા એ સ્થાન નિમિત્તે દાન કરતા. મહામુદ ગજનવીના દરબારનો પ્રસિદ્ધ વિદ્વાન અદ્વૈતેશ્વરી-જેણે ભારતવર્ષના પરિચયને લખતા અરબીભાષામાં એક અનન્ય ગ્રંથ લખ્યો છે તેણે-પોતાના ગ્રંથમાં સોમનાથની ખ્યાતિ વિષે ૨૫૯ ઉલ્લેખ કર્યો છે. આના મહાન સ્થાનને મજ કરવું અને તેની સમૃદ્ધિ લૂટી લેવી એ મહામુદની મોટી ઇચ્છા હતી અને તેથી તેણે છત્રનકા અસ્તકાળમાં પણ પોતાની એ ઇચ્છાને પૂરી કરવાનો આખરે સમર્થ પ્રયત્ન કર્યો અને ભારતના કમનસીબે તેમાં તે સફળ થયો.

મહામુદ સોમનાથ ઉપર જે ચઢાઇ લઇ ગયો તે મુસ્તાન, મારવાડ, ગુજરાત અને કાશ્મીરના રસ્તે થઈ, લઇ ગયો હતો. એ વખતે જ તેણે, કવિ ધનપાલે જણાવેલાં થીમાસદેશ (આખૂની પશ્ચિમે પ્રદેશ), ચંદ્રાવર્તિ (ચંદ્રાવતી) અને અણહિલપુર વગેરે સ્થળો લૂટ્યાં લાગ્યાં હશે. અણહિલપુર ને દેલવાડા ભાગ્યાનો ઉલ્લેખ તે મુસલમાન લેખકોએ મોઢ્યો કરેલો જ છે. અણહિલપુરમાં તે વખતે ભીમોર રાજ્ય કરતો હતો. પ્રબંધચિંતામણિ વગેરે ગ્રંથોના આધારે બીમદેવ સંવત ૧૦૭૪ માં ગાદીએ બેઠો હોય તેમ જણાય છે. એમનો એ રાજા માટે જાડું પરાક્રમી હોવાના પુરાવાઓ મળી આવે છે. માગના પ્રસિદ્ધ વિદ્વાન રાજા ભોજદેવ અને ચેદિના રાજા કર્ણદેવ ઉપર એણે ચઢાઇઓ કર્યાં ઉલ્લેખો મળે છે. ગુજરાતના સર્વોદ્ધ વિદ્વાન આચાર્ય ઉમચંદે, પોતાના દ્વ્યાશય મહાકાવ્યમાં, એ રાજાના પરાક્રમ પછાનાં ખૂબ વખણ કર્યાં છે. પણ એની નજર આગળ થયેલા સોમનાથના ભંગનું સૂચન સરખું એ આચાર્ય કરતા નથી. આથી પુરાતત્ત્વજ્ઞોના મનમાં એની કારકીર્દીના વિશ્વાસમાં સંદેહ રહ્યો કરે છે. કાર્ણસ સાહેબ, રાસમગા નામના ગુજરાતના પ્રધાન ઇતિહાસ ગ્રંથમાં, આ વિષે પોતાનો અભિપ્રાય આપનાં જણાવે છે કે-‘નૈન ગ્રંથકારે પોતાના વર્ણવીતરની પ્રતિજ્ઞાને દાનિ લાગે તેવી કદી વાન પોતાના ગ્રંથમાં જન્યાવતા નથી. દ્વ્યાશયમાં સોમનાથની વાન ઉપાચાર્યે જે વખત લખી છે. તેમાં એકલા સિદ્ધરાજ ભાજા કરવા જાય છે ત્યારે, અને બીજવાર કુમારપાલ તેનો છલોહાર કરાવે છે ત્યારે, પણ એક વખત એ દેવાવય ભાગ્યાનો ઇસારો સરખેવે તે કરતા નથી.’ આગત, કાર્ણસ સાહેબનું

મૂકા કિલ્લા પર ચઢી ગયા. કિલ્લા પરથી તેમણે દીન ચોકારી, ઇસ્લામનું જોર બતાવ્યું, તોપણ તેમના એટલા બધા માણસ કેટલે યથ ગયા કે લડાઈનું શું પરિણામ આવશે એ સંદેહ ભરેલું બન્યું. કેટલાક હિંદુઓ સોમનાથનાં દેવળમાં ગયા, અને મહાદેવને પગે પડી ચોનાની વહેરે ધાવા પ્રાર્થના કરવા લાગ્યા. રાત્રી પડ્યાથી તે દરારે લંડાઈ બંધ રહી."

"બીજે દરારે સવારમાં મહમૂદે લંડાઈ પાછી ચલાવી. તેના માણસોએ આગળ દિવસ કરતાં પણ વધારે હિંદુઓને કાપી નાંખ્યા અને તેમને શહેરમાંથી નીકળી દેવળમાં ભરાઈ બેસવાની ફરજ પાડી. દેવળના દરવાજા આગળ કમકમાટ ઉપર બેઠી કતલ થઈ. દેવળનો અચાર કરવા આવેલા લોકોનાં ટોળેટોળાં દેવળમાં પેલાં અને એનાં ઉપર હાથ મૂકી રહ્યા તથા પ્રાર્થના કરવા લાગ્યાં. પછી તે બહાર નીકળ્યાં અને બધાં કપાઈ ગયાં સુધી લટ્યાં. જે થોડાં માણસો બાકી રહ્યાં તે હોડીઓમાં બેસી દરિયાં બોળી જ્યાં લાગ્યાં પણ મુસલમાનોએ તેમને પકડી પાડ્યાં, અને કેટલાંકને કાપી નાંખ્યાં અને કેટલાંકને પાણીમાં કુપાવી દીધાં."

"સોમનાથનાં દેવળને સીમાથી જોડેલા સાગના ઝપ્પન ચાંબડા હતા. મૂર્તિ એક અંધારા ઓરડામાં હતી. મૂર્તિની ઉંચાઈ પાંચ હાથ અને ફરતો ઘેર ત્રણ હાથ હતા; આટલી તો બહાર દેખાતી હતી પણ એ શિવાય જે હાથ બોંબમાં દાટેલી હતી. તેની પર કોતરકામ બન્યું નહોતું. મહમૂદે મૂર્તિ પકડી લીધી. તેના થોડા ભાગ બાળી નાંખ્યા, અને થોડા ધનની સાથે લઈ ગયો, તેનું જુમામસ્જીદના દરવાજા આગળ પગથીયું કરાવ્યું, અંધારા દેવળમાં શોધની કરવા રત્નજડીત ઝમરખ લટકાવેલાં હતાં. મૂર્તિની પાસે ૨૦૦ મણુ સોનાની સાંકળ હતી. અને એ સાંકળને ઘંટડીઓ બાંધેલી હતી. રાત્રે બચારે એક મોઢી પૂરી થતી ત્યારે સાંકળ હલાવવામાં આવતી તેથી ઘંટના અખખડાટથી પૂજા કરનાર બીજા બ્રાહ્મણ જાગી ઉઠતા. દેવળની પાસે તીજોરી હતી, તેમાં સોનારૂપાની બીજી ઘણી મૂર્તિઓ હતી. તીજોરીમાં રત્નજડીત કપડાં અને ઘણાં કિમતી રત્નો હતાં. ૨૦ લાખ દીનાર કરતાં પણ વધારે હિંમતના માસ દેવળમાંથી ચાલ્યા. હજાર કરતાં વધારે હિંદુઓ કપાઈ ગયા."

"સોમનાથ છતી લીધા પછી મહમૂદને ખબર મળી કે અણહિતવાડનો રાજા બીમ, સોમનાથથી ૨૪૦ માઈલ (૪૦ પરસંગ) છેડે, સોમનાથ અને જંગલની વચ્ચે આવેલા અંડહતના કિલ્લામાં ગયો છે. મહમૂદે અંડહત તરફ ફર્યું કરી ગયો. ત્યાં આગળ આવી પહોંચ્યા ત્યારે ત્યાં ચીકાર કરતા કેદ માણસોને તેણે બંદીની વિધે પૂછ્યું, તો તેને ખબર મળી કે ઉત્તરી રાજાએ એટલું પાણી છે પણ પવન આવશે તો ઉત્તરી ચકાશે નહીં. મહમૂદે અંડહતની બંદગી કરી અને પછી પાણીમાં ઉતરવા માંડ્યું. તેના હસ્કર સાથે તે સદિસસામત ઉતર્યો અને દુરમનને લાંબી કાદવા અંડહતથી તે પાછો વળ્યો, અને અધ્ય-સિંધમાં મન્સુર તરફ જવાનો ઇરાદો કર્યો, કારણ કે ત્યાંના રાજાએ ઇસ્લામ ધર્મનો ત્યાગ કર્યો હતો. મહમૂદના આવવાની વાત સાંભળી રાજા અજૂરીના જંગલમાં નાશી ગયો. મહમૂદ તેની માછળ ગયો અને તેને તથા તેનાં માણસોને ઘેરી લીધાં; તેમાંથી ઘણાને કાપી નાંખ્યા, ઘણાને પાણીમાં ફેંપાવી દીધા અને થોડા નાશી ગયા. પછી મહમૂદ ભાડીયા ગયો અને ત્યાંના ચોકને તાળે કરી હીજરી ૪૧૭ ની સાલના સફર માસની ૧૦ મી તારીખે ગઝની પાછો આવ્યો."

(ગોવિંદભાઈ હા. દેસાઈ કૃત. ગૂજરાતનો પ્રાચીન ઇતિહાસ, પાના ૧૫૬-૬૦)

* અંડહત દરિયા કિનારે હોડું બેઠેલું, પણ એ ક્યાં હશે એ બંદોખર નહીં થયું. દરાર બહુલકદ પારકું એવું છે કે એ કબ્રમાં આવેલું કયારેક હશે. કનલ સેલેસ્ટ બહુલકે છે કે મહિમાવાસને કિનારે ત્રિપાણીની વચ્ચેનાં જ્યાં આવેલું આંખની હશે; પ્રસિદ્ધ દીનેડ અને દરાર લોકો પારકું એવું છે કે લાર નદીના કુખ આંગળે આવેલું સારું પસિદ્ધ અંધાર હશે.

હિરિસ્તા અને બીજા બીજા. સુસત્રમાન લેખકોએ ઉત્પાદીત આ હકીકતને ખૂબ વધારીને લખી છે અને તેમાં અનેક અતિશયોક્તિ ભરેલાં વર્ણનો લખ્યાં છે. એ ઉપર ઉક્ત શ્રીયુત્તમ ચિં. વિ. વેદ સમાલોચનાની પદ્ધતિએ લખે છે કે “પ્રારંભમાં જ અમારે એ કહી દેવું જોઈએ કે આ અતિશયોક્તિ પ્રચુર હતાંતેમાં, પછીના લેખકો વડે વિસ્તર્ય કારક વાતોની ખૂબ જ ભરતી થતી રહી છે. ખાસ કરીને મહામૂદના ધાર્મિક ગૌરવની સમગ્ર વટ કરવાની ઇચ્છાથી સ્વકપોષક કવિત્વ એવી અનેક વાતો તેમણે આ હતાંત સાથે જોડી દીધી છે. ઉદાહરણ તરીકે, સોમનાથની મૂર્તિમાં અગણિત સંપત્તિ હુણાવેલી હતી, ત્યાંના આહલોએ, કોરો રૂપિયા દંડ તરીકે મહમૂદને આપના કબજા કર્યા, તેના મંત્રીએ તે લઇ લેવાની સલાહ આપી, પણ મહમૂદે કહ્યું કે—ઇશ્વરના દરગરમાં આપણે મૂર્તિ વેચનારા તરીકે ન કરીએ; મૂર્તિ ભાગનારા તરીકે પ્રસિદ્ધ થઇએ એવી મહારી ઇચ્છા છે.—આ વાત ગિતન સુધાએ લખી છે અને એ હિરસ્તાની નહિ તો કોઇ બીજાની પણ કેવળ કપોષ-કલ્પના જ છે. સોમનાથની આ હકીકત ખનાવડી છે એ વિશે ટીકા કરતાં, ખુદ ઇલિયટે એના ઉત્તરો લીધા છે તે વિદ્યમાન કહે છે કે—”આ મૂર્તિના અવયવ ઊંચ-વિચીંચ કરવા બાબત, ગૂઝરા-સુસત્રમાનોના લેખોમાં કશોય ઉલ્લેખ નથી. ખરી રીતે તે મૂર્તિ ને અવયવ જ ન હતા. તેમ જ તે મૂર્તિમાં સંપત્તિ ભરી રાખવાનોય ઉલ્લેખ નથી. તે મૂર્તિ નક્કર અને ભરતની હતી તેથી તેમાં સંપત્તિ હુણાવી રાખવા માટે અવકાશ જ ન હતો. તે મૂર્તિમાં હીરા અને પાણીક હુણાવી રાખવાનો જે શોધ હિરસ્તાએ કર્યો છે તેને કશો જ આધાર નથી.” આ હકીકત બિશ્વકુશ અક્ષય વગરની છે. કારણ કે સોમનાથની મૂર્તિ એ તો એક નક્કર પથ્થર હોવા જોઈએ. તે જ પ્રમાણે એક વિશ્વાસપાત્ર દિદ્ધ ભોખીયાએ મહમૂદને એક નિર્જલ રણમાં લઇ ગયા પછી ખુદાની આર્થના કરતાં જ તેને પાણી મળ્યા આવ્યું; અથવા, ગૂઝરાત પ્રાંત રસાળ હોઇ તેમાં સોનાની ખાણો હોવાથી મહમૂદનું મન ત્યાં જ રહેવાનું યદ્ય ગયું, પણ પુરાસાન આપણી જન્યમિ હોવાથી ત્યાં જ રહેવું આપણને વધારે સુખકર છે, એમ કહી તે કલ્પના છોડી દેવા માટે અધિકારીઓએ તેના મનને ફેરવ્યું; આવી વાતો વિશ્વસનીય લાગતી નથી. પાછાં દરતાં મહમૂદે તે દેહાનો રાત્તપરેભાડ નાસી છૂટેલા રાજાના કોઇ સંબંધી અને સંસાર છોડી વિરક્ત યજ્ઞસા દાખસિદ્ધીને સોંપી દીધો; આ વાત પણ—ગૂઝરાતના તે વખતના રાજા બીમનો તે કહેા યતો હતો અને સાચે જ તે સરસ્વતી નદીના કિલે સેનાપતી થઇને રહેતો હતો એમ ખાતવામાં આવે છે છતાં—તે વિચિત્ર હોઇને તે પર વિશ્વાસ બેસાડવા મરખી નથી. ઇલિયટે આ સ્વારી વિરેના પુષ્કળ ઇતિવાસકરિના ઉતારાઓ આપ્યા છે અને એમને વિશેષ જાણવાની ઇચ્છા હોય તે વાંચકોએ ઇલિયટના ગ્રંથમાંથી વાંચી લેવા. ઇબ્ન અસીરના મૂળમાં જ અતિશયોક્તિ ભરેલા હતાંતમાં પણ મીઠું—મરચું નાંખીને એ ઇતિવાસકારોએ પોતાનું હતાંત લખ્યું હોવાથી તેમનો સરંશ આપવાની કશી આવશ્યકતા નથી.”

આમ જાણીને વેવ મહાદાય ઇબ્ન અસીરે લખેલા હતાંતનો હુંક સાર આપે છે, (જે અંગે સચિત્ર ઉપર આપી દીધો છે) અને તેનું અવાલોચન કરતાં તેઓ કહે છે કે—”અર હતાંત સરળ અને વિશ્વસનીય લાગે છે. આહલોએ કે પછી જોઇએ તો ક્ષત્રિઓએ, મંદિર પાસે, કોષથી સંતમ થઇને પ્રતિકાર કર્યો પણ તે કેવળ મરુતને બેઠાવવા માટે જ હતો. ગૂઝરાતના રાજા બીમને સોમનાથની વધાર જ સંપૂર્ણ જોરથી પ્રતિકાર કરતાં આવ્યો હોય. તે પોતાના નામને અને રાજપુત બિરદાને જાળવવા નેપાર થયો હોય તેને, મહમૂદે આજોવા ક્રોધ કરતાં વધારે ગોઠું ક્રોધ, અધિક શ્રુ ઘોરસ્વારનું જ પણ રણંગળ ઉપર ઉત્તર કરી શક્યો હોય. પરંતુ અદિ એ પણ ખ્યાતમાં રાખવા જેવું છે કે એ વખતે મહમૂદની કાંતિ, તેણે મેળવેલા સતત વિજયોને લીધે, નેપોલિયન પ્રમાણે પરાક્રમથી પકડેલી

ગંધ હતી. એક નેપોલિયન એટલે લાખ માણસનું સૈન્ય માનવામાં આવતું. પરંતુ આવા નેપોલિયનનો પણ વાટફાના સમરંગણ ઉપર જર્મન અને ઇંગ્લેન્ડે સખત વિરોધ કર્યો. આપત્તિના નિરાશકાળમાં સખતાઇનું તેજ દિંદુલોકોના હાડમાં દેખાઇ આવતું નથી. મતલબ કે બીજે કચ્છમાંના એક કિલ્લાનો આશ્રય લીધો તેમાં કંઇ આશ્ચર્ય પામવા જેવું નથી. કચ્છના રણમાં પાણીની અડચણ છતાં અને ભરતીના વખતે પાણી વધવાનો સંભવ હોવાથી ત્યાં થઇને જવું ધોધાવાળું હોવા છતાં, સોમનાથ લુટ્યા પછી મદમૂદ ત્યાં પાણી દુધમો લઇ ગયો એમ કહેવાય છે. વિજેતા મદમૂદ આવે છે એ જાણીને બીમ ત્યાંથી પાણી નાસી છૂટેયો. પંબી રણમાં થઇ સિંધના માર્ગે મદમૂદ ગજની પાછો ફર્યો. રણમાં પાણી મળે તેમ નથી એની તેને ખબર હતી. તે પાણીનો રસ્તો જ ન હતો તો પછી વિશ્વાસ ધોતકી દિંદી બોમિયાદારા તેને ફસાવવાનો અવકાશ જ ક્યાંથી હોય. સિંધના પ્રદેશમાંના ચાંચિયાઓએ માત્ર તેને ખુશ જ ત્રાસ આપ્યો હતો. આ ચાંચિયાઓ જુડ દેશમાંના (જુડ) હતા એમ જણાય છે. પાછળથી આ બંને ઉપર હેવટની સ્વારી કરીને મદમૂદે તેમને પણ વધાનોગ્ય શિક્ષા આપી દીધી.

મદમૂદ સોમનાથ આવ્યો તે સુકતાતપરથી મરજૂગિમાં થઈ, રસ્તામાં આવતાં અજમેર અને અજ્ઞહિસપાડ સર કરી, પૂર્વના રસ્તે આવ્યો; અને કચ્છમાં થઈ પાછા જતાં માર્ગમાં મનસુર તોડી, સુકતાત અને સિંધુ નદીના રસ્તે ગયો; એમ કેટલાકો કહે છે. માળવાનો પરમાર ભોજદેવ તેની સાથે લડાઈ કરવાની તૈયારી કરતો હતો અને તેણે એને વચ્ચે આડ્યો હોત તેથી તે આ પશ્ચિમના માર્ગે પસાર થયો. દિંદુલોકો સાથે લડતું પડ્યો તો કદાચિત્ પોતાની આવી મોટી જટ માસી જશે એવા તેને ભય લાગ્યો હોયો નોંધએ; એમ પણ કેટલાકોએ લખેલું છે.”

આ બધી વિગત ઉગ્રાધી સોમનાથ ઉપર મદમૂદે કરેલી સ્વારીની સમજણ સારી પેઠે થઈ શકશે અને એ સ્વારીના વિષે જે મદદે અંતિદાસિકામાં આજ સુધી થઈ રહ્યો છે તેનો નિર્ણય, અમે પ્રથમ લેખમાં આપેલા જિનપ્રબક્ષર અને કવિ ધનપામના ઉલ્લેખોથી, યથાર્થ થઈ જાય તેમ છે. અમારી કલ્પના છે કે-મદમૂદ સોમનાથને સર કરી, જેમ ઇતિહાસોમાં જણાવ્યું છે તેમ, કચ્છમાં થઇને સિંધુ પ્રાંતમાં નંદિ ગયો હશે, પણ તે, કચ્છનું નાનું રણ જે કહેવાય છે તેના કંઠે કંઠે વાગડ પાસેના પ્રદેશમાં થઈ, સાગર જઈને પછી સુકતાત તરફ ગયો હશે. માર્ગમાં જતાં જતાં સાગરના મહાવીરને લટવાતું તેનું મન થયું હશે પણ ગમે તે કારણથી તે તેમાં લગ્નમનોરથ થયો છતાં જઈથી ત્યાંથી ફર્યો કરી ગયો હશે. તેના આવા શીઘ્ર પ્રયાણને શક્ય લોકોએ મહાવીર દેવના માહાત્મ્યથી અનેકું પરાધન માન્યું અને તેથી તે વિશેના આવા ઉલ્લેખો આ ગ્રંથકરો અને ભક્તજનોએ કર્યા છે.

મૂર્તિપૂજનનું માહાત્મ્ય

આદિ પ્રસંગથી આપણી મૂર્તિપૂજન અને તેના અંગે થએલા આવા અનિષ્ટ આક્રમણોના વિષયમાં કાંઈક વિચારણીય વાતો ઉપર પણ થોડાક ઉદાહરણ કરવાની ઇચ્છા થાય છે. વિચારણીય જાનેને આ વિચારો ખાસ મનનપૂર્વક વાંચવા જેવા છે.

મૂર્તિપૂજનની ભાવનાએ આપણા દેશમાં ઘણું ઘણું ઉત્કર્ષો અને અપકર્ષો-બંને ઉપસ્થિત કર્યા છે. મૂર્તિપૂજના નિમિત્તે દેશમાં લાખો મંદિરો રચાયાં અને તેથી શિલ્પકળાનો ખૂબ પ્રકર્ષ થયો. મૂર્તિપૂજનએ લોકોમાં વિસ્તૃત ધર્મભાવના ઉત્પન્ન કરી અને તેથી લોકોએ એ નિમિત્તે પોતાની સંપત્તિનો વિનિમય કરી ત્યાગ અને ઉદારતાના ઉચ્ચ ગુણો ખીલ્યા. મૂર્તિપૂજના કારણે જનસમાજમાં ભક્તિભાવનો ઈષ્ટ આલિંગ્ય થયો અને તેના લીધે સાહિત્ય અને સંગીતનો અનેક અંશે ઉચ્ચ વિકાસ થયો. મૂર્તિપૂજનએ ગાળેગાળે સાર્વજનિક સ્થાનોની સૃષ્ટિ કરી અને તેના થોડે સર્વ સામાનધર્મિઓને, વિનાસકોએ અને વિનાશમાર્મકોએ, એક સ્થાને વારે ધરીએ ભેગા મળવાનું અને તે દ્વારા પોતાની વિવિધ જીવનપ્રવૃત્તિઓને વ્યવસ્થિત બનાવવાનું સારું સાધન મળ્યું. મૂર્તિપૂજનએ નિરાધારોને આધાર આપ્યો, અનાથોને સનાથ કરાવી, પાપીઓને પુણ્યાત્મા બનાવી મનુષ્યજાતિને ઘણી શાંતિ અર્પી છે. આમ મૂર્તિપૂજન જ્યારે ઉત્કર્ષક જાણીએ છે ત્યારે ખીછ જાણીએ તે અપકર્ષક પણ તેટલી જ થઈ છે. દાખલા તરીકે-મૂર્તિપૂજના કારણે દેશમાં જે અનેક ગોદાં દેવસ્થાનો ઉભાં થયાં તે કાળોતરે લોકોમાં પરસ્પર કલહના પળુ ગોદાં સાધેલા થઈ પડ્યાં. એ દેવમંદિરોના નિમિત્તે દબરો લકાઈ-અકા ધયા. લાખો કરોડો રૂપીઆના અપ-વ્યયો થયા. સાધર્મિ સંઘો અને જનસમૂહોમાં છાંયેણુ વૈરભાવ સર્જયા. મૂર્તિપૂજના પદાને દંભ અને દુરાચારને પોષણ મળ્યાં. મૂર્તિપૂજના આચરણુ પાછળ સ્વાર્થ અને અદંકર પોષાયા. મૂર્તિપૂજના કાર્ત્તવ્યિક માહાત્મ્યના લીધે આચરણ અને અકર્મણ્યતાને ઉત્તેજનો મળ્યાં. આમ મૂર્તિપૂજનની જગે અને ઉધાર બંને જાણીએ બહુ માંડી શકાય તેમ છે.

મૂર્તિપૂજનને લીધે ભારેક દેશ ઉપર કેવી આપત્તિ આવી પડે છે અને એવે વખતે કલ્પિત મૂર્તિ-સામર્થ્ય પ્રગટે કેમ કર્તવ્યભાવ બનાવી દે છે એના ઉદ્દેશોના છતિદાસોમાં ગણા મળ્યા આવે છે. સોમનાથ અને મદમહત્તી સ્વામીને અંગે પણ આવા વિચારો મનિદાસકારોને આવ્યા કરે છે અને તે વિકાસોમાં ચર્ચાયા કરે છે. ઉપરોક્ત શ્રી ચિંતામણી વિ. પેઠ મહારાજે, પોતાના મધ્યયુગીન ભારત નામના મનનીય મરાઠી ઐતિહાસિક ગ્રંથમાં (ભાગ ૩)માં, 'દિદુઓની મૂર્તિપૂજ' એ નામનું જે એક સ્વતંત્ર પ્રકરણ પરિશિષ્ટરૂપે લખ્યું છે અને તેમાં જે વિચારો એમણે દર્શાવ્યા છે તે, આ વિષય પરમે ખામ મનન કરવા જેવા હોવાથી અહિં આપીએ છીએ.

તેવછ લખે છે કે-“ સોમનાથ સંબંધી મૂર્તિબંધ અને લદાની દક્ષિણ ઉપરથી દિદુઓની મૂર્તિપૂજ વિષે સૂત્રી આવેલા કેટલાક વિચારો ગિજાનની માફક છતિદાસનો પ્રક્રમ બંધ કરીને તર્રે જ ન આપતાં, અહિં પરિશિષ્ટરૂપે અંગે આપીએ છીએ. દસમા સદીની ગાંતે મૂર્તિપૂજની આગતમાં ધણું જ ભોળપણ દિદુસ્થાનમાં થયી ગયું હતું અને તેથી મુસલમાની મર્ગવાળા સોદાને પોતાનો ફાયદો કરી લેવાનું સાધન મળ્યું હતું. મદમહત્તી મૂર્તિબંધક ચઢાઈએ દિદુ લોકોની આ ભોળપણુ જરેલી આંખે ઉઘાડતા માટે જ થઈ હતી એમ કહી શકાય. પણ આ ચઢાઈએ પરથી નીકળતા બોધ, દુભોએ દશ્યે, દિદુઓએ લીધી નથી એમ કહેવું પડે છે. મૂર્તિપૂજ વેદોમાં કહેલી છે કે નહિ, અથવા તે શુદ્ધિને પડે છે કે નહિ આ

ધાર્મિક પ્રશ્ન અહિં ચર્ચના મંત્રતા નથી. હાલના હિંદુ ધર્મમાં મૂર્તિપૂજા એકસ માન્ય છે અને ધર્મ-પ્રશિક્ષાનાની દૃષ્ટિએ તે ચોખ્ખી રીતે માન્ય છે એમ કહી શકાય. પણ મૂર્તિપૂજાને લીધે કેટલીક ભ્રમણાઓ મનુષ્યના મનમાં રૂઢ થઈ ગય છે. ખાસ કરીને મૂર્તિમાં જ તે દેવની શક્તિ રહેલી છે આવી ભૂલભરેલી માન્યતા થઈ ગય છે. આ વાત હિંદુઓને જ લાગુ થાય છે એમ નથી પણ છેક પ્રાચીનકાળથી ન્યાં ન્યાં મૂર્તિપૂજા ચાલુ હતી ત્યાં ત્યાં આ વાત હતી જ. બૌદ્ધ ધર્મ, ખ્રિસ્તી ધર્મ, ઇશ્વરનું એ અસ્તિત્વ છે કે નહિ એ વિષયસુધામાં મૌન હતો. પણ પછી તે ભવંકર રીતે મૂર્તિપૂજાને માનનારો બન્યો અને ચારે બાજુએ છુદ્દની જ મૂર્તિઓ પૂજવા લાગી. જેનતસાંગ કેટલાંકે વિદ્યાર અને તત્ત્વવાની હોવા છતાં, તેને છુદ્દના શરીરાવશેષમાં અથવા છુદ્દની મૂર્તિમાં ચમત્કારિક સામર્થ્ય હતું એમ માનતો બેઠોને આપ-ણુને આશ્ચર્ય થાય છે. હિંદુ લોકોમાં મૂર્તિપૂજા પ્રચલિત જ લાંબી ઘણી રૂઢ હતી તે બૌદ્ધ ધર્મનો ઉત્પત્તિ થયા પછી તેના અનુકરણરૂપે ખ્રિસ્તી અધિક વધી ગયું. મૂર્તિની પવિત્રતા અને તેનામાં રહેલું અદ્ભુત સામર્થ્ય એ વિષયની જ્ઞાતિ કદવના એટલી બધી વધી પડી કે કતોજના પ્રતિહાર સમ્રાટ, યુસુફમાનો પારસી મુલતાન પઠાની લેવા યુસુફમંદિર હોવા છતાં ત્યારે ત્યારે તેઓ મુલતાન સર કરવા જતા ત્યારે ત્યારે ત્યાંના યુસુફમાન અધિકારીઓ 'તમે જે આમળ વધશો તેો સુધીની અહિં જે પ્રસિદ્ધ મૂર્તિ છે તે અમે તોડી નાંખીશું' એવી ધમકીઓ આપતા અને તેથી તેઓ પાછા ચાલ્યા આવતા. પશ્ચિમના દેશોમાંથી, રોમન અને ગ્રીક લોકો, ઇતર લોકોની અપેક્ષાએ તત્ત્વવાનમાં આમળ વધેલા હતા છતાં તેમનો પણ કેટલીક મૂર્તિઓના અદ્ભુત સામર્થ્ય પર વિશ્વાસ હતો. ખ્રીસ્તી ધર્મમાં, શરઆતમાં નિરાકાર દેવનો ઉપદેશ કરવામાં આવ્યો અને તેનો પ્રસાર મૂર્તિપૂજક રોમન અને ગ્રીક લોકોમાં જે થયો તે મૂર્તિમાં કદું સામર્થ્ય નથી એમ સિદ્ધ કરવાથી જ થયો. રોમનાચના પૂજારીઓની, મૂર્તિલેખક મહમુદને નારા કરવા માટે, રોમનાચની મૂર્તિ આમળ કરાએલી નિરર્થક વીનવણીની પ્રાર્થના વાંચીને, તે પૂર્વે જીસો વર્ષે એકલા અલેક્ઝેન્ડ્રિયા શહેરમાં એ જ પ્રકારના દેખાવનું જે આગેદુગ વર્ણન ગિજને કર્યું છે, તેની આગળનો રમતિ થઈ આવે છે. ચિઓડોશિયસ બાદશાહ (ઇ. સ. ૩૮૬)ના હુકમથી અલેક્ઝેન્ડ્રિયામાંની સિરિપિસની વિખ્યાત મૂર્તિ તોડી નાંખવામાં આવી તે વખતના યત્તાતંતું વર્ણન કરતાં ગિજન લખે છે કે— " અલેક્ઝેન્ડ્રિયા શહેર સિરિપિસની દેવતાની મૂર્તિના સંરક્ષણ નીચે સુરક્ષિત છે એવી માન્યતા હોવાથી તે શહેરને સિરિપિસના શહેર તરીકે ઓળખાવવામાં તે નગરને માન લાગતું. તેનું મંદિર, રોમના કેપિટલ ભાગમાં આવેલી ઇમારત કરતાં વિસ્તીર્ણ અને વૈભવવાદી હતું. શહેરની સપાટીથી સો ટૂટ ઉંચા બનાવેલા એક કુન્નિમ પણ પ્રચારત રેકરા પર એ મંદિર બાંધવામાં આવ્યું હતું. ચિઓડોશિયસ બાદશાહે મૂર્તિ-પૂજકોની પૂજાવિધિ સર્વેજ બંધ કરી દીધી હોવા છતાં પણ સિરિપિસના શહેરમાં અને મંદિરમાં તે ચાલુ હતી. કારણ, આવી ઓળખણની છુદ્દી ખ્રીસ્તી લોકોમાંને હતી કે-જે આ વિધિ બંધ કરી દેવામાં આવશે તેો નાઇઝ નદીમાં પૂર આવશે નહિ, ઇન્જિનમાં ચાક થશે નહિ અને કે-રોન્ટિન્ટોનપલ રાજધાનીને ખાવાનું મળશે નહિ. પણ છેવટે સિરિપિસનું મંદિર અને તેમાંની મૂર્તિ તોડી નાંખવા માટે બાદશાહને સખત હુકમ આવ્યો. જહી જહી જતની ધાતુઓનાં અલેક્ઝેન્ડ્રિયા પત્તર એક સાથે ભેગાં જડીને સિરિપિસની ભખ મૂર્તિ બનાવવામાં આવી હતી. તે એટલી ગેદી હતી કે ગણાસની બંને લીંતોને તે અડધા ગએથી હતી. તેના જગણા હાથમાં, શક્તીની સ્વરૂપવાળા એક સપેનું માથું અને ઘડ હતું, જેની પૂંછડીને ત્રણ ફાંટા હોઈ તેમના અંતે સિંહ, સિયાળ અને કુતરાનાં ડાઠાં લટકેલાં હતાં. આ મૂર્તિના ઉપમાર્થ કરવા જે કાંઈ હાય ઉકાવશે તેો તરત જ આકાશ અને પૃથ્વી એક થઇને સુદિના આરંભકાળ જેવું. તેમાંનું બેઠે, આવે બધાનો વિશ્વાસ હતો. એક કાઠી જાતીસાચો સિપાહી હાથમાં કુહાડો લઈ નીસરણી માંડી ઉપર

મૂર્તિપૂજનનું માહાત્મ્ય

આદિ પ્રસંગથી આપણી મૂર્તિપૂજન અને તેના અંગે થએલા આવા અનિષ્ટ આક્રમણોના વિષયમાં કાંઈક વિચારણીય વાતો ઉપર પણ થોડાક બિડાપોહ કરવાની ઇચ્છા થાય છે. વિચારણા જનને આ વિચારો ખાસ મનનપૂર્વક વાંચવા જેવા છે.

મૂર્તિપૂજનની ભાવનાએ આપણા દેશમાં ઘણું ઘણું ઉત્કર્ષો અને અપકર્ષો-અને ઉપસ્થિત કર્યો છે. મૂર્તિપૂજના નિમિત્તે દેશમાં લાખો મંદિરો રચાયાં અને તેથી સિસ્ટકળાનો ખૂબ પ્રદર્શ થયો. મૂર્તિપૂજનએ લોકોમાં વિસ્તૃત ધર્મભાવના ઉત્પન્ન કરી અને તેથી લોકોએ એ નિમિત્તે પોતાની સંપત્તિનો વિનિયમ કરી ત્યાગ અને ઉદારતાના ઉંચા ગુણો ખીલ્યા. મૂર્તિપૂજના કારણે જનસમાજમાં ભક્તિભાવનો ધૃષ્ટિ આનિર્ભાવ થયો અને તેના લીધે સાહિત્ય અને સંગીતનો અનેક અંશે ઉચ્ચ વિકાસ થયો. મૂર્તિપૂજનએ ગાંધેશ્વર સાર્વજનિક સ્થાનોની સૃષ્ટિ કરી અને તેના થોડે સર્વ સમાનધર્મિઓને, વિનાશકોએ અને વિનાશ્યામંત્રણે, એક સ્થાને વારે ધરીએ બેઠા મળવાનું અને તે દ્વારા પોતાની વિવિધ જીવનપ્રવૃત્તિઓને વ્યવસ્થિત બનાવવાનું સાઈ સાધન મળ્યું. મૂર્તિપૂજનએ નિરાધારોને આધાર આપી, અનાથોને સનાથ કરાવી, પાપીઓને પુણ્યાત્મ બનાવી મનુષ્યમનને વણી શાંતિ અર્પી છે. આમ મૂર્તિપૂજન બ્યારે ઉત્કર્ષક જણાયું છે ત્યારે બીજી બાજુએ તે અપકર્ષક પણ તેટલી જ થઈ છે. કાષ્ઠસા તરીકે-મૂર્તિપૂજના કારણે દેશમાં જે અનેક મોટાં દેવસ્થાનો ઉભાં થયાં તે કાળાંતરે લોકોમાં પરસ્પર કલ્લના પણ મોટાં સાધનો થઈ પડ્યાં. એ દેવમંદિરોના નિમિત્તે દબરો લડાઈ-ઝગડા થયા. લાખો કરોડો રૂપિયાના અપ-વ્યયો થયા. સાધર્મિ સંઘો અને જનસમૂહોમાં જીવલેખ વૈરભાવ સર્જાયા. મૂર્તિપૂજના બદાને દૂબ અને દુરાચારને પોષણ મળ્યાં. મૂર્તિપૂજના આચરણ પાછળ સ્વાર્થ અને અર્ધકાર પોષાયા. મૂર્તિપૂજના કાર્ત્ત્વિક માહાત્મ્યના લીધે આળસ અને અકર્મણ્યતાને ઉત્તેજનો મળ્યાં. આમ મૂર્તિપૂજની જગે અને ઉધાર અને બાજુએ બાજુ મારી શકાય તેમ છે.

મૂર્તિપૂજને લીધે ક્યારેક દેશ ઉપર કેવી આપત્તિ આવી પડે છે અને એવે વખતે કલ્પિત મૂર્તિ-સામર્થ્ય પ્રગટે કેમ કર્મવ્યય-જ બનાવી દે છે એના ઉદ્દેશો પ્રતિદાસોમાં વાળા મળી આવે છે. મોમનાથ અને મહમૂદની સ્વારીને અંગે પણ આવા વિચારો પ્રતિદાસકારને આવ્યા કરે છે અને તે વિકાનોમાં ચર્ચાયા કરે છે. ઉપર્યુક્ત શ્રી ચિંતામણી વિ. નેશ મહાશયે, પોતાના મધ્યયુગીન ભારત નામના મનનીય મરાઠી ઐતિહાસિક ગ્રંથમાં (ભાગ ૩)માં, 'દિલ્હીની મૂર્તિપૂજ' એ નામનું જે એક સ્વતંત્ર પ્રકરણ પરિચિદરૂપે લખ્યું છે અને તેમાં જે વિચારો એમણે દર્શાવ્યા છે તે, આ વિષય પરલે ખાસ મનન કરવા જેવા હોવાથી અદિ આપણે છીએ.

વેતલ લખે છે કે-“ મોમનાથ સંબંધી મૂર્તિપૂજ અને જૂની દફાકન ઉપરથી દિલ્હીની મૂર્તિપૂજ નિમે મૂત્રી આવેલા કેટલાક વિચારો ગિર્જાનની માફક પ્રતિદાસનો પ્રકાશ બંધ કરીને વચ્ચે જ ન આવ્યાં, અદિ પરિચિદરૂપે અને આપણે છીએ. દરમ્યા સૈફાની અને મૂર્તિપૂજની આખતમાં ઘણું જ ભોળપણ દિલ્હીયાતમાં વધી મળું હતું અને તેથી મુસલમાની ધર્મવાળા સોફાને પોતાનો દાવો કરી લેવાનું સાધન મળ્યું હતું. મહમૂદની મૂર્તિપૂજ નવાઈએ દિલ્હી લોકોની આ ભોળપણ જરેલી આંખો ઉઘાડ્યા અને જ થઈ હતી એમ કહી શકાય. ખુબ આ સ્વાદઓ પરથી નીકળેલા બોધ, દુભાંગે દહ્યે, દિલ્હીએ લીધો નથી એમ કહેવું પડે છે. મૂર્તિપૂજ વેદમાં કહેલી છે કે નહિ, અથવા તે શુદ્ધિને પરે છે કે નહિ આ

ખંતે જાળતો તરફ હિંદુલોકોનું લક્ષ્ય નેટલું ચોંટલું નોંધીએ તેટલું ચોંટતું નથી. મૂર્તિપૂજન છોડવાની જરૂર નથી; પણ વિશિષ્ટ મૂર્તિમાં અદ્ભુત સામર્થ્ય રહેલું છે એવી ભોળપણની લાવના ન વધારતાં, આપણી લાવનામાં જ એવું કાંઈક સામર્થ્ય રહેલું છે એ લાવના દ્રઢ થવાની જરૂર છે. તે જ પ્રમાણે મંદિર અને મૂર્તિ માટે વધારે દ્રવ્ય અર્ચનાથી વિશેષ પ્રુણ થાય છે એ કલ્પના પણ એટલી થવી નોંધીએ. કારણ કે આવા દ્રવ્યના સંચયથી મંદિરો, પૂજારીઓ અને રક્ષકોની નીતિ અગ્રે છે અને ચોર અગર મૂર્તિલંગ્કરોની, મૂર્તિને ઉપદ્રવ કરવાની ઇચ્છાને ઉત્તેજન મળે છે.

તો પણ, મનુષ્ય સ્વભાવ એક જ રીતે, મનુષ્યને એક જ કૃત્ય કરાવવા પ્રયત્ન કરે છે, એ છેવટે કહી દેવા જેવું છે. મૂર્તિલંગ્કર અને મંદિરધ્વંસક મદમદને પણ, એજ સ્વભાવની પ્રવૃત્તિએ, ગજનીમાં એક પ્રચંડ મશાદ બાંધી, લૂટી આણેલા સોના અને હીરામાંથી આદિ અવેરાત વડે તેની બીતોને સણગારવાની ઇચ્છા ઉત્પન્ન કરાવી. અને જે લોકો તે પ્રેરણા દત્તા તે જ લોક લવિષ્યના વિચિત્રતાઓ માટે તેણે સર્જી દીધો. ઐતિહાસિક હોંગો પરથી એમ દેખાય છે કે-એ મસીદને, એની અંદર રહેલા સૂર્યવાન સણગારના લોકો, ચીનના મૂર્તિપૂજક પ્રચંડ ટેળાઓએ ઉપ્પરત કરી નાંખી. જંગિરાખાને છુંખારાની જામે મસીદની કંદેલી અપમાનના છુપ્પેનીના જહાનકુશ નામના ગ્રંથમાં વર્ણવેલી છે. અને છુંખારામાં તેના એ કૃત્યને, ત્યાંથી નારી આપેલા એક મુસલમાને, આ નીચે આપેલા નાના સરખા પણ નેરદાર વાક્યમાં વર્ણવેલું છે કે-“ સોગલો આખા અને ખોટી, બાળા, કાપી, લૂટીને પાછા ગયા.” આ જ જંગિરાખાન, જહાનકુશની પીછા પકડીને (ઇ. સ. ૧૨૨૬) પાછો ફર્યો ત્યારે તે ગજનીપર આવ્યો હતો. તેણે બધા નગરવાસીઓને બદાર કાઢ્યા અને ગણી લીધા અને તેમાંથી નેટલા કારીગર હતા તેમને જાણીએ રાખી જાણી બધાની કતલ કરવાનો હુકમ કર્યો. તેણે સહેરને પણ ઉત્તરજી જળની મુક્યું અને પછી આગતાઇ મરેનામાં મહાં દટાવી હિરાન તરફ ચાલી નીકળ્યો (ઇસવ ૨, પા. ૩૯૦) ખીજ એક ઉતારામાં એમ કહેલું છે કે-આગતાઇએ ચાર મહિના સુધી ઘેરા ઘાલીને પછી હલ્લો કરી ગજની સહેર તાજે કઢ્યું અને તેને પાપા રાણે ખોટી કાટી તે જાણી મુક્યું અને લગભગ બે લાખ માણસોની કતલ કરી.” (ઇસવ ૨, પા. ૫૬૯)

આ આખા પ્રકરણમાં જણાવેલા વિચારો વર્તમાન જૈન સમાજને યથુ જાણ મનન કરવા જેવા છે. મંદિરો અને મૂર્તિઓની પાછળ જૈન કામનો જે દ્રવ્યવ્યય ચર્ચ રહ્યો છે તેનું કેતું લવિષ્ય આવે એ કાણ કહી શકે તેમ છે ? એ દ્રવ્યસંચયે જ દેવચનોને સદા જોષમમાં નાંખ્યા છે. પાલીતાણુનો રાત્ર જે આજે જૈનોને શત્રુજામની માતાથી અટકાવી રહ્યો છે તેનું કારણ, આપણા દ્રવ્યસંચયને જોધને વ્યગ્રત થએલો તેનો દ્રવ્યસ્રોત જ ખારા છે, એ દરેક મર્મર સમગ્ર શકે તેમ છે. જૈન કામે સવેળા ચેતી જવાની જરૂર છે અને દેશકાળને અનુસરતું પોતાનું ધોરણ દેશવાની જરૂર છે.

કવિ દીપવિજયજી લિખિત મહાનિશીથ સૂત્ર પરિચય.

મહાનિશીથ સૂત્ર જૈન આગમો પૈકી એક વિશિષ્ટ સૂત્ર છે. એની ગણના છેઠ સૂત્રોમાં થાય છે. નંદિસૂત્ર અને પાલિકસૂત્રમાં આ સૂત્રનું નામ આવે છે. પશુ આ સૂત્રની માન્યતાના સંબંધમાં કેટલાક ગ્રંથલેખાઓને મોટો મતભેદ છે. તથાગચ્છ, ખરતરગચ્છ આદિ ગચ્છાનુયાયીઓ આ સૂત્રને, અન્ય સૂત્રોની માફક જ પૂર્ણ પ્રમાણુભૂત ગણે છે ત્યારે અંચલગચ્છ વગેરે ગચ્છાવાળા એને પૂર્ણ પ્રમાણુભૂત માનતા નથી. નંદિસૂત્રમાં આનો નિર્દેશ કરેલો હોવા છતાં, સ્થાનકવાસી સંપ્રદાયવાળા એને સર્વથા માન્ય કરતા નથી. એ સંપ્રદાયને ન માનવાનું કારણ એ છે કે એમાં જિનજીવ્ય અને જિનપ્રતિભાની પૂજન વગેરે કરવા સંબંધે સ્પષ્ટ ઉક્તિઓ અભેદા છે. માટે, સૂત્રિપૂજને ન સ્વીકારનાર એ સંપ્રદાયને, આ સૂત્ર, નંદિસૂત્રમાં જોના નિર્દેશ છે તે જ આ, અસત્ય સૂત્ર છે એ રીતે માન્ય નથી. એ સંપ્રદાયનું કહેવું છે કે મૂળ મહાનિશીથ સૂત્ર વ્યુચિત્ર અથ ગયું છે અને તેના કેકાણે ચૈત્યવાસિઓએ આ નવું સૂત્ર રચી કાઢ્યું છે. અંચલ-ગચ્છાદિવાળાઓ સૂત્રિપૂજક હોવાથી તેમને એ દષ્ટિએ તો એમાંની આ દૃષ્ટિકતમાં વાંધો લેવા જેવું નથી; પણ, મતિઓએ શુદ્ધરથોને ઉપધાન વગેરે કરાવવાની યાજ્ઞનમાં એ ગચ્છવાળાઓનો મતવિરોધ છે, અને એ સૂત્રમાં એ ઉપધાનાદિના પણ ઉક્તિ છે તેથી તેઓ એ દષ્ટિએ એને અસત્યરૂપે ન માનતાં પાછળથી કેાઇ આચાર્યદ્વારા પરિવર્તિત થએલું માને છે. આગ આ સૂત્રની માન્યતાના સંબંધમાં પાસ મતભેદો છે. વળી, આ મતભેદોને પુષ્ટિ આપે એવી કેટલીક ઐતિહાસિક ભાસતી પદ્ધતિઓ પણ આ સૂત્રની ઉપજ્ઞ્ય સર્વ પ્રતિજ્ઞામાં ગણા આવે છે જેથી ઐતિહાસિક દ્રષ્ટિએ પણ એની કૃતિના વિષયમાં કેટલીક વિરોધભાવો પાતો નજરે પડે છે.

આગ છતાં, આ ગ્રંથ જહુ મદત્તવનો છે એમાં તો સંશય નથી. આમાં જે વિષયો વર્ણવ્યા છે તે વિશિષ્ટ પ્રકારના હોવાથી, તેમ જ કેટલીક અન્યત્ર અલગ્ય એવી વાતો આવતી હોવાથી, વિદ્વાનોની દષ્ટિએ એ એક અલગ્યસતીય ગ્રંથ જેવો યદ્ય પડેલો છે. જર્મનીના વાઈટર શુર્જોંગ નામના એક સૌચરે એ સૂત્રનો ખૂબ જારીકારથી અભ્યાસ કર્યો છે અને તેના પરિણામ રૂપે ‘*Urs Mahanishithasutram*’ એ નામે જર્મન ભાષામાં મહત્ત્વ મદત્તવનું પુસ્તક લખ્યું છે. જૈન સાધુઓમાં, આજે આ સૂત્રને સમગ્ર રીતે એવો કેાઈ ભાગ્યે જ દશે. એ સૂત્રમાં સા સા વિષયો આવેલા છે એની પણ કોઇને ખબર નહિ હોય.

લગભગ એક સૈકા પહેલાં વડોદરામાં દીપવિજય નામના એક વિદ્વાન મતિ યદ્ય ગયા છે તેઓ સારા કવિ અને પંદિત હતા. વડોદરાના રાજ્યમાં તેમને સારું જ્ઞાન મળતું હતું. ખંડેરાવ મહારાજ એ તેમને “ કવિગદાદુર ”નો ઇલકામ આપીો હતો. સંસ્કૃત અને ગ્રાંથિત ભાષાના જહુ સારા અભ્યાસ હતા. તેમને વડોદરાના રાજનરસિક શ્રાવક ગાંધી કુલબદાસ ગવેરચંદ, સા. ગવેરચંદ દેવચંદ, સા. કદાનધર નરસિંહાસ, નાચુ ગોવિંદજી વગેરે મળ્યોને મહાનિશીથ સૂત્રના વિષયમાં કેટલાક પ્રશ્નો પૂછ્યા અને કુંકમ આ આખા સૂત્રમાં સા શા વિષયો આવેલા છે તે જાણવાની જિજ્ઞાસા જતાવી. આથી એ કસિરાંતે સંવત ૧૮૬૦ની સાલમાં આ નીચે આપેલો એ આખા સૂત્રનો સંક્ષિપ્ત પરિચય લખી કાઢ્યો.

વડોદરાના રાજાજીરામાંથી આ પરિચયની પ્રત મળી આવી હતી જે ઉપરના તહયત ગચ્છ લનારી આ પરિચય આદિ આખામાં આપ્યો છે. ભાષા, અને જોડણી વગેરેમાં પણ કેાઇ જતનો ફેરફાર કર્યો વગર અસત્યરૂપે જ એ અર્થિ હાવવામાં આપ્યો છે. આશા છે કે એ સૂત્રના વિષયમાં આ પરિચયમાંથી જિજ્ઞાસુઓને સારું જ્ઞાન મળશે.

અસલ પરિચય.

શ્રી મનુપતિ વિકરા સમંયાત સંવત ૧૮૯૦, શાકે ૧૭૫૫ પ્રવર્તમાને શ્રી ગુનગર દેશ વડોદરા નગર સ્થાઈ, શ્રી તપાગચીય શ્રીવિજયાનંદસૂરિ પદ્મે દીપવિનય કવિરાજ તેમને સુધાવક, પુણ્યપ્રલાવક ગાંધી દુલ્લભદાસ ઝવેરચંદ, સાં ઝવેરચંદ દેવચંદ; સાં કાકાનદાસ નરસીદાસ, સાં નથુ ગોવિંદભ; તેમણે પૂછા કરી જે મહાનિશીથ સૂત્ર કેતલો મોટો શ્રેય છે, કેતલા અધ્યયન છે, અધ્યયન અધ્યયન દીઠ સ્થાસ્થા અધિકાર છે. તં શ્રી જિન પ્રતિમાના પાઠ, દ્રવ્યસ્તવ ભાવસ્તવના પાઠ, તં સંઘયાત્રાના પાઠ, દ્વાદશાંગી સૂત્રની આશાતનાના પાઠ તથા શ્રી જિનવચન ઉત્થાપીને મિશ્રભાષા બોલીને અનંતોકાલ રજદયા તે સાવધાચાર્યની વાત ક્રિહા અધ્યયનમાં છે? એ વાત નાગિહ સુમતિ કુશીલીઆની સંગતે ઘણો કાળ લખ્યા અને નાગિહે ભાવના ભાવતાં કેવલ જ્ઞાન ઉપગમ્યું એ ક્રિહા અધ્યયનમાં વાત છે? કામ-લોહાળી દુઃખીયા થયા, તથા નંદીગેણુછરે દેશ્યાને ઘરે ધર્મલાભ દીધી, વેશ્યાયે અર્થલાભ કદ્યો. તથા વેશ્યાને ઘરે બારે વરસ રહ્યા. પાછા તથો. એ ક્રિહા અધ્યયનમાં વાત છે? તથા પરપરાગત ધર્મ કહે છે જે મહાનિશીથ સૂત્ર સભા મધ્યે વંચાય નહીં તે કારણ શ્યા માટે છે? ઇત્યાદિ પ્રકારે અમારા મનમાં સંશય છે તે મહાનિશીથ સૂત્રને અતુસારે શ્રી જિન આગ્યા પ્રમાણે જેતલું જાણવાને આવે તે પ્રમાણે સંદેહ નિવારણ કરે: જોકલું મત્ર સંઘ-ધાવકે પૂછ્યું. તેના ઉત્તર શ્રી મહાનિશીથ સૂત્રને અતુસારે કહે છે. 'પણ પૂછયા પ્રમાણે એ સંશયના ઉત્તર લખ્યા પ્રમાણે સાંભરીને જે કોઈ મનમાં કલ્પના આણુચે તે સાવધાચાર્યની પદે ઘણો કાલ રજલચે. માટે સાંભરીને' એ સૂત્રની તં પ્રતિમાની પ્રતીત રાખવી, શ્રદ્ધા રાખવી.

એ મહાનિશીથ સૂત્ર શ્રેય ૪૫૪૪ સાહચાર હજાર ચોગાલીસ શ્લોક પ્રમાણે છે. અધ્યયન ૬ અને ચૂલીકા દોય છે: એવં ૮ છે. ચોથા ગણાવરસી મહાકાલમાં સૂત્રવિચ્છેદ જાતા જાણીને શ્રી વલ્લભીપુર મધ્યે શ્રી દેવકી ગણી સમાગ્રમણુછરું સર્વસાધુ ભેલા કરીને મુંદે સૂત્ર હતાં તે પુસ્તકે લિખ્યાં. લખતાં ૨ સંવત ૫૧૦ ની સાલ માટે શ્રી દેવકી સમાગ્રમણુ પૂજ્યજી સ્વર્ગે ગયા. તં સં. ૫૩૦ ની સાલમાં એક પૂર્વધર સત્યમિત સૂરિજી. યુગપ્રધાન સ્વર્ગે ગયા. પાછલથી શ્રી હરિભદ્રસૂરી, શ્રી સિદ્ધસેનસૂરી, શ્રદ્ધવાલી, યશસેજી, દેવશુભ, યશવર્ધનગણિ સમાગ્રમણુના શિષ્ય રવિશુભજી, નેમીચંદ્રજી, જિનદાસ ગણી. પ્રમુખ મહાપુરુષ ભેલા મહીને એ નિશીથ સૂત્ર પુસ્તક લખ્યું. લખતાં ૨ કેઈ પાઠ આલાવામાં ફેર દીધા તે કેવલીને ભલાવી ગયા છે. તે ચઉથા અધ્યયનને છેકડે જોઈ લેવું. અને સં. ૫૮૫ શ્રી હરિભદ્રસૂરી સ્વર્ગે ગયા. એ પુરુષે વ્રહ્મને તં કેવલીને ભલાવ્યું પણ માથે લીધી નહી. એહવા ભવના લીડે. તેણે એ રીતે મહાનિશીથ સૂત્ર લખ્યું છે. અને આજ વર્તમાન પ્રતિમાની દેખી પ્રતિમાના ઉપાપક તે શ્રી મહાનિશીથમાં પ્રતિમાના પાઠ, સંઘતીર્થ યાત્રાના પાઠ દેખીને ઈમ બોલે છે જે મહાનિશીથ સૂત્ર મોટું રત્ન છે, પણ પાછલથી, જતી આચાર્યો.

મલીને' શ્રી જિનપ્રતિમાના પાઠ નવા ધાત્રીને સૂત્ર ઠોકળી નાખ્યું છે. એ રીતે પોતાના છીત્ર ઉઘાડવાના મતલબ સાથે મોટા પુરુષ ભવ ભીરૂને ચોર ઠેકરાવે છે, બોલે છે. પણ સાવજ્ઞાન્યાર્થની પરે અનંતો કાલ રજલસ્યે. સાવજ્ઞાન્યાર્થે એવા વચન મિથ્ર. લાપાધ' બોલી ને તીર્થંકર ગોત્રના ફલવાડા વિગેરીને' અનંતો સંસાર વધાયો. તો ને કોઈ મોટાને ચોર હરાવીને એ સૂત્રને ઉઘાપર્યે તેડની સી વલી યાત્ર્યે. તથા વલી કોઈ ઇમ બોલે છે ને મહાનિશીથ સૂત્ર સભા સમક્ષ વંચાય નહીં ઇમ કહે છે. તેડનો ઉત્તર ઇમ ને નોકારના મંત્રાક્ષર છે તે પ્રગટ ન વાંચીયે ન બોલીયે. તે મંત્ર ન વાંચે એને અટકે નહી. તથા ચોથા આરાના સાધુની આવી મોટી આલોચણ છે. તે પાંચમા આરામાં થઈ શકે નહીં. એને પણ અટકે નહીં. તથા વલી બોલે છે. ને માંહે અસમંજસ વાતો છે તેથી વંચાયે નહી. પણ એહવી વાત માંહે નથી. નિકેવલ સાવધ આરંભ રહિત મુનિ માર્ગની વાત છે અને આજ વર્તમાનમાં મુનિ માર્ગ પાલી શકાય નહી તેવારે જિનપડિમાને આધાર ગ્રહીને', અનંતો લાભ બહુ લાભ વર્ણવીને, બહુ પૂજા કરીને', સાવધ વ્યાપાર આરંભ પોતે આદરી બેઠા. તે કહે છે દેહરા ઉપર બિપરી રહેવું, તીર્થ ઉપર બિપરી રહેવું, પત્થરની આંખ કઠાવવી, પત્થર ફાડાવવાં, ઘૂની છોકની ભૂઠી પકાવવી, ઇંટને નીવાડ પકાવવા, કાચા પાણીયે છો ગાર કરાવવી, દેહરા ચણુ વવાં, ધર્મશાલા ઉપાશ્રય બણાવવાં, જિનપૂજા, દેવદેવીને' કારણે ફલફૂલ સુંટાવવાં, પ્રતિષ્ઠા અંજનસિલાકા દસ દિગપાલના ભૂત ગણી રંધાવવા, પૂજા બણાવવી, સંઘના આંગેવાન ઘઈને' સાજવું: ઇત્યાદિ સાવધ આરંભ તે બહુ લાભ અનંત લાભ પોકાંરી ઘણી ઘણી પુટી કરીને' આચાર્ય ઉપાધ્યાય સાધુ તેમણે' આરંભ' વ્યાપાર અંગીકાર કરીલી.....
.....કરાવે, ધ્વજ કરાવે, ધ્વજ ફલસ ફંડ રહિત જિનપ્રાસાદ કારયે પણ મુનિ પહાનિ.....એહવી વાત... ..થર્માં છે. માટે સ.....તાની ઉધડે અને આજીવીકામદ થાયે માટે સભા સમક્ષ વાંચવાની ના કહે છે. તે સર્વે કહીગત ત્રીજા ચોથા પાંચમા છઠ્ઠા અધ્યયનમાં છે. મહાનિશીથસૂત્ર' મોટો રત્ન છે. એ રત્ન છે પણ જિનપડિમાના દેખીયે' પ્રતિમાના પાઠ માટે' ઉત્થાપ્યું માન્યું નહિ. અને માનનારા તેમણે પોતાની આજીવીકા ઘટે માટે સભાસમક્ષ વંચાયે નહીં એહવો ભરમ ધાત્રીને' વાંચ્યું નહીં. પણ સંઘ શ્રાવકે પૂરછયા પ્રમાણે એહવી વાત એ સૂત્રમાં છે તે પ્રમાણે લખ્યું છે. સાવજ્ઞાન્યાર્થની પરે' અગ્રક સંસાર વધાર્યો નથી.

પ્રથમ અધ્યયનનું નામ શલ્ય ઉદ્ધારણ. એ અધ્યયનના પાંના ૭ છે. શલ્યઉદ્ધારણનો અર્થ એ જે જિન પગમાંહે કાંટેા બાગેા તે તેડનું સાલ છે પણ આખા શરીરને' વેદના દરે. તિગ છવે પાપ કર્યો હોય તે શલ્ય મોટાની સાથે પ્રગટ કહીને નિહીને આઢોઈને ખમાવીને' પાપ રૂપ રવ.....કાંટેા કહીને' નિરૂગ ઘઈ ને પરભવ સમારે તેડનું નામ શલ્ય ઉદ્ધારણ કહીયે. એ અધ્યયનમાં છવેને અઢાર પાપ આંધવાના રથાનકે કહ્યા છે. હવે પ્રથમ શલ્યઉદ્ધારણ યાવાને' ઉજગાલ યપને તિગી વાર નક્કર ગોગ કરણ અંદ્રબલ અકુમાનો નપ પાશવું કરીને' સર્વ કમભયસાથ મુનિ

રાજને વંદીને સર્વને ખમાવીને, છઠ્ઠો તપ, સર્વ મુનિ મંડળને, શ્રી વીતરાગનું દેહરું છે તિહાં પ્રતિમા આગંલ જઈને સર્વ જિનલિંગને વંદીને પછે શ્રુતદેવતાનું સમરણ ધારીને ક્ષરધારે ઓલી....? શ્રુતદેવતાના મંત્રાક્ષરની છે. પછે અક્ષીજુમાનશી લઘિ મંત્રાક્ષરની ૧ ઓલી છે. પછે વીરના મંત્રાક્ષર છે, તથા સર્વે તીર્થંકરના મંત્રાક્ષર છે. પછે શુદ્ધ સાધુના મંત્રાક્ષર છે. પછે શ્રુતજ્ઞાની અવધિજ્ઞાની મનપર્યવજ્ઞાનીના મંત્રાક્ષર છે. પછે પચીસ જાતના કેવલી ભગવંતને વંદીને પછે આલોચણ લીયે. તે આલોચણના પાઠ આલાવા ઘણા છે તે પાનાથી જોઈ લેવું. ઇતિ સદયઉદરણ અધ્યયન સમાપ્ત. ૧.

ખીજું કર્મવિપાક અધ્યયન પાના ૧૧ છે. એક અધ્યયનમાં કર્મવિપાકની વાત છે. નિગોદિયા એકે દ્રીધી માંડીને દસ ભુવનપતિ, સોલ વ્યંતર, દસ ભેતિથી, વિમાનીક છવીસ, પાંચ થાવર, ત્રિણ વિગતેંદ્રી, તીર્થંચ, મનુષ્ય આદિ ચોવીસ ડંડક, ચોરાસી લાખ જીવાજીતીયે જીવે ને પાપ કર્યા હોય તે સંભારીને આલોચે નિદે ગરહે તે ઘણી વાત છે. અધ્યયનને છેલ્લે સામાયક પોસહાવતની વાત છે. તિહાં ગૌતમે પ્રશ્ન કર્યું ને-ભગવંત ! શ્રાવક જિનલિંગ આદરીને છાંડે તે આરાધક કે વિરાધક ? ઉત્તર-ગૌતમ ! શ્રાવક સંસારી સામાયિક પોસહામાં જિનલિંગ ધરીને એકો તે ૨ ઘડી ૪ પહેર ૮ પ્રહર ૧૬ પ્રહર જિનલિંગ તેણે દુવિધ ત્રિવિધ ભાંગે ઉચર્યું છે પણ ત્રિવિધ ત્રિવિધ ભાંગે ઉચર્યું નથી. માટે તેહના મતનો કાલ પૂરો થાયે તિવારે પારીને ઘરે જાયે. એ આરાધક પણ વિરાધક નહીં. અને મુનિયે ત્રિવિધ ત્રિવિધ ભાંગે મત ઉચર્યા છે તે જિનલિંગ મુનિપણું આદરીને છાંડે તે વિરાધક કહીયે. ઇત્યાદિ કર્મવિપાકની વાત તો ઘણા પ્રકારની વરણી છે. તે પાનાથી જોઈ લેવું. ઇતિ ખીજું કર્મવિપાક અધ્યયન સં ૨.

અથ ત્રીજું કુશીલ નામ અધ્યયન છે. પાના ૧૬ છે. ચોટું અધ્યયન છે. એ અધ્યયનમાં કુશીલીયાની વાત છે. નોકારના પંચપરમેથી નવ પદની વાત છે. તેહમાં ઉપધાનાદિ દિનમાન તપક્રિયાની વાત છે. પંચપરમેથીનું જુદું જુદું વર્ણવ જાહેરમાન ઘણું છે. પછે નોકારના કહેનારા વખાણ કરનારા અનંતા તીર્થંકર. તે તીર્થંકરનું ઘણું વર્ણવ છે. તીર્થંકરને દેવેંદ્ર નરેંદ્રે સ્તવના પૂજા કરીને દ્રવ્યસ્તવ ૧ ભાવસ્તવ ૨. ત્રીજી દ્રવ્યસ્તવ તે જલ અંદન અક્ષત ધૂપ દીપ ફલ નેવેય એ દ્રવ્યપૂજા ૧, અને ભાવસ્તવ તે શુભશ્રામ અને મુનિરાજપણું ૨. દ્રવ્યપૂજા તે સમકિત વિરતાવિરતી શુભકાણું ૧, શ્રાવકની કરણી ૧. અને ભાવપૂજા તે જઈ સાતમે શુભકાણું મુનિરાજ ૨. તીર્થંકર ભગવંત તે પૂર્વ ભવથી દશ જોલે ભાવસ્તવ મુનિપણું કેવલ જ્ઞાન ખજનો નિકાચીને અવતર્યા છે. તે પોસાપડિકમણું નોકાર મત પથખાંણું જિનપૂજા ઇત્યાદિ ચોડી પૂજા સાચું જોતા નથી. એક ભાવસ્તવ મુનિરાજપણું કર્મક્ષયને અર્થે આદરે-તપ કરે એ વાત છે. સંસારી તીર્થંકર શુદ્ધ સમદીતી, પણ દેશવીરતી વિરતાવીરતી સર્વવિરતી એકેમાં નહીં, ઇંછીએ કે કર્મને અર્થે ભાવસ્તવ મુનિપણું આદરે. દ્રવ્યસ્તવ જિનપૂજા આરાધિક છે, ભાવસ્તવપૂજા અનારાધિક છે, એ

વાત છે. એકપૂર્વત જેવડુ સોનાનુ પ્રાસાદ કરાવે, પ્રતિમા ભરાવે, પગથિયાં ધજ્જલસ ઠંડ ઘંટા વાજિત્ર તોરણ પ્રમુખ કરાવે, પણ ભાવસ્તવ મુનિરાજપણાને અનંતમે ભાગે નાવે એ વાત છે. વહી દ્રવ્યસ્તવ તે જિનપ્રતિમા પ્રાસાદ પ્રમુખ આરંભિક કામમાં, ભાવસ્તવ મુનિરાજ ઉભા ન રહે એ ઉભા રહે તો અનંત સંસારીક થાય એ વાત છે. ઇત્યાદિ પ્રકારે ઘણી વાત છે તે લેશમાત્ર લખી છે. એ અધ્યયનને દુરે એ વાત છે જે મહા-નિશીથ યોગ્યને લણાવવો, એ ત્રીઠ અધ્યયનમાં છે. એ અધ્યયનના યોગક્રિયાદિકમાં તપની વાત છે, સોલ જાતના કુશીલીયાની વાત છે. આગલ આગણીસ જાતની અપ્રશરય કુશીલીયાની વાત છે. વહી ખીજ પ્રકારના કુશીલીયાની વાત છે. તથા આઠ પ્રકારે જ્ઞાન કુશીલીયાની વાત છે. નોકાર ઉપધાન વર્ણન છે. તેહમાં દયા વખાણી છે. અનુકંપાનું દયાનું વર્ણન છે. પછે ગૌતમે નોકાર ઉપધાન વિધિ પૂઝી. વીરે કહ્યું તિથી વાર નક્ષત્ર યોગ કરણ ચંદ્રગલ સુકૃત જોષને જિન પ્રાસાદ પ્રતિમા આગલ કીયા કરવી. પાંચ દિનમાં પાંચ પદનું અધ્યયન. ઉપર ચૂલીકાના સ્યાર પદમાંથી બે બે પદનું અધ્યયન માટે ૨ અધ્યયન ચૂલીકાનાં. એવાં સાત અધ્યયન સાત દિનની કીયા આંગીલ તપની વાત છે. આગલ નોકાર પંચ પરમેષીનું જુદું જુદું જાલુ વર્ણન છે. પછે નોકાર વર્ણન કરનાર તીર્થંકર તે તીર્થંકરનું પાંચ પાંતા લગી વર્ણન છે. તીર્થંકરની દેવનરેદ્રે પૂજા કરી. તેહના ૨ ભેદ. દ્રવ્યસ્તવ ૧, ભાવ-સ્તવ ૨. તેહમાં દ્રવ્યસ્તવ તે વિરતાવિરતી, શીલ, પૂજા, સંકાર, દાન દેવાં, પ્રતિમાપૂજા ઇત્યાદિ ગૃહસ્થને દ્રવ્યપૂજા ભાવપૂજા બેહુ હોય ૧. અને ભાવપૂજા ભાવસ્તવ તે આરિત્ર તપ જપ કીયા સંજમ અનુધાન કરવાં ૨ એ વાત છે. પછે ગૌતમે વોરને પ્રથમ પૂજ્યો-મુનિકેસવ વિહારી સમભાવે કલ્યાણને અર્થે આરિત્ર લીધાં પછે ઋદ્ધિગારવ-રસગારવે કરીને મહાગોહ રાગ દ્રેપ વાળી બુદ્ધિઈ કરીને, ભાવપૂજા-મુનિપણું છાંંડીને, નર્કી શ્રાવકમાં નર્કી સાધુમાં, ઉભય બ્રાહ્મ, નામ માત્ર લિંગ પારી, ને ઇમ બોલે ઇમ કહે, જે અરિકંત ભગવાનની પ્રતિમાની જલ ચંદન અક્ષત ધૂપ દીપ ફલ નેવેય પ્રયુગે પૂજા કરીને તીર્થ ધાપીયે છીયે. એહનું જે બોલે તે, ગોયમા વલોણ (૧) તલ્લિ શ્રમણ કહીઈ. તે અનંતો કલ ભમર્યે. એથી વિશેષ અધિકાર પાંચમે અધ્યયને આવે છે. તે અધ્યયને સાવજાત્યાર્યની કયા છે તે આગલ લખી છે. વળી પદપણા અતીસે કરે જે જિનપૂજના ઘણા લાભ છે, એકની અતી પુછી કરીને ભદ્રક જીવ અને પોતે, વિવેક રહિત, ઘણા કુલ ક્ષણા આરંભ કરીને, બેહુ જણને, સમકિત બોધી હુલ્લ હોર્યે. માટે દ્રવ્ય પૂજાથી ભાવપૂજા અધિક છે. ભાવપૂજાને અનંતમે ભાગે દ્રવ્યપૂજાનું ફલ છે. ભાવપૂજાથી દશાણુભદ્ર. ચક્રધર, ભાનુદત્ત, રાસિદત્ત, પ્રમુખ અનંતા જીવ સંસારને પાર પામીને મોક્ષે ગયા, એ વાત છે. આગલ સિદ્ધનું સુખ વર્ણવ્યું છે. બીજાને તથા રાજાને દુઃખંત વર્ણવ્યો છે. સિદ્ધના સુખ આગલ સંસારી સુખ અનંતમે ભાગે નથી. પછે ગૌતમે પૂજા કરી જે-દેવ તથા ઇંદ્ર અવતી વાનિયે પૂજા કરે છે (૧૭૦-૬૫) ગૌતમ દેવઈદ્રને દેશવીરતી વિરતાવીરતી સર્વવિરતીનો વિશેષ છે, માટે અવતી. એ રીતે સંસારી તીર્થંકર તે પગ

વત પચ્ચાણ્ણ પોસા પડિકમણ્ણા નોકાર જિનપૂજા રહિત, આદર્યો છે કઠીન કર્મણ્ય કરવાને' અર્થે' ભાવપૂર્વસ્તવ સંજ્ઞા આરિય જેણે, એ વાત છે. આગલ એ મહાનિશીથ લખનારા મહાપુરુષનું નામ છે. તે આગલ, ખીજા બાર વરસી મહાહુકાલમાં પૂર્વધર વધર સ્વામી-યે નોકાર ઉદરીને' મૂલ સૂત્રમાં લખ્યો, એ વાત છે. તે આગલ, ધરિયાવહી, શકસ્તવ, નામસ્તવ, ચૈત્યવંદન પ્રમુખનાં ઉપધાન વહેવાં, તેહના તપદિનમાંન, કીયા વિધિની વાત છે. તે આગલ, વહી, કુશીલીયાના બહુ લેદ વખાણ્યાં છે. ઘણી ચર્ચા છે. તે પાનાથી જોઈ લેવું. એવી રીતે ત્રીજું કુશીલ અધ્યયન નામે' બહુવું. ૩

ચોથા અધ્યયનમાં નાગિલ સુમતિની વાત છે. નાગિલ સાવક કુસીલનો સંગ વરણને' આરાધક થઈને' તેહી જ લખમાં અણુમણુ કરીને' શ્રાવકગણે' હીજ ચુક્તિ' ગયે; ખીજું, સુમતિયે, કુશીલીયા પાંચ સાધુના સમુદાયમાં પ્રવચ્ચા લઈને' મરીને' પરમાધામી થયો. તિહાંથી અંકગજોદ્ધી થઈને' બાર માસ વજ્જના ઘરટમાં પીલાયો. તેવી તેવી ૨૭ વાર પીલાઈને', અનંતો સંસારમાં રજાઈને', પછે સુગતે બસે. એમ બહુઈને' કુશીલનો સંગ ન કરવો. ઈતિ વાત ચોથા અધ્યયનમાં છે. તેથી બહુવું. ૪.

હવે પાંચમું અધ્યયન ગચ્છાચારવું છે, તે વરણવું છું. તે મધ્યે ગચ્છ વરણુવ છે. સુદ્ધ આચાર્ય વરણુવ, મધ્યમ આચાર્ય વર્ણુવ, શુભ જ્ઞાન દ્વાદશાંગી વરણુવ, દ્વાદશાંગી આરાધક વરણુવ, દ્વાદશાંગી વિરાધક વરણુવ, શુવત્તજાન સૂત્રનાં વચન ઉચાપીને' સાવજ્ઞઅચાર્ય ધણે કાલ રજાયા, તે વરણુવ. તીર્થયાત્રા વરણુવ. દેહરં પ્રતિમા પૂજા આરાધક તથા વિરાધક વર્ણુવ: ઇત્યાદિ વરણુવ છે. એ અધ્યયનના ૧૬ પાના છે. મોટું અધ્યયન છે. તે લેશ માત્ર લખીયે છીયે. પ્રથમ પાના ૬ લગે ગચ્છ વર્ણુવના, આચાર્યના પાઠ આલાવા છે. તે રતન સરીખા છે. નવી નવી ઉપમા નવા નવા અર્થ છે. પાના વાંચે સાંભલે ઘણું બહુપણું થાયે. પાંચમા આરાના અંતલગી ગચ્છ ને', દુષ્પરાહ સૂરી આચાર્ય થાસે એ વાત છે. છેહલા ચતુર્વિધ સંઘ ચ્યારના નામ છે: તથા પાંચમા આરાને' અંતે દુષ્પરાહ સૂરી લગે ચાર યુગ-પ્રધાન કાયક સમકિત વંત થાર્યે, એ વાત છે. એ હુંડીનો કરનાર પં. દીપકવિરાજને શંકા ઉત્પન્ન થઈ જે શાસેમાં બે હજાર ને ચાર યુગપ્રધાન કહ્યા છે, અને શ્રી મહાનિશીથમાં ચાર યુગપ્રધાન કહ્યા છે. હવે પાંચમા આરામાં આચાર્ય શુદ્ધ તેા ઘણા થાર્યે, પણ જે એકાવતારી, તેહને યુગપ્રધાન કહીએ. અને ખીજાને' એકાવતારીનો જેલ નહી. અને યુગપ્રધાન પણ ચ્યાર ક્ષાયકવંત છે. અને ૨૦૦૦ ક્ષયે-પસમ સમકિતવંત તેમને ત્રીજે ભવે ક્ષાયક થાર્યે. એતલે શ્રી ગૌતમને કેવલ ચેલા ક્ષાયક થયું તે રીતે, જે હજારને ક્ષાયક ભાવે કેવલ થાર્યે. એ પરમાર્થ બહુવો. આગલ સચ્ચંભવસૂરીછઈ, પુત્ર મનકને' કાલે', શ્રી દશવૈકલિક સૂત્ર ચુક્યું; તે પાંચમા આરાના અંત લગે રહેચ્યે, એ વાત છે. વહી તીર્થ તે તિર્થંકર, વહી તીર્થંકર તે ચતુર્વિધ સંઘ, તે સંઘમાં જ્ઞાન દર્શન ચારિત્ર છે. તે રતનથી પરમપૂજ્યનો પૂજ્ય છે, એ વાત છે. તે

આગલ, ચ્યારસેં નિવાણું ચેલા અને શુરુ આચાર્ય—તે ૪૯૯ શિષ્ય શુરુ આણા વિરાધકની કથા છે. તે લેશ માત્ર લખે છે—જે પાછલ ત્રેવીસમી ચોવીસી ઉપર ચોવીસમા તીર્થંકર-ને મોક્ષે ગયા પછે ચરમશરીર આચાર્ય થયા. તેહને ૪૯૯ શિષ્ય હુંતા. એક દિવસે શિષ્યે કહ્યું, જે સ્વામિ તુંમારી આરા હોય તેા અંદ્રપ્રભ સ્વામીનું જે ધર્મચક્ર તેની યાત્રા જઈયે. આચાર્યે ના કહી, જે સ્વેચ્છાચારી પછે યાત્રા જતાં ન ઘટે, શુભવંત સાધુને સાથે યાત્રા જવું. માટે તુમે અમે સાથે જવચું. શિષ્યે પૂછ્યું યાત્રા જતાં સ્થં યાયે ? શુરુ કહે, અસંચમી યાયે. મોટો દોષ લાગે. ઘણા ટોલામાં, ઘણા લોકમાં, સુનિ-ધર્મ પલે નહી. હરીકાય ધીજ એકેંદ્રી એઈદ્રી પ્રચુષ પ્રાણભૂત જીવ હણાયે, ભંડ ઉપગરણ પરિલેહણુત પ્રમાણ રહે નહી, અને વિરાધક થાય. એ રીતે નિત્ય કથા કરતા શિષ્ય ૪૯૯ લડી પડયા. શુરુને સુકીને સર્વ વિરાધક યધને, સંચમ ભૂદ યધને, જાતા રહ્યા. પછે આચાર્ય એક દિવસ થાંડે જતાં સાહમો સીહ આચ્યો. તિણે આચાર્યને હણ્યા. આચાર્ય અંતંગડ કેવલી યધને, મોક્ષે ગયા. એ કથા છે. ગરુઠ આચાર્ય ઉત્તમ મધ્યમની વાત છે. પછે, દાદશાંગીનું વરણુવ છે. તેહ માંહે પાઠ છે, જે દેવિંદવલણં દેવેંદ્ર તે ઇંદ્ર તેહને વંદનીક તીર્થંકર, તેહને વંદનીક દાદશાંગી શુત જ્ઞાન એટલે નમો જુજ્જવ નમો તિત્પસ્ટ એ લાવ, તે આગલ, દસ અન્ધેરાની વાત છે. અને મિચ્યાદ્દી અંગાર મર્દકાચાર્યની વાત છે. તે આગલ, એક વચન મિશ્ર લાપાર્થ જોલીને, દાદશાંગી વિરાધક યધને, અનંતો કાલ રજદ્યા, તે સાવજ્ઞાનચાર્યની પાંચ પાનાની મોટી કથા છે. તે લેશ માત્ર લિખે છે. ગૌતમ ! વર્તમાન ઝપભની ચોવીસીથી પાછલ ગઇ અનંતમી અઉવીસી, તેહમાં સાત અછેરા થયા. તેહમાં સાત હાથ પ્રમાંણે દેહમાં ચોવીસમે તીર્થંકર સુજ સરીખો ધર્મ-શી નામે તીર્થંકર થયા. તે તીર્થંકર મોક્ષે ગયા પછે, કાલ દોપે કરીને, મિચ્યાત્વ ઘણું પ્રવચું. અને જિનમતિના આચાર્ય તથા સાધુ ઘણા શિચિલ યધ ગયા. પોતે પોતાના ગરુઠવાસી યધને, પોતાના પરાકમે દ્રવ્ય ચેલવીને, ગાડી વોરા રથ ચાલખી રાખતા થયા. પોતાના દ્રવ્ય વડે પોતાપોતાના ગરુઠના દેહરા પ્રતિમા ઉપાશ્ચા ખાંધીને રહ્યા. પોતા-પોતાના ગરુઠના શ્રાવક દહી રાગીયા યધ ગયા. આચાર્ય જતી તે જલ સંદન અશત ધૂપ દીપ નૈવેદ્યાદિકે પોતે જ પૂજા રૂપે જિનપડિમા પૂજવા લાખ્યા, અને વીતરાગના વચન વેગલા સુકયા. તે કહે છે, સર્વે પ્રાણી ભૂત જીવ સત્વ એકેંદ્રીથી પંચેંદ્રી લગે સંધાર્થમાં સંધદીયા ઉદવીયા પ્રચુષ પચોસા અપચોસા ત્રિવિધપણે મનશી વચનથી કાયાથી વેગલા છે જેહને; તથા, મૈશુનાદિક સર્વ આરંભાદિકે કરીને સહા ભરેલા છે, એહવા લિંગધારી દેહરા પ્રતિમાના પોતે પૂજક યધને કાલ નિગમન કરે છે. ઇંડાં ગૌતમે પ્રશ્ન કયું, જે ભગવંત ! સાધુ સાધવી તે દ્રવ્ય પૂજા કરે તેહને સ્થો લાભ ? વીર કહે, ગૌતમ ! સાધુ સાધવી મનિ દ્રવ્યસ્તવ જિનપૂજા કરે નહી. ઘટતી વાત નહી. અને કરે તો, અન્ન દેવદ્રવ્ય લક્ષક, ઉન્માર્ગના ચાતનારા, દુષ્ટાચારી, આણાવિરાધક, અનંત સંસારી કહીયે. એહવા લિંગીયા મઠ દેવલવાસી લિંગીયા યધ ગયા છે. તે સમયમાં, ઘણા

આચાર્ય, મુનિ, ઉત્કૃષ્ટ ગુણના ધારક, રૂઢા મતના પાલનાર, શીલ સંતોષી, અત્યંત આસા-
તનાના લીરૂ, સાવધ યોગના ત્યાગી, ઉપસમ સમતા રસના દરીયા, ગયા છે રાગ દ્રેષ મોહ
મિથ્યાત્વ જેહના, રૂઢા ચારીત્રના ગુણે કરીને તીર્થંકર ગોત્રના દલપાડા મેલવ્યા છે જેણે,
એહવા કમલપ્રભાચાર્ય ગુણ-સમુદ્ર મુનીંદ્ર છે, ને, ઘણા સાધુના સમુદાય સાથે વિહાર
કરતા ગામ, નગર, ખેડ, કબડ, વણસંક, દ્રોણમુખ પ્રમુખને વિષે અનેક છવોને ઉપદેશ
કરતા આવ્યા. તે લિંગધારીના ગામને વિષે ધર્મ ઉપદેશમાં, મુનિમારગ વખાણ્યો. મુનિ-
રાજ હોય તો સાવધ યોગના ત્યાગી, અનવધ યોગના લોગી, પાપથી ન્યારા, દેવ દેહરા
પ્રતિમાની દ્રવ્યપૂજા સાવધ પ્રવર્તિ આદરે નહીં. પોતે સાવધ કરણ કરે નહીં. શ્રી જિન
પ્રાસાદમાં રહે નહીં. હાથે સાવધ આદરે નહીં. શ્રી જિનપડિમા પૂજે નહીં. દ્રવ્ય રાખે-
નહીં. ઇત્યાદિક મુનિ ધર્મ વખાણ્યો. શ્રાવકે સાંભરીને લિંગીયાને પૂછ્યું. લિંગીયે ઉત્સુક
પ્રશ્નગુણ કરીને, સર્વ લોકને, શીર કરીને સર્વ લિંગીયા એકઠા થઇને, સાવજન્યચાર્ય
એહવો મોટા શરદે કરીને તાલોટાકુરીને કમલપ્રભાચાર્યનું નામ સાવજન્યચાર્ય કર્યું. તે આચાર્ય
ઝાંખા થયા. માહિમાંહિ લિંગી ચર્ચા કરવા લાગ્યા. પોતાની પુષ્ટી કરવા માંડી જે મુનિ
પ્રાસાદમાં રહે, પડયાં આખડયાં સમરાયે, તેડમાં મુનિને દોષ નહી. પ્રભુ ભક્તિમાં બહુ
લાલ છે. વલી ખીજે પુષ્ટી કરવાને બોલે જે દેહરા પ્રતિમાની સાર સંભાલ રાખે તેહને
મોક્ષ નહક છે. વલી ત્રીજે બોલ્યો:—

ગાથા

જહાળં પાસાયપડિમાપૂઆસકારવલિવિહાળાદે ।

તિત્થુચ્છળ્પણા ચેવ મોક્ષલગમણં જિણા વિત્તિ ॥

અસ્થાઈ: પ્રાસાદ પ્રતિમા પૂજા સત્કારે બલિવિધાન તીર્થ ધાપના: એ સર્વે કામ મોક્ષ
જવાના છે. એ રીતે પુષ્ટી કરીને સંઘલોકને શીર કરે. અને કમલપ્રભાચાર્ય ખીજું નામ
સાવજન્યચાર્ય, તે લોકના દંભ પાપંડથી ખસિઆણા પડીને વિહાર કર્યો. મનમાં
વિચાર કર્યો જે સલા પ્રમાણે બોલતાં શ્રી જિનઆજ્ઞાભંગ થાય. વલી દાદશાંગી શ્રુત
જ્ઞાનની વિરાધક એહવી કલ્પના કરતાં વિહાર કર્યો. તે સાતે મહિને પાછા આવ્યા,
ધર્મ ઉપદેશ દીયે, પણ લિંગીયાની શકા મનમાં રહે. રખે જે વલી તાલોટા વખાડયે,
એહવો ભય રાખે. એહવે સજે કોઇક આયો સાંધવી આવી. આ તે લિંગીયા સાધુ
પ્રમાણે લિંગી સાધવીને આચાર્યે દીડી. લિંગીના સંકેતે વાંદવા આવી. સલા સમક્ષ વચ્ચે
થઇને આચાર્યના પગ ફરસીને વંદના કરી. તિવારે લિંગી લોકે તથા સંઘલોકે આચાર્યને
પૂછ્યું, જે મહારાજ ! સાધવીજ પગે અટકીને વાંધાએ સંઘલોકે થયો કે નહિ. તિવારે
આચાર્યે ભિન્ન ભાષાએ બોલ્યા, જે, થાય ને ન થાય. જિન સિદ્ધાંતમાં બે લોક છે.
એક ઉત્સર્ગ ૧, ખીજે અપવાદ ૨, માટે થાયે ન થાયે. એહવી ભિન્ન ભાષાએ ઉત્સુક
બોલ્યા. તેથી તીર્થંકર ગોત્રના દલપાડાં વિખરી ગયાં, અને અનંતો સંસાર વધાર્યો, અને

લેંગીયા લોકે સાવજ્ઞન આચાર્ય કહીને તાલી વગાડી. એ સાવજ્ઞનઆચાર્ય એક વચન ઉચાપીને સાતસે વરસ, દોઢ માસ, ચાર દિવસ જીવીને, મરણ પામી, વ્યંતરમાં ગયા. તિહાંથી વાલુદેવની પુત્રી, પુરોહિતની સ્ત્રી, તિર્યંચ, મનુષ્ય, સાતગ્રી નરકે, ઇમ ચોસસી લાખ જીવા જ્ઞેનીમાં રજલીને, અનંતી ચોવીસી લગે, ચઉદ રાજમાં ભગીને, પછિમ મહા વિદેહમાં, મનુષ્યપણું પામ્યા. એક દિવસ તીર્થકરને વાંદવા જતો લોક દેખીને, સાથી જાળને, ધર્મોપદેશ સાંભર્યો, અને દીક્ષા લેઈ કેવલ જ્ઞાન પામીને મોક્ષે ગયા. ઇહાં જે સમે શ્રી પારસનાથ સ્વામિ વિચરતા હતા, તે સમે સાવજ્ઞનઆચાર્યનો જીવ પવિત્રમહાવિદેહમાં મોક્ષે ગયો. ઇતિ સાવજ્ઞનઆચાર્ય ઉત્સૂત-મિશ્ર-ભાષણુ અનંત ચોવીસી ભવ ભ્રમણુ સંબધ.

પુનઃ શ્રી ગૌતમે પૂછ્યું, ભગવંત ! તે સાવજ્ઞનઆચાર્ય કિહે સમયે અનંતો સંસાર વધાયો ? ઉ-હે ગૌતમ ! તે સાધવીએ પગ ફરવાને સઘે સંઘટ્ટાનું પૂછ્યું અને પોતે જોડ્યા જે ઉત્સર્ગ ૧, અપવાદ ૨, જે માર્ગમાં આગમ છે. એક વચન કહેતાં અનંતો સંસાર વધાયો. ગૌતમ જોડ્યા, ભગવંત ! ઉત્સર્ગ ૧. અપવાદ ૨. એકમાં આગમ કહ્યો એકનો શો અર્થ ? ઉ-હે ગૌતમ ! ઉત્સર્ગ ૧, અને અપવાદ ૨, એ તે, અનેકાંત ધર્મ, એકાંત પક્ષ નહીં, એ તો પ્રમાંણ છે. પણ અધર્મ કરીને આગમનું નામ કિમ કહીએ. તે સાંભલી, તેઉકાય અપકાય મૈથુન પ્રરુણ સેવ્યુ એતલે આણાજાગી થયો. અને આણા-જાગી એ અનંત સંસારી. ગૌતમે પૂછ્યું, ભગવંત ! તો સાવજ્ઞનઆચાર્ય કિહાં મૈથુન સેવ્યુ ? ઉ-હે ગૌતમ ! સેવિયા સેવિયં જો સેવિયા યલેવિયં જે વેલાયે શંકા રાખીને જોડ્યા તે વેલાં મૈથુનને દેવ લાગ્યો. સૂરનો આણાજાગી થયો અનંત સંસાર વધાયો. ભગવંત તીર્થકર જોતના દલવાડાં વિખરી ગયા. હે ગૌતમ ! પોતાના પ્રમાદ દોષે સર્વ કારણ નીપડું અનંતોકાલ રાજવા. એ રીતે જે કોઈ શ્રી જિનઆણા ભાંગર્યે તે સાવજ્ઞનઆચાર્યની પરે ચોદે રાજ્યમાં ભમર્યે. ઇતિ મહાનિશીથે દાદશાંગીદ્યુતજ્ઞાનસ્ય જીવણીયસાર તાર પંચમ અધ્યાય સમત્. ૫.

છઠું અધ્યયન અગીહત્ય વ્યવહાર નામે પાના ૧૨ છે. એ અધ્યયનમાં વાત એ છે, જે, સુનિ તથા શ્રાવક વિષયલોભી યજ્ઞને, શ્રી જિનઆણા ભાંગીને, ઘણે કાલ ભમ્યા તથા વિપયનાં લોભી યજ્ઞને પાછે શુદ્ધ આલોચણુ લેખને, પ્રાયશ્ચિત્ત લેખને, સફળતિ પામ્યા, એ વાત, એ અધ્યયનમાં છે. પ્રથમ નંદીપેણુજી દીક્ષા લેઈ મત આદરીને, ગોચરીએ વેરવાને ધરે ગયા. ધર્મલાભ કહ્યો. તદા વેરવાયે અર્થલાભ કહ્યો. સોનઈયાની વૃષ્ટી યર્ષ. વેરવાને ધરે રહ્યા. સંયમ પ્રાપ્ત થયા. નિત્ય દસદસ જાળને પ્રતિજોધિને, શ્રી વીરજ પાસે મોકલીને, પછે જોજ્ઞન કરે છે, ને ઉછેલે દિવસે નવ પ્રતિજોધ્યા, દસમે સોની ગલ્યો, પ્રતિજોધ ન પામ્યો, તે સમે વેરવા આકુંઠી યજ્ઞને જોડી, જે, જોજ્ઞન સીતલ થાય છે, દસમા તમે જ. જોડું ચાંભળીને, ઉઠી ઉભા થયા. જોગ કર્મ પુરું થયું. જોધો મુકપતી લેખને, મહાતપરથા કરી આત્માનિદા કરી. તેહનું અર્ધું પાનું છે. એતલી ભાવના છે. શુરુ પાસે આવી, આલોચણુ લેઈ, કેવલ જ્ઞાન પામી, મોક્ષે ગયા છે, એ કથા

છે. તે આગલ, કોઈક આચાર્યનો શિષ્ય, આપાદનામે, તેણે કૌતિક નિમિત્તે સંજગ વિરાધીને હરગતિઈ ગયો, એ કથા છે. આગલ, પ્રાયશ્ચિત્ત દેવા પુરુષને દેવુ અને કેહેવા શુભવાન પુરુષ પાસે આલોચણુ લેવી, તે વાત છે. પ્રાયશ્ચિત્ત લેનાર ધીર વીર સુશીલ પુરુષ હામાવત પુરુષ તે હુકડા તથા વેગલા કેવલી પાસે પ્રાયશ્ચિત્ત લેવું. તે ન હોય તો, મનપર્થવ અવધિશ્રુત જ્ઞાની પાસે લેવું. તે ન હોય તો ગતિજ્ઞાની મુનિ નિર્મલશુભવત આચાર-વિચારશીલ ચારિત્રી તપસી પાસે લેવું, એ વાત છે. તથા શ્રાવક શ્રાવિકા પ્રાયશ્ચિત્ત લીધું, તે શ્રાવક સદાચારશીલ સંતોષી નિર્મલ શુભવત આચાર વિચાર તથા સ્વદાર-સંતોષી પરદારત્યાગી ભાવચારિત્રી એકવા હોય તે પ્રાયશ્ચિત્ત લિયે, એ વાત છે. તે આગલ, પ્રાયશ્ચિત્ત લેનાર આરાધક ઉપરે, ભદ્રાચાર્ય પાંચમે મુનિ સહિત, અને ખીજે રજ્જ નામે આચાર્ય, એ મેહુની મોટી કથા છે. રજ્જઆચાર્ય મહારાગે પીઠિત, તે ખીજ સાપ્તી ચોતાની આત્મનીંદ કરીને કેવલ જ્ઞાન ઉપજ્યુ અને તે કેવલીએ મોટો ઉપદેશ દીધો, તે ઉપદેશમાં બહુ વાત છે. ખીજ રજ્જ સાધવીની જે ઉના પાંજીના દોપણ કાઢીયા, તેની વાત છે. તે આગલ, લખમણ રાજપુત્રી, ચોરીમાંથી જ રંડા થઈ, તેણે અવસરે દિક્ષા લીધી, મોટું સંયમ પાટ્યું, એક દિવસ ચકલાચકલીના મૈથુન કેળીને મનમાં વિષય વાસના આણી, તેની આલોચણુ લીધી નહી. તે વિચારે ને મનુષ્ય ભવ પામીને જન્મારંડાપો થયો, વિષય મુખ દીઠાજ નહીં. એકલે વિચાર કરીને, પાછો જીવાતમાને વાલીને એકલે વિચાર કર્યો, તેકેનો પાપ નિવારવાને મહાતપ આચર્યો સ્વચ્છંદથી સોલ માસ પાસ ખમણ અઠાઈ છંડ અઠમ પ્રમુખ મહાતપ કર્યો. યજ્ઞ શુરુ આગલ કહીને આલોચણુ લીધી નહીં, લાજને લીધે વાત કહી નહીં. આલોચણુ લીધી નહીં [તેથી] પચાસ વરસનો મોટો તપ લેએ આવ્યો નહિ. સાલ સહિત મરણ પામીને ધણે કાલ ભર્યો. પાછલી ચોરાસીમી ચોવી-સીના ચોલીસમા તીર્થંકરનાં વારે એ લખમણ સાધવી થયાં. તે પદનાશ તીર્થંકરને વારે મોઢે ભર્યો. માટે સદય ઉપર લખમણ સાધવીની કથા છે. તે આગલ, ગર્ભથી તે કેતલ પાંચે તિહાલજે તીર્થંકરની વાત છે. તે તીર્થંકરે ઉપગારને અર્થે તીર્થ ધાપ્યું. ઉપદેશમાં પ્રાયશ્ચિત્ત આલોચણુ વરણવી, એ વાત છે. પુઠરીક દુઠરીકની હકીગત વણવી. એ વાત છે. ધરમ ઉપદેસની બહુ વાત છે, તે પાનાથી બેઠ લેવું. ઇતિ છકું અધ્યયન સમાપ્ત. ૬.

પહેલી ચૂલીકાના પાનાં ૧૨ છે. એકમાં પ્રાયશ્ચિત્ત આલોચણુ દસ જાતની વરણવી છે. પ્રાયશ્ચિત્ત લેનાર દેનાર પુરુષ વર્ણવ. પ્રાયશ્ચિત્ત લીધે નફો રચો શાય, એ વાત છે. પછે, જિનપ્રતિમા આગલ વિધી કરવો, એ વાત છે. પછે નામ ૧ ઠવણ ૨ દ્રવ્ય ૩ ભાવ ૪ એ ચાર આલોચણની કથા છે. આલોચણુ વિના મરે એ વાત છે. આલોચણુ લેનારને પાપ રહિત મુનિની વાત છે. ઇતિ પ્રથમ ચૂલિકા ૭.

ખીજ ચૂલિકાના પાના ૧૩ છે. એકમાં, આલોચણુ, પ્રાયશ્ચિત્ત, આરાધક વિરાધકની વાત છે. પ્રથમ સુસઠ ચરિત્રની મોટી કથા છે. સુસઠ જિનઆજ્ઞાવિરાધક ધર્મને સંસાર

ભગ્યા, વલી ગોવિંદ બ્રાહ્મણની સ્ત્રી તથા મંજનસિરીની કથા છે. કુલવાહુઆ નારિંદ શ્રમણી કથા છે. કુલવાહુઆ નારિંદ શ્રમણી વિરાધક થઈ સંસાર ભગીને ૭-૮ ભવે સિદ્ધિ વરસ્યે, અને શિષ્ય સર્વે મોક્ષ ગયા. એ કથા છે. ઇત્યાદિ બહુ વાત છે તે પાનાથી બેઈ લેવું. ઇતિ દ્વિતીય ચૂલિકા સમાપ્તા.

ઇતિ શ્રી મહાનિશીથે ૬ અધ્યયન, ૨ ચૂલિકા-બ્રુમલે ૮ નો લેશ અર્થ વર્ણવ્યો. જે પ્રમાણે મહાનિશીથ સૂત્ર તે પ્રમાણે એ હુંડી રૂપ હકીગત લિખી છે. પોતા પોતાનાં મતલબ નહીં સરે અને એ સૂત્ર ઉપર દ્રેષ કરસ્યે તે તે સાવજ્ઞાયાઈની પદે અનંત ચોવીસી લગે અનંતો કાલ રજલસ્યે. અગે તો જેહવું સૂત્ર માંહી હીડું તે પ્રમાણે લખ્યું છે. કાંણાંમ સૂત્રના અક્ષર ગોપવીને દ્વાદશાંગી જિનઆણાના વિરાધક થઈને સંસારમાં ભમવો નથી. પ્રત્યક્ષમાં રાજની કુવાઈ ભાગે છે તે પ્રગટ બંધીયાનું લોગવે છે, હુઃખ પામે છે, તો જે કોઈ જિનઆણા ભાંગસ્યે તે ભવોભવ વધ બંધન તાડન તર્જન મરણ અનંતો કાલ હુઃખ પામસ્યે. આરાધક સિદ્ધિ વરસ્યે.

ઇતિશ્રી તપાગચ્છ વિજયાનંદસૂરિપદ્મે દીપવિજય કવિરાજ ઉદ્ધરિત મહાનિશીથ સૂત્ર લેશમાત્ર ભાવાર્થ સંવત ૧૮૬૦ શાકે ૧૭૫૬ પ્રવર્તમાને, શિષ્ય હસ્તે, ગૃચ્છાકારક આચક અર્થે, શ્રી શુર્જદેશમાં વડોદરા નગર મધ્યે એ ગ્રંથ રચ્યો છે, પાંચીને વાકમ ચાસ્યો. ઇતિ મહાનિશીથના ગોલ સમાપ્ત શુભં ભવતુ. ગ્રંથાગ્રં. ૩૦૦.

કહુઆ મતની પદાવલી

યરાદ, રાધનપુર, અમદાવાદ વગેરે સ્થાનોમાં કહુઆમતી આવકોનાં કેટલાંક ધરો હજીયે વિદ્યમાન છે. એ કહુઆ મત તે શું અને તેના પ્રવર્તક તે કણુ; એની આજે લાગ્યે જ કેાધને ખબર હશે. આ પદાવલી મળ્યા પહેલાં ગમને તો તે અગર ન હતી જ. આ પદાવલી પરથી એ લુપ્તપ્રાય કહુઆ મતની દૃષ્ટતા આવે છે. આ પદાવલી કલકત્તા નિવાસી વિદવાન બાબુ શ્રી પુરુષોત્તમ નાદાર એમ. એ. એલ. એચ. બી.ના વિશાલ ગ્રંથ હોડારમાંથી ગમને મળી છે. અસલ કેાઈ જૂની પ્રતિ ઉપરથી ઉત્ત બાબુશ્રીએ પોતાની પ્રતિ લખાવી લીધી છે. લખનારે બાબામાં કેટલોક ફેરફાર કરી દીધો હોય તેમ જણાય છે. કારણ કે જૂન પદાવલી પ્રાચીન ગૂજરાતી કે ગજપૂતાની ભાષામાં હોવી જોઈએ. તેના ઠેકાણે લખનારે પોતાની અશુદ્ધ હિંદી એમાં મુકી દીધી છે. આ પદાવલી, જેમ એના છેવટે જણાવ્યું છે, સંવત ૧૬૮૪ માં બનાવેલી છે તેથી તે પછીની એ મતની પદાવલી ગ્રેણવલી બાકી રહે છે. ઇતિહાસ રસિક મુનિઓ કે આવકો ને આ વિષયમાં પ્રયત્ન કરશે તો તે ઉપરોચી યશે.

કહુઆ મત સા કહુઆએ ચકાવેલો છે, તે આ પદાવલીથી સ્પષ્ટ જણાય છે. કહુઆ મતના પ્રવર્તકોનું એવું કથન હતું કે હાલના કાળમાં શાસ્ત્રાકત નિર્ગ્રંથ આચાર પાળી શકાય તેવા સંયોગો નથી અને જેઓ પોતાને નિર્ગ્રંથ, મુનિ કે સાધુ તરીકે પૂજાવે-વંદાવે છે તે દોષના ભાગી છે, કારણ તેઓમાં એ યથાર્થ સાધુ ધર્મના યુક્તો છે જ નહિ. આ કાળમાં સાધુ ધર્મનું સાધુ ધર્મનું પાલન થતી હુધર હોઈ તે વિચિત્રપ્રાય છે માટે જેના મનમાં ભાગ ભાવના થતી હોય તેણે પોતાને “સંવરી” ના નામને યોગબાવનું અને તેણે સંવરી તરીકે અમુક અમુક નિયમોનું પાલન કરવું, પણ સાધુ તરીકે યોગબાવનું નહિં.

સા કહુઆના સમયમાં નેપાથી શિશિલાચારીઓનો બહુ પ્રચાર થઈ ગયો હતો અને તેઓ પોતે જ રીતે પોતાનું વર્તન ચકાવે છે તે બહુ ભગવાન મહાવીરના શાસ્ત્રને સંમત જ છે એમ શેકિને સમજાવી પોતાની સ્વાર્થસાધના કરી રહ્યા હતા. એવા જમાનામાં સા કહુઆ, અને સા હાંકા જેવા કેટલાક ભાગ ભાવનાવાળા મુમુક્ષુ ગૃહસ્થો નીકળ્યા અને તેમણે પોતાના ધ્યેય પ્રમાણે પોતપોતાના નવા સંપ્રદાયો સ્થાપી સમાન વિચારવાળાઓની ચિત્તસમાધિ પાતે નવાં સ્થાનકોની યોજના કરી, જૂના વાડામાં ફસાઇ રહેવાથી ટકાવેલાઓને સ્થાનાંતર કરવાની સગવડ કરી આપી.

જેમ હમેશાં બને છે તેમ, ૩૬ સંપ્રદાયવાળાઓને આ નવા સંપ્રદાયો યત્યુભૂત લાગ્યા અને તેથી તેમણે એમના વિરુદ્ધ પોતાની હીનચાલ શરૂ કરી. એ નવા સંપ્રદાયિકોના વિચારો ઉપર ખંડાત્મક પ્રહારો ચાલુ થયા. ‘ગોટાં ટેળાઓ ભેગાં મળાને આ અદ્યસંખ્યક નવા હરીદિને સંઘ બહાર નાત બહાર વ્યવહાર બહાર વગેરે અનેક પ્રકારના બદિષ્કારોથી કસવા માંડ્યા. કેટલાક પ્રખર પંડિતોએ એમની ઉપર તીવ્ર આલોચનાત્મક વાગ્યાણોની વર્ષો ચલાવીને એમને નષ્ટચેતન બનાવવાના પ્રયત્નો કર્યા. એ બધા વિરોધો સામે ટકી રહેવા માટે આ નવા સંપ્રદાયોએ પણ પોતાની સાધન સામગ્રી પ્રમાણે બનતું કહુ અને એમ કરતાં કરતાં કાળાન્તરે એ પણ જૂના વાડાઓ પાસે પોતાના વાડાઓ બાંધીને ‘વાડાઓના સંઘમાં’ દાખલ થઈ ગયા.

કહુઆ સામે ચકાવેલા સંપ્રદાયની માન્યતાના ખંડનમાં તપાગચ્છના કદર પદ્મપાતી વાઢી શ્રી ધર્મ-સામરેલાખાપાએ પોતાના ઉત્સુક હૃદ્ય-કુદૃદાલ ઊર્ધ્વ પ્રવચન પરીક્ષા નામના ગોટા ગ્રંથમાં કેટલુંક લખ્યું છે અને હિંગર, ખરતર, બંચક, પાપચંદ વગેરે મતોની સાફ જ આ મતને પણ ઉત્સુકતાપક બતાવ્યો છે.

કહુઆ સામે કેટલીક પ્રતિજ્ઞાઓ પણ કરેલી છે અને ગૂજરાતી ભાષામાં કેટલીક રમનાઓ પણ કરેલી છે.

कडुआ मतकी पट्टावली

(१) प्रथमतः सा कडुआ नांडोलाइ ग्रामे महं काहानजी भार्या वाइ कनकादे. संवत् १४९५ प्रस्तुतपुत्र नामतः महं कडुआ वैराग्यवान् आंचलीयाका श्रावक नियामी वेशधरका उपदेशसे वैराग्य हुआ । मातपिताकी आज्ञा न मीलनेसे वहांसे चलकर अमदावाद सं० १५१४में आब्या । रूपपुरसे आगमिआ गच्छका पन्यास हरिकीर्ति पासे शाख पटे । और चैत्यवासीका आचरण जान्या । दशमा अच्छेरा “संपय दसम अच्छेरा” इत्यादि पष्ठिस्तक ग्रंथे, तथा “सेता हुंडाव०” इत्यादि संवपडक ग्रंथे, श्रीमहानिशीथसूत्रमें श्रीवंश भाष्या है कि मेरेसे १२०० वर्ष पीछे कुशुरुजो पैदा होगा । तब पन्यासे कहूं कि तुम संवरी श्रावक हो । तबसे संवरी वैरागी वालव्रह्मचारी अकिंचनी चममत्व हो करके ग्रामोग्राम विचरने लगे । वहीत प्राणीजोको प्रबोवे । और इससुजब प्ररूपणा प्रवृत्ति व्यवहार चलाया—मंदिरमें पाघडी उतारके देव वांदया १. श्रावककी प्रतिष्ठा २. पुन्यकी पाखी ३. पर्युपणा चोबकी ४. सुहृपति चरवली धरणा ५. बहुधा सामायिक करना ६. पर्व शिष्याय पोसह लेना ७. द्विदल टालना ८. मालरोपण नहि ९. स्थापना प्रमाण १०. तीन धुई कहेवी ११. वासी कडोल तजवा १२. पोपध त्रिविहार चोबिहार १३. पंचांगी सूत्रानुसार मान्य १४. सामायिक लेके इरियावही करना १५. घीर पंचकल्याणक मान्य १६. धीजुं वांदण वेठेहि देना १७. साधुकृत्यविचार १८. अधिक श्रावणे दुजे श्रावणे पजोसण तथा द्वितीयकार्तिके चोमासी १९. खीयां प्रभुपूजा करे २०. संप्रति दशमा अच्छेरा चलते है २१. इत्यादि बहोत बोल प्ररूप्या । शास्त्राश्वर मुजब सामायिक पडिकमण करणा, और संवरी गृहस्थका १०१ बोल प्ररूप्या । ते इत्थं—संयमार्या संवरी गृहस्थके वेशमे रहकर दीक्षाका परिणाम रखे और इस सुजब वर्ते—नीची दष्टिसे चले १. रात्रे बिना पूज्या न चले २. स्थंडिल सिवाय राते बहार न जाय ३. मार्गे चालतां बोलना नहि ४. संचित भोजन वर्जे ५. दो घडि दिन थके चोबिहार ६. अजीर्ण जुहुं न छडि, अतिमात्राए न जिमे, जिमतां न वोडे ७. द्विदल टाले ८. हाथसे किसी चीजको फेकना नही ९. किसी चीजको खेंवना नही १०. स्थंडिलकी शुद्धि करना ११. लवुशंका शुद्धि करना १२. मूत्र भाजन भस्के न रखना १३. धुंजी प्रमार्जी परटना १४. कडोर भापा न वोडे १५. पूज्या बिना खूजली न खणे १६. पांच स्थावरकी जयणा १७. निवाणसे स्वयं जल नहि लेना १८. अणलाय्या जले वल प्रखालना नहि १९. स्वयं आरंग न करे २०. चीजणे पवन न डोके २१. स्वयं हरिकाय न छेदे २२. वस-जीवको न दूमे २३. वीस जीवको न हणे २४. सर्वथा गृणा न वोडे २५. अदत न छेवे २६. मानुषी ओर पशु स्त्रीका संपद टाले २७. स्वयं परिग्रह न राने २८. पीछली राते चार घडी पछी न सुवे २९. उधाटे सुते न वोडे ३०. गते प्रथम प्रहर न सुवे ३१. कारण बिना दिवसे

न सुवे ३२. नित्य एकासण व्रत ३३. नित्य गंडसहि पचक्खाण करे ३४. देववंदन उभयकालावश्यक पडिलेहणा करे ३५. नित्य चैत्यवंदन ५-७ करे ३६. नित्य १ गाथा अवश्य पडना ३७. नित्यप्रते ५०० गाथा भणना ३८. कुदृशीनीका संग न करणा ३९. नित्य सामायिक बहोत करणा ४०. नित्यप्रते एकहि विगय लेना ४१. नित्य पावसेर घृतसे ज्यारे न लेना. ४२. पनर दिनमां अपवास दो करणा ४३. लोगस्स १० तथा १५ नो काउसग्ग करणो ४४. एकवर्षसे ज्यारे एक ठामे न रहेहुं ४५. अपने लीए घर ओर हाट न करणा ४६. वख धोना नहि, पांच पीतसे ज्यारे न रखना ४७. गदेला तलाइ ओशीका न रखणा ४८. पल्यंग मांचडा खाटले सुना वेठना नहि ४९. चाकला गदीपर नहि वेठना ५०. कलदीयो १ कटोरो १ से ज्यारे न रखणा ५१. दर्द हुवे पीछे त्रण दिन पीछेसे दवा करणा ५२. खीके साथे एकांत न करणा ५३. नववाडे सील पालना ५४. मांस पर्यंत एक दिशा रूखणा ५५. खीका एकांत संघट्टं टाले ५६. कंठेश कपाय न करे ५७. कपाय उत्पन्न हुवे तब विगय त्याग करे ५८. अम्याप्यान न देणा ५९. परनिदा न करे ६०. तेलदि सुगंध विलेपन न करे ६१. नित्य १३ द्रव्यसे ज्यारे न खाना ६२. पान सोपारी मुखवास न खाना ६३. बहुमूल वख न लेवे ६४. रस्मी वख न लेवे ६५. तैलादि मसलके स्नान न करे ६६. स्वयं रसपती न पकाना ६७. हरिकाय न खाना ६८. चोमासेमें खजूर आदि न लेना ६९. खीयां सुनते हुवे रागताळ न करणा ७०. जेवर नहि पहना ७१. दो पुरुषे एक सिजामें न सूना ७२. खी सुवे वहां न सूना ७३. छंकांमतीना धान पाणी न खाना ७४. देवद्रव्य होवे उसके घरे न जिमे ७५. एकेली खीको न पढाना ७६. गंदिरकी भूमिई न सूना ७७. संवंधीके लीए याचना नही करणा ७८. पारका द्रव्य उसकी मंजुरीसिवाय धर्ममे लगाना नही ७९. दो दिनसे ज्यारे एक घरे न खाना ८०. मिथ्याकी जो संवरी होवे तो उसके घरे तीन दिनसे ज्यारे न जिमे ८१. घेवर प्रमुख उत्कट आहार न करे ८२. सांघोडा सूका नीला न खाना ८३. डगला कुडता पहरेकी जयणा ८४. परका लडका न लडाना ८५. स्वजन सिवाय जिमे वहां न जिमना ८६. हलवाईकी मिठाईकी जयणा ८७. रात्रिका रांध्या हुवा भोजन न खाना ८८. गृहस्थके घरे वेठके बातें नहि करणा ८९. जुता नहि पहनना ९०. चाहन पर नहि, वेठना ९१. मासमें एक दफे नख उतारावना ९२. कुलेर पकवानादि वासी न राखना ९३. मार्गमें खी साथ वाता नहि करना ९४. पंचरंगी वख न पहरेना ९५. खीयोंका झुंढे जाना नहि ९६. गानतान गाना सुनाना नहि ९७. लोकविरुद्ध न करना ९८. पारका घरे जातों खुंकारी करके जाना ९९. इत्यादि बोजा बोल बहोत जानना । तथा सीलपालवा संबंधी १०४ बोल सो अन्यत्रसे जानना । खीयोंको शील पालवा विषे ११३ बोल ले ते अन्यत्रसे जानना । कडुआ सहि बहोतको संवरी बनाया जैसा के—सा खीमा, सा तेजा, सा कर्मसी, सा राणा, सा कर्मण, सा शवसी, सा पुंजा, सा धीमा, सां वीरा, सा देपा, सा थिरपाल, सा धीरू, सा लोवा, सा सीधर, सा कवा, सा सवगण, सा लुणा, सा मांगजी, सा जसवंत, सा डावा, सा वेला, सा जीवा, पटेल हांसा पद्माया, सा रामा, कर्णवंधी इत्यादि बहोत साथे पाटण

રાજનગર સંભાત રાધનપુર થરાદ જુનાગઢ પ્રમુલે ઘળા સંવરી થયા, તે વિત્તાર વહી પઢાવલીથી જાળજો । સં૦ ૧૫૨૪ થી તે સં૦ ૧૫૬૪ લગે વિચરી ચરમ નોમાસો પાટળ પધાર્યા । તત્ર સાં સીમાને પદ સ્થાપન કીયા ઓર અણસળ ૨૧ દિન પાલી દિવંજગામ । દુસરા સંવરીએ અનશન કીધા । ભસ્મગૃહ ઉતરતે સા-કહુણ ધર્મે દીપાળ્યો । શ્રીવીરસે ૪૭૦ વર્ષે વિક્રમ અને વિક્રમસે ૧૫૨૪ કહુઆ હુચા એવં સા કહુઆ ૧૯ વર્ષ ગૃહસ્થ પર્યાય, ૧૦ સામાન્ય સંવરી, ૪૦ વર્ષ પટોધર, સર્વ આયુ ૬૯. સંવત ૧૫૬૪ દિવંગતઃ ।

(૨) તત્પદે સા સીમા—સો પાટળમે પ્રાગવાહ (પોરવાહ) બુદ્ધ શાસ્ત્રાયાં સા કર્મચંદ માર્યા કરમદિ પુત્ર સીમા, ૧૬ વર્ષ ગૃહસ્થ પર્યાય, ૧૪ વર્ષ સામાન્ય સંવરી, ૭ વર્ષ પટોધર પર્યાય, સર્વાયુ વર્ષ ૪૭ પરિપોન્ય, શ્રીવીરાને પદ સ્થાપના કર, સંવ૦ ૧૫૭૧ પાટળમે દિવંગતઃ ।

(૩) તત્પદે સા. વીરા—સો નાડોલહ ગ્રામે બુદ્ધ શાસ્ત્રાયાં શ્રી શ્રીમાલી દોસી કુરપાલ માર્યા કોહ-દ, પુત્ર સા વીરા, સા કહુઆના વચનથી સંવરી થયા, ૧૪ વર્ષ ગૃહસ્થપર્યાય, ૨૫ વર્ષ સામાન્ય સંવરી, ૦ વર્ષ પટોધર, સર્વાયુ ૬૯ પરિપાન્ય, જીવરાજને પદ સ્થાપન કરી દિન ૭ અણસળ પાલી નંદોલહ મે સં૦ ૧૬૦૧ દિવંગતઃ ।

(૪) તત્પદે સા૦ જીવરાજ—સો રાજનગરે શ્રી શ્રીમાલી પરીલ જગપાલ માર્યા સોમીપુત્ર સા જીવરાજ. શ્રીવીરાનાં વચનથી સંવરી, ૧૨ વર્ષ ગૃહસ્થપર્યાય, ૧૧ વર્ષ સામાન્ય સંવરી, ૪૩ વર્ષ પટોધર, સર્વાયુ ૬૬ વર્ષ । શ્રીમાલી દોસી રાયચંદ માર્યા કનકાહ પુત્ર તેજપાલ શ્રીજીવરાજના વચનથી સંવરી થયા તે તેજપાલને પાટે થાપી રાજનગરમાં દિન ૩ અણસળ કરી દિવંગતઃ ।

(૫) સં૦ ૧૬૪૪ મેં, સા તેજપાલ—૧૩ વર્ષ ગૃહસ્થ પર્યાય, ૨૧ વર્ષ સામાન્ય સંવરી, પટોધર ૨ વર્ષ, સર્વાયુ ૩૬ વર્ષ । શ્રીરત્નપાલને પદ સ્થાપી પાટળમે સંવ૦ ૧૬૪૬ દિવંગતઃ ।

(૬) સા રત્નપાલ ચંમતીચે સમીપ કંસારીપ્રામે દોસી વત્તા માર્યા ચારીસી પુત્ર રત્નપાલ. સા જીવરાજના વચનથી સંવરી થયા. ૧૦ વર્ષ ગૃહસ્થ પર્યાય, ૨૧ વર્ષ સામાન્ય સંવરી, ૧૫ વર્ષ પટોધર સર્વાયુ ૪૬. શ્રી જિનદાસને પાટે થાપી સંભાતમે સં. ૧૬૬૧ દિવંગતઃ ।

(૭) સા જિનદાસ સ્થિરપદે શ્રીશ્રીમાલી વહુરા જેસંગ માર્યા જમણાદે પુત્ર જિનદાસ. સા નરપતિ સામાન્ય સંવરીના વચનથી સંવરી થયા. ૧૭ વર્ષ ગૃહસ્થ, ૩૩ વર્ષ સામાન્ય સંવરી, ૯ વર્ષ પટોધર, સર્વાયુ ૫૯. અમદાવાદમે તેજપાલને પાટે થાપી સં૦ ૧૬૭૦ દિવંગતઃ ।

(૮) સા તેજપાલ ચંમતીચે શ્રીશ્રીમાલી સોની વસુપાલ માર્યા કીકીપુત્ર તેજપાલ. શ્રીજિનદાસના વચનથી સંવરી હુવા, સં. ૧૬૫૫ મેં । ૧૪ વર્ષ ગૃહસ્થ, ૧૫ વર્ષ સામાન્ય સંવરી, સં૦ ૧૬૭૧ પટોધરવં આગતં । સાંપ્રત સં૦ ૧૬૮૪ લગે વિરાજમાન અઘમપદે ડચોતફારક સા કન્યાપાદિ શિષ્યપુત્રેન મુલેન પૃથ્વીયાં વિહરતિ ।

(૯) સા કન્યાણ, સો રથમર્તીથેં દોસી હર્ણા માર્યાં સહિજલદે સં ૧૬૫૨ જન્મ, સા માવજીના વચનથી સં. ૧૬૬૪ માં સંવરી થયા, સં ૧૬૮૩ લ્યો શ્રીતેજપાલકી સાયે સુખે સમાધે વિચરતે હૈ । આઠપાટનાં ચતુર્માસા શ્રાવક પ્રમાવિક સંઘપ્રતિષ્ઠા પ્રવેશાદિ બનશન પ્રસુલ વહોત ધર્મક્રિયાકા વિચાર હમેરી કી હુદ્દ વૃદ્ધ ગુરુપદ્મ દીપિકાસે જાનનાં ॥ ઇતિ કહુઆ મતિ લયુ પદ્માવલી સાં કન્યાણેન કૃતા । સં ૦ વેદવસુકલા ૧૬૮૪ સંવસરે । યાવચંદ્રસૂર્યો તાવત્કાલ કહુઆ મતિનુ સંઘ દીપો । ઇતિ કહુઆ મતિના ગચ્છકી લયુ પદ્માવલી ।

શ્રી ગૌતમાય નમઃ ॥ ૧ પ્રથમ સાહા કહુઆ, ૨ તત્પદે સા શ્રી સ્ત્રીમા, ૩ તત્પદે સા શ્રી વીરા, ૪ તત્પદે સા શ્રી જીવરાજ, ૫ તત્પદે સા શ્રી તેજપાલ, ૬ તત્પદે સા શ્રી રત્નપાલ, ૭ તત્પદે સા શ્રી જિનદાસ, ૮ તત્પદે સા શ્રી તેજપાલ—સાંપ્રતં અટમપદે ચિરાજમાન સા કન્યાણાદિ શિષ્યયુતેન શ્રીસંઘસ્યે શુભં ભવતુ ઇતિ ॥

ઉજ્જયિનીના સંઘનું વિનંતીપત્ર

આ નીચે આપેલું વિનંતીપત્ર ઉજ્જયિનીના સંઘ તરફથી તપાગચ્છના આચાર્ય શ્રીવિનયવિનયસૂરિને મોકલવામાં આવ્યું હતું. આ વિનંતી આતુર્ભાસ એટલે પર્ણપણા પર્વ સંબંધી છે. આગળના વર્ણનમાં દરેક ગામના સંઘો, પર્ણપણા વગેરે યોગાસાના મુખ્ય પવો થઈ રહ્યાં પછી 'જામતખામણા'ના પત્રો જેવાં વિનંતીપત્રો પોતાપોતાના ગચ્છના નાયક આચાર્ય જે ઠેકાણે આતુર્ભાસ રહેલા હોય ત્યાં મોકલતા. એ વિનંતીપત્રો ગણુ લાંબાં અને ખૂબ લખાણથી ભરેલાં થતાં. કેટલાકમાં તો અનેક પ્રકારનાં ચિત્રો પણ દોરવામાં આવતાં, આગ્રાના સંઘે શ્રીવિનયસેનસૂરિને મોકલેલું વિનંતીપત્ર જે જૈન સાહિત્ય સંશોધકના પ્રથમ ખંડમાં પ્રકટ કરેલું છે તેનું ચિત્રકામ એક ઉત્કૃષ્ટ પ્રકારની ચિત્રકળાના નમુના જેવું છે અને ચિત્રવિદ્યામાં પ્રવીણ ગણાતા વિક્રાનો તેની ખાસ પ્રશંસા કરે છે.* આ વિનંતીપત્રો કેવી વિવિધતાવાળાં લખાતાં હતાં તેનું વર્ણન એમો અમારા વિશિષ્ટિવિવેચી નામના પુસ્તકમાં સવિસ્તર કરેલું છે.

આ નીચે આપેલું વિનંતીપત્ર માત્ર સાદું જ છે અને તે ગુજરાતીભાષામાં લખાયેલું છે. આની ઉપયોગિતા એ છે કે એમાં મહોપાધ્યાય શ્રીવિનયવિનયજીનો ઉલ્લેખ છે. આ મહોપાધ્યાય શ્રીમદ્ધર્મશોવિનયજીના સમકાલીન હોઈ તેમના ગાદમિત્ર હતા. લોકપ્રકાશના નામે જૈનપદાર્થના સર્વ સંગ્રહ જેવો મહાનુશ્રંય રચીને એમણે પોતાના પાંડિત્યને અમર બનાવ્યું છે. એમની જ રચેલી કલ્પસૂત્ર ઉપરની મુળોપધિકા નામે ટીકાનું વાચન શ્રવણ પ્રાયઃ દરેક તપા-

* શ્રીપુત્ર એન. સી. મહેતા. આઇ. સી. એસ. એમણે પોતાના Studies in Indian Paintings નામના ક્રિમ્તી પુસ્તકમાં એ વિનંતીપત્ર વિશે વિદિતાકરેલું એક આશ્ચર્ય પ્રકરણ લખ્યું છે.

ગચ્છીય સંઘમાં દરવર્ષે થાય છે. એ મહોપાધ્યાયના ચાતુર્માસ વખતે જ ઉજવવાનીના સંઘે આ પત્ર લખેલું છે. કમનસીબે આમાં સાલ આપેલી નથી તેથી આપણે એ જાણી શકવા નથી પામતા કે કયા વર્ષે શ્રીવિનયવિજયોપાધ્યાય એ નગરીમાં ચાતુર્માસ વિરાજમાન હતા, પણ ગચ્છનાયક તે વખતે વિજયપ્રભાસૂરિ હતા તેથી અતુમાન કરી શકાય છે કે સંવત ૧૭૧૨ પછી અને ૧૭૩૫ ની વચ્ચેના કોઈ વર્ષે આ ચાતુર્માસ થયેલું હતું. ગચ્છનાયક તે વખતે મારવાડમાં આવેલા વંગડી ગામે ચોમાસું રહેલા હતા અને તે સમયે મારવાડ ઉપર જસવંતસિંહજીનું રાજ્ય ચાલતું હતું એ પણ આ પત્ર ઉપરથી જણાય છે.

વિનંતી પત્ર

સ્વસ્તિ શ્રીમવનં મનોજ્ઞવચનં ત્રૈલોક્યલોકાવનં,
વિચાવહ્લિવનં મહાપ્રભુવનં સૌભાગ્યશોભાવનં ।
ક્લૃપ્તૈતોલવનં શિવાધ્વજવનં શ્રેયોવનિજીવનં,
સદ્ધર્મૈક'નિકેતનં સુવદનં પાર્થ સ્તુત્વે પાવનં ॥ ૧ ॥
સ્વસ્તિ શ્રીરમણસ્તનોતુ સતતં પ્રીતેઃ સતાં સંતર્તિ,
શ્રીમત્પાર્થજિનેશ્વરઃ કમલિનીનેતેવ પંકેજહાં ।
મોક્તેવાયતત્ત્વક્ષુપાં મધુરગીર્દાતેવ વિત્તાર્થિનાં,
છાયેત્તોત્તમપૂજ્યાં પથિ ચરત્ શ્રીધ્માર્કતતાંગિનાં ॥૨॥

સ્થરિત શ્રી આદિજિનં પ્રણમ્ય, સ્વસ્તિશ્રી સાંતિજિનં પ્રણમ્ય, સ્વસ્તિશ્રી નેમિજિનં પ્રણમ્ય, સ્વસ્તિશ્રી મહાવીરજિનં પ્રણમ્ય; સકલ નગરસિરોમણિ નર સમુદ્ર વાપી કૃપ તડાગ વાદી વનખંડ આરામ સરોવર સુશોભિત શ્રી જિનપ્રાસાદ સુંદર સિખર કનકકંઠસ ધ્વજ મનોહર ઉપાશ્રય સાધુર્મિક જન સ્થાન નિત્યોત્સાહ મંડિત વિવિધ વસ્તુ કૃપાણુક સંપૂર્ણ અનેક વ્યાપારી વ્યવહારી વિરાજમાન ચોરસી ચતુષ્પથ સુશોભીત ન્યાયપ્રવીણ નરપતિ મહારાજાશ્રી જસવંતસિંહજી પ્રતિપાલિત શુભસંનિવેશ મહાધારામિતિની તિલકાચમાન તંત્રર ઉત્તમ શ્રીપૂજ્ય ચરણકમલ ન્યાસપવિત્રિતે શ્રીવંગડી મહાનગરે શુભરથાતે પૂજ્યપારાખ્ય ઉત્તમોત્તમ પરમ પૂજ્ય અર્ચનાધ્ય ચરણ ચારિત્રપાત્રચૂડામણિ કુસંતાંધકારનભોમણિ કેશિકાકગૌતમાવતાર સરસ્વતીકંઠાચરણ અભોધજીવપ્રતિભોધક સદ્વચસાસ્ત્રપારગામી વાદિવિજય લક્ષ્મીશરણ ચ્યારગતિના કુખના ટાલણુદાર વાદીમદંગજન વાદીમુખબળજન વાદીકદલીકૃપાણુ વાદીતમલાણુ વાદીમૂકભારકર વાદીસમુદ્ર અગસ્તિ વાદીટક્ષઉનમેલનદસ્તિ વાદીમુરછદ વાદીગરૂગોવિદ વાદીહરિણુદરિ વાદીજ્વરધનવંતરિ વાદીધ્યમદસ વાદીહૃદયસાધ્ય વાદીગોધૂમધરદ્ મર્દિતવાદીમરદ્ જીસા અનેક વાદ સરસ્વતીસમ્પ્ર પ્રસાદ. એકવિધ આસંધમના ટાલણુદાર, દિવિધધર્મપરપક, ત્રણિ તત્ત્વના જ્ઞાણ, ચ્યાર ગતિના કુખના ટાલણુદાર, પંચમદાત્રતના પાત્રણુદાર, છકાધના પીઢર, સાતભવનિવારક, અષ્ટમદચરક, નવવાદિ વિશુદ્ધ અલસર્વધારક, દસવિધ સાધુધર્મઆરાધક, એકવાર અંગના જ્ઞાણ, ખાર ઉપાંગના પાક, તેર કાર્યાના છપક, ચત્તેર નિવાનધાન,

पनरमेद सिद्धना न्वायु, सोवकवासंघर्षु ससिद्धन, सत्तरमेद संयमना आरक्षक, अहारसंहसरीवांगरयेनां धारक, ओगल्लुसि कडिसगना हापनिवारक, वीसवीसी दयाना पावक, ऐकवीस आचकना गुणना प्रप्रक, आनीस परीसहाना छपक, जेनीस सुगडंग अध्ययनना न्वायु, योनीस तीर्थकरनी आनाना आरक्षक, पंचवीस किरिआना निवारक, छनीस दसा कक्ष व्यपहार द्विसयु कक्षना न्वायु, सत्तावीस साधुयुद्धे करी विराजमान, अहावीसवधिवि विराजमान, ओगल्लुनीस पापश्रुत प्रसंगनिवारक, त्रीस गोहल्लुथानक निवारक, ऐकनीस सिद्धना गुणना दयाउल्लुदर, अत्रीस योगसंग्रहधारक, तेत्रीस आशातना गुहनी तेदनां निवारक, योत्रीस तीर्थकरना आतिशयना उपदेशक, पात्रीस वाष्णीयुद्धे करी सुशोभित, छनीस सुरियुद्धे करी विराजमान, श्री कुमुनायनि सानीस गणधरना प्रप्रक, श्रीपार्श्वनायनि अत्रीस हंनर साधवीना प्रप्रक, भनुषक्षेन गोहिव ओगल्लुयावीस कुलपर्वतना प्रप्रक, श्रीमेरुपर्वतनी यविका व्यावीस जेययु उन्नत तेदना प्रप्रक, श्रीमिनायनि ऐकतावीस हंनर साधवीना प्रप्रक, श्रीमहावीरध्वं गधितावीस वरस साधुपायुं पाधुं तेदना उपदेशक, त्रध्वतावीस कर्षिपाक अध्ययनना न्वायु, धरल्लुदनि यविका व्यावीस लायल्लुवनना प्रप्रक, श्रीधर्मनाय पधितावीस धनुष उन्नत तेदना प्रप्रक, इष्टिवादनना छठतावीस मात्रिकापद तेदना गायक, श्रीअग्निभूति गणधरनि सत्तावीस वरस शुद्धस्य पर्यायना न्वायु, अहतावीस हंनर पादल्लुना स्वागी श्रीयक्षपति तेदनि पूज्यनीक, त्रध्वनीरं उल्लुं ओगल्लुपयास द्विसरं आठियु तेदना प्रप्रक, श्रीयुनिमुनतस्वामिनि पंचास धनुषनं शरीरमान तेदना प्रप्रक, सुप्रभानामि गवदेव तेदनुं ऐकवचनलाय वरसं आठियु तेदना न्वायु, गोहनीकर्मना गायन नाग तेदना न्वायु, समुद्रिम जलपरिसरं पत्र हंनर वरसं उल्लुं आठियु तेदना न्वायु, श्रीमेगिनायना यविकापन द्विस उद्धस्य पर्यायना न्वायु, श्रीमहावीरदेवध्वं पंचायन अध्ययन कयाल्लुल्लुविपाधीनां छेसि रात्रे प्रप्रकां तेदना न्वायु, न्वायु हापनि विगर्ध छप्पन नक्षत्रना न्वायु, भक्षिनायनि सत्तावन मनपयोय गानीना न्वायु, पद्विसि प्लीछ पांयगरी नखि पृथिवी भक्षिनि अहावन लाप नरकावासाना न्वायु, श्रीभक्षिनायनि ओगल्लुसिहसिह अवधिरानीना न्वायु, ऐक अहोरात्रिनि साठि घडी तेदना न्वायु, गेप्रपर्वत पद्वि कंड ऐकसिहहंनर जेययु उन्नत तेदना न्वायु, ऐकयुयनि विषे आसठि पूनिम तेदना न्वायु, श्री भूपभदेव प्रलुष्ट सिहद्विवाप पूर्व वरस रान्य पाव तेदना गायक, यमदेवेन योसठि हंनर सामानिक देवताना न्वायु, न्वायुपनि विषे पासठि सूर्यभांडरीना न्वायु, त्रेयसनायनि छसठि गणधरना न्वायु, ऐक युगनि विषे ससठि नक्षत्रवासना न्वायु, धातश्रीभंडनि विषे अस्सठि रान्धानीना न्वायु, भनुषक्षेत्रनि विषे मेरुविना ओगल्लुत्तर वर्षधर पर्वतना न्वायु, श्रीपार्श्वनाये सितार वरस साधुपयाय पावे तेदना न्वायु, धीर्मेप्रवाहपूर्वना ऐकत्तरि पाड्डना न्वायु, ओहोत्तरि कडा प्रपनी तेदना न्वायु, विजय गवदेवनं त्रहोत्तरि लाप वरसं आठियु तेदना न्वायु, अग्निभूत गणधरनं यवितोर वरसं आठियु तेदना न्वायु, श्रीसातिनाय पंचोत्तरि हंनर वरस शुद्धस्यपल्लाघं रखा तेदना न्वायु, छहोत्तरिवाय विवुं कुमारना लुवनना न्वायु, ऐक भूदनीना सत्तोतरि लवना न्वायु, अडपिन गणधर अडोत्तरि वरसं आठियु पाधुं तेदना न्वायु, न्वायुपना ऐक दारणी प्लीछ दारनं ओगल्लुासी हंनर जेययुयुं आंतर तेदना न्वायु, अयस जलदेव असी धनुष उन्नत तेदना न्वायु, कुमुनायनि ऐकशी सत मनपयोय गानीना न्वायु, श्रीमहावीरदेव व्यासी अहोरात्र देवाना आहल्लुनिं कुषध वरसा तेदना न्वायु, श्रीशीतसनायना नासी गणधरना न्वायु, श्रीभूपभदेवनं वीरसीवायपूर्वतुं आठियु तेदना न्वायु, धातश्रीभंडना मेरुपर्वत पंचासी हंनर जेययु उन्नत तेदना न्वायु, श्रीसुविधनायनि छसी गणधरना न्वायु, मेरुपर्वतधी गोरतुपआवासपर्वत सत्यासी हंनर जेययु आतरं होध तेदना न्वायु, ऐक यंदमानि अहासीप्रदना परिवार तेदनां न्वायु,

ભરમજ્ઞમિ જે વસે આગલિ કનઠ ઠવિજ્ઞ ।

ए दोहं अक्षर जोडि करि अह्न ऊपरिं चितिज्ज्ञ, ९

ઇત્યાદિક શ્રીપૂન્યજીના ગુણ-ક્રિમ વર્ણવ્યા બાદ. યતઃ—

यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्

तस्याः समाप्तिर्पदि नायुपः स्यात् ।

પારે પરાદ્દ ગણિતં યદિ સ્યાત્

भवदगुणानां गणना तदा स्यात् ॥ १०

ઇત્યાદિ સર્વ ઉપમાયોગ્ય ભદારક શીશ્રીશ્રીશ્રીશ્રી વિજયપ્રભચરીસર ચરણાનકમયાન શ્રી ઉત્તેણિ નયસાર સદા આદેશકરી ચરણસેવક દાસાનુદાસ પાવરજ્ઞેણ સમાન, સેવક સં, જ્યતિસિદ્ધ પ્રમુખ સમસ્તસંધકેન ત્રિકાષવંદના અવધારની. યત ધર્મ શ્રીપૂન્યજીનિ પ્રસાદઈ કરી ધર્મકાર્ય સુખદ પ્રવર્તેઈ છે. શ્રીપૂન્યજીના સુખસંપન્ન નિરાધાધપણુના સેખ પ્રસાદ કરી સેવકનિ સંતોષ ઉપજવવા. તથા શ્રી પૂન્યજીનઈ આદેશજી ઉપાધ્યાય શ્રીવિનયવિજયગણિ ઇહાં ચોખાસું પધાર્યા. શ્રી ઉપાધ્યાયજી ધણું બદ્ધુત ધણું સંવેગી ધણું ગુણવંન કિરિઆપાત્ર જ્ઞેહતા શ્રીપૂન્યજીના ગીતાર્યે જોઈઈ તેહવા છે. આનિ શ્રીઉપાધ્યાયજીનો સંધાપતિ પં. ઋદ્ધિવિજય પ્રમુખ સર્વ યતી ધણું સંવેગી કિરિઆપાત્ર ભલા સાધ છે. તે દેખી સંધને ધણી શાંતી ઉપતી છે. સંધ ધણું અનુમોદન કરે છે. શ્રી ઉપાધ્યાયજી ઇહાં પધારતાં ધણું શ્રાવકશ્રાવિકાના જોધિગીજ નિર્મલસાં યથાં છે. શ્રીઉપાધ્યાયજીની દેશનાં સાંભરીનિ ધણું શ્રાવક મત-પત્યકૃપાણુ સંવર કીધા છે. આનિ ધણા શ્રાવક નિત્ય પ્રતિ દેશના સાંભલિ છે તથા પર્યસણુપર્વ મહાન. મોહોત્સવપૂર્વક નિર્વિધનપણે યથાં છે. આ સમય માંદિ પણિ માછી કસાપ ઘોળી સોનાર હુદાર ધાંચી મોચિ ભાડજીન પ્રમુખ સર્વ જીવની અમારી પડી છે. તથા નવ વખાણુ પદસણુના મહામોહોત્સવ મંદા આગર પૂર્વક પણે સુખશાંતિ યથાં છે. પાસ ખમણુ અહાઇ અહમ હઈ પ્રમુખ વિશેષ તપ યથાં છે તથા સાહમીવત્સલ પારણાં પ્રભાવના પ્રમુખ વિશેષ ઉત્સવ યથા છે. સંવત્સરી દાન પણિ વીશેષથી દેવાણાં છે. બીજાં પણિ ઉપધાન માધારોપણિ તતજ્ઞચાર પ્રમુખ ધર્મકાર્ય યથાં તથા શાઈ છે. પાણીપાણીઈ ચોસહતિને તે મોલ દેવાઈ છે. તથા ઉપાધ્યાય શ્રી વિનયવિજયગ. પં. ઋદ્ધિવિજય ગ. પં. મતિવિજય ગ. પં. માનવિજય. પં. હર્ષવિજય, ઋ. ભાણુજી. સુ. ભાણુવિજય, સુ. કેસરવિજય, સુ. પુષ્પવિજય; સાંધી સહજશ્રી પ્રમુખ સમસ્ત સંધાગી વંદના અવધારની. પંડિત શ્રી હેમવિજય ગ., પંડિત શ્રી વિમલવિજય, પંડિત શ્રીઉદયવિજય, ગ. પ્રતાપવિજય પ્રમુખ સર્વ શ્રીપૂન્યજીના પરિવારનિ સંધની વંદના અવધારવની. તથા શ્રીઉપાધ્યાયજી વખાણુમાંદિ શ્રીપૂન્યજીના ગુણ ધણાં વર્ણઈ છે તેણે કરી અનતા સંધનિ શ્રીપૂન્યજીના ચરણકમલ જોટવાની ઘણી કલ્કા ઉપની છે. તે માટે શ્રી પૂન્યજીજી જોણિના સંધ જપરિ કૃપા અવધારીનિ શ્રી મગસરીપાર્શ્વનાથ. જુદારવા સારુ પધારવું. માલવો દેશ પાવન કરવો. જિમ શ્રીપૂન્યજીને વાંદવાનાં મનોરથ સક્ષ થાઈ. શ્રીપૂન્યજી મેધની પરિ ઉપધારી છાં. તે માટે કૃપા કરીનિ ઇહાં અનરથ પધારવું. જિમ સંધના મનોરથ સક્ષ થાઈ તિમ અવધારવું. સેવક સરીવાં કાર્ય કામ પ્રસાદ કરવાં. તીર્થપાનાઈ સેવકનિ સંભારવા.

અધ્યાપક હર્મન યાકોબી લિખિત સમરાઈચ્છ કહાની પ્રસ્તાવના

[અનુવાદક-શ્રીયુત ચીમનલાલ જેઠેદ શાહા, બી. એ.]

કલ્પનાની એશિયાટિક સોસાયટી ઝાંઝ જેંગલ તરફથી, આચાર્યવર્ધ શ્રીહરિભદ્રસૂરિ-
લિખિત સમરાઈચ્છ કહા નામની સુપ્રસિદ્ધ જૈનકથા જર્મનીના પ્રખ્યાત પ્રો. ડૉ. હર્મન
યાકોબીના હાથે સંપાદિત થઇને એકા જ સમય ઉપર સંપૂર્ણરૂપે પ્રકટ થઇ છે. એ કથાની
પ્રસ્તાવના તરીકે અંથના પ્રારંભમાં ઉક્ત અધ્યાપકે લગભગ ૩૦ પાના જેટલી 'ઇન્ટ્રો-
ડક્શન' લખી છે જેમાં-૧ હરિભદ્રનો સમય, ૨ હરિભદ્રનું જીવન, ૩ હરિભદ્રની કૃતિઓ,
અને ૪ સમરાઈચ્છકહા: આ ૪ મુદ્દાઓ ઉપર એમણે લિપયોગી ઉદાપોદ કર્યો છે.
એમાંના પ્રથમના ત્રણ મુદ્દાઓ ઉપરના લખાણનું આ સંપૂર્ણ ભાષાંતર છે.

હરિભદ્રસૂરિના સમયનિર્ણયના વિષયમાં ડૉ. યાકોબીનો ખાસ સ્વતંત્ર અને દૃઢ
ભિન્ન મત હતો. એ ભિન્ન મતના સંબંધમાં એમની સાથે શ્રીયુત મોતીચંદ ગિરધર
કાપડીઆ વગેરે વિદ્વાનોએ ખૂબ ચર્ચા પણ ચલાવેલી હતી પરંતુ તેથી એમને સંતોષ
થયો ન હતો અને એ પોતાના મતને દૃઢ રીતે વળગી રહ્યા હતા. પરંતુ ૧૯૧૬ માં
પૂના ખાતે ભરાયેલી ભારતની 'પ્રથમ પ્રાચ્યવિદ્યાવિદ્યાપરિષદ' આગળ 'હરિમદ્વાચાર્યસ્ય જ્ઞાન-
નિર્ણય' એ વિષેનો એ સંસ્કૃત નિબંધ અગ્રે વાંચ્યો હતો અને એ નિબંધમાં હરિભદ્ર
સૂરિનો એ સમય અગ્રે નિશ્ચિત કર્યો હતો, તે વાંચીને એ સમર્થ સત્યસંશોધક વિદ્વાને
પોતાનો પૂર્વમત ઝટ લઇને બદલી નાંખ્યો અને આભાર કરેલા નિર્ણયને સર્વથા સહમત
થઇ તેનો સાદર સ્વીકાર કર્યો. એમના એ સ્વીકારનો સ્પષ્ટ ઉદ્દેશ્ય આ નીચે આપેલી
પ્રસ્તાવનાના પ્રારંભમાં જ વાંચકોને મળી આવશે. યુરોપના એક મહાન અભ્યાસી અને
બહુશ્રુત વિદ્વાનને જ્યારે આ રીતે સત્ય જણાઇ આવે છે ત્યારે તે તુરત પોતાના મતને
તદ્વચ્છેદન બનાવી લેવાની અને પોતાની ભૂલને સુધારી લેવાની કેટલી કાળજી રાખે છે
તેનો આ એક ઉદાહરણભૂત દાખલો છે. જ્યારે આપણા દેશના લેખાશુ પંડિતમન્યો, કદાં
સમજ્યા વગર, સમજવાની જગ્યા ઇચ્છા રાખ્યા વગર, પકડાયું 'તે પકડાયું' કરીને પોતાના
નિર્મોહ્ય મતને પણ આખર સુધી જોવા-તપાસવાની દરકાર કરતા નથી. હરિભદ્રસૂરિ
વધાર્થ જ કહે છે કે—

આગ્રહી વત નિર્મીપતિ યુક્તિ યત્ર તત્ર મતિરસ્ય નિવિષ્ટા ।

પણપાતરહિતસ્ય તુ યુક્તિર્થત્ર તત્ર મતિરેતિ નિવેશ્મ ॥

* સંપાદક.

* હરિભદ્રસૂરિના સંબંધમાં એક વૃત્તામાં વૃત્તો પ્રાપ્ત પ્રબંધ જે ભદ્રેશ્વરસૂરિના કથાવતી નામના
ગ્રંથમાં આવેલો છે તે અને બીજી મળુ કેટલીક નવી વિગતો આ પછીના અંકમાં આપવાની
આશા વિચાર છે.—સંપાદક.

૧. હરિહરના સમય.

સમરાધ્યક્ષકહાના કર્તા હરિહર જૈન પરંપરા પ્રમાણે વિક્રમ સંવત ૫૮૫ માં અથવા વીર સંવત ૧૦૫૫ માં એટલે ઇ. સ. ૫૨૯ માં પદ્મા પામ્યા. આવી જૈન માન્યતા ઇ. સ. ૧૩ માં સૈકાની શરૂઆતથી નજરે પડે છે. છતાં આ તારીખ ખોટી કલ્પવામાં આવી હતી; કારણ કે ઇ. સ. ૬૫૦ માં યજ્ઞેશ્વર ધર્મશ્રીતિના તાત્ત્વિક વિચારોથી હરિહર પરિચિત હતા. એ વખતે નીચેની યાખત ઉપરથી ચર્ચા ઉભી થઈ હતી. સિદ્ધિ કે જેણે ઉપમિતિભવપ્રપંચા કયા ઇ. સ. ૯૦૬ ના મે માસની ૧ લી તારીખે પૂર્ણ કરેલી તે ગ્રંથની પ્રશસ્તિમાં હરિહરને “ધર્મવોચકરો ગુરુ:” એમ સંબોધે છે. હવે સંવાદ એ ઉદ્દેશ્યો કે હરિહર સિદ્ધિના સાક્ષાત્ ધર્મગુરુ હતા કે પરંપરા ગુરુ હતા. આ યાખતમાં જે જે આલિ-પ્રાચ બાંધ્યા હતા તે બૃહલ્લેખો હતા. આ અરસામાં જૈનોએ હરિહરના સંખ્યાબંધ ગ્રંથો પ્રકાશિત કર્યા, અને એ દ્વારા કેટલીક ઉપયોગી યાખત બહાર આવી. પણ જે પુરાવાએ હરિહરની તારીખ છેવટે નક્કી કરી આપી તે પુરાવા, એમના ગ્રંથોએ નહિ, પરંતુ ઉદ્યાતનના કુવલ્લખાના નામના પ્રાકૃત ગ્રંથે પુરા પાડેલો. આ ગ્રંથ શક સંવત ૭૦૦ ના છેલ્લા દિવસે એટલે ઇ. સ. ૭૭૬ ના માર્ચની ૨૧ મી તારીખે પુરા કરવામાં આવ્યો હતો. આ ગ્રંથની પ્રશસ્તિમાં ઉદ્યાતન હરિહરને પોતાના દર્શનશાસ્ત્રના ગુરુ તરીકે જણાવે છે, અને ધણુ ગ્રંથોના કર્તા તરીકે વર્ણવે છે; આ બીજી યાખત ઉપરથી એ તો.

૧ હરિહરદ્રષ્ટ વધુ ફેરસમાસરતિની નેસલગેર ખાતેની એક પુરાણી હસ્તલિખિત પ્રતના અંતે, એ ગ્રંથ પૂર્ણ કર્યાની મિતિ વિષે બે કાઠિયા આવેલી છે. તેમાં એ ‘વિક્રમ ૫૭૫, જ્યેષ્ઠ સુદી ૫, શુક્રવાર, પુષ્ય નક્ષત્ર’ લેખાતું જણાવેલું છે; આ મિતિ ઇ. સ. ૫૨૮ની ૯મી મેને મંગળવાર અથવા તો ઇ. સ. ૫૨૯ ની ૨૮મી એપ્રિલને વાર રાત્રિ સાથે મળતી આવે છે. પહેલા દાખલામાં પુષ્ય નક્ષત્ર આવડું હતું અને બીજામાં પુતવંશ આવડું હતું. બંને દાખલાઓમાં વાર ખોટા નીકળતો લેખાથી એ મિતિ બનાવેલી છે એમ માનવું જોઈએ. નક્ષત્રનું પ્રમાણ બોધા બજાવવાનું લેખાય, કારણ વાંદવપદના પ્રત્યેક દિને સામાન્યતઃ કેવળ ત્રણ નક્ષત્રોમાત્રું એક આવડું હોય છે અને એ પહેલીથી પણ નક્કી કરી લેવાય છે.

૨ ઉપમિતિભવપ્રપંચકથાની મારી આવૃત્તિ જુઓ (બીબ્લીઓગ્રાફ ઇન્ડીયા) પ્રસ્તાવના પૃ. ૮

૩ જુઓ એ જ ગ્રંથની પ્રસ્તાવના પાનું ૫.

૪ હરિહરના ગ્રંથો, તેના ટીકાકારો અને તે ટીકાકારોના સમય વિષેની તમામ વિગતોની પૂર્ણ માહિતી માટે જુઓ મુનિ કન્યાલુપિવજ્ય સંપાદિત હરિહરની ધર્મ સંગ્રહણીની આવૃત્તિમાંનો પ્રવચનપરિચય (દેવગઢ લાલબાઇ) જૈનપુસ્તકાલય કાંઠાક ૪૨; મુંબઈ, ૧૯૧૮)

૫ ચોટીસી વિત્તલજી કિર્ણવલ્લભિ અર્થાત્ ચૈત્ર વરી ૧૪. આ મિતિ પચાંશના દરિયાઈદુથી ૧૨૨ પડે એવી છે. ચૈત્રાદિ વર્ષ હમેશાં ચૈત્રના શુકલ પક્ષથી શરૂ થાય છે. એથી કરીને ઉક્ત મિતિ પૂર્ણિમાના ચૈત્રના જન્મના દુષ્પક્ષના શુકલપક્ષની પૂર્વે આવે છે, તેને અનુસરીને નોંધાયેલી જણાશે. પરંતુ કિલકોને (ઇન્ડીયન એન્ટીક્વરી. ૧૮૯૬ પૃ. ૨૭૧ અને તે પછી) લેખપત્રોમાંની મિતિઓ ઉપરથી બતાવ્યું છે તે પ્રમાણે શક વર્ષોના સંજ્ઞાધર્મો લગભગ હમેશાં ભ્રમ્યન્ત મહીનાઓનો પ્રયોગ થાય છે. તેથી કરીને ઉક્ત મિતિનો પ્રથમ દરારો જણાવેલો અર્થ અત્યંત સંકારપદ બને છે. એમ છતાં, ચર્ચાતા વર્ષમાં ત્રિજ માસની પૂર્વે આવેલો અધિક ચૈત્ર હતો એથી કરીને આ દાખલામાં બનવું જોઈએ તે પ્રમાણે નો વર્ષ ત્રિજ ચૈત્રથી શરૂ થયું હોય તો અધિક ચૈત્ર વરી ૧૪ એ વીતી ગયેલા વર્ષનો ઉછાની પહેલા દિવસ હોવા જોઈએ. કારણ જરા ચૈત્રનો આરંભ કરતો પક્ષવાનો અંદ્રે મેષ સંક્રાન્તિની લગભગ પૂર્વે હતો. એટલા મરિં હું માનું છું કે સ્વામી કનુપિલાઈ જે એમ કહે છે કે (અધિક ચૈત્ર હોય ત્યારે વર્ષ તેનાથી માંડીને ગણાય છે) એ કેવળ આધુનિક રિવાજને જ લાગુ પડે છે.

નિઃસંદેહ જેવું છે કે આમાં એ મહાન હરિભદ્રનો જ ઉલ્લેખ કર્યો છે.^૧ આ ફક્ત તેમ જ એમાં રહેલી સમયને લગતી ખાખત એ કોઈ પ્રથમ ખરાબર સમજ્યા હોય તો - તે મુનિરાજ જીવનવિનય છે. તેમણે ૧૯૧૯ ના નવેમ્બરમાં, પૂનામાં ભરાયેલી પ્રથમ એરિયન્ટલ કોન્ફરન્સમાં વાંચેલા અને જૈન સાહિત્ય સંશોધક ગ્રંથમંડા, પૂના, એમાં “શ્રી હરિમદ્ધર્મચરિત્ર સમયગીર્ણ” એ મધ્યાળા હેઠળ છપાવેલા, “હરિભદ્રનો સમય” એ નામના પોતાના લેખમાં આ આખો પ્રશ્ન સારીપેટે ચર્ચ્યો છે, પુરાવા તપાસ્યા છે, અને તદ્દન સ્પષ્ટ રીતે પોતાની ખાખત રજૂ કરી છે. નીચેની હકીકત, ઘણું કરીને, એમના એ નિબંધને આધારે જ આપેલી છે.

ન્યારે ઉઘોતને પોતાનો ગ્રંથ લખ્યો ત્યારે હરિભદ્ર જીવતા હતા કે નહિ તે આપણે એના કહેવા ઉપરથી કળા શકતા નથી, પરંતુ એટલું તો ખરું કે એની પહેલાં વીસ કે ત્રીસ વર્ષ ઉપર તો એઓ ઉઘોતનના યુદ્ધ હશે જ. આ ઉપરથી આપણે એ સમય, અગર ઇ. સ. ૭૫૦ કે તે પછીનો સમય એમના સાશરજીવન તરીકે લઈ શકીએ; અને સંખ્યાબંધ પ્રકરણો જે એમણે તૈયાર કર્યા તે ઉપરથી આ સમય ઓછામાં ઓછા વીસ કરતાં વધારે વર્ષોનો જરૂર મૂકી શકીએ. પોતાના ગ્રંથોમાં એ ઘણા બાહ્ય, બૌદ્ધ તથા જૈન ગ્રંથકારોનો ઉલ્લેખ કરે છે. જિનવિજયજીએ એમાંના ત્રીસ નામોની એક યાદી તારવી કાઢી છે એમાંથી દિનાગ, ધર્મશ્રીર્તિ, ભર્તૃહરી (વાક્ય પદીષના કર્તા, આશરે ઇ. સ. ૬૫૦) અને કુમારિલને આપણે કાળક્રમની દ્રષ્ટિએ મહત્વના ગણી શકીએ. હરિભદ્ર પોતાના નંદીસૂત્રના વિવરણમાં, જિનદાસ ગણિ મહત્તરનું નામ આપ્યા સિવાય તેમની કરેલી એ સૂત્રની સૂચિમાંથી કેટલાક ભગોનો ઉતારો કરે છે. એ સૂચિ શક વર્ષ ૫૯૮ માં એટલે ઇ. સ. ૬૭૭ માં તૈયાર થઈ હતી. વળી સિદ્ધસેન દિવાકર કે જેમનો ઉલ્લેખ હરિભદ્ર કરે છે તે પણ લગભગ આજ અસામાં થયેલા હતા. કારણ કે, જે કે તેઓ ધર્મશ્રીર્તિનું નામ સ્પષ્ટ રીતે નથી આપતા; પરંતુ એના વિચારોનો તેઓ ઉપયોગ કરે છે.^૨ આ ઉપરથી આપણે જોઈ શકીએ છીએ કે હરિભદ્રે પોતાથી આગલી સદીમાં થયેલા કેટલાંક પ્રસિદ્ધ વિદ્વાનોનો

૧ જાદ દર્શાય છે એમ હરિભદ્રના ઉલ્લેખનાં ફક્ત બે પાઠનાં છે. કેદન ઠાકેરની હસ્તપ્રત નેના સિવાય અન્ય કોઈ પ્રત પ્રાપ્ય હોય એમ જણાવું નથી તેમાં એ આમ છે: સો સિદ્ધતિપુર પમાળનાણ વસત હરિમદો । बहुमयसत्यवित्परपञ्चकवाया ॥ મુનિરાજ જિનવિનયે આ પાઠ સંતોષકારક રીતે સુધાર્યો છે અને ખુશ્તા અક્ષરો નીચે મુજબ પૂર્ણ છે: सो सिद्धतम्मि गुरुः प्रमाणनाण व जस हारिमदो । बहुनयसत्यवित्परपञ्चकसत्तुमसवायो ॥ પ્રથમ પાઠ, ઉઘોતનના યુદ્ધ વીરભદ્રની પ્રસંસા કરતી આગલી કાદી સાથે સંબંધ ધરાવે છે; અને આની યાદીની કડીમાં તેના પિતાનું નામ વટેશ્વર હોવાનું જણાવેલું છે. વટેશ્વર ક્ષતિયત્વિનો હતો અને ક્ષત્રિયમણ બન્યો હતો.

૨ ધર્મશ્રીર્તિ માન પ્રત્યક્ષને જ અગ્રાંત કહે છે (અને ધર્મેતર સ્પષ્ટ કહે છે આત્તંદિ અનુમાનમ્) ન્યારે સિદ્ધસેન દિવાકર ન્યાયાલતારમાં (S II) પ્રત્યક્ષ તેમ જ અનુમાન બંનેને અત્યંત કહેવાનો દાવો કરે છે; એ જ પ્રમાણે એ સ્વાયં અને પરાયનો ભેદ ને જરી રીતે કેવળ અનુમાનને લાગુ પડે છે તેને વિસ્તારીને એ પ્રત્યક્ષને પણ લાગુ પાડે છે (તે જ ગ્રંથ ૧૨ ૧). જેની રીતે, સૂર્ય કોટોને એક એકને ઉઘાડી આમ સર્વ સામાન્ય રૂપ આપીને એણે ધર્મશ્રીર્તિમાં સુધારો કરવાનો વિચાર કરેલો. એ વાત્તવ્યરૂપિતા કર્તા સિદ્ધસેન ગણિની બિન વ્યવસ્થા છે. કારણ સિદ્ધસેન ગણિ હરિભદ્રની નંદીસૂત્ર ઉપરની રીકમાંથી ઉતારો કરે છે ad. II, 25, જુઓ કલ્યાણજિનય I. c. ૪. ૨૬; આથી કરીને હરિભદ્ર બંને સિદ્ધસેનોના વચ્ચેના ગાળામાં થઈ ગયા. એ પણ નોંધવો જેવું જણાય કે વધુ સિદ્ધસેન, આજ સિદ્ધસેન ને સિદ્ધસેન દિવાકર હોય શકે ન પણ હોય, તેની એક કાદીને ઉતારો કરે છે. ad. I. 10.

ઉદ્દેશ્ય કયો છે. જ્યારે બીજા જાણુ શંકરનો તેઓ કંઈ જ ઉદ્દેશ્ય કરતા નથી. શંકર પોતાના વખતના વિદ્વાનોમાં એટલાં તો પ્રખ્યાત અપરચ યથ ગયા હતા કે જેની હરિભદ્રે તે એમના સમયના કે એમના પછીના હોત તો એમને બૂઝી શક્યા નહોત. આ ઉપરથી આપણે એટલું કહી શકીએ છીએ કે શંકરના અનુયાયીઓ જે તેમને ઇ. સ. ૭૮૮ થી ૮૨૦ ના ગાળામાં મૂકવાની માન્યતા ધરાવે છે તે ખરી છે, અગર તો છેવટે તદ્દન ખોટી નથી. વળી જિનવિજયજીના કહેવા મુજબ હરિભદ્ર માયાવાદ વિષે કશીએ ચર્ચા કરતા નથી. જોકે તેઓ અદ્વૈત વાદને જાણે છે અને પોતાના સાસ્ત્રવાર્તા સમુચ્ચયમાં એની કેટલીક સાખાઓનું ખંડન પણ કરે છે, પરંતુ આમાંની એક પણ માયાવાદને મળતી નથી જણાતી. આ જાણત પણ કીક ઉપયોગી છે; કારણ કે એ ઉપરથી એમ ફક્ત યાવ છે કે, શંકર પહેલાં, ઔપનિષદોની બહાર માયાવાદ લગભગ અજ્ઞાત જેવો જ હતો. અલગત શંકરના શરૂના શરૂ ગૌડપાદે, એ પૂર્વે ઔપનિષદોમાં તો એનું પ્રતિપાદન કર્યું હતું; પણ કોઇપણ સંપ્રદાયે પોતામાં રહેલી વસ્તુના આધારે જ પોતાના શિક્ષણની નૂતનતાને લીધે આખા બિદુસ્તાનમાં એમને એમ પ્રસિદ્ધિ નથી મેળવી, સિવાય કે કોઇ ગ્રંથકાર એ વસ્તુનો પદ્ધતિસર સવિશેષ પ્રચાર કરે અને દરેક વિરોધી પ્રવાહની સામે એને બરાબર ટકાવી રાખે. આવા ગ્રંથકારની કીર્તિ ઘણું કરીને મૂળ વિચારક કે જેની શક્તિ સ્વાભાવિક રીતે જ બૂઝાઇ જાય છે, તેના કરતાં પણ વધુ વિસ્તાર પામે છે.

૨. હરિભદ્રનું જીવન.

હરિભદ્રના જીવન વિષે એમના પોતાના સંજ્ઞોમાં આપણને લાગ્યે જ કંઈ જાણવા મળે છે. એમના લખેલા ગ્રંથોમાંથી એમના વિષે જે કંઈ આપણે જાણી શકીએ તેમાં નીચેની હકીકતો ગણાવી શકીએ તેમ છીએ:—(૧) તેઓ સિતાગરો (સ્વેનાગરો) ના આચાર્ય જિનભદ્રની આરા માનતા હતા, (૨) વિદ્યાધર કુલ (ગચ્છ) ના ચણગાર રૂપ આચાર્ય જિનદત્તના શિષ્ય થતા હતા, અને (૩) સાધ્વી યાદિની મહત્તરના ધર્મપુત્ર કહેવાતા હતા.^{૧૦}

આ ઉપરાંત જે કેટલીક બીજા જાણતા હરિભદ્રના પુસ્તકો ઉપરથી સીધી જાણ્યાં આવે છે તે આ છે:—(૪) પોતાના લગભગ ઘણાખરા ગ્રંથોના છેલ્લા શ્લોકમાં એમણે ‘વિરહ’ સંજ્ઞા ઉપયોગ કર્યો છે, અને તે એમના જીવનની કોઈ ખાસ જાણવતો સૂચવતો હોય તેમ લાગે છે; (૫) કેવળ જૈનધર્મ વિષેનું જ નહિ, પરંતુ બીજા સંપ્રદાયો વિષેનું પણ એમનું ચોક્કસ જ્ઞાન એમના અનેકાન્ત-જન્યપત્રોમાં અને તેની ટીકામાં, તેમજ દિગ્ગજયુગ્ત ન્યાયપ્રવેશ ઉપરના તેમના ટિપ્પણમાં જાણ્યાં આવે છે; (૬) એમના લખેલા ગ્રંથોની સંખ્યા ઘણી મોટી હતી.

૮ આ ગ્રંથમાં હરિભદ્ર આપે છે તેના કરતાં વિશેષ વિગતો જાણવાનું આપણને આવશ્યક લાગે છે; કહાય ગર્વિત ફક્ત વિષે પોતાની સ્વોપદેશરતિમાં એમણે એ આપી પણ હોય. પરંતુ આ વૃત્તિ મને અપાપ્ય છે.

૯ આ પ્રમાણે ત્યાંમુખી કવિશ્લોકોમાંના કોઈ અજ્ઞાત કર્તાના મૂળ મળખ (treatise) ઉપર આનંદવર્ધને જન્યાલોક નામની ટીકા નહોતી રચી અને એમ કરીને જનિવાદને એટલો બધો સુવ્યક્ત નહોતો કર્યો કે એની પછીના માય: સર્વ અલંકારસાસીઓ એનો સ્વીકાર કરે ત્યાંમુખી એ વાદની પણ અવગણના જ થઈ જણાય છે. એવી કરીને હું એમ સમજવાને પ્રેરાહું છું કે પૂર્વકાલિન બૌદ્ધધર્મમાં શર્યાવાદી નાગાર્જુન અને વસુંધરજીએ તે તે મતોને સાક્ષીય પદ્ધતિએ સુપ્રસારિત ન કર્યા ત્યાંમુખી તે મતો અંકુશીક રહ્યા અને એની સામે કંઈ પ્રતિરોધ નહોતો નહિ.

૧૦ ઉપર્યુક્ત તમામ વિગતો આવશ્યક રૂપે ઉપરની શિષ્યહિતા નામની એમની ટીકાના અંતર્યામમાં આપેલી છે; અન્ય સ્થળોએ માત્ર એક વા બીજા વિગતો જ ઉદ્દેશ્ય હોય છે.

એ તો વગર કહે સમગ્ર તમ છે કે હરિભદ્રના સમકાલીન લોકો તેમના વિષે ઉપરની જ બાબતોમાં જે લખ્યું છે તેના કરતાં ઘણું વધારે બાબતો હોવા બેઠાં; પરંતુ તેની સાથે એ પણ એટલું જ સાચું છે કે ઐતિહાસિક વિગત ધીમે ધીમે દંતકથાઓની વાર્તાનું રૂપ લઈ લે છે, અને કાળોત્તરે સાચી તેમ જ ખાનાવડી બાબતોનો એકવિચિત્ર સંજુભોગ થઈ જાય છે કે જેથી એમાંથી અમુક જ વિગત, મર્યાદિત સત્યની દૃષ્ટિએ એકએકથી ભૂલી પાડવી સરલ હોઈ શકે છે. આથી કેટલીએ ચાલી આવતી બાબતો બીકુલ ખાનાવડી અને એના મૂળનાયકથી તદ્દન અસંબંધ જેવી હોય છે. આ પ્રમાણે જોતાં હરિભદ્રને લક્ષ્મી જે જયી બાબત છે તે વિષે લોકોને કાંઈક સદૃશ કુલહલ થયું હશે અને તેથી તેને સંતોષવા જતાં હરિભદ્રના જીવનને લગતી કેટલીક અમૂલ્ય વાર્તામાં ઘણી વિચિત્ર અને સાવ પાયાવગરની દૃષ્ટિકોણો ઉમેરા થયો હશે. એમના જીવન વિષેની બીજી બધી વાર્તા કરતાં આ બાબતનો ઉમેરો જ વધુ વધી જાય છે, કે જેનો ભુના ગ્રંથોમાં કંઈયે નિર્દેશ નથી મળતો.

હરિભદ્ર વિષેની કિંવદંતીઓનું પૃથકકરણ કરે તે પહેલાં એના મૂળભૂત સાધનોનો ઉલ્લેખ કરવા પ્રારંભ છું.

(૧) હરિભદ્રના ઉપદેશપદની મુનિચંદની ટીકાના અંતનો એક નાનો પારિગ્રહ. આ ટીકા વિક્રમ સંવત ૧૧૭૪ એટલે ઇ. સ. ૧૧૧૮ માં પુરી થઈ હતી; આ ભાગ કથાણુવિનય અને જિનવિનયે જાણી છે.

(૨) સંવત ૧૧૬૮ અને ૧૨૧૧ અથવા ઇ. સ. ૧૧૧૨ અને ૧૧૫૪ ની વચમાં લખાયેલા જિન-દત્તા ગણપરસાર્દશતકની આદ્ય ગાથાઓ (૫૨-૫૬) મૂળ ગ્રંથ A. Weber ની Verzeichniss der Sanskrit und Prakrit Handschriften II p. 982 માં જણાવે છે.

(૩) સંવત ૧૩૩૪ થા ઇ. સ. ૧૨૭૮ માં પ્રભાચંદે રચેલા પ્રભાવક ચરિતનો નવમો શ્લોક (૧૯૦૯ ની એન. એસ. આરુતિમાં ગ્રંથકર્તાનું નામ ભૂતપી ચંદ્રપ્રભ આપ્યું છે)

(૪) સંવત ૧૪૦૫ થા ઇ. સ. ૧૩૪૮ માં લખાયેલા રાજશેખરનો પ્રગ્નપ્રકાશ. કથાણુવિનયે આમાંના થોડા ફક્કરા આપ્યાનું હું બાણું છું.

(૫) સંવત ૧૨૯૫ થા ઇ. સ. ૧૨૩૯ માં પૂણે રચેલ સુમતિગણિની ગણપરસાર્દ શતકની શતિ. (જુઓ ૨) સુમતિગણિની દૃષ્ટિકોણ સર્વરાજગણિની લઘુરૂપિમાં ફુંકાણમાં આપી છે.

(૬) ભદ્રેશ્વરની કથાવડી, સમય લગુ બજાણે નાપી: જિનવિનયજના લખાણો ઉપરથી આ વાર્તા હું બાણી શક્યો છું, બીજી રીતે મને તેની ખબર નથી.

હવે હું હરિભદ્રના જીવનને લગતી કેટલીક કિંવદંતીઓ કે જે, ખરેખર સાચી પણ માની શકાય, તે બાબત ચર્ચા કરીશ.

૧, ૩, ૪ અને ૫ મા લખ્યા મુજબ હરિભદ્રનું જન્મસ્થાન ચિત્રદૂત એટલે હાલનું ચિતોડ હતું. લગભગ ૭ મી સદીથી માંડીને ૧૫૬૯ સુધી આ પર્વતના શિખર ઉપરના ભુના કિલ્લામાં મેવાડની રાજવંશની હતી, અને ત્યારબાદ ઉદયપુર એ રાજવંશનું મુખ્ય મથક થયું. પોતે દીક્ષા લીધી ત્યાંસુધી હરિભદ્ર ઘણું કરીને ચિતોડમાં જતા, પરંતુ ત્યારપછી સાધુ તરીકેનું એમનું જીવન ઘણુંખંડે રાજપૂતાનાના આસપાસના સ્થળોમાં અને ગુજરાતના પ્રદેશમાં ખસાર થયું હોય તેમ લાગે છે. કારણ, એ પ્રદેશમાં વસતા ઉદોત્તનના તેઓ ગુરુ થતા હતા.^{૧૨} હરિભદ્રના ગુજરાતના કાર્યપ્રદેશની બીજી સાચીની ટીકા

૧૧ જમાંની હજિ અર્પાત થી ચિત્રકૂટાચલનિવાસિનો રૂપકવચ પર્વત ઉપરના એ પ્રાચીન નગરને ઉદેશને છે.
૧૨ કુવવખાતમાંથી શ્રી જિનવિનયજ (I. c. ૧. ૫૫) લોકોના ફક્કારો થાયો અને હજી કરીએ સાબીત કરે છે કે ઉદોત્તન ગુજરાતમાં પાંચેલી થવિ પાંચસામાં હતા.

કુટુંબોની વંશાવળીમાં મળી આવે છે. કારણ કે કલ્યાણવિજયજીના કહેવા મુજબ હરિભદ્રે પોરવાસોની (પોરવાસ, પ્રાગવાટ) જાતિને સંગઠિત કરી, અને એમને જૈન બનાવ્યા. હવે, મેમિતાલ્લચરિત્રમાંથી આપણને એમ જાણવા મળે છે કે પોરવાસ જાતિ પ્રથમ ૧૪ શ્રીમાત્રમાં ઉત્પન્ન થઈ હતી, અને એ જાતિના નિમય નામના એક સૈનિક માણસને વનરાજે (ધ. સ. ૭૪૬-૮૦૬) પોતાની નવી રાજ્યધાની અણહિલકપટાણમાં વસવા માટે આમંત્રણે અને ત્યાં તેણે વિદ્યાર્થગચ્છ માટે મંત્રપત્રલેખનું મંદિર બંધાવ્યું. પોરવાસની જાતિને સંગઠિત કરનાર હરિભદ્ર વિલાધર ગચ્છના ૭૧૫ હતા એટલે સંભવ છે કે એ જાતિ આ ગચ્છ તરફ કેટલક પ્રકારની વફાદારી ધરાવતી હોય, અને મેમિતાલ્લચરિત્રની એ દ્રષ્ટીકત આ જાખતની સાખીતી પુરી પાડતી હોય તેમ લાગે છે. જો કે હરિભદ્ર જીવનના મોટા ભાગમાં ગુજરાતમાં અને તેની બાહ્યના રાજપૂતાનાના પ્રદેશમાં રહ્યા હોય, પરંતુ એક સાધુ તરીકે તેઓ હિંદુસ્તાનના દૂર દેશવેશમાં પણ જરૂર ક્યોં હશે. સમરાહચકલામાંથી એમના હિંદુસ્તાનના જ્ઞાન બાબત કેટલીક દ્રષ્ટીકત મેળવી શકાય તેમ છે. આ જાખતમાં ખાસ વિચારવા જેવું એ છે કે તેઓ પોતાની કેટલપણ કથાનાં ઘટનાનું ક્ષેત્ર કેહન યા દક્ષિણ હિંદુસ્તાનના એકાદ જાણીતા શહેરમાં કલ્પતા નથી.^{૧૬} પરંતુ જે જે શહેરો જાણી શકાય તેવા છે તે બધા ઉત્તર હિંદુસ્તાનમાં હસ્તિનાપુરથી તાક્ષશિલ સુધીમાં આવેલા છે. અયોધ્યા અને ચંપા વચ્ચેના પૂર્વ હિંદુસ્તાનથી તેઓ વિશેષ પરિચિત હેખાય છે; આ પ્રદેશોમાં ત્યારે બૌદ્ધધર્મ પ્રચલિત હતો, અને તેથી એવો સંભવ છે કે હરિભદ્રે ત્યાં બૌદ્ધધર્મ વિષે ચોક્કસ જ્ઞાન મેળવ્યું હોય, જો કે ખાસ કરીને તો હિન્દાગ અને ધર્મકર્તાતિએ જે પ્રતિપાદન કરેલું છે તેને જ આધારે તેઓએ એ વિષયનું જ્ઞાન મેળવેલું લાગે છે.

૫ માં એમ બતાવવામાં આવ્યું છે કે હરિભદ્ર જ્યેષ્ઠ બ્રાહ્મણ હતા,^{૧૮} અને ૩ માં પણ એ જ વાત કહેલી છે. ત્યાં એમ કહ્યું છે કે તેઓ રાજા જિતારિના^{૧૯} પુરોહિત હતા, જો કે ૧ અને ૨ માં આવું કંઈ નથી, પરંતુ મને આના સાચાપણા વિષે કંઈ શંકા નથી લાગતી. હરિભદ્રનું જૈનધર્મ બાબતનું બંધુ-વ્યાપીજ્ઞાન આપણે બાહ્યે એ મૂકીએ તોપણ એમનું અન્યાય વિષયનું જ્ઞાન એવા પ્રકારનું છે કે જે બ્રાહ્મણને જ સ્વાભાવિક હોય છે. પરંતુ જૈનસાહિત્યને બ્રાહ્મણવિદ્યાની એક નવીન પ્રેરણા મળી તે પહેલાં

૧૩ જુઓ Abhandlungen der Bayerischen Akademie der Wissenschaften, München 1921 માંની સનતકુમાર ચરિત્રની મારી આરતિ પૃ. ૧૫૨, ૮૯. અને એજ મંથના પૃ. ૬૬ની વધારાની નોંધ.

૧૪ મારવાડની અત્યંત દક્ષિણે આવેલું આધુનિક ભીખાલ હોવાતસરિ 1. c., એ નગરનું નામ સિરિભિલ-માલ હોવાનું જણાવે છે. પ્રથમ ચાપોટક વા ચાવડા રાજ વનરાજે અનહિલ પાટકની સ્થાપના કરી તે પહેલાં એ ગુજરાતનું પાટનગર હતું.

૧૫ કારણ, એ પોતાના શુભ જિનદત્તને વિલાધર ગચ્છનું એક બૂણ કહે છે, ૭૫૧-૬૧૧ગણિ (૧૬૧૬ ઇ. સ.)ના કહેવા પ્રમાણે એ રૂઢચમીય હતા. જુઓ કલ્યાણવિજય 1. c., પૃ. ૧૧ b.

૧૬ દક્ષિણગુજરાત વિદ્યાના પરિચયની એમની ઉલ્લેખનું કારણ, કલાચ, એ હતું કે એમના સમયમાં તાપીની દક્ષિણે એ સ્તેતાંબર સમાજ કોઈ કેકાણે વસતો હશે તો તેની સંખ્યા નહિ જોવી જ હશે.

૧૭ કથાનકવલિ'ત અપર વિદેહના દેશોમાંનાં નગરો સાથે, અત્યંત આપણે કંઈ લેવાડેલા નથી.

૧૮ 1. c., પૃ. ૫ a. નોંધ કલ્યાણવિજય.

૧૯ રૂઢચ રીતે, જેનોની અસંખ્ય આખ્યાયિકાઓ અને કથાઓમાં આવતા જિતશત્રુ નામના રાજનું બનાવરી નામ. આ રાજ, હું જાણું છું ત્યાં સુધી કેટલપણ ઐતિહાસિક દસ્તાવેજ, લેખપત્ર કિત્તાદિમાં કદિ જોવામાં આવેલો નથી. એવાડના શુદ્ધિ રાજાઓની યાદીમાં પણ આ નામ આવતું નથી. જુઓ એમલે ડકની કોનોલોજી કોફે એન્ડ-૦૬ ઇ.સ. ૫-૨૮૨.

બીજા કાષ્ઠના વિષે આવી ચોક્કસતા તદ્દન અપર્યાપ્ત રૂપ જ કહી શકાય. મુનિચંદ્ર (૫) હરિભદ્રને જે “આઠ વ્યાકરણોના અભ્યાસી તરિકે, અને સમગ્ર દર્શનશાસ્ત્રોને લગતી ચર્ચાઓ કરી સ્થિરશુદ્ધિ પ્રાપ્ત કરનારાઓના આગેવાન તરિકે” વર્ણવે છે, તે સત્ય છે. હવે પછીના પારેઆઠમાં કહેવામાં આવશે તે મુજબ મુખ્યત્વે હરિભદ્રને લીધે જ શ્વેતાંશુરોની સંસ્કૃત એ અભ્યાસ લાખા યથા; અને એમના સાહિત્યના કેટલાક વિભાગોમાં પ્રાકૃતનું સ્થાન એણે લીધું. અને એમનો સંસ્કૃત ઉપર પૂરેપૂરો કાણુ ન હોત તેા એમની આટલી અસર ન પડત, અને આવી સિદ્ધિભાટે ચાલી આવતી બ્રાહ્મણવિદ્યાની જ જરૂર રહે છે. સંસ્કૃતમાં ચાલતી દાર્શનિક ચર્ચા બાળતનું એમનું આધિપત્ય એવા પ્રકારનું છે કે એમની ટીકાવાળી અનેકાન્તજ્ઞપનાકા, એ સમયના દાર્શનિક વિષયને લગતા કાષ્ઠપણુ પુસ્તકની સાથે સારી રીતે સર-સાધમાં ઉતરી શકે તેમ છે. ૨૦ આમાં એટલું એ પણ ઉમેરી શકાય કે હરિભદ્રના ધર્મપરિવર્તન બાબતની કથા કે જેની મુખ્ય હકીકત આપણા જુનામાં જુના મૂળમાં (૧) સમાયેલી છે તેથી પણ એજ નિર્ણય થાય છે કે તેઓ જાતિએ બ્રાહ્મણ હતા.

હરિભદ્ર યાકિની સાખીને પોતાની ધર્મમાતા (ધર્મલો ચાકિનીમહત્તરાસુનુઃ) તરીકે સ્વીકારી તેણીને લીધે પોતાનું ‘સાચા ધર્મ’માં પરિવર્તન થયું એમ કહેવા માગે છે. આ એક અંતતું પુનર્જન્મ જ કહી શકાય. આ પરિવર્તન કેમ બનવા પામ્યું તે ને કે ચાલી આવતી કિંદતીઓ ઉપરથી લખવામાં આવ્યું છે, પરંતુ એ યથા ભાગે વિશ્વાસપાત્ર છે. હરિભદ્રના જીવનના આ પરિવર્તનને લગતું પ્રભાવક ચરિતમાં આપેલું કેટલુંક વર્ણન હું અહિં આપીશ અને પછી તેની ચર્ચા કરીશ.

“ચિત્રકુટ શહેરમાં હરિભદ્ર જિતારિ રામના પુરોહિત હતા. પોતાના જ્ઞાન માટે એમને એટલું અભિમાન હતું કે તેઓએ જાહેર કરેલું કે જેને પક્ષ પોતે નહિ સમજી શકે તેના તેઓ શિષ્ય થઈ જશે, અને આ પ્રતિજ્ઞા એક સોનાના પતરા ઉપર કેતરાથી કાઢી હતી ને તેને તેઓ પોતાના પેદ ઉપર બાંધી રાખવા હતા. એક વખત એક નારી છુટેસો મસ્ત હાથી ત્યારે રસ્તાઓમાં ફેર વર્તાયી રહી હતો ત્યારે હરિભદ્ર એની આગળ થઈને નાકા, અને એક જેનમંદિર ઉપર ચડી જઈ પોતાનો બખવા ક્યો. ત્યાંથી ચંદર જઈ એમણે એક તીર્થકરની પ્રતિમા જોઈ, અને એક શ્લોકમાં એની હાંસી કરી. (વજુરે ભગાચેટ્ટે દ્વારિ) બીજે દિવસે ત્યારે તેઓ ધરે ગયા ત્યારે એક વૃદ્ધ સાધ્વીને એક ગાયારૂં ઉચ્ચારતી સાંભળી જે એમને બીંકુકલ સમજાઈ નહિ. એ સાધ્વીને એમણે એ ગાયા સમજાવવા કહ્યું, પરંતુ તેણીએ એમને પોતાના ચુર પાસે જવાની સૂચના કરી. આથી બીજે દિવસે તેઓ તેમની પાસે ગયા. રસ્તે જતા પેલા મંદિર પાસે યઈને નીકળ્યા, અને પોતાનો પ્રથમનો જ શ્લોક બોલ્યા, પરંતુ તેમાં એક શબ્દનો એવો ફેરફાર કર્યો કે જેને લીધે જિનની રત્નતિ થઈ. ત્યાં તેમણે જિનભટ્ટ સૂરીને જોયા કે જેમણે હરિભદ્રને સાધુ થયા પછી શીખવવાનું વચન આપ્યું. તેઓ કણ્ઠ થયા અને મદતરાર યાકિનીને પોતાની ધર્મમાતા તરીકે સ્વીકારી તેઓ જૈનશાસ્ત્રોમાં એટલા બધા નિપુણ થયા અને એમનું ચારિત્ર એવા પ્રકારનું બન્યું કે ચુરએ એમને પોતાના માદીધર બનાવ્યા. આ પ્રમાણે હરિભદ્ર ધર્મપ્રધાન બન્યા.”

૨૦ એ સત્ય છે કે આજા જ વર્ણનના યજ્ઞ પ્રાચીન ગ્રંથો બેદોના પાસે હતા. પરંતુ બેદો, તત્ત્વજ્ઞાની બ્રાહ્મણપ્રધાનોની તાર્ત્વિક ચર્ચાના રાજધાનમાં યજ્ઞ પૂર્વેના સમયથી જ આજા હતા. અને એમના યજ્ઞ મદાન પ્રધાનો સ્વયં પ્રસિદ્ધરિતે બ્રાહ્મણ જાતિના હતા.

૨૧ આ ગાયા આવશ્યક નિર્ણયમાં આવે છે.

હવે આ હકીકતમાંની મુખ્ય મુખ્ય બાંધી બાબતો, ઉપર જણાવેલા મુનિચંદ્રના સંક્ષિપ્ત ઉલ્લેખમાં રૂપ આપેલી છે. ફક્ત મરત કાંથીનો બનાવ અને હરિભદ્રનું જિતારિ રાતનું પુરોહિત હોવું એ બે એમાં નથી. ત્યાં પણ એ જ ગાથા અને એ જ શ્લોક આપેલા છે, પણ ચુરનું નામ જિનભદ્રને^{૨૩} બદલે જિનભદ્ર આપેલું છે જે બૂઝથી લખાયું હોય તેમ લાગે છે. અલંકારરૂપે કહી શકાય એવી કેટલીક વિસ્તૃત બાબતો એમાંથી ઉઠાવી દીધી છે. આ વાત ઘણે લાગે છુતી છે, અને એમાં ખાસ કંઈ વધારા પડતું કે ન મનાય તેવું નથી, એટલે આપણે એને લગભગ સત્ય તરીકે ગણી શકીએ છીએ.

ગણપદ સાર્થશતકમાં આપેલી એક વિચિત્ર બાબત કહેવાની રહે છે: “કેટલાકે નામની સમાનતાને લખને હરિભદ્રને ચૈત્યવાસિ સાધુ કહેલા છે જે ખોટી રીતે કહેવામાં આવ્યું છે.” ચૈત્યવાસિઓ એવા સાધુઓ હતા કે જેઓ મંદિરમાં રહેતા હતા, બપોરે તેમના પ્રતિરૂપિઓ વસ્તિનિવાસી એટલે કે ગૃહસ્થોના ઘરોમાં (પરગૃહ) રહેવાનું પ્રતિપાદન કરતા હતા. બંને પક્ષે થોડો વખત સાથે ચાલ્યા હોય તેમ લાગે છે, અને વિરોધીરૂપે બાહરે ન પડ્યા હોય તેમ જણાય છે. શીર્ષક ૨૪ એક ચૈત્યવાસી હતા એમ કહેવામાં આવે છે. પરંતુ ઉપરે તે ચૈત્યવાસ હુમ થઈ ગયેલો અને ખરતરગચ્છના સ્થાપક જિનેશ્વરચૂરિએ પોતાના અનુયાયીઓ માટે સંવત ૧૦૮૦ થા ઈ.સ. ૧૦૨૪માં વસ્તિનિવાસ સ્થિર કરેલો.

એવો સંભવ છે કે બપોરે આ બંને પક્ષો વચ્ચે પૂરે જોસમાં ચતુતા હશે સારે ચૈત્યવાસિઓએ બહુદીતા હરિભદ્રને પોતાના તરીકે ગણાવ્યાં હોય, અને સામાવાળાઓએ એમના એ દાવાને તદ્દન પાયા વગરનો અને નકામો ઠેરવ્યો હોય. પરંતુ આ પણ એટલું જ ચોક્કસ છે કે, જે હરિભદ્રના વખતમાં સાધુઓનું નિવાસસ્થાન એ જ મતભેદનો એક મુખ્ય વિષય થવા પામ્યો હોય, તે હરિભદ્રે કયો પક્ષ સ્વિકાર્યો હશે તે બાબતમાં કંઈ શંકા જેવું રહે તેમ નથી, સમરાઈઝ્ય કહામાં સાધુજીવનનાં જે વર્ણનો આપ્યાં છે તે એમના વખતના સાધુઓની રીતભાતનું યા જે તેમને પોતાને સંમત હતું તેનું ચિત્ર પુરું પાડે છે. તે કયા પ્રમાણે તે સાધુઓ ચહેરે નજીકના ઉપાનમાં રહેતા, અને એમના અનુયાયીઓ તથા એમના દર્શન માટે ઉત્સુક એવા માણસો ત્યાં જતા. એ વર્ણનમાં એ કાંઈ સ્પષ્ટ કહ્યું નથી કે સાધુઓ ત્યાં મંદિરમાં જ રહેતા, પરંતુ હરિભદ્ર સાધુઓને ગૃહસ્થોના, યા લોકોએ તૈયાર કરાવી આપેલા તેમના માટેના મકાનોમાં રહેવાનું યોગ્ય ધારતા તે એમાંથી કાઢી નાંખ્યું હોય તેમ લાગે છે.

૩. હરિભદ્રની કૃતિઓ.

હરિભદ્રની યુગપ્રધાન તરીકેની ખ્યાતિ એમણે જૈન ધર્મને ખાતર કરેલી સાહિત્યસેવા ઉપર

૨૨ ગણપદ સાર્થશતકની લઘુકવિ ૬. ૫૬, ૫૮ ૬ માંનો અવિસંક્ષિપ્ત ઉલ્લેખ આવી સાથે મેળવે આવે છે. તદુપરાંત ૬૦ પોતાના પેટ ઉપર જે પોતાનું પત્નું બાંધતા તેનો તેમાં ઉલ્લેખ છે.

૨૩ ઉપરની ગોથમાં દર્શાવેલી લઘુકવિમાં એ નામનું એ જ રૂપ આપેલું છે.

૨૪ લઘુકવિમાંના ૬. ૬૦ એ આધાર પ્રમાણે અને ખરતરગચ્છની પદ્યપદ્ધતિના કવન પ્રમાણે શીર્ષક હરિભદ્રના ઉત્તરાધિકારી હતા. પરંતુ એ અસંભવિત છે, કારણ એમની આચાર્યશ્રી દીકાની સાથે શક ૭૬૮=ઈ. સ. ૮૭૨ની યોગ્યતા અર્થાત્ હરિભદ્ર પછી એક સૈકા કરતાં વધારે હોવાનું કહેવાય છે. એ જ આધાર પ્રમાણે શીર્ષકના ઉત્તરાધિકારી તે ઉદ્ધોતનચૂરિ છે જિનેશ્વરના શુર અને પુરોગામી એવા વર્ધમાનચૂરિના પુરોગામી હતા. નિર્ણયપણે આ લખાણે કયોલકલ્પિત અને એક ખોટાં છે. કારણ ઉદ્ધોતનચૂરિ જેમણે પોતાનો મહાન ગ્રંથ ઇ. સ. ૭૭૬માં રચ્યો તે, જિનેશ્વરચૂરિ જેઓ ત્યારબાદ એ સૈકા કરતાં વધારે માછળના કળમાં યથા ગયા. તેમની અને ઉદ્ધોતનચૂરિની વચ્ચે એક જ શુર થયા એટલે બોલો હોય એ ન બની શકે એવી વાત છે. કેળીની રીતે, ખરતરગચ્છની સ્થાપનાની પૂર્વેના સમય સંબંધી એ કાંઈ પણ પરાંપરા સાદુ હોય તેો તે વસ્તુદ્રવાણી નહોતી.

અવલંબે છે. જૈનસાહિત્યમાં એમણે જેટલાં પુસ્તકો લખ્યાં, અને જુદા જુદા જે વિષયો હાથ ધર્યાં તે જોતાં તેઓ મહાન લેખકોમાંના એક કહી શકાય. જિનવિજય, હરિભદ્રના ૨૮ ગ્રંથોને ખાસ પ્રસિદ્ધ તરીકે ગણાવે છે, અને તેમાંના વીસ છપાઈ ચૂકેલા છે, જ્યારે કલ્યાણવિજયે ખાસ સચવાઈ રહેલા છે તેમાંથી, અને ઉતારાઓ ઉપરથી એમના બધાંય ગ્રંથોની એક ચાંદી તૈયાર કરી છે, અને તેમાં ૮૮ નામોનો સમાવેશ કરેલો છે. જો કે આમ તો આ સંખ્યા જ ખાસી મોટી છે, પરંતુ ૧૪૦૦ પ્રકરણોની ચાંદી આવતી વાત માનીએ તો તેને આ એક અદ્ભૂત જ લાગશે. ૨૫ હરિભદ્રના જીવનને લાગતા આપણા જુનામાં જુના ગ્રંથોમાં (૧ અને ૨) પણ એ ગ્રંથ સંખ્યાની વાત છે, અને ત્યારબાદ ઈ. સ. ૧૦૬૮માં તૈયાર થયેલી અણપદેવની હરિભદ્રના પંચાશક ઉપરની ટીકામાં પણ એ જ લક્ષીકૃત વધારે ૨૫૪ રીતે જોવામાં આવે છે. પણ આ અધુન તદ્દન ખીન પાયાદાર હોય તેમ લાગે છે? કે જોનોની એટલી બધી ખેદરકારી સૂચવે છે કે તેઓ પોતાના એક જાણીતા ગ્રંથકારના પુસ્તકોના મોટા ભાગના નામો પણ એની પછી થોડી સદીઓમાં ભૂલી ગયા હશે? બીજી બાજુએ જ્યારે તત્ત્વાર્થ લઘુવ્રતિ અને પિણ્ડ-નિર્ધુક્તિ એ હરિભદ્રના બે અધૂરા રહેલા ગ્રંથો પણ સચવાઈ રહેલા મળ્યાં આવે છે. આથી કં તો ૧૪૦૦ની સંખ્યા અતિશયોક્તિ ભરેલી યા અર્થ વગરની હોય, અથવા આપણે માની લેવું જોઈએ કે આ બાબતમાં પ્રકરણ એ પદ્ધતિસર તૈયાર કરેલો જુદો ગ્રંથ નહોત્ય, પરંતુ પંચાશકના ૫૦ પ્રકરણો, આટકના ૩૨, પોદશકના ૧૬, વિગેરે એવા અર્થોદિત અર્થમાં એનો ઉપયોગ થયો હોય. પણ તેમના બીજા ગ્રંથોમાં શા ધોરણે આટલા બધા પ્રકરણો પાડ્યા તે સમજ શકાતું નથી.

હરિભદ્રે મોટા ભાગે જૈન માન્યતાની પ્રતિને ખાતર સંસ્કૃત અને પ્રાકૃતમાં તેમ જ ગદ્ય અને પદ્યમાં લખ્યું છે. એમના સાક્ષર જીવનની બે પ્રવૃત્તિઓ ખાસ નોંધવા જેવી છે. એક તો આગમ ગ્રંથો ઉપરની એમની સંસ્કૃત ટીકાઓ અને બીજી બ્રાહ્મણો અને બૌદ્ધોના સિદ્ધાંતો ઉપરની એમની તલવરપર્શી ચર્ચાઓ.

આગમ ગ્રંથો ઉપરના જૂના ટીકા ગ્રંથો જેવા કે નિર્ધુક્તિઓ, ચૂલ્લિઓ અને ભાષ્યો એ બધા જ પ્રાકૃતમાં છે. ૨૧ ઉપર કહ્યું તે સુજ્ઞ નન્દીસૂત્ર ઉપરની જિનદાસગણિની ચૂલ્લિ ઈ. સ. ૬૪૭માં પૂર્ણ થઇ, અને તે પણ પ્રાકૃતમાં જ લખાયેલી છે. પોતાના પૂર્વગામીના લખાણોનો ઉપયોગ કરી હરિભદ્રે એ જ ગ્રંથો ઉપર નવી ટીકા લખી, અને તે સંસ્કૃતમાં લખી. તેમ જ એમણે બીજા સૂત્રો ઉપરની ટીકાની બાબતમાં પણ તેમ જ કહ્યું. શ્વેનાંબર સાહિત્યમાં આપણે એથી વધારે કેઈ જૂની સંસ્કૃત ટીકાના વિષયમાં જાણતા નથી એટલે કહી શકાય કે આ ફરફાર હરિભદ્રથી જ થયો હશે, અને છેવટે એટલું તો ચોક્કસ છે જ કે આ નવી પદ્ધતિને એમણે વ્યવસ્થિત રૂપ આપ્યું હતું. જો કે પાછળથી તો એમાં પણ પ્રગતિ થયેલી છે. પ્રોફેસર હોયમેનના કહેવા સુજ્ઞ હરિભદ્ર મૂળ ગ્રંથ ઉપર સંસ્કૃતમાં ટીકા લખતા, પરંતુ કયાનકોને અને ચૂલ્લિના અધિક ઉતારાઓને મૂળ પ્રાકૃતમાં જ રહેવા દેતા, જ્યારે શીયાંક કે જે એમના પછી એક સદી બાદ થયા તે પોતાની ટીકામાં આતાં પ્રાકૃત અવતરણો ન આપતાં તેમનો સંસ્કૃત અનુવાદ જ આપે છે.

૨૫ સ્વયંબર (૧૩૪૬ ઈ. સ.) કહે છે કે એમણે ૧૪૦૦ પ્રકરણો ૨૨માં અને (૧૫-૧૮ શ્લોકો વચ્ચેના) ચાર ગ્રંથકારો કહે છે કે એમણે ૧૪૪૪ પ્રકરણો ૨૨માં. જુઓ હરિભદ્રવિજય ૧. c., પૃ. ૧૧ b, ૧૨ a

૨૬ જુઓ પ્રોફેસર હોયમેનનો દયવૈશ્વસિક સૂત્ર અને નિર્ધુક્તિ વિષયના વિદ્વાનશર્મા નિબંધ. ઇન્ડ. યી. એમ્. ૭. નો. ૪૬ પૃ. ૫૮૧ ff.

પારિભાષિક અર્થમાં નેમ્બએ તો આપણે ખાસ કહેવું નેમ્બએ કે હરિભદ્ર પ્રકરણોના જ કતાં છે. પદ્ધતિસર સાત્રીય રૂપમાં જે ગોઠવાયેલું હોય તે પ્રકરણ કહેવાય છે. ગમે તેમ લખાયેલા અને આડી અવળા કથાઓથી ભરપૂર એવા આગમોથી આ તદ્દન નિરાળા વસ્તુ છે. આ પ્રમાણે લખવાની પદ્ધતિ મૂળ તો આદ્યજોતી શરૂ થઈ, અને એમનું આનું કેટલુંક જૂનું સાહિત્ય જોવામાં આવે છે. ઉમાસ્વામિનું યા ઉમાસ્વામિનું તત્ત્વાર્થોધિગમ ચૂન એ જૈન સાહિત્યમાં આ પ્રકારનો પહેલો દાખલો છે, અને સ્વેતાંબર તેમ જ દિગંબર અને આ ગ્રંથ પોતાનો હોવાનો દાવો કરે છે. દિગંબરો કે જેઓ સિદ્ધાંતને માનતા નથી તેઓનું જૂનું સાહિત્ય બહુધા સંસ્કૃત તેમ જ પ્રાકૃતમાં લખાયેલાં પ્રકરણોનું જ બનેલું છે; પરંતુ સ્વેતાંબરોમાં આપણે પ્રકરણોના પહેલા લેખક તરીકે સિદ્ધસેન દિવાકરને નિઃશંકપણે ગણાવી શકીએ. હરિભદ્ર કે જેઓ એમનાથી, ઉપર બતાવ્યું તેમ, વધારેમાં વધારે બે ત્રણ જમાનાનું દૂર કેહી શકાય તેમણે સ્વેતાંબરોના સાહિત્યને પૂર્ણતાની ઉંચી રાએ પહોંચાડ્યું, જે કે એમના ગ્રંથોમાંના કેટલાક પ્રાકૃતમાં છે, પરંતુ ઘણા ખસ તો સંસ્કૃતમાં જ છે. આમાં જૈન સંપ્રદાયના પદાર્થવર્ણન ઉપરાંત વિરોધી મતવાળા બ્રાહ્મણો તેમ જ જૌદોના સાંપ્રદાયિક ધોરણો બાબત એક ટુંકા ખ્યાલ, અને કેટલીક ચર્ચા તથા એના ખંડનો પણ છે. આ બંધના ગ્રંથોમાં હરિભદ્રની દિગ્માનના ન્યાયપ્રવેશ ઉપરની ટીકા, જે કે તે એક પ્રકરણ નથી, બહુ ઉપયોગી અને મહત્વની છે. જૈનોને પ્રમાણનિષ્પણનો કાઈ ગ્રંથ પુરો પાડવાના ધરાદાથી સિદ્ધસેન દિવાકરે ન્યાયાવતાર નામનો ગ્રંથ કે જે બાહ્યરૂપે પ્રાયઃ ધર્મકીર્તિના ન્યાયગિન્દુની ડાયા જણાય છે, તે રચ્યો હતો. જે કે ધર્મકીર્તિના ઉક્ત સર્વોત્કૃષ્ટ ગ્રંથની જગ્યા લેવા તે રચ્યો હતો, પરંતુ નિર્મલેહ તે તોનાથી તો ઉતરતી કક્ષાનો છે. પ્રમાણની બાબતમાં પણ જૈન સિદ્ધાંત રચાવવાને બદલે હરિભદ્રે દિગ્માન ઉપર ટીકા લખીને જૈનોને જૌદ પ્રમાણ સાત્રીઓના ગ્રંથોનું અધ્યયન કરવાની પ્રેરણા કરી. આ રીતે દેખાવામાં તો એમણે એ લોકોની બારે મહત્તા રિવકારી, પરંતુ પોતાના અનેકાંતજન્યપતાકા ગ્રંથમાં ધર્મકીર્તિના પ્રમાણ વિષેના કેટલાક સિદ્ધાંતોનું સાદું ખંડન પણ કર્યું. એમના પછી ઘણા વર્ષો સુધી જૈનોને જૌદોના પ્રમાણ નિષ્પણમાં રસ રહ્યો હતો. અને એને લીધે જ આભારે આપણે ધર્મકીર્તિનું ન્યાયગિન્દુ અને ધર્મોત્તરની ન્યાયગિન્દુ ટીકા ઉપલબ્ધ કરી શક્યા છીએ. કારણ કે આ ગ્રંથોની જૂનામાં જૂની પ્રતિ અને બીજા ગ્રંથ ઉપરની ટીકાનો આમુક ભાગ આપણને જૈન લંડા-રોમાંથી જ મળેલા છે.

સિદ્ધસેન દિવાકર તથા હરિભદ્ર જેવા મહાન આચાર્યોના, હિંદુસ્તાનની બૌદ્ધિક-સંસ્કૃતિની ઉચી પાલરીએ સ્વેતાંબર સાહિત્યને લાવવાના પ્રયત્નોનો ઉત્કર્ષક પર્યવસાન હેમચંદના જીવનચરિત્ર થયું. હેમચંદે પોતાના ધર્મને લગતા ખાસ ગ્રંથો તૈયાર કરવા ઉપરાંત ભારતીય યુષ્મ યુષ્મ શાસ્ત્રોને લગતા બીજા પણ કેટલાક પ્રસંગીય ગ્રંથો રચીને તૈયાર કર્યા. આ પ્રમાણે સ્વેતાંબરો કે જે બીજાઓની સાથે સરખાવવામાં અત્યાર સુધી એકલવાયા તરીકે અંધારામાં હતા તે સાતમી સદીમાં બહાર આવ્યા, અને છેવટે જૂજરાત તથા તેના બાહ્યના પ્રદેશોમાં તેઓ એક જગતી લાગવગરાણી ધાર્મિક કેમ તરીકે બહાર થયાં, અને તે એટલે સુધી કે કુમારપાંડના વર્ષમાં એક રાજ્યધર્મ તરીકે જૈનધર્મ સ્વીકારણો.

વળી, હરિભદ્રના ગ્રંથો તરફ નજર નાંખતા આપણે નેમ્બ શકીએ છીએ કે તેઓ દરેકના છેલ્લા શ્લોકમાં “વિરહ” શબ્દ વાપરે છે, જે એમના એક ચિન્હ તરીકે ગણીતો છે. જ્યાં જ્યાં આ ચિન્હનો ઉપયોગ થયો છે તે તે વિભાગો કથાસુધિએ પુરેપુરુ ટાંક્યા છે. તેઓ દશલોકલિંગ, આલસ્યક તથા પ્રસાપન વિગેરે સૂત્રોની ટીકાઓને, અને સમરાદિય કથા, પદ્ધતિનું સમુચ્ચય તથા લોકતરુનિર્ણય

વિગેરેને અપવાદ તરીકે ગણાવે છે. સમરાદિત્ય કથાને અપવાદરૂપ ગણવી કે કેમ તે સંકારપદ છે, કારણ કે ત્રણ પ્રતોમાં “વિરહ” શબ્દ છેલ્લા શ્લોકમાં છે. કિવદંતી પ્રમાણે આ ‘વિરહ’ ચિન્હનું કારણ હરિભદ્રના ભાણુજ અને શિષ્યો હંસ અને પરમહંસનું મરણ છે; જો કે આ બાબત એમના પોતાના કેાષ લખાણમાં જોવામાં આવતી નથી. આ વાતમાં વળતે કંઇક સલ પણ હોય, પરંતુ આને જો એક બનેલી હકીકત કહી શકતા હોઇએ તો આ સામાન્ય બાબતમાંથી એક વિચિત્ર બનાવોથી ભરપૂર એવી એક લાંબી કથા ઉદભવી, અને તેણે હરિભદ્રના જીવનને લગતી ચાલતી વાતોમાં એક મોટા ભાગ ભજવ્યો છે. પ્રભાવકચરિતમાં આપ્યું છે તે મુજબ એમાંનો એક ભાગ અહિંયા હું ટાંકું છું.

“એમની ખેનના પુત્રો હંસ અને પરમહંસે કંટાળાને પોતાના બાપનું ઘર છોડ્યું, અને એમના શિષ્યો યજ્ઞ એમની પાસે પ્રમાણવિદ્યા શીખવા લાગ્યા. તેઓ બૌદ્ધોના કેાષ શહેરમાં એ લોકોના સાચા શીખવા ધરુજતા હતા, પરંતુ હરિભદ્રને એમાં આપતિ દેખાવાથી એમને ન જવા સમજાવ્યું. છતાં પણ તેઓએ હંક પકડી અને વેશ બદલી ત્યાં ગયા અને કેાઈ બૌદ્ધ ભિક્ષુ પાસે અભ્યાસ કર્યો. જૈન ધર્મે સામેના બૌદ્ધ ધર્મના વાંધાઓ જરાબર સમજી લઈ તેઓએ કેટલાક પાંત્રાઓ ઉપર બધાનું ખંડન લખ્યું. પવનના અપાટાથી એ પાંત્રાં પેલા ભિક્ષુ પાસે ઉડીને ગયાં, તેથી એને લાગ્યું કે પોતાના શિષ્યોમાં કેાઈ જૈન યતિ છે. આ શોધી કાઢવા માટે તેણે દરબાજની વચમાં જિનની એક મૂર્તિ મૂકાવી કે જેથી દરેકને તેના ઉપર યજ્ઞને ચાલતું પડે, પરંતુ પેલા બે ભાઈઓએ મૂર્તિની છાતી ઉપર ચાકવડે યજોપવીત ચીતર્યું એટલે પછી એના ઉપર પગ મૂકવાનો એમને કંઈ વાંધો ન રહ્યો. હવે બૌદ્ધ ભિક્ષુએ બીજી યતિ કહી. ઉપરના કેાષ આડમાં એક બૌદ્ધ બાપ શિષ્યોને પુરી એમની પાસે યજોપવીત ગોઠવ્યા, અને જ્યારે બધા સુધ ગયા ત્યારે તેમણે મકાનની ઉપરના ભાગ ઉપરથી માટીના ઘસ મગડાવવા માંડ્યા. ઉચતા શિષ્યો ભયમાં એકઠમ અજાગ્રી બેઠ્યા, અને પોતપોતાના ઇષ્ટ દેવતાઓની પ્રાર્થના કરવા લાગ્યા. આ પ્રમાણે જિનની પ્રાર્થના કરતા પેલા બે ભાઈઓ પકડાઈ ગયા, પરંતુ તે બંનેએ બે છત્રીઓ લીધી અને ખારીમાંથી બહાર કૂદી પડ્યા. બીલકુલ ઇજા વગર તેઓ નીચે આવ્યા, અને ત્યાંથી જોસ જોર નાહા. બૌદ્ધ સૈનિકો એમની પાછળ પડ્યા, અને જ્યારે નજીકમાં આવ્યા ત્યારે હંસે પોતાના ભાઈને પાસેના શહેરના સુરપાલ રાજાનું રક્ષણ લેવાની સૂચના કરી, કે જે તેને રક્ષણ આપે તેમ હતું. એ પછી હંસે પોતાના શત્રુ સાથે લડી, ઘણાઓનો સંહાર કર્યો, અને છેવટે મરણ પામ્યો. પરમહંસ સુરપાલ પાસે રક્ષણ માટે પહોંચ્યો કે થોડા વખતમાં પાછળ પડેલા સૈનિકો ત્યાં આવી લાગ્યા, અને સુરપાલ પાસે એની માગણી કરી. પરંતુ રાજાએ પોતાને આજે આવેલાને સોંપવાનો ઇન્કાર કર્યો, અને કહ્યું કે એક વાદ ગોઠવેલો જોઈએ, અને એમાં એ જો હારી જાય તો પછી એ સ્થિતિમાં મને જેમ યોગ્ય લાગશે તેમ હું એની સાથે વર્તશ. બૌદ્ધો કણ્ઠ યયા, પરંતુ એક શરતે કે એમની સામીવાજાએ પડદા પાછળ રહેતું કે જેથી એવા હવડા માણસનું મુખ એમને જોતું ન પડે. જે વાદવિવાદ ચાલ્યો તેમાં બૌદ્ધો તરફથી એમની શાસ્ત્રનિવેદના હતી, કે જે અદરશ હતી, પરંતુ કેાષ ઘડના મુખમાંથી બોલતી હતી. જ્યારે વિવાદ આમ થોડા દિવસ ચાલ્યો ત્યારે પરમહંસે કંટાળ્યો અને એના મણની શાસ્ત્રનિવેદી અજાને પ્રાર્થના કરી. તેણીએ તેની સામે કેાણુ હતું તે કહ્યું અને વિવાદ કેમ આગળ ચલાવેલો તે સમજાવ્યું. આ પ્રમાણે પરમહંસે પોતાના વિરોધીઓને દરાવ્યા, અને પછી પડદો ઉઘો કરી ઘડના સુરેસુરા કરી નાંખી બૌદ્ધો ઉપર કપટાઈ લયો વર્તેનનું આગ પણુ મૂક્યું. રાજા બૌદ્ધની દુષ્ટ ટ્વિત સમજી ગયો હતો, એટલે એણે કહ્યું કે જે એને દરાવ્યા પછી પકડશે તે તેમ વગર વાંધે કરી શકશે. પછી તેણે પરમહંસને ઇચારો કર્યો, અને એ એનો અર્થ સમજી તુર્ત ત્યાંથી જેમ જાને

તેમ જાણી નાહો. આમ છતાં ધૈર્યસ્થિતિ એની બહુ જ નજીક આવી પહોંચ્યા અને એમાંથી એ નીચેની શુદ્ધિ કરી છુટ્યો. એક ધોળીને કામ કરતો બેઠા પરમહંસે એને એક ઓળીતી ચઢાઈ આપે છે એમ કહી ત્યાંથી નાસી જવા-સમજાવ્યો અને પોતે એનું કામ કરવું સંકે કર્યું. ૨૭ જ્યારે એક થોડે સ્થાને એને, કોઈને એ રસ્તે જતાં બોલાવું પૂછ્યું ત્યારે એણે લાંબે દૂર જતા પહેલા ધોળીને બતાવ્યો. સૈનિકોએ ધોળીને પકડ્યો અને પાછા ફર્યો. આ પ્રમાણે પોતાની પાછળ પડેલાઓથી છુટ્યા પછી પરમહંસ થોડા દિવસો બાદ ચિત્રદુટ પહોંચ્યો અને હરિહરને મળ્યો. પોતે અને હંસે શું કર્યું હતું તે બધું તેણે એમને કહ્યું, અને જ્યારે પોતાના ભાઈની મૃત્યુની વાત કરી ત્યારે શોકથી એની છાતી એટલી બધી ભરાઈ ગઈ કે એ ત્યાં જ મરણ પામ્યો. આ પ્રમાણે પોતાના ભાણેજ શિષ્યોના મરણથી હરિહરને બહુ જ દુઃખ લાગ્યું. એમને બૌદ્ધો પ્રત્યે અત્યંત તિરસ્કાર થયો, અને એમનો નાશ કરવાનો એમણે નિશ્ચય કર્યો. તેઓ ત્યારબાદ મુરખાસ પાસે ગયા અને એને પોતાનો ઇરાદો જણાવ્યો. રાજાને ખાતરી હતી કે હરિહર એના વિરોધીઓને હરાવશે એટલે એણે બૌદ્ધોના શહેરમાં દૂતને મોકલાવ્યો, અને એ લોકોના ઉપરીને સમજાવી નક્કી કર્યું કે વિવાદમાં જે હારી ગય તેણે ઉકળતા તેલના તાવડામાં ડૂબી જવું. બૌદ્ધોને માનીતા ક્ષત્ર્ય લંગૂરતાના સિદ્ધાંત ઉપર જ અચાંચલી. હરિહરના રથિઓનો જવાબ ન આપી શકવાથી સામે વાળા બૌદ્ધને નક્કી કરેલી શીક્ષા સહન કરવી પડી. બીજા કેટલાક બૌદ્ધોએ પણ વિવાદમાં તે જ શીક્ષા સહન કરી. પોતાને મદદ ન આપવા અને હરાવવા બદલ બૌદ્ધોએ તાસદિવીની ખુબ નિન્દા કરી, અને દેવીએ એમને સમજાવ્યું કે હંસ અને પરમહંસને મારી નાંખ્યા તેનું તે જ વ્યાજબી ફળ હતું.

જિનભરે જ્યારે હરિહરે આ પ્રમાણે વાતકી વેર લીધાનું સાંભળ્યું ત્યારે એમણે બે બિંદુઓ દ્વારા સમરાદિત્ય કથાના મુલ્યવાળી ત્રણ ગાથાઓ એમને મોકલી. હરિહર આનો અર્થ સમજી ગયા. જેમ અગ્નિશમીનો ક્રોધ નવ જન્મો પર્યંત ચાલ્યો તેમ એમની બૌદ્ધો તરફની શત્રુતાએ પણ એમને માટે એવું ભયંકર ફળ પકડ્યું હોત. તેથી તેઓએ એકદમ રાજાની રજા લીધી, અને પોતાના શુર પાસે ગયા. ખુબ વશાનિપૂર્વક એમણે એમની મારી માગી, અને શુરના કહ્યા પ્રમાણે તપશ્ચર્યા કરી. અખાદેવીએ એમને પોતાના દુઃખ માટે હલ્લુ પણ શોક કરવા બદલ કંપેડા આપ્યો. પોતાની પાછળ શિષ્યોની પરંપરા તરીકે પોતે કોઈને ન મૂકી શક્યા તે તો એમના કર્મને આધીન હતું. એના બદલામાં એમના પુસ્તકો તેઓનું સ્થાન લેશે. પોતાના શુરએ મોકલાવેલી ત્રણ ગાથાના આધારે એમણે સમરાદિત્ય કથા તૈયાર કરી, અને ૧૪૦૦ પંક્તિઓ લખ્યા. તે ગાથામાં પોતાના ભાણેજ શિષ્યોની રચતિ માટે “વિરહ” ચિહ્ન બેલામાં આવે છે.”

પ્રભાવક ચરિતની આ કથા કુંકામાં કાવ્યની તદ્દન નવી જ શૈલીમાં લખાયેલી છે, અને કેટલીક જગ્યાએ મૂળ પાંદે બરાબર ન સમજાવેલી હોવાથી કેટલુંક સમજાવું પણ નથી. એક જાતના રાસને લગતી કોઈ બાણીતી વાત ઉપરથી એ રચાયેલી લાગે છે. અને લગતી બીજી એક વાત પણ આપણને રાજા-રોખરના કથાકોના અગ્રુક વિજ્ઞાનના આદેશન ઉપરથી મળે છે. એ વાત તે ઉપર કહી તેને લગભગ મળતી જ છે, પરંતુ કેટલીક વિસ્તૃત બાબતોમાં ફેરફાર પણ છે. કસ્યાણુવિજયે એમનો કેટલોક ભાગ આપ્યો છે તે નીચે મુજબ છે:

“હંસ અને પરમહંસે જિનની મૂર્તિ ઉપર ત્રણ રથાઓ કરી અને બૌદ્ધની મૂર્તિમાં તેનું પરિવર્તન

કર્તુ, આ જોતા બૌદ્ધ ગુરુને શંકા પડી, પરંતુ તેઓએ માંદા પડ્યાનો ઢોંગ કરી બૌદ્ધને લગતી કંઈ નિશાની લઈ ત્યાંથી નાસ્તી છુટ્યા. એ નિશાની પાછી મેળવવા રાજાએ એમની પાછળ સૈન્ય મોકલ્યું, પરંતુ હંસ અને પરમહંસ સહસ્ર યોદ્ધાઓ^{૨૮} હતા એટલે એમને હરાવ્યા. ત્યારબાદ રાજાએ એક મોડું લશ્કર મોકલ્યું, અને તેની સાથે હંસ લલવામાં રહ્યો, જ્યારે પરમહંસ પેટી નીચાની લઈ ત્યાંથી નાઠો. શત્રુઓના સંખ્યાગણને લઈ હંસ હારી ગયો, અને તે લોકોએ એનું માથું કાપી લઈ રાજા પાસે રજુ કર્યું, પરંતુ ગુરુએ નિશાની મેળવવાની હક પકડી, તેથી સૈનિકો પરમહંસની સોધમાં પાછા નીકળ્યા, અને એને ચિત્ર-કૃતના દરવાજા આગળ સુતા જોઈ એનું માથું કાપી લઈ ગયા. હરિભદ્રે જ્યારે એમના ભાણેજ સિધ્ધેનું શય જોયું ત્યારે એમને લયંકર ક્રોધ થયો. તેમણે ઉકળતા તેલના તાવકા તૈયાર કર્યા અને મંત્રવડે ૧૪૪૦ બૌદ્ધોને^{૨૯} આકાશ માર્ગે આકર્ષી એમનું ખસિદાન કરવા આરંભ્યું. એટલામાં એમના ગુરુએ ત્રણ ગાથાઓ મોકલી જેથી હરિભદ્રનો ક્રોધ શાંત પડ્યો, અને પોતાના વિકાર અને પાપના નિવારણ માટે એમણે ૧૪૪૦ ગ્રંથો બનાવ્યા.”

જેને દંતકથાઓની પ્રગતિ વિષે કંઈ જાણ્યું હોય તેને આગળ કહી તે કથા અને આ કથાની સરખામણી બન્ને રસપ્રદ થાય, પરંતુ ઝીણવટથી જોનાર અભ્યાસી, આ બંનેને હરિભદ્રના જીવનના ઐતિહાસિક મૂળ તરીકે બીજકુલ નહિ સ્વીકારે. હરિભદ્રને હંસ અને પરમહંસ નામના એ ભાણેજ સિધ્ધો હતા, અને તેઓ બૌદ્ધ સિદ્ધાંત ચોરી છુપીથી શીખતા જતા મરણ પામ્યા તે આ દંતકથાનો મૂળ પ્રયોગ કહેવાય, અને આમાં કંઈ ખાસ ન મનાય તેવું નથી, પરંતુ એટલું પણ બુદ્ધ જ સાવચેતીપૂર્વક સ્વીકારવું જોઈએ. હરિભદ્રે સમસાધ્વિકલા તૈયાર કર્યા બાબતની દંતકથાને આપણે બીજ પ્રકરણમાં ચર્ચીશું.

પ્રભાવક ચરિતમાં બીજ પણ કેટલીક જાગતો મોંઘવા જેવી છે. તેથી હું એ ગ્રંથના ૯ મા સુંગના છેતરના વિભાગનો અમુક ભાગ આહિ ઉમેરું છું.

“હરિભદ્રે કાપીસિકને એના ભારત અને ઇતિહાસ તરફના ગોઠમંથી દૂર કર્યો, અને ધૂતોની પાંચ કથાઓ^{૩૦} કહી એને જૈનધર્મ તરફ આકર્ષ્યો. એમણે એના પોતાના ગ્રંથોની એક નકલ કરાવીને યતિ લોકોમાં તે જ્ઞેયવાનો આદેશ કર્યો. બીજા લોકો પાસે એમણે ૮૪ મંદિરો એક પીઠ ઉપર કરાવ-રાખ્યા. એક જીર્ણુ પ્રત ઉપરથી એમણે ગદનિશીય સૂત્ર રચ્યું. છેવટે અનશન કરી પોતાના જીવનનો અંત આણી હરિભદ્ર રજ્યે ગયા.”

૨૮ બુદ્ધપૂર્વે એમના દષ્ટિમેલાપક નો ઉલ્લેખ છે જેનો અર્થ ૨૫૯ નથી.

૨૯ આ વિષય મહાભારતમાં (અધ્યાય ૧, શ્લોક ૫૨)માં આવતા જન્મેજયવા સપ્તસવર્ણ રાખંતર છે.

૩૦ આમાં ૨૫૯ રીતે એમના પ્રકૃત મંત્ર પૂજાજ્ઞાનનો ઉલ્લેખ છે.

શ્રી મહાવીર સ્તુતિ

[વિવેચક-પં. શ્રી બેચરદાસ જીવરાજ]

સંપાદકશ્રીએ મહાકવિ ધનપાલનો પરિચય આગળ આપેલો છે, ગરિ તો માત્ર એમની કવિત્વપૂર્ણ સ્તુતિઓ, સ્તુતિઓની ભાષાનો ચમત્કાર, પ્રાકૃતભાષાનું ગાંભીર્ય એ વિશે થોડુંક સૂચવવાનું છે.

આ સ્તુતિઓ મહાકવિ ધનપાલની છે એ તો સ્તુતિઓના અંતિમ કાવ્યમાં કવિએ પોતાનો નામનિર્દેશ લેખ્યતંત્રથી કરેલો છે તે દ્વારા જાણી શકાય છે. પણ ધનપાલ નામના કવિઓ એકકરતાં વધારે થયા છે એટલે એમ સંદેહ થાય કે, આ સ્તુતિઓ કયા ધનપાલની છે ? તિલકમંજરીના પ્રણેતા ધનપાલ કવિની છે કે જીનન કેાઇ ધનપાલની ? એ પ્રશ્નનું નિરાકરણ પણ પ્રભાવકચરિત્રના ઉદ્દેશ્યથી થઇ જાય છે. પ્રભાવકચરિત્રના પ્રણેતા પ્રભાવકચરિએ મહેન્દ્રચરિના પ્રશ્નમાં જ્યાં ધનપાલના ચરિત્રનું વર્ણન છે ત્યાં જણાવ્યું છે કે, શોભનમુનિના ભાઇ અને તિલકમંજરીના પ્રણેતા ધનપાલ મહાકવિએ જગવાન મહાવીરની વિરોધાભાસ અલંકારથી અલંકૃત એવી મનોરમ સ્તુતિઓ બનાવેલી છે. આ ઉપરથી હવે એ શંકાને સ્થાન જ નથી કે 'આ સ્તુતિઓ કયા ધનપાલની છે' ?

જગવાન મહાવીરમાં સ્તુતિકારની યદ્દા અચ્ચદ અને ભક્તિ અતિશયિત છે એ તો સ્તુતિઓ વાંચનાં જ સમજાઇ જાય છે. સ્તુતિઓમાં કવિત્વ તો પદે પદે મહેકી રહ્યું છે. સ્તુતિઓની ભાષા પ્રાકૃત છે, મહાકવિ ધનપાલનો પ્રાકૃતભાષા ઉપરનો અંકુશ પણ અસાધારણ દેખાય છે. કહેવાય છે કે, પ્રાકૃત-ભાષા જેવી કેામદ છે તેવી ગંભીર પણ છે. આ સ્તુતિઓને વાંચનાર એ હકીકતને સ્પષ્ટપણે સમજી શકે એમ છે. એકએક પ્રાકૃત શબ્દનું મૂળ સંસ્કૃત કેવી કેવી વિવક્ષણ રીતે ઉદ્દભવે છે એ તો આ સ્તુતિઓ દ્વારા કૌતુકપૂર્વક વાંચનાર જોઇ શકશે. પ્રાકૃતભાષાના આવા વિવક્ષણ ગાંભીર્યને લીધે જ કદાચ એમ કહેવામાં આવ્યું હોય યગદત્ત સદ્ગત્ત અણતો અરયો.

આ બધા શ્લેષવાળા સ્તુતિઓમાં ક્યાંય શબ્દથી અને ક્યાંય અર્થથી એમ બન્ને રીતે વિરોધાભાસને જોડવામાં આવ્યો છે. એ જાણે અલંકારોને સમજાવવાનું આ સ્થાન નથી પણ આચાર્ય હેમચંદ્રે પોતાના કાવ્યાનુશાસનમાં શ્લેષ અને વિરોધાભાસનાં જો લક્ષણો આપ્યાં છે તેને જ આહો દર્શાવી દઈ છે:—

અર્થમેદમિદ્ધાનાં મંગામંગામ્યં યુગપદુક્તિઃ શ્લેષઃ ।

કાવ્યાનુશાસન-અ. ૫. પૃ. ૨૨૭.

અર્થાનાં વિરોધાભાસો વિરોધઃ ।

કાવ્યાનુશાસન-અ. ૬. પૃ. ૨૬૯.

આ સ્તુતિને અનુવાદ કરતાં અનુવાદકના ચિત્ત ઉપર મહાકવિ ધનપાલની જ્વલંત ભક્તિની ઉડી ઝાપ પડી છે અને એમ પણ થઇ આવ્યું કે, બે સંતો પ્રત્યે આવી ભક્તિ પ્રકરે, હૃદયમાં ઉતરે તો આ કલિયુગમાં પણ જીવનવિકાસ વિશેષ દૂર ન રહે. શાસનદેવ એવી ભક્તિ તરફ સૌને પ્રેરે.

[પં. સુખસાલજી પુરાતત્ત્વ મંદિરને કામે પાટણ ગયેલા તે સમયે તેઓ ત્યાં રહેલા મુનિરાજે પાસે પણ ગયેલા. ત્યાં એક મુનિશ્રી પાસે એમણે પોતે કેાઇ વ્યસન વ્રત ઉપરથી ઉતારેલું આ સ્તુતિ-

એવું પાનું હતું, તે પાનાને પંગિતજી પાછા ફર્યા ત્યારે સાથે લાવેલા અને એ ઉપરથી જ આ અનુવાદ થયેલો છે. મુનિશ્રીએ પોતાના નામને પ્રકટવાની અનિચ્છા દર્શાવેલી તેથી તેઓનું નામ અહીં નથી આપી શકતા પણ તેમને ધન્યવાદ તો જરૂર આપું છું.]

હવે નીચે ભૂળસાથે સ્તુતિઓનો અનુવાદ આપવામાં આવે છે:-

નિમ્મલળહે વિ અળહે જિણાળ ચલળપ્પલે પળમિજળં ।

વીરમવિરુદ્ધવયળં યુળામિ સ-વિરુદ્ધવયળમહં ॥ ૧ ॥

ભાવાર્થ—તે હું શ્રીજિનેના ચરણોને પ્રણામીને શ્રીવીરની સ્તુતિ કરું છું.

કેવા છે શ્રી વીરના ચરણો ?—‘નિમલ્લલ્લ’ યુક્ત છતાંય ‘અલ્લ’.

કેવા છે શ્રી વીર ?—‘અવિરુદ્ધવયલ્લ’ છતાંય ‘સવિરુદ્ધવયલ્લ’.

સ્પષ્ટીકરણ—નિમ્મલળહ. અળહ.—‘નખ’ શબ્દનું પ્રાકૃતરૂપ ‘લ્લ’ થાય છે એથી ‘નિમલ્લલ્લ’ યુક્ત એટલે નિર્મલ નખવાળા. આવા છતાંય એ ચરણો ‘અલ્લ’ એટલે નખવિનાના (અ = નદિ, લ્લ = નખ) —જે ચરણો નિર્મલ નખયુક્ત હોય તે અનખ કેમ હોય ? આ રીતે તો આ કથનમાં વિરોધ થાય છે.

તેનો પરિહાર આ પ્રમાણે કરવો—

‘અલ્લ’ એ પ્રાકૃતરૂપનાં સંસ્કૃત બે રૂપો થાય છે. અનખ અને અનધ. ‘અનખ’ તો ઉપર વિરોધી અર્થમાં આપી ગયું. ‘અનધ’ એટલે નિષ્પાપ-પવિત્ર (અ = નદિ, અધ = પાપ) અર્થાત્ એ ચરણો નર્મલ નખવાળા છે અને અનધ-નિષ્પાપ-પવિત્ર-છે આ રીતે વિરોધનો પરિહાર થયો.

અવિરુદ્ધવયળં. સવિરુદ્ધવયળમહં.—જેનું વચન પરસ્પર અવિરુદ્ધ છે એવા વીર ભગવાન. વળી કેવા ? તો કહે છે કે, એ વીર અવિરુદ્ધ વચન છતાંય સવિરુદ્ધ વયલ્લ-અવિરુદ્ધ વચન-છે. આદિ જે વીર અવિરુદ્ધવચન હોય તે સવિરુદ્ધવચન કેમ હોઈ શકે ? એ વિરોધ થયો.

સવિરુદ્ધવયળમહં.—આ શબ્દનું ‘સવિરુદ્ધ-વચનમયમ્’ એવું પણ સંસ્કૃત રૂપ થાય છે. એનો

અર્થ સવિરુદ્ધવચનોને મથનાર અર્થાત્ જેઓ પરસ્પર વિરુદ્ધવચનોવાળા છે—એકાંતવાદીઓ છે—કદાચદર્શક છે તેઓને મથનાર—તેવા ઉપર વિશ્વ મેળનાર એવા વીર સ્વામી છે. આ પદ્યમાં ‘અલ્લમ્’ શબ્દને ‘યુળામિ’ ઉપરથી અધ્યાહત સમજવો.

કેટલાક સ્તુતિકારો ‘સઃ’ અને ‘અહમ્’ એ બન્ને સર્વનામોને એક જ સાથે પ્રયોગે છે. સરખાવો—
“સૌઽહં તથાપિ તવ મક્તિવશાન્મુનીશ”
ભકતામર સ્તોત્ર. શ્લો. ૫.

‘સઃ’ સર્વનામમાં પરાક્ષતાનો અને ‘અહમ્’ સર્વનામમાં પ્રત્યક્ષતાનો ભાવ છે અર્થાત્ તે એવો હું—પરાક્ષ એવો હું—અપ્રસિદ્ધ એવો હું. આ ઉપરથી એમ જણાય છે કે, ‘સઃ’ અને ‘અહમ્’ નો પ્રયોગ સાથે મૂકવાથી પ્રયોગ કરનાર પોતાની જાતનો નિર-લિખાનભાવ સૂચવે છે. આ સ્તોત્રનો રચયિતા મનપાલ પણ આ ગાથામાં એકપક્ષે ‘સઃ’ અને ‘અહમ્’ ને સાથે મૂકીને પોતાની નમ્રતા દર્શાવે છે.

અળહ ઉપરથી અનલ્લ, અનધ.

સવિરુદ્ધવયળમહં ઉપરથી સવિરુદ્ધવચનમ્ અહમ્
—સવિરુદ્ધવચનમયમ્

લુઓ ૮-૧-૧૮૭ તથા ૮-૧-૧૭૭ દેમ.
પ્રાકૃત વ્યાકરણ.

(અહીં જે સૂત્રો આપવામાં આવ્યા છે તે દેમ પ્રાકૃત વ્યાકરણના જ ગ્રંથવા.)

પ્રાકૃત સૂત્રમાં બહુસાધિકારની પ્રધાનતા છે એ વાત કેઈ પણ પ્રાકૃતપ્રયોગની સિદ્ધિ કરતાં બૃહતી બેઝતી નથી.

સ્વવિપ્લવસાયચક્રો વિ નો કસાયપલ્લવં કહ કરેસિ ।

કહ નટનામ-પુત્રો જપગુરુ જપપાયહો હોસિ ? ॥ ૨ ॥

સ્તુતિકાર ધનપાળ કહે છે કે—

હે ભગવાન ! તમે તો ચારે કપાયોનો-કોધ માન માયા લોભનો-સમૂળ નાશ કરેલો છે. જતાં તમે અમારા એ કપાયોનો ક્ષય શી રીતે કરી શકો છો ?

કોધનો ક્ષય કરવા માટે ક્ષય કરનારમાં કોધ વગેરેની શ્રુતિઓ હોય છે એ લોકશ્રુતિ છે. એ ઉપરથી જ કવિ કહે છે કે તમે તો કોધ વગેરેની શ્રુતિથી તબ્બ ઉપરત છો જતાં અમારી એ કોધ વગેરેની શ્રુતિઓના ક્ષય કરી શકો છો એ આશ્ચર્ય કહેવાય.

કપ્યાણુમંદિરના પ્રણેતા સન્મતિ સિદ્ધસેન પણ એ જ કહે છે કે—

ક્રોધસ્તવ્યા યદિ વિમો પ્રથમં નિરસ્તો,

પ્વસ્તાસ્તદા વત કથં કિલ કર્મચૌરાઃ । શ્લો. ૧૩

હે ભગવન ! તમે સૌથી પ્રથમ ક્રોધને ભગાડી મૂક્યો. તો પછી જે કર્મચૌરા શીપ રહેલા હતા તેને શી રીતે ભગાડ્યા ? ચૌરાને ભગાડવા માટે તો ક્રોધની જરૂર છે.

આ વિરોધના સમાધાનમાં મહાકવિ ધનપાળ કહે છે કે, જેમ કેટલીક વાર ભગાડવામાં ક્રોધની શ્રુતિ અપેક્ષિત હોય છે પણ એ તો સાધારણ મનુષ્યોમાં તેમ હોય, આ મહાપુરુષ તો અસાધારણ કોટિના છે એટલે એમણે પ્રથમ ક્રોધનો ખંસ કરી પોતાની શ્રુતિમાં અત્યંત શીતળતા ભરી દીધી, અને એ શીતળતા દ્વારા જ એમણે આકાંક્ષા કર્મચૌરાને નસાડી મૂક્યા. અત્યંત શીતળ દિમ પડવાથી પણ દબારો રહેતો બળાને ભસ્મ થઈ જાય છે એ વાત કાંઈ અપ્રસિદ્ધ નથી. અર્થાત્ શીતળતા પણ એક જાનનું ખંસક શસ્ત્ર છે. એ જ પ્રમાણે ભગવાને પોતાના ચારે કપાયોને ખખારી નાખ્યા છે. જતાં જે એમના પ્રભાવથી અમારા એ કપાયો મટી જાય છે એ કાંઈ આશ્ચર્ય નથી એ તો એમની શીતળતાનો જ પ્રભાવ છે.

સરખાપો—

નહિ ઘેરેન વેરાનિ સમ્મન્તીધ કુદાચનં ।

અવેરેન ચ સમ્મતિ ઇસધમ્મો સનંતનો ॥

ધમ્મપદ, યમકવર્ગ શ્લો. ૫

કુતાપરાધેડપિ જને કૃપામન્થરતારયોઃ ।

ઈપદ્માપ્પાર્દ્યોર્મદં શ્રીચીરજિનનેત્રયોઃ ॥

આચાર્ય હેમચંદ્ર, સકલાર્હતરતોજ શ્લો. ૨૭

પલ્લવે ચ સુરેન્દ્રે ચ કૌશિકે પાદસંસ્પૃશિ ।

નિર્વિરોધમનસ્કાય શ્રી વીરસ્વામિને નમઃ ॥

યોગશાસ્ત્ર, પ્રારંભમાં જ.

એ તો થયું પૂર્વાર્ધ હવે ઉત્તરાર્ધ લખીએ—

મહાકવિ ધનપાળ કહે છે કે,—હે ભગવન !

જેમનાં નામ અને ગોત્રા પ્રસિદ્ધ હોય છે તે જ સંસારમાં પ્રકટ પુરુષ તરીકે અને માન્ય તરીકે ઓળખાય છે. પણ તું તો નામ અને ગોત્રનો નાશ કરીને જ જગતમાં પ્રકટ થયો છે અને જગદ્ગુરુ તરીકે પૂજ્ય છે એ શું આશ્ચર્ય નથી ?

એ આશ્ચર્યના સમાધાન માટે તો એ પ્રમાણે સમજવાનું છે.

‘નામ’ અને ‘ગોત્ર’ શબ્દના એ અર્થ છે. એક અર્થ તો જે પ્રસિદ્ધ છે તે અને બીજો અર્થ નામ એટલે નામકર્મ (નામ સંસ્કાર પોષક કર્મ) ગોત્ર એટલે ગોત્રકર્મ (ગોત્ર સંસ્કારપોષકકર્મ) અર્થાત્ જનયોગીઓનો એ વ્યાતમ-અનુભવ છે કે, જ્યાં સુધી નામકર્મ અને ગોત્રકર્મનો નાશ ન થાય ત્યાં સુધી કાંઈ પુરુષને પરમપૂર્ણતાએ પહોંચિલ સુપ્રસિદ્ધ કે જગદ્ગુરુ તરીકે ન માની શકાય. જનિતર ભાષામાં કહીએ તો નામાતીત અને ગોત્રાતીત થયા સિવાય પરમપૂર્ણતાએ પહોંચાતું નથી—અમુક નામ કે અમુક ગોત્ર એ પણ એક પ્રકારની સંકીર્ણતા છે. અર્થાત્ નામ અને ગોત્ર તપ્ત થવાથી જ ભગવાન સુપ્રસિદ્ધ અને જગદ્ગુરુ છે, એમાં કાંઈ આશ્ચર્ય નથી પણ

એ તો બરાબર બંધાયેલું છે. આ હકીકતમાં રહેલી અત્યંત વિશાળતા કાંઈ અજાણી રહે એવી નથી.

આ ગાથામાં શબ્દોના વિરોધ થતા નથી. પણ બાવનો વિરોધ થાય છે.

કહ નાયકુલુપ્પણો વિ નાહ સુરસંપયં ન પત્યેસિ ।

ઉવ્વહસિ મોહનિદારઓ વિ કહ સાસયં વોહં ? ॥ ૩ ॥

આ ગાથામાં પહેલી ગાથાની જેમ શબ્દચલ છે. નાયકુલુપ્પણો. સુરસંપયં—હે નાથ ! જે મનુષ્ય 'નાય' (નાગ) કુલમાં જન્મેલો હોય તે તો સુરસ કુલધાનની જ ઇચ્છા રાખે. પણ તું તો નાય (નાગ) કુલમાં જન્મેલો છતાં સુરસ કુલધાનને કેમ નથી ઇચ્છતો ?

અથવા સુરસંપયં—હે નાથ ! જે મનુષ્ય નાય (નાગ) કુલમાં એટલે સુપ્રસિદ્ધ કુલમાં જન્મેલો હોય તે તો સુરસંપદાની આબરવના કરે અર્થાત્ પોતે જે પ્રસિદ્ધ કુલવટ ભોગવતો હોય તે કરતાં અધિક કષ્ટદિને ઇચ્છે પણ તું તો એવો છતાંય સુરસંપદાને ઇથી વાંછતો એ કેવું આશ્ચર્ય ?

મોહનિદારમ—વળા, હે નાથ ! તું મોહ-નેદારમ (મોહનિદ્રામાં રત) છતાંય સાશ્વત ભોધને ધારણ કરી શકે છે. જે લોકો મોહનિદ્રામાં રત હોય છે તેઓને તો કશું બાન જ નથી હોતું, પણ તું તો તેવો છતાંય તેથી વિપરીત છે એ કેવું વિચિત્ર ?

પૂર્વોર્ધના વિરોધનો પરિહાર આ પ્રમાણે છે:-

સુરસં પયં નાહ ન પત્યેસિ—બગવન ! તું નાથ નામના કુલમાં જન્મેલો છે એથી જ સુરસ પદને એટલે સારા રસવાળા સ્થાનને અર્થાત્ આશ્રય સ્થાનને નથી ઇચ્છતો એવું નથી અર્થાત્ ઇચ્છે જ છે.

ઉત્તરાર્ધના વિરોધનો પરિહાર—

બાગવન ! તું મોહ નિદારમ (મોહ નિદ્રારક) એટલે મોહનો નાથ કરનારો દેવતાથી જ સાશ્વત ભોધને ધારણ કરે છે—સાશ્વત ભોધની પ્રાપ્તિ તેને જ સુભાવે જેણે મોહનો નાથ કરેલો હોય.

આ ઉત્તરાર્ધ સાથે સરખાવો—

અજ્ઞાનવલ્લિપિ સદૈવ કથંચિદેવ

જ્ઞાનં ત્વયિ સ્ફુરતિ વિશ્વવિકારાદ્યતુઃ ।

કથ્થાણ્મંદિરસ્તોત્રના, શ્લોકો. ૩૦

અજ્ઞાનવલ્લિ—એ એક અખંડ સામર્થ્ય પદ અને અજ્ઞાન અવસ્થિ આ બે પદ—એક કર્મ અને બીજું ક્રિયાપદ.

કથ્થાણ્મંદિરસ્તોત્રના આ શ્લોકમાં જેમ પદ-ચ્છેદના વ્યવસ્થાને લીધે જે વિરોધી અને અવિરોધી બાવ નિષ્પન્ન થાય છે તેમ એ જ અને બાવ, આ ઉત્તરાર્ધમાં 'મોહનિદારમ' શબ્દનાં 'મોહનિદાર' અને 'મોહનિદારક' એવાં બે સંસ્કૃતશ્લોકો દ્વારા પ્રકટ થાય છે.

'નાય' ઉપરથી 'નાગ' અને 'નાગ' માટે જુઓ

૮-૧-૧૭૭ ।

અન કોર્ણ:-

૮-૨-૪૨ ।

સુરસંપયં (સુરસં પયઃ)

" (સુરસં પદમ્)

" (સુરસંપદમ)

'નાય, ન.અય', 'સુરસં પયં, સુરસંપયં'

આ અને પહેલાં તો પદચ્છેદની વિચિત્રતા છે. પયં ઉપરથી પયઃ અને પદ માટે જુઓ ૮-૧-૧૭૭

'મોહનિદારમ' ઉપરથી મોહનિદારમ તથા મોહનિદારક એ બંને માટે જુઓ

૮-૧-૧૭૭, ૮-૨-૭૮

ન + અય = નાય = નાહ માટે જુઓ ૮-૧-૧૮૭

અરિહસિ ન મુત્તિઅગ્યં કહ તં ગયરાયમત્યવમણી વિ ।

કહ પહુ ! પહુઅરયણાસઓ વિ રયણતયં વહસિ ? ॥ ૪ ॥

આ ગાયામાં પણ માત્ર શાબ્દિક વિરોધ છે.

ન મુત્તિઅર્થે ગયરાયમત્થયમણી.-હે પ્રભો !

તું મોતીના અર્ધને યોગ્ય નથી. તો પછી ગયરાય-
ના મરતકમાં જે ઉત્તમ મણિઓ છે તેના અર્ધને
તો કેમ યોગ્ય હો. અર્થાત્ ન જ હો છતાં એ
યોગ્યતા તારામાં લાગે છે. એ પહેલાં વિરોધ.

પમ્હઅરયણાSSસઓ રચણત્તય-વળા, તું
ધણુ રત્નોનો આશ્રયરૂપ છે. અર્થાત્ તરી પાસે તો
રત્નોનો ભંડાર છે છતાં તું ત્રણ જ રત્નોને કેમ ધારણ
કરે છે ? એ બીજો વિરોધ.

નમુ ત્તિ અર્થે, ગયરાયમત્થયમણી.-હે પ્રભો !
તું ગતરાગમસ્તકમણિ છે એટલે વીતરાગોમાં શ્રેષ્ઠ
છો માટે જ તું 'નમઃ' એ જ્વલતા અર્ધને યોગ્ય
છો એ પહેલાં વિરોધનો પરિહાર.

પમ્હઅરયણાસઓ. રચણત્તય-હે પ્રભો ! તું
પ્રમૂત-પુષ્કલ રત્ને એટલે પાષોનો નાશક છે માટે
જ રત્નત્રયને-પરાકાષ્ટાપ્રાપ્ત સમ્યગ્દર્શન, સમ્યગ્જ્ઞાન
અને સમ્યક્ચારિત્રોના ધારક છો. જે મહાપુરુષ સમ-
સ્ત પાષોનો નાશક હોય તે જ ઉત્તમકોટિ પ્રાપ્ત એ
સમ્યગ્દર્શનાદિને ધારણ કરી શકે છે એ વાત જૈન
શાસ્ત્ર સંમત છે.

અથવા પમ્હઅરયણાSSસઓ રચણત્તય-હે
પ્રભો ! તું અનેક પ્રકારની શાસ્ત્રરચનાનો આશ્રય

કહ ગયકલહો વિ ભવોઅહિસ્મિ પોઓસિ સમણસીહાણં ।

एणारी वि महापस ! कह देसि सुहं सुहत्थीणं ? ॥ ५ ॥

ગયકલહો. સમણસીહાણં. પોઓ.-હે મહા-
પસારી મહાવીર ! તું હાથીના બચ્ચા જેવો
છતાંય સંસારસમુદ્રમાં ફરતા મનસ્વી સિંહોના
પોત (બચ્ચા) જેવો છે એ કેમ બની શકે ?-જે
હાથીનું બચ્ચુ હોય તે સિંહશાયક કેમ હોઈ શકે ?-

एणारी. सुहत्थीणं.-વળા, હે ભગવન ! તું
એણારિ (યુગોનો રાત્રુ અર્થાત્ સિંહ) છતાંય
સુહસ્તિઓને સુખ કેમ આપી શકે ?-સિંહ હરિત-
ઓને, સુખ આપે એનું તો ક્યાંય જાણ્યું નથી.

છો અર્થાત્ સમસ્ત દ્વાદશાંગમણિપિટક તારી ત્રણ
શબ્દ રચનામાંથી જ- 'હવન્નેદ વા, વિગમેદ વા,
ધુવેદ વા' એ ત્રિપદીમાંથી જ-વિસ્તર્યું છે એથી તું
રચનાત્રયનો ધારક છો એ વ્યાખ્યા જ છે. એ બીજો
ભાવથી બીજા વિરોધનો પરિહાર.

ન મુત્તિઅર્થે = ન મૌલિકાર્થમ્ ।

નમુ ત્તિ અર્થે = નમ્ इति अर्थम् ।

गयरायमत्थयमणी = गजराजमस्तकमणीन् ।

अथवा गतरागमस्तकमणिः ।

पमहअरयणाSSसओ = प्रभूतरत्नाश्रयः ।

पमहअरय-णासओ = प्रभूतरजोनाशकः ।

पमहअरयणाSSसओ = प्रभूतरचनाश्रयः ।

रचणत्तयं = रत्नत्रयम्

अथवा रचनात्रयम् ।

रत्न ઉપરથી રચણ માટે જુઓ ૮-૨-૨૦૧.
ભગવાન બહુરત્નવળા છે છતાં માત્ર ત્રણ રત્નો
જ ધારણ કરે છે એ વિરોધી ભાવ સાથે સરખાવો.
વિશેષરોડપિ જનપાલક ! દુર્ગતસ્તવમ્ ।

કથ્યાણમંદિર શ્લો. ૩૦

હે જનપાલક ભગવાન ! તું વિશ્વનો ધ્યસ્ત્ર છતાં
ય દુર્ગત છે એટલે તને કેાઇ જાણતું પણ નથી.
(દુર્ગતના જે અર્થ 'હરિદ્ર' અને 'દુર્ગમ્')

વિરોધનો પરિહાર—

ગયકલહો. સમણસીહાણં. પોઓ.-હે મહા-
પસારી વીર ! તું કંલહરુદિત છે. માટે જ ભવ-
સમુદ્રમાં ફરતા અમણસિંહોને પોત (વહાણ)
સમાન છે અને ષણારી સુહત્થીણ તું એણારી
(પાષોનો રાત્રુ) છે માટે જ મુખ્યાધિઓને સુખ
આપી શકે છે.

આ ગાયામાં પણ શબ્દ અતકાર જ છે.

કલહ ઉપરથી કલહ અને કલહ માટે
જૂઓ. ૮-૧

પોત એટલે બાળક તથા વહાણ.

“ પોતઃ શિશૌ પ્રવહ્ણે ”

હેમ-અનેકાર્થ સં. ૨, ૧૭૮.

સમણ ઉપરથી સમનસ્સુ તથા અમણ

પણારિ ઉપરથી પળ + અરિ પળારિ અને

પનોડરિ પનસ્સ + અરિ = પળસ્સ + અરિ

જૂઓ નો ણઃ ૮-૧-૨૨૮

પળ + અરિ = અન્ત્યવ્યક્તસ્ય ૮-૧-૧૧

પળારિ = સમાનાનાં તેન દીર્ઘઃ ૧-૨-૧.

એનસ્સ એટલે પાપ.

“ વૃજિનં કલિનમેનો દુષ્કૃતમ્ ”

ધનંજયનામમાધા. ૧૩૨

સુહત્વી ઉપરથી સુહત્વી અને સુખાર્ય માટે

જૂઓ—૮-૨-૪૫ રત=ય

૮-૧-૧૮૭ જ=ઘ

૮-૨-૭૬ રેફલોપ

૮-૨-૮૮ ‘ય’નો ત્રિમાવ

પરિણયવયં સુરાડ્ઽવજ્જિયં પિ સંતાવયં પિ નયણસુહં ।

કહ સત્તહત્યમાણં પિ વહસિ નવહત્યમપ્પાણં ॥ ૬ ॥

હે ભગવન! તું સાત હાથના દેહને ધારણ કરે
છે, એ દેહ કેવો છે? તો કહે છે કે,

સુરાડ્ઽવજ્જિયં પિ પરિણયવયં, એ દેહ
સુરાથી (મદિરાથી) આવર્જિત છે છતાંય પરિપક્વ
મતવાળો કે પરિપક્વ વચનવાળો છે. ખરી રીતે તો
દારૂડિયાના દેહમાં નથી હોતું પરિપક્વ મત કે તેવું
વચન. તું તો તેવો છતાંય વળી મતમાં અને વચનમાં
પરિપક્વતા ધરાવે છે એ આશ્ચર્ય છે.

સંતાપયં-વળી, તારો દેહ સંતાપક (સંતાપ
દેનારો) છતાંય નયનેને સુખરૂપ લાગે છે. ને
વસ્તુ સંતાપ દેતો હોય તે આંખને સુખરૂપ કેમ
હોમ શકે?

સત્તહત્યમાણં પિ નવહત્યમપ્પાણં-વળી, એ
દેહ કેવો છે? તો કહે છે કે, દેહ તો સાત હાથનો
છે છતાંય નવ હાથનો છે એ કેવી વાત? જે સાત
હાથ હોય તે નવ હાથ હોય કેમ હોમ શકે?
વિરોધનો પરિહાર—

સુરાડ્ઽવજ્જિયં, હે ભગવન! તારી આસપાસ
સુરા (દિવ્યપુરો, યોગીઓ, અનુભવીઓ અને
માનીઓ) વિરળામ રહેલા છે તેથી જ એમ ગણાય
છે કે, તારું મત અને વચન પરિણુત-પરિપક્વ-છે
અથવા હે ભગવન! તારો આત્મા સુરાવર્જિત

(શૌર્યથી આવર્જિત) છે તેથી જ તારા મતમાં અને
વચનમાં પરિપક્વતા છે. (આહી ‘શર’ રાજ
ભાવપરક-શૌર્યપરક થતાવે).

સંતાપયં, તથા તારો દેહ સંતાપક (આપત્તિ-
ઓથી મુક્ત) છે એથી જ આંખને પ્રિય લાગે છે.

ન વહસ્યં અપ્પાણં, અને તું તારી જાતનો
ઉપયોગ કોપના વધ માટે નથી જ કરતો, એ પણ
પ્રિયતાનું બીજું કારણ છે.

પરિણયવયં ઉપરથી પરિણુતમત અને પરિ-
ણુતવચસ-

સંતાપયં ઉપરથી સંતાપક અને સંતાપકમ-

સુરાડ્ઽવજ્જિયં ઉપરથી સુરા + આવર્જિત

સુર + આવર્જિત

સુર + આવર્જિત

‘સૂર’નું પ્રાકૃત ‘સૂર’ થાય છે. સ્વેપ
કાવ્યોમાં દુર્યોધનો ભેદ નથી ગણાતો તેથી જ
ચક્રના દુર ‘સૂર’ને દીર્ઘ ‘સૂર’ માનીને પણ
અર્થયોજના કરેલી છે.

નવહત્ય ઉપરથી નવહત્ત અને ન વધાર્ય.

‘નવહત્ત’ સમગ્રતી વખતે એ એક અર્થ
પદ છે અને ‘નવધાર્ય’ સમગ્રતી વખતે એ બે
પદ છે-એક નિર્ગધાર્યક ‘ન’ અને બીજું વધાર્ય.

મયાગારવં પિ મહત્ત્વં નયણાણ મહસત્ત્વં પિ સિસિરમહં ।

તં વિતિ સ્ત્રીણમોહં પિ કહં પુ પદમં ગુણદ્વાણં ॥ ૭ ॥

મયાગારવં. મહત્ત્વં.—હે ભગવન! તું જતગૌરવ
જતાં તને લોકો ગુરુરૂપ કહે છે—ગુરુરૂપ તો તે જ
હોઈ શકે જે ગૌરવયુક્ત હોય સારે તું તો ગૌરવરહિત
જતાં ગુરુરૂપ છે એ આશ્ચર્ય છે.

મહસત્ત્વં. સિસિરમહં.—વળી તું, નેત્રાંત્રી પ્રસ-
ન્નતાને માટે મધુત્સવરૂપ જતાં તને લોકો સિસિર-
ત્સવરૂપ બોલે છે—મધુત્સવ એ માસમાં હોય છે
અને સિસિરત્સવ કર્તિક—માગશર માસમાં હોય છે
એથી જે મધુત્સવરૂપ હોય તે સિસિરત્સવરૂપ કેમ
હોઈ શકે ?

સ્ત્રીણમોહં. પદમં ગુણદ્વાણં.—તું ક્ષીણુ મોહ
જતાં તને લોકો પ્રથમ ગુણરયાનરૂપ સમજે છે.
(નેત્રપરિભાષામાં આત્મવિકસતી ચૈદ્ર શ્રેણીઓ
દર્શાવવામાં આવી છે. તેમાં પહેલી શ્રેણીનું નામ
'પ્રથમ ગુણરયાન' છે અને છેલ્લી શ્રેણીનું નામ
'ક્ષીણુમોહ' છે.) તો હે ભગવન! તું ક્ષીણુમોહ-
નામક છેલ્લી શ્રેણીએ પહેલિયો છે જતાં તને લોકો
પ્રથમ ગુણરયાનરૂપ સમજે છે એ તો ત્રોટી
વિરોધ થયો.

મયાગારવં. મહત્ત્વં.—'ગૌરવ' શબ્દનો એક
અર્થ તો 'ગુરવ' થાય છે; અને બીજો અર્થ કષ્ટિ,
રસ અને સુખની લોણપતા છે. આ બીજો અર્થ
માત્ર નેત્રપરિભાષામાં જ પ્રસિદ્ધ છે.

વિરોધીભાવ સમજતી વખતે પહેલો અર્થ યોજ-
વાનો છે અને પરિહાર કરતી વખતે આ બીજો અર્થ
ઘટાવવાનો છે. અર્થોત્—હે ભગવન! તું 'જતગારવ'
એટલે ધનાઢાંધા, સ્વાધાઢાંધા અને સુખગ્રોહપતા
રહિત છો માટે જ લોકો તને ગુરુરૂપે સમજે એ
ઉચિત છે. વળી,

મહસત્ત્વં. સિસિરમહં.—તું આંખોની પ્રસન્નતા
સાર મહોત્સવરૂપ છો માટે જ તને શીતળરૂપ સમ-
જવો એ અવિરૂદ્ધ વાત છે. અથવા તું મહોત્સવરૂપ
છો અને જડતાનો જડમૂળથી મથક—નારાક—છો

મટે જ તને મહોત્સવરૂપે અને 'સિસિરમથ' રૂપે
માનવો વ્યાજબી છે. તથા,

સ્ત્રીણમોહં. પદમં ગુણદ્વાણં.—તું ક્ષીણુમોહ છો
માટે જ લોકો તને 'ગુણના પ્રથમરયાનરૂપે સમજે
એ પણ ઉચિત છે. જે ક્ષીણુમોહ—વીતરાગ—હોય તે
જ ગુણોના આવરયાનરૂપે હોઈ શકે, બીજો એવો
કેમ હોઈ શકે ?

વિરોધી ભાવ સમજવા માટે પદમં ગુણદ્વાણં
ના પૂર્વોક્ત જૈનપારિભાષિક અર્થની ભાવના કરતી
અને તેના પરિહાર માટે એ શબ્દ ઉપરથી જ નીકળતા
સાદા ભાવને લક્ષ્યમાં રાખવો.

અથવા નયણાણ મહસત્ત્વં સિસિરમહં.—હે
ભગવન! તું નયણુ—એટલે નય લોકોને અર્થોત્ જે
લોકો અમેલક છે—અને તેવો દિમ પડતો હોય તો
પણ એક ચિદર્થ પણ રાખતા નથી; તેવા તપસ્વી-
ઓને માટે મહોત્સવરૂપ છો જતાં તેઓને સાર એક
(ભવંકર) શીયાળા જેવો છે. અર્થોત્ તું એ
તપસ્વીઓને સાર મહોત્સવરૂપ હોવાથી 'સિસિરમહરૂપ'
કેમ હોઈ શકે ?

વિરોધપરિહાર—

હે ભગવન! તું 'સિસિરમહ' એટલે જડતાનો
નારાક હોવાથી એ નય તપસ્વીઓને મહોત્સવરૂપે
છો એ અસાચર શુદ્ધિયુક્ત છે.

'નારવ' તું સંસ્કૃત ગૌરવ, તેના એ અર્થ
સમજવા—એક જૈનપારિભાષિક અને બીજો વિચ્યુત.

'નયણાણ' તું 'નયનાનામ્' એ એકરૂપ
અને બીજું 'નમાનામ્' રૂપ. 'નમ' શબ્દ તું
'નગિણ' અને 'નગન' એવાં બે પ્રાકૃત રૂપો
થાય છે. તેમાંના 'નગન' ઉપરથી અવોચીન
પ્રાકૃતમાં 'નયણ' પણ પડી શકે.

'મહસત્ત્વ' ઉપરથી 'મધુત્સવ' અને મહોત્સવ
એવાં બે રૂપો થાય છે.

‘ સિત્તિરમદ ’ ઉપરથી શિશિરમદ અને શિશિરમથ “ શિશિરોઃ જઙ્ઘા તુષારઃ ક્ષીતલઃ ”—અમર ૧, ૧૯

અહીં ‘ શિશિર ’ શબ્દ ભાવવાચક એટલે જઙ્ઘા-

વરધમ્મધરો વિ અમગ્ગણાસણો ગુણનિહી વિ ગયગઘ્વો ।

કહ નિક્કારણમિત્તો વિ હોડ યુવણસ્સ અવયંસો ॥ ૮ ॥

વરધમ્મધરો. અ-મગ્ગણાસણો.—હે ભગવન ! તું વરધમ્મધર એટલે ઉત્તમ ધનુર્ધર છતાંય અમાર્ગણાસન છે.—જે ધનુર્ધર હોય તે તો માર્ગણોના-આણોનો અસન-ફેંકનારો હોય, ત્યારે તું તો ઉત્તમધર્મ-ધનુર્ધરનો ધરનારો છતાંય માર્ગણોના ફેંકનાર નથી એ એક વિરોધ.

વળી, જે ઉત્તમધનુર્ધર હોય તે તો માર્ગોનો-મૃગના-દરજીના સમૂહનો નાશક હોય છે ત્યારે તું તો ઉત્તમ ધનુર્ધર છતાંય માર્ગોનો નાશક નથી, એ બીજો વિરોધ.

અ મગ્ગણાસણો.—વળી, જે ઉત્તમ ધર્મનો ધારક હોય તે તો માર્ગોનો પોષક હોય ત્યારે તું તો ધર્મનો ધારક છતાંય માર્ગોનો નાશક છે, એ ત્રીજો વિરોધ.

ગુણનિહી. ગયગઘ્વો.—વળી, તું યુગ્મનિધિ છતાંય ગત/ગર્વ છે.—જે યુગ્મનિધિ હોય તે તો ગત/ગર્વ ધર્મનો ધરાવનાર ન હોય.

નિક્કારણમિત્તો અવયંસો.—તથા હે નાય ! તું જગતનો નિક્કારણ મિત્ર છતાંય અવયંસ (અવ-પર્ય) અમિત્ર છે એ કેવી વાત ?

વિરોધનો પરિહાર—

વરધમ્મરો. અ-મગ્ગણાસણો.—હે ભગવન ! તું વર ધર્મધર-ઉત્તમ ધર્મનો ધારક છે એથી જ અમાર્ગોનો (દિસાદિ કુમાર્ગો) નાશક છે.—જે ઉત્તમધર્મનો ધારક હોય તે જ કુમાર્ગોનો નાશ કરી શકે છે. અથવા,

વરધમ્મધરો અ મગ્ગણાસણો.—હે ભગવન ! તું ઉત્તમ એવા દાનધર્મનો ધારક છે માટે જ માર્ગણોને-ભિક્ષુકોને-પાત્રકોને આરાધન-ભોજન આપનારો છે. ભગવાને પોતે વાર્ષિક દાનને સમયે અનેક આજ્ઞામ દરિદ્રીઓનાં દારિદ્ર્ય દેડ્યાં છે એ વાત સુવિખ્યાત છે. અને,

તાનો સૂચક છે.

‘ સ્ત્રીણમોદ ’ અને ‘ પદમમુણદ્વાજ ’ એ બન્ને શબ્દોના અર્થ, અર્થ સમજવા-એ પણ એક જૈન-પારિભાષિક અને બીજો પ્રસિદ્ધ.

ગયગઘ્વો-ગુણનો નિધિ છતાંય ગર્વિષ્ઠ નથી-ગત-ગર્વ છે. વળી,

અવયંસો-જગતનો નિક્કારણમિત્ર છે માટે જ જગતમાં અવતંતરુપ છે-શિખરાયમાણ છે એ બરાબર છે.

ધર્મ એટલે અહિંસાદિ ધર્મ. અથવા દાનાદિ બીજો અર્થ ધર્મ એટલે ધનુષ.

ધર્મો યમોપમાપુણ્યસ્વભાવાચારધન્વસુ ।

દેશ-અનેકાર્થ ૨, ૩૧૬

અમગ્ગણાસણો એ પદનો પદરૂઢ આ રીતે કરેલો:—

અમગ્ગણ + અસણ = આણોનો ફેંકનારો નહિ.

અમગ્ગ + ગાસણ = મૃગના સમૂહનો નાશ કરનારો નહિ.

અ મગ્ગ + ગાસણ = ‘ અ ’ એટલે ‘ અ ’ અને માર્ગોનો નાશ કરનારો.

અમગ્ગ + ગાસણ = અમાર્ગોનો-કુમાર્ગોનો-નાશક.

અ મગ્ગણ + આસણ = ‘ અ ’ એટલે ‘ અ ’ અને માર્ગણોને પાત્રકોને આરાધન-પદાવનારો. માર્ગોષ્ઠ: સમખ્યેતિ ગુણો યાતિ દિગાન્તરમ્ ।

—પ્રભાવક ચરિત્ર.

માર્ગણ યાચનેડન્વેષે માર્ગગરુ દારોડધિનિ ।

દેશ-અનેકાર્થ સં ૩, ૨૧૦

ગયગઘ્વો ઉપરથી ગત/ગર્વ અને ગત/ગર્વ, આ પદ ગુણ પ્રતમાં સંકિત જેવું લાગે છે એથી અહીં પણ એક જ રાખેલું છે અને એ સંકિત ઉપરથી જે અર્થ સૂચ્યો તે દર્શાવ્યો છે.

અવયંસ ઉપરથી અવધરુષ અને અવતંસ આ બંને ૮-૧-૨૬

પાવકર્ણિણં પિ ચિત્તં સારં પિ ધરેસિ કહ જસં સેયં ।

જિણ સિપ્પાવકલાયં પિ સન્વહા સામલચ્છાયં ॥ ૯ ॥

પાવકર્ણિણં—હે જિન ! તું જે પવિત્ર અને વિચિત્ર સ્વેત યશને ધારણ કરે છે તે તો પાપકૃષ્ણ છે—યશ સ્વેત અને પવિત્ર હોય તે પાપકૃષ્ણ કેમ હોઈ શકે ? વળી,

સિપ્પાવકલાયં. સામલચ્છાયં—તે યશ સંસારમાં સિતવાદને નામે ખ્યાત છે છતાં શ્યામક-કાંતિવાળો છે—જેની ખ્યાતિ સિતવાદ (સ્વેતવાદ) ને લીધે થયેલી હોય તે શ્યામકકાંતિ પણ કેમ હોઈ શકે ?

પરિહાર—

પાવકર્ણિણં—હે જિન ! તું જે પવિત્ર અને વિચિત્ર સ્વેત યશને ધારણ કરે છે માટે જ તારો એ યશ પાપકર્ષી—પાપનુકર્ષણ કરનારો—છે પાપોનું હેતુ કરનારો છે. વળી,

કયકિચં પિ અકિચં રયતમમુકં પિ નરયતમમુકં ।

થિરપસમં પિ જણં કહ અપ્પસમં કુણસિ કયસેવં ॥ ૧૦ ॥

કયકિચં અકિચં—હે ભગવન ! તું કૃતકૃત્ય છો છતાંય અકૃત્ય છો. તથા,

રયતમમુકં ન રયતમમુકં—રજતમથી મુક્ત છો છતાંય રયતમમુક—રજતમથી મુક્ત નથી,

થિરપસમં અપ્પસમં—અને જે થિર પ્રશમ-વાળો મનુષ્ય તારી સેવા કરે છે તેને તું અપ્પસમ—અપ્રશમ—પ્રશમ વિનાનો કરી મૂકે છે એ કેવું વિચિત્ર કહેવાય ?

પરિહાર—

કયકિચં અકિચં—હે ભગવન ! તું કૃતકૃત્ય છો માટે જ અકૃત્ય—(કૃત્ય = શત્રુ, અ = રહિત) એ—શત્રુથી રહિત છો, જેને કાંઈ કરનાપણું શેષ ન હોય તેને શત્રુ શેના હોય ? અર્થાત્ એ તો શત્રુથી રહિત જ હોય.

રયતમમુકં નરયતમમુકં—વળી, હે ભગવન ! તું રજતમથી મુક્ત છો માટે જ નરકરૂપ તમથી મુક્ત

સામલચ્છાયં—તારો એ યશ સિપ્પાવ-સ્વાદ્વદના સિદ્ધાંતને લીધે ખ્યાત છે એટલે તું સ્વાદ્વદી તરીકે મુખપ્રસિદ્ધ છે; અથવા તારો એ યશ સિતવાદને લીધે ખ્યાત છે એટલે સ્વેતાંશરવાદને લીધે મુખપ્રસિદ્ધ છે માટે જ એ નિર્ભય કાંતિએ કરી સહિત છે.

‘કર્ણિણ’ ઉપરથી કૃષ્ણ અને કર્ણિન, કૃષ્ણ = કાળું. અને કર્ણિન = નાશકરનાર.

બુ.ઓ ૮-૨-૧૧૦.

‘સિપ્પાવ’ ઉપરથી સિતવાદ અને સ્વાદ્વદ બુ.ઓ ૮-૧-૧૭૭ તથા ૮-૨-૧૦૭.

‘સામલચ્છાયં’ ઉપરથી શ્યામકશ્યામ=કાળી કાંતિ વાળું. ત અમલચ્છાય = સામલચ્છાય = નિર્ભય કાંતિપ્રદાન.

કરિ સ્વેતાંશરમાર્ગી છે માટે જ ભગવાનના યશને ‘સિતવાદખ્યાત’ કહીને પણ વર્ણવેલો છે.

છો, જે રજતમથી મુક્ત હોય તે જ નરકરૂપ તમથી મુક્ત હોય.

થિરપસમં અપ્પસમં—તથા, હે ભગવન ! જે થિર પ્રશમવાળો મનુષ્ય તારી સેવા કરે છે તેને તું અપ્પસમ—અપ્રશમનો—તારા જેવો કરી શકે છે એ પણ સમુચિત છે. સરખાવો—

તુલ્યા મૃગાન્તિ ભવતો નનુ તેન કિં વા, મૃગ્યાશ્રિતે ય હહ નામસમં કરોતિ ।

ભક્તમાર. શ્લો. ૧૦

અકૃત્ય-કૃત્યવિનાનો—કૃત્ય = કાર્ય તથા શત્રુ.

કૃત્યો વિદિયે કોર્યે ચ ।

દેશ-અનેકાર્ય સં ૨, ૩૪૫

ન-રયતમમુકં = ન રજતમથી મુક્ત તથા નરક-નથી મુક્ત.

અપ્પસમ = અપ્રશમ તથા આત્મસમ.

બુ.ઓ. ૮-૨-૫૫

સંતમસંતં ન કરેસિ નિષ્કલં ન ચ વહેસિ સલહં તં ।

નિષં સકજ્જલમ્મો ન હોસિ કહં તં જગપર્ણો ॥ ૧૧ ॥

હે ભગવન! તું જગત્પ્રદીપ શી રીતે હોઈ શકે? તારામાં પ્રદીપના યુગ્મો હોય તો તું પ્રદીપ કહેવાય તે ઉચિત છે, પણ તારામાં તો પ્રદીપનો એક પણ યુગ્મ નથી.

પ્રદીપ સંતમસંતં—સંતમસનો-અંધારાનો નાશ કરે છે,

સલહં—પ્રદીપની ચારે બાજુ પતંગો નિષ્કલપણે ઉડતા ફરે છે.

સકજ્જલમ્મો—પ્રદીપનો અગ્રભાગ સકજ્જલ-કાળજી કરીને હમેશા યુક્ત-હોય છે. ત્યારે તું કાંઈ અંધારાનો નાશ કરતો નથી, તારી આસપાસ પતંગો આવતા નથી અને કાળજીની સાથે પણ તારો સંબંધ નથી. એથી તને જગત્પ્રદીપ કેમ કહેવો? મોટા મોટા અનુભવી પુરોહિતો તો તને 'જગત્પ્રદીપ' કહીને ઓળખાવે છે પણ એમ કેમ થઈ શકે?

પરિહાર—

હે ભગવન! તું 'જગત્પ્રદીપ' છે એ સમુચિત છે, કારણ કે, જેમ દીવો પોતાના પ્રકાશે આખા ઘરને ઉગળે છે તેમ 'જગપર્ણો'—તે તારા પવિત્ર પ્રકાશે જગતને-સમસ્ત સંસારને પ્રદીપ-ઉગાળ્યું છે. અથવા જેમ દીવો દરેક વસ્તુને પ્રકાશમાં આણે છે તેમ તું સમસ્ત સંસારને પ્રકાશમાં આણ્યો છે. અથવા જેમ દીવો પ્રત્યેક વસ્તુને ઓળખાવે છે તેમ તું જગતનો પ્રત્યેક પદાર્થ સ્વરૂપથી સમજીને ઓળખાવેલો છે. અને તું જગત્પ્રદીપ છે માટે જ

સન્તમસન્તં ન કરેસિ સત્ત્વ ને અસત્ત્વ નથી

કેવલનાણ્વહ્નો વિ દુન્વદં કદ્ ચરિત્તમુન્વહસિ ? ।

સચારિત્તો વિ કદ્ નિચારિત્તિ મુણે ધરસિ ? ॥ ૧૨ ॥

કેવલનાણ્વહ્નો—હે ભગવન! તું કેવલ માત્ર-ગાનનો જ ધારક છતાં દુર્વદ ચારિત્રને શી રીતે ધરી શકે છે અર્થાત્ જે માત્ર ગાનનો જ ધારક

કરતો અર્થાત્ જે જેનું હોય છે તેને તું તેનું જ ઓળખાવે છે-સત્ત્વને સત્ત્વ કહે છે, અસત્ત્વને અસત્ત્વ કહે છે. અથવા સાન્તમસાન્તમ્મ જે સાંત વિનાશીલ હોય છે તેને તું અસાંત-અવિનાશશીલ-નથી કરતો-કહેતો. અથવા,

શાન્તમશાન્તમ્—જે શાંત હોય છે તેને તું અશાંત નથી કરતો. વળી,

નિષ્કલં સલહં તું જગત્પ્રદીપ છે માટે જ નિષ્કલ શ્વાધા-ખોટી પ્રશંસા-ને ધારણ નથી કરતો, તથા,

સકજ્જલમ્મો સ્વકાર્યમાં લગ્ન છે અર્થાત્ તું તારા સ્વપરમશુર્ય કાર્યમાં મગ્ન છે માટે જ તું જગત્પ્રદીપ છે એ બરાબર છે. સરખાવો—

નિર્મૂલમર્તિરપવર્જિતતૈલપૂરઃ

કૃત્ત્વં જગત્રયમિદં પ્રકટીકરોપિ ।

ચમ્પો ન જાતુ મરુતાં ચલિતાચલાનાં

દીપોડપરસ્ત્વમસિ નાથ ! જગાગ્રકાશઃ ॥

બકતમર. શ્લોક ૧૬.

સંતમસંતં ઉપરથી સન્તમસન્તમ્, સાન્તમ-સાન્તમ્, શાન્તમશાન્તમ્ જુઓ ૮-૧-૮૪ તથા ૮-૧-૨૬૦

સલહં ઉપરથી શલભમ જુઓ ૮-૧-૧૮૭

શ્વાધામ્ જુઓ ૮-૨-૧૦૧.

સકજ્જલમ્મો ઉપરથી સકજ્જલામ્ જુઓ ૮-૨-૭૬.

સકાર્યલમ્ જુઓ ૮-૨-૨૪ તથા ૮-૨-૭૮

હોય-શુદ્ધનાની હોય તે દુર્વદ ચારિત્રને ધારણ ન કરી શકે. તથા,

સચારિત્તો નિચારિત્તિ,—તું મચારિત્તિ છતાં

એવા યુગ્મેને ધારણ કરે છે જે નિઃચારિત્ત હોય.
જે સંચારિત્ત હોય તે તે નિઃચારિત્ત યુગ્મેને ન જ
વહે છતાં તું ઝોમ કરે છે એ તે કીલુક કહેવાય.

પરિહાર—

કેચલ-નાણવ્યવહારો-હે ભગવન! તું કેવલ
જ્ઞાનનો-સંપૂર્ણ જ્ઞાનનો ધારક છે માટે જ કુર્વદ
ચારિત્રને પણ વધી શકે છે-જે અપૂર્ણ જ્ઞાનવાળો
હોય તે કુર્વદ-જેને બીજા ન વધી શકે એવું-અસંધ
ની ધાર જેવું-ચારિત્ર ન જ વધી શકે. અને,

સચારિત્તો નિચારિત્તે તું સંચારિત્રનો ધારક
છે માટે જ નિત્ય ચરિત્ર-અગ્રોય એવા યુગ્મેનો
ધારક છે-સંચારિત્રીના જ અથા યુગ્મે અગ્રોય હોય
છે. અથવા તું નિત્ય અસિમ્મ એવા યુગ્મેનો ધારક
છે-જે સંચારિત્રવાળો હોય તે જ નિત્ય અસિમ્મ-
નદન અસિમ્મ રહિત યુગ્મેને ધરી શકે છે. અથવા

કદ તં સમારુદ્ધંતો સોદ્ધમાસણકુમારભાવમ્મિ ।

ईसाणलंतयाऽऽरणअचुअसीलो जए होसि ॥ १३ ॥

સોદ્ધમાસણકુમારભાવમ્મિ- હૈ ભગવન! તું સીધર્મ અને
સતતકુમાર નામક સ્વર્ગના ભાવ ઉપર ચડેલા જનાં
ધ્યાન, લાંતક, આરણ્ય અને અચ્યુત નામક સ્વર્ગના
શીલ જેવા જગતમાં કેમ કહેવાય છે ?

જૈન પરિભાષામાં પ્રથમ સ્વર્ગનું નામ સીધર્મ
છે, ધ્યાન, સતતકુમાર, લાંતક, આરણ્ય અને અચ્યુત
એ અર્થ પછી અનુક્રમે બીજા, ત્રીજા, ચત્ત્રા, અગ્ની-
પારમા અને આરમા સ્વર્ગનાં નામો છે. તમે જે
પુત્રા સીધર્મ અને સતતકુમાર સ્વર્ગના ભાવે ચડેલા
હોય તે ધ્યાન વગેરે બીજા બીજા સ્વર્ગના શીલવાળો
કેમ હોઈ શકે ? હે ભગવન! તારું ચરિત્ર તે એથી
વિપરીત છે. એ કેમ ધરી શકે ?

પરિહાર—

સોદ્ધે મસણે કુમારભાવમ્મિ હૈમાઽણલેત-
યારણ ! અચ્ચુઅસીલો-હે ધર્મીકૃષ્ણ અનલના

નિબ્ધાનગમ્મો જગપ્પર્વ ! સુવર્ણ કદં પપાસેસિ ।

सयलसुवणपपासो वि अप्पयासो कदं होसि ? ॥ १४ ॥

તું સંચારિત્રશીલ છે માટે જ તારા યુગ્મે નિલા-
રિત્ર છે. નિલારિત્ર એટલે હમેશા સચુથી રક્ષણ
આપનાર-જેમ કવચ સચુના ધાથી રક્ષા આપે છે
તેમ તારા યુગ્મે અનંતરંગ સચુના ધાથી તને રક્ષા
આપે એવા છે.

કેચલનાણ-૧-કેવલ = માન, જ્ઞાન = જ્ઞાન
અર્થોત્ત એકસું જ્ઞાન જ. ૨ કેવલનાણ = સંપૂર્ણજ્ઞાન
(જૈનપારિભાષિક).

‘ નિચારિત્તે ’ ઉપરથી નિત્ય + અરિત્ત

બુદ્ધો ૮-૨-૧૩ તથા ૮-૨-૭૭

નિત્ય + અલિપ્ત ‘ અલિપ્ત ’ પદ ધટાવતી વખતે
ર અને લ તું એકથ સમન્વાનું છે, જે સ્થેય કાચ્ય
માં સંભવી શકે છે.

નિત્ય + અરિત્ર બુદ્ધો ૮-૨-૭૬

અંતના ધારણ ! તું કુમારપણમાં રૂડી શોભાએ
અથવા સુવર્ણા મહેલ ઉપર ચડેલા જનાં ધર્મીના
દાવને સાંત કરનારા હોવાથી જ જગતમાં અચ્યુત-
શીલચુકત કહેવાય છે.

સોદ્ધમાસણકુમારભાવમ્મિ અથવા સોદ્ધ
મસણે કુમારભાવમ્મિ આમ બે રીતે પદ્મલેહ
મરવાથી બુદ્ધો બુદ્ધો ભાવ નીકળે છે.

સોદ્ધે ઉપરથી સીધર્મ અથવા શોભામ્
મસણે ઉપરથી મસુણમ્ અથવા મસુણામ્
બુદ્ધો ૮-૧ તથા ૮-૧

હૈમાણલંતયારણઅચ્ચુઅસીલો અથવા હૈમા-
ણલંતયારણ ! અચ્ચુઅસીલો આમ પદવિભાગ
કરવાથી બુદ્ધો બુદ્ધો ભાવ મમજી શકાય છે.

હૈમા = હૈર્વ્યા બુદ્ધો ૮-૧-૪૩
અણલ = અનલ તથા ૮-૨-૭૮, ૭૯
અંતયારણ = અન્તકારણ

નિઘ્વાણગઓ—હે જગનાદીપક ! તું નિર્વાણ પામેશે છે જતાં જુવનેને પ્રદર્શિત કરે છે એ કંઈ રીતે સમજવું ? ને દીપક નિર્વાણ પામેશે હોય (આશ્વામેશે હોય—કરી ગમેશે હોય—સુઝામેશે હોય) તે કોઈ વસ્તુને પ્રદર્શિત ન જ કરી શકે. ત્યારે તું નિર્વાણ પામેશે જતાં જુવનેને પ્રદર્શિત કરે છે એ મહત્ત્વ આશ્ચર્ય છે.

મુચળવ્વયાસો અવ્વયાસો—ચણી, તું મહત્ત્વ જુવનેને પ્રદર્શિત કરનારે જતાંય અપ્રધાસ-અપ્રકાશ-કેમ છે ? ને કોઈ અર્થ જુવનેને પ્રદર્શિત કરી શકે તે ચેતે જાતે અપ્રકાશ કેમ હોઈ શકે ?

સાસાયણાણ જંતૂણં સાંસિતો અણંતસંસારં ।

આસાદ્યધમ્માણં અદરા કદ્દ દેસિ સિદ્ધિગુહં ॥ ૧૫ ॥

સાસાયણાણ—હે લગવન ! ને જંતુઓ (પ્રાણીઓ—મનુષ્યો) આશાતના કરનારા હોય છે અર્થાત્ દેવ શુર અને ધર્મની અવમાતના કરનારા હોય છે તેઓ સંસારમાં રૂપડયા જ કરે છે. એમ તે કહેલું છે, જતાંય

આસાદ્યધમ્માણં તું ધર્મને આસાદ્ય-આશા તિત-કરનાર મનુષ્યને શીઘ્ર મુદ્ધિ આપે છે. એ કેમ થઈ શકે ? એક તરફ તારું વચન અને બીજી તરફ તારી પ્રવૃત્તિ એ જાનેમાં વિરોધ આપે છે તો હે લગવન ! એ એમ કેમ હોઈ શકે ?

પરિહાર—

હે લગવન ! ને મનુષ્યે આશાતના કરનારા હોય છે તેઓ તો સંસારમાં રૂપડયા જ કરે છે એમ તે કહેલું છે તે જરાજર છે, કારણ કે, જેઓ ધર્મને

પરિહાર—

નિઘ્વાણગઓ—હે જગનાદીપક ! તું નિર્વાણ (મુક્તિ) ને પામેશે છે માટે જ જ્યાં જુવનેને પ્રદર્શી છે. તથા,

અવ્વયાસો—તું અપ્રધાસ છે—પ્રધાસવિનાનો છે—શગદેપાદિ વૃત્તિ જ્યાં પ્રધાસ વિનાનો છે માટે જ મહત્ત્વ જુવનેનો પ્રકાશ છે, એ જરાજર છે.

નિઘ્વાણ = નિર્વાણ. નિર્વાણ એટલે શીવાનું કરી જતું અથવા મુક્તિ.

અવ્વયાસ ઉપરથી અપ્રકાશ અથવા અવમાસ જૂઓ ૮-૧-૧૭૭

આસાદ્ય-આસાદિત કરનારા હોય છે—જેઓએ ધર્મને જરાજર પ્રાપ્ત કરેશે હોય છે તેને જ તું શીઘ્ર મુક્તિ આપે છે પણ બીજા આશાતના કરનારને નહિ. **આસાદ્ય** ઉપરથી આશાતિત એટલે આશાતના કરનાર.

આસાદિત એટલે પ્રાપ્ત કરનાર.

જૂઓ ૮-૧

સાસાયણાણ-ઉપરથી સાશાતનાનામ્ એટલે આશાતના. સદિત=આશાતના કરનારા. તથા.

સાસ્વાદનાનામ્ એ બીજું પણ પ્રાપ્ત થય છે. **સાસ્વાદનાનામ્** એટલે સાસ્વાદન નામનું બીજું શુભચાતક—જે જીવે સાસ્વાદન શુભચાતકે વર્તનારા હોય છે તેઓ પણ સંસારમાં રૂપી કરે છે. જૂઓ ૮-૧-૧૭૭; ૮-૨-૭૬

મમણાણ વીયમૂઓ વિ સત્તમો સંજંવાણ કદ્દ થુ તુમં ? ।

કદ્દ સત્તજિદ્ધો વિ નટ્ટમોટો મિ મુચ્છણમ્મિ ? ॥ ૧૬ ॥

૧ મળ પાઠમાં 'નામિતો' ને જલદે નામિતો પાઠ છે પણ 'નામિતો' પાઠ કરતાં 'નાદિતો' પાઠ જરાજર લાગે છે માટે એ પાઠને અદિ સ્વીકારેલ છે. સપ્તમી પ્રવર્તમાં 'મ' ને જલદે 'મ' સ્થાપાનો મળ નહીંડી છે.

૨ મળ પ્રવર્તમાં 'સંજયણ' પાઠ છે પણ 'સંજયાય' ને જલદે લેખકે પ્રમાણી 'સંજણ' લખેલું લાગે છે. પણ અદિ 'સંજયણ' પાઠ કરતાં 'સંજયણ' પાઠ જ જરાજર બંધ બેસે છે.

સમ્રાજા ઘોયમૂઝો-હે ભગવન ! તું તો શ્રમણોમાં બીજા ભૂત-બીજા જેવા લઘુ-છે. છતાં સંયતોમાં સત્તમ-ઉત્તમ છે એ શી રીતે ? જે બીજા ભૂત હોય તે સત્તમ કેમ હોઈ શકે ? વળા,

સત્તજેદ્દો નદ્દમોદો-તું સક્ત પુરુષોનો વડો છે છતાં નદ્દમોદ છે એ પણ કેમ થી શકે. જે સક્ત-આસક્ત-પુરુષોનો વડો હોય તે તો અત્યંત મોટી હોય સારે તું તો તેવા છતાં નદ્દમોદ-મોદરહિત છે, એ આશ્ચર્ય જેવું છે.

પરિહાર—

સમ્રાજા ઘોયમૂઝો-હે ભગવન ! તું શ્રમણોના બીજાભૂત છે એટલે શ્રમણમાર્ગની ઉત્પત્તિ-પ્રવૃત્તિનો

ફહ પપડીઅ દિસાસં પિ વહસિ રૂવં પવાસિઅદિસાસં ।

જિણ ! નયણામયમૂઝં પિ કારણં દંસણવરસ્સ ॥ ૧૭ ॥

ફહડપવડોઅદિસાસં પવાસિઅદિસાસં-હે જિન ! તું જે ભતના રૂપને ધારણ કરે છે તે અપ્રકટિતદિશાસ્ય છતાંય - પ્રકાશિતદિશાસ્ય છે-પરી રીતે તો જે રૂપ દિશામુખેને ન પ્રકટાવતું હોય તે દિશામુખેને પ્રકાશિત કરી શકે ખરું ? ન જ પ્રકાશિત કરી શકે. આમ છતાં ય તારું રૂપ તો વિચિત્ર છે. આ પરીધે બરાબર સમજતું નથી

વળા, નયણામયમૂઝં કારણં દંસણવરસ્સ-એ રૂપ નયણોને આમય-રોગરૂપ છતાંય ઉત્તમદષ્ટિનું કારણુભૂત છે-જે રૂપ નેત્રોને રોગ રૂપ હોય તેજ

અવિરામં પિ જહમયં અવરિદ્ધં તિહુઅણસ્સ વિ વરિદ્ધં ।

ફહ નિચ્છિઅં પિ મુણિવડઅણિચ્છિઅં દેસિ મુહનિવહં ॥ ૧૮ ॥

અવિરામં જહમયં-હે સુનિપતે ! તું જે સુખ-સમૃદ્ધિનું પ્રદાન કરે છે તે છે તો અવિરામ પણ વતિમય છે યતિ એટલે વિરામ, વતિમય-વિરામમય. અર્થાત્ એ સુખસમૃદ્ધ અવિરામ છતાંય વતિમય કેમ સંભવી શકે ? તથા,

અવરિદ્ધં વરિદ્ધં એ સુખસમૃદ્ધ અવરિદ્ધ છતાં વરિદ્ધ પણ કેમ હોઈ શકે ? અવરિદ્ધ એટલે વરિદ્ધ નહિ. વરિદ્ધ એટલે ઉત્તમ.

કારણુભૂત છે એટલે જ તું સંયત પુરુષોમાં ઉત્તમ અણુય એ વ્યાજબી જ છે. અથવા,

સમ્રાજા ઘોયમૂઝો-તું રામ રામના બીજરૂપ છે એટલે શાંતિમાર્ગના કારણરૂપ છે માટે જ સંયતોમાં ઉત્તમ મનાઓ છો. અને,

સત્તજેદ્દો તું સક્ત પુરુષોમાં ઉત્તમ છે-વિશેષ શક્તિવાળા હોય તે જ મોહનો નાશ કરી શકે છે. અથવા હે ભગવન ! તું સત્ત્વે-બળે કરીને જ્યેષ્ઠ છે માટે જ નદ્દમોદ છે, એ બરાબર છે.

સમ્રાજા-શ્રમણાનામ્ નિર્ધારણુપટ્ટી. અથવા,
શમજાનવીજ-કારણુ અથવા બીજા જેવું લઘુ.

‘સત્ત’ ઉપર શક્ત અને સત્ત્વ

બીજો ૮-૨-૭૭ તથા ૭૯

રૂપ ઉત્તમદષ્ટિનું કારણ કેમ થઈ શકે ? છતાંય તારું રૂપ ઉત્તમદર્શનનું કારણ છે એપણુ વિચિત્ર વાત કહેવાય પરિહાર—

નયણામયમૂઝં-વળા, હે જિન ! જે રૂપને તું ધારણ કરે છે તે નયનામૃત રૂપ-આંખોને અમૃત-સમાન છે માટે જ એ રૂપ ઉત્તમ દર્શનનું કારણ છે, એ બરાબર છે.

નયણામય ઉપરથી નયન × આમય = નયનામય
નયન × અમય = નયનામૃત

બીજો ૮-૧-૧૭૭ તથા ૮-૧-૧૨૬

નિચ્છિઅં અણિચ્છિઅં એ સુખસમૃદ્ધ નિચ્છિઅ છતાં અનિચ્છિઅ પણ કેમ હોઈ શકે ? નિચ્છિઅ એટલે નિશ્ચિત અને અનિચ્છિઅ એટલે નિશ્ચિઅથી વિપરીત.

પરિહાર—

અવિરામં જહમયં-હે જિન ! હે સુનિપતે ! તું જે સુખસમૃદ્ધને આપે છે તે અવિરામ-અનંત-વિ-

નાનો છે માટે જ એ યતિમત છે યતિ-સંપ્રમાણા-
એને સંસત છે. તથા,

અચરિટ્તં ચરિટ્તં-એ સુખસમૂહ અચરિટ્તં-અપ-
રેષ્ટ-બીજાઓને-એઓ તારા અનુયાયી નથી તેઓને-
પણ ધૃષ્ટ છે માટે જ તે વરિષ્ઠ છે-ઉત્તમ છે. તથા,

નિચ્છિઅં મુણિવહઅણિચ્છિઅં-તે સુખ-
સમૂહ નિચ્છિત છે. માટે જ મુનિપતિ જાનેને ધૃષ્ટ-

પ્રિય છે. અર્થાત્ નિચ્છિન એવા સુખસમૂહને મોટા
મોટા મુનિઓ પણ ચાહે છે.

જડમય ઉપરથી યતિમય તથા યતિમત
અચરિટ્ત ઉપરથી અચરિષ્ઠ તથા અપરેષ્ટ
બીજા ૮-૨

નિચ્છિઅ ઉપરથી નિચ્છિત

મુણિવહ-અણિચ્છિઅ ઉપરથી મુનિપતે!

અનિચ્છિત તથા મુનિપતિજનેચ્છિત ।

સામપડતિપસત્તો કહં સિ વેઅત્તફ્ફસત્તૂ વિ ।

કહં છુ વિસંકો વિ ય પપાવહ તિ પપડં વહસિ સહં ॥ ૧૯ ॥

સામપડતિપસત્તો વેઅત્તફ્ફસત્તૂ હે જિન !

તું ત્રણ વેદનો-અન્નવેદ, યજુર્વેદ અને સામવેદ-એ ત્રણે
વેદનો શત્રુ છતાંય સામની-સામવેદની પ્રવૃત્તિમાં
પ્રસક્ત છો. જે ત્રણ વેદનો વિરોધી હોય એ સામ-
વેદની પ્રવૃત્તિમાં પ્રસક્ત કેમ હોઈ શકે ? અથવા તું
ત્રણ વેદનો-પુરુષવેદ, સ્ત્રીવેદ અને નપુંસકવેદ-એ
ત્રણે વેદનો શત્રુ છતાંય સ્વામા-સ્ત્રીની પ્રવૃત્તિમાં
પ્રસક્ત છો. જે પુરુષાદિ વેદ તપનો શત્રુ હોય તે
સ્ત્રીની પ્રવૃત્તિમાં પ્રસક્ત કેમ હોઈ શકે. વળી,

વિસંકો પપાવહ-તું વૃષથી-અગ્નથી અંકિત-
ચિહ્નિત છો છતાં પ્રકટપણે ' પ્રાગ્નપતિ ' શી રીતે
કહેવાય ? જે વ્યાંકિત હોય તે તો મહદેવ કહેવાય,
પ્રાગ્નપતિ-બ્રહ્મા ન જ કહેવાય

પરિહાર—

સામપડતિપસત્તો વેઅત્તફ્ફસત્તૂ-હે ભગવન !

તું પુરુષાદિ ત્રણ વેદનો શત્રુ છે માટે જ સામપ્રવૃત્તિ-
શાંતિની પ્રવૃત્તિમાં પ્રસક્ત છે, એ બરાબર છે, તથા-

વિસંકો પપાવહ તું વૃષથી-ધર્મથી અંકિત છે
માટે જ લોકો તને પ્રકટપણે પ્રાગ્નપતિ-પ્રાગ્નો સ્વામી-
કહીને ઝાળાય છે.

સામપડતિ-ઉપરથી

સામપ્રવૃત્તિ=૧ સામવેદની પ્રવૃત્તિ

સ્વામાપ્રવૃત્તિ=૨ સ્વામાની(સ્ત્રીની)પ્રવૃત્તિ

સામપ્રવૃત્તિ=૩ સામ-શાંતિની પ્રવૃત્તિ

વેદ=લોકપ્રસિદ્ધ ત્રણ વેદ તથા નૃત્યપરિભાષામાં
પ્રસિદ્ધ પુરુષાદિ ત્રણ વેદ.

વૃષ-અગ્ન અથવા ધર્મ

પપાવહ-બ્રહ્મા અથવા પ્રાગ્નો સ્વામી-પાસક

કહ મંસલદ્ધરવણિયરપરિગયં પુંડરીયરિહોલિં ।

વારિઅસડપરિગહ પરિગહે કુણસિ ચલણાર્ણ ॥ ૨૦ ॥

હે ભગવન ! હે પરિઅદના પ્રતિબંધક ! અથવા
હે અસતી (અસતી=દૂર છવ) પરિઅદના વારક ?
તું એવા છતાંય તારા ચરણોને મૂકવા માટે

મંસલદ્ધરવણિયરપરિગયં પુંડરીયરિહોલિં
—મંસલોત્પન્ન રચનિયરથી વ્યાપ એની વાઘ અને
રિંછની ટોળાનો ઉપયોગ કરે છે એ કેનું કહેવાય.
અર્થાત્ જે પરિઅદનો નિવારક હોય વા જે દૂર
જંતુઓના પરિઅદનો પ્રતિબંધક હોય તે પોતાના

કામ માટે વાઘ કે રિંછની ટોળાનો ઉપયોગ કેમ
કરીને કરે ?

પરિહાર—

હે ભગવન ! પરિઅદના વારક ! તું તારા
ચરણોને મૂકવા માટે પુષ્ટ અને ઉર્ધ્વ એવા રત્નસમૂહથી
વ્યાપ એની કમકાની શ્રેણીનો ઉપયોગ કરે છે તે
વ્યાજગ્ની જ છે.

સરખાનો—

ચેષાં વિકચારચિન્દરાગ્યા

ગ્યાયઃક્રમકમલાવલીન્દ્રધ્યા ।

ઘટશરિતિ સંગતં પ્રણયં

કથિતં સન્તુ સિવાય તે જિનેન્દ્રાઃ ॥

નભોરતુ, ૨૧૦૬. ૨

તથા

ઉત્તિદ્રહેમનવપદ્મજપુદ્ગલન્તિ—

પર્યુહસન્નલમયૂતશિલાઽગિરામૌ ।

પાદૌ પદાનિ તથ ગત્ર જિનેન્દ્ર ધત્તઃ

પદ્માનિ તત્ર ત્રિવિધાઃ પરિકલ્પયન્તિ ॥

અક્ષતમર રતોત્ત, ૨૧૦૬. ૩૨

મંસલુદ્ધ ઉપરથી ૧ માંસલુદ્ધ, ૨ માંસલ ઉદ્ધર્ત

રચણિયર ઉપરથી ૧ રજનીચર, ૨ રજોનિકર

પુંડરીચ=૧ વાધ, ૨ કમળ

રિહોલો=૧ રીંછની ઓળા-શેણી, ૨ ઓળા-પંક્તિ

ગયવિસંયગામતત્તી કહં સિ નેઆવિ અપ્પલલસ્સ ।

ઈંદિઅપહૂ વિ કહૂ પહૂ નો ઈંદિઅનિગ્ગહં કુણસિ ? ॥ ૨૧ ॥

ગયવિસંયગામતત્તી નેઆવિ અપ્પલલસ્સ

હે પ્રભો ! તું ગતવિપપ્રામત્તિ-વિપપસમૂહની

વૃત્તિથી પર છતાંય અક્ષપટલનો-ઇંદ્રિયસમૂહનો નેતા

કેમ દોઢ શકે ? તથા તું ઇંદ્રિયનો સ્વામી છતાંય

આમારી ઇંદ્રિયોનો નિબદ્ધ કેમ કરી શકે ? જે વિપપ-

સમૂહમાં વૃત્તિ માનનારો હોય તે જ ઇંદ્રિયગણનો

નેતા થઈ શકે અને જે ઇંદ્રિયોનો પોષક હોય તે જ

ઇંદ્રિયનો સ્વામી પણ થઈ શકે.

પરિહાર -

અપ્પલલલસ્સ હે પ્રભુ ! તું વિપપપ્રામત્તી થતી

વૃત્તિથી પર છે માટે જ અપ્પલલલ-આત્મસમૂહનો

નેતા છે અને તું આમારી ઇંદ્રિયોનો પણ વશ

રખાવી શકે છે.

અપ્પલલ ઉપરથી અક્ષ=૧ ઇંદ્રિય, ૨ કલ્પ

કહ સાસવચિન્નાણં નિચ્ચિન્નાણં ભવમ્મિ જીવાણં ।

સિવસુચલમકલ્લાણં કલ્લાણં જિણ ! પળામેસિ ॥ ૨૨ ॥

સાસવચિન્નાણં નિચ્ચિન્નાણં-હે ભગવન !

અવોને ભવ-સંસારમાં સાશ્વત વિગત છે છતાંય

નિર્વિગત કેમ છે ? સાશ્વતવિગત હોય ત્યાં નિર્વિ-

ગતતા કેમ સંભવે ?

અકલ્લાણં કલ્લાણં-હે જિન ! તું કલ્યાણરૂપ ને

સિવસુખ આપે છે તે અકલ્યાણરૂપ કેમ દોઢ શકે ?

પરિહાર—

હે જિન ! જે અવો સંસારમાં નિર્વિગત છે-

ઉદાશીન છે તેઓને જ સાશ્વતવિગત ધવાનો સંભવ

છે. અને તું જે કલ્યાણરૂપ સિવસુખ આપે છે તે

કલ્યાણ-સુચર્ણ-દેવવિનાયુ જ હોય તે પણ બરાબર છે.

નિચ્ચિન્નાણં ઉપરથી નિચ્ચિન્નાણમ્, અથવા

નિચ્ચિન્નાણમ્

કલ્યાણ એટલે ૧ મંગલ તથા ૨ સોનું

“ કલ્યાણં હેત્તિ મજ્જલ ”

ક્રમ-અનેકાર્થસં ૩, ૧૮૬

નાહ પરિણામમહુરં વિસજ્જવીસામગામભૂઅંપિ ।

કહ પળ્ણવેસિ કલામયં પિ મુણિસમ્મયં ધમ્મં ॥ ૨૩ ॥

કલામયં મુણિસમ્મયં-હે નાથ ! તું જે ધર્મે

પ્રવર્તે છે તે પરિણામે મહુર છે, જિન મતવાળાઓ

માટે વિશ્વામાય છે છતાંય જો ધર્મે કલામય-

કલામત હોયને મુનિસમ્મત કેમ દોઢ શકે ? જે

ખેલકુદનો વિચાર નાની બાલિકાને ગમતો હોય તે
મુનિજનોને કેમ ગમે ?

પરિહાર—

હે નાથ ! તું જે ધર્મને પૂર્ણપણે પ્રરુપે છે તે

સચ્છંદયં સમ્પૂર્ણવહ સર્વં પરમપ્પયં વ પિચ્છંતો ।

જં પુણ જિયસયલક્ષ્ણો વિ અપ્પસત્તો સિ તમજુત્તં ॥ ૨૪ ॥

સચ્છંદયં પરમપ્પયં હે ભગવન ! તું બીજા
બધાને અલ્પ-પોતાથી ઉપરતા-જ્ઞેતા થકા સ્વચ્છંદ-
તાને ધારણ કરે એ તો હીક, પણ

જિયસયલક્ષ્ણો અપ્પસત્તો-શતકલ્પને જિત્યા
પછી તું જે અલ્પસત્ત્વ દેખાય છે એ તો અયુક્ત છે.
પરિહાર—

સચ્છં દયં પરમપ્પયં જિયસયલક્ષ્ણો
અપ્પસત્તો—હે ભગવન ! તું બીજા બધાને તારી
પોતાની પેઠે સમજતો થકા સ્વચ્છ એવી દ્યાને

અમવરસોહાલિહા અમચ્છરિદ્ધા અસારસરહંગા ।

ફહ નિચમસંજોહા જલપરવસહી વિ તુહ વાળી ॥ ૨૫ ॥

જલપરવસહી—હે ભગવન ! તારી વાણી જલચર
વસતી (જલચરના રહેઠાણ) કેવળ બનાવ

અમવર-અમર વિનાની છે,
અમચ્છ-માણસ વિનાની છે,
અસારસ-સારસ અને સકલાશ્ચી રહિત છે,
અસંજોહા-સંજાવાના એવથી પણ રહિત છે.
જે જલચરવસતી રૂપ હોય તેમાં તો મગર
હોય, માણસ હોય, સારસ હોય અને સંજાવા પણ
હોય. ત્યારે તારી વાણી જલચરવસતી રૂપ છતાં પણ
તેની નથી એ કેમ સંભવે ?

પરિહાર—

જલચરવસહી—હે ભગવન ! તારી વાણી જલચર-
વસતી-જેવના શબ્દની સખી છે. માટેજ એ,
અમવરસોહા-અમરસના સમૃદ્ધી તરબોળ છે,
અમચ્છરિ-અસરતા-આત્મ્ય રહિત છે,
અસારસરહંગા-અસાર સ્વરને તોડનારી છે,
અને
અસંજોહા-અસંજા બિદ-તદ્વિધી ભરેલી છે.

ધર્મ પરિણામે મધુર છે, સંસારથી કંટાળેલાને વિસા-
મારૂપ છે, અને કર્ણામૃત-કાનને અમૃત સમાન
છે માટે જ મુનિજનોને સમ્મત છે.

કલ્પામય-૧ કન્યામત ૨ કર્ણામૃત

ધારણ કરે છે. અને તારા પોતાના લક્ષ્યને તે
જેળવેલું છે માટે જ તું અમસક-અનાસક છે,

સચ્છંદયં ઉપરથી સ્વચ્છન્દતામ્

અથવા સ્વચ્છાં દ્યામ્

પરમપ્પયં ઉપરથી પરમલ્પકમ્

અથવા પરમાત્મકમ્

સયલક્ષ્ણો ઉપરથી શતલક્ષઃ અથવા સ્વલક્ષઃ

અપ્પસત્તો ઉપરથી અલ્પસત્ત્વઃ અથવા અમસકઃ

જલપરવસહી-ઉપરથી ૧ જલચરવસતી

૨ જલદરવસતી

અમવરસોહાલિહા-ઉપરથી ૧ અમવર-

શોમાલિહા, ૨ અમૃતસૌંધાલિહા

અમચ્છરિદ્ધા-ઉપરથી ૧ અમત્સ્યક્રદ્ધા

૨ અમારસ્યક્રદ્ધા

અસારસરહંગા ઉપરથી ૧ અસારસરવાહા

૨ અસારસ્વરમદ્ધા

નિચમસંજોહા ઉપરથી ૧ નિત્યમશજોવા

૨ નિત્યમસંજોહા

સરખાવા—

વૌગમ્યમં મુપદપદ્વીનીરૂપગિરામં,

ત્રીવાર્હિસાવિરલ્લહરીસંગગાગાહદેહમ્ ।

જૂલ્યવેલં ગુરુગમમળીસંજુલે દૂરપારં

સારં વૌગમ્યમજલનિધિં સાદરં સાધુ સેવં ॥

ગંધારવાના સ્તુતિ, શ્લો. ૨

કહ કીરડ પડિઓસો અસમો સરણાગયાણ જંતૂણં ।

મુરસેવિણ તુહ જિણવરિંદ ! પાયારવિંદેણ ॥ ૨૬ ॥

પડિઓસો અસમો સરણાગયાણ-હે જિન-વરંદ ! શરણાગત જંતુઓને મુરસેવિન તારા ચરણ-રવિંદ વડે જે અસમ-અસાધારણ પ્રતિદોષ કરવામાં આવે છે, તે શી રીતે ? તારા ચરણરવિંદે તે દોષોને નાશ કરવા માટે સુપ્રસિદ્ધ છે. છતાં એનાથી આવું વિપરીત કેમ થઈ શકે ?

પરિહાર—

પડિઓસો અ સમોસરણાગયાણ-હે જિન-વરંદ ! સમવસરણમાં આવેલા જંતુઓને મુરસેવિન

તારા ચરણરવિંદ વડે જે પ્રતિદોષ થાય છે એ યસાર જ છે-તારા ચરણો તે જંતુઓને-પ્રાણીઓને તેમ આપનારાં જ છે.

પડિઓસો ઉપરથી પ્રતિદોષ અને પ્રતિદોષ બુદ્ધો ૮-૧-૧૭૭ તથા ૮-૧-૨૦૬

અસમો સરણાગયાણ ઉપરથી અસમઃ શર-ણાગતાનામ્

અ સમોસરણાગયાણ ઉપરથી ચ. સમવસ-રણાગતાનામ્

સમણજણવાયસોહવિબૂસિઅં વિસમદિદ્ધિવાયં પિ ।

દસવેઆલિયપયદં પિ પયડિઆણંતમ્મગ્ગયં ॥ ૨૭ ॥

નિજ્જુત્તિ જુત્તિગરુઅં જડં શુરુમદ્દરામયં પિ મોહહરં ।

સારંગસંગયં ગયમયં પિ કહ સાસણં સુદ્ધ ॥ ૨૮ ॥ (યુગ્મ)

હે ભગવન ! સાસન તારું આવું કેવું છે ?—

નિજ્જુત્તિ જુત્તિગરુઅં નિર્બુદ્ધિન છતાં યુક્તિના ગૌરવાણું છે.

સમણજણવાયં વિસમદિદ્ધિ—અમણ જન-વાદની શોભાથી વિબૂધિન છે છતાં વિષમદષ્ટિવાળું છે-જે સાસન, અમણ-જનવાદની અનનાયુક્ત મુનિ-જનવાદની-શોભાથી વિબૂધિત હોય તેમાં વિષમ-મતતારકિન દષ્ટિવાદની એક પળ કેમ મટે ? વળા,

શુદ્ધમદ્દરામયં મોહહરં એ, શુરુમદ્દરામય છે છતાં મોહહર છે-જે મદિરાથી ભરેલું હોય તે તે મોહને વધારે એવું હોય છતાં તારું સાસન મદિરામય હોઇને પણ મોહહર કેમ થઈ શકે ?

દસવેઆલિયપયદં પયડિયાણંતમ્મગ્ગયં-વળા, એ, દસવેઆલિયમાં પ્રકટ છે છતાં અનંતમાર્ગ-રૂપ નયવાદને પ્રકટ કરનારું છે-જે દશમંબુધ વૈચારિક માં પ્રકટ હોય તે અનંતમાર્ગરૂપ નયવાદને કેમ પ્રકાશી શકે ?

વળા, સારંગસંગયં ગયમયં એ સારંગ-મુગ સંગત છે. છતાં ચતમુગ કેમ છે ? જે સારંગસંગત હોય તે તે ચતમુગ ન જ હોય

પરિહાર—

નિજ્જુત્તિજુત્તિ-નિર્બુદ્ધ નામક વ્યાખ્યાઓના યુક્તિપૂર્ણ ગૌરવવાણું.

વિસમદિદ્ધિવાયં હે ભગવન ! તારું સાસન અમણજનવાદની શોભાથી યુક્ત છે, અને એમાં કદલુ એવું દષ્ટિવાદનામનું સાચું છે એ કાંઈ વિરોધ નથી.

દસવેઆલિય-દશવેકાલિક નામના આગમમાં તારું સાસન પ્રકટ છે અને એ અનંતમાર્ગરૂપ નયવાદને પ્રકટ કરનારું છે.

જડશુરુમદ્દરામયં-પતિ અને શુરુજનની યુદ્ધિને રમણ કરાવનારું છે માટે જ એ મોહને હરનારું છે, અને સારંગ-સારંગ-સારણત અંગો-અંગ ગ્રંથોથી સંગત છે માટે જ ચતમુગ-મદ્દનું નાશક છે.

સમર્પણવાચ-ધમ્મજ્ઞનવાદ-શ્રમણસંસ્કૃતિ-
-સમતા પ્રધાનસંસ્કૃતિ.

વિસમદ્વિષ્ણુવાચ વિષમ-સમતારહિત દષ્ટિ-
ઓના વાદ અથવા વિષમ-દુર્ગમ-કઠણ એવું દષ્ટિ-
વાદ નામનું યોદ્ધા બિંદુસાર પૂર્વનું એક પ્રકરણ.

હયવચ્ચૂદાણ નમો તુહ નિચ્છુરંતનહમ્મણિગણાણં ।

સંતાવયાણ જણપત્થણિજ્જહાયાણ પાવાણં ॥ ૨૯ ॥

હે ભગવન! તારા પાદોને નમસ્કારહો. એ પાદો
હતપ્રત્યૂદ-વિધ્નનાશક છે, સ્ફુરાપમાણ નબરપ
મણિગણી યુક્ત છે, શાંતાપદ-આપદોને શમાવનાર-
છે, જનપ્રાર્થનીય હાવાવાળા છે-મનુષ્યો એ પાદોની
હાયાને પ્રાપ્તિ-એવા એ છે.

ખીન્ને અર્થ-સૂર્યના કિરણો પ્રત્યે ઘટે એવા છે
તે આ રીતે-સૂર્યનાં કિરણોને નમસ્કાર હો તે કિરણો
હતપ્રત્યૂદ-મળસકાને મહાકનારા છે અર્થાત
દિવસને ઉગારનારા છે, સ્ફુરાપમાણ નબરપણિ-મર્થ-
ના કણરૂપ છે,

સારંગ-સારંગ તથા સારંગ

“સારંગો વિહંગાન્તરે દ્વિપૃગશબ્દેષુ ચ”

દેમ-અનેકાર્થસં ૭, ૧૨૨-૧૨૩

આ ૨૭-૨૮-શ્લોક યુગ્મરૂપ છે.

સંતાપક-તપનારાં, તપાવનારાં છે અને એ
કિરણોની કાંતિને મનુષ્યો પ્રાપ્તિ છે.

હયવચ્ચૂદ- ૧. હતપ્રત્યૂદ

૨. હતપ્રત્યૂપ

નહમ્મણિગણ- ૧. નહમ્મણિગણ

૨. નહોમણિકણ

સંતાવય- ૧. શાન્તાપદ

૨. સંતાપક

જાયા-એટલે જાણે અથવા જાણા-કાંતિ

इय सयलसिरिनिबंधण पालय पच्चल तिलोअलोअस्स ।

भव मज्झ सया मज्झत्यगोअरे संधुइ गिराणं ॥ ૩૦ ॥

હે સકલધીના કારણ, હે પાત્રક, હે ત્રિલોક
લોકમાં સમર્થ, હે મહાપુત્ર્ય! અથવા હે મધ્યસ્થ ।
એવા હે ભગવન! તું એ પ્રમાણે મારી સ્તુતિગિરા-
ઓના વિષય થા અથવા મારી સ્તુતિગિગઓના
અર્થનો વિષય થા, અર્થાત તું મારી સ્તુતિ કરનારો

થાઈ, અને તું મારી સ્તુતિનો વિષય થા
આ અંતિમકાવ્યમાં—

નિવંધણપાલય એ શબ્દથી ક્વિએ પોતાના
‘ધનપાલ’ નામની સૂચના પણ કરેલી છે.

સયા મજ્ઞત્યગોઅરે ઉપરથી સદા મધ્ય-
સ્થગોચરે અથવા સદા મહ્ય! અર્થગોચરે

॥ इति श्रीमहावीरविजुक्ता पंडितवचन-धनपालविरचिता संपूर्णं ॥

જૈન તત્ત્વચર્ચા

(૧) સ્ત્રીજાતિને દષ્ટિવાદ અંગ ભણવાના નિષેધ પર એક વિચાર.

સમાનતા—અવદાર અને સાસ્ત્ર એ બન્ને સ્ત્રીજાતિને શારીરિક અને આધ્યાત્મિક વિકાસમાં પુરુષજાતિની સમાન સિદ્ધ કરે છે. શારીરિક બળમાં ગ્રાં ૧૦ સમભૂતિથી કુમારી તારાખાઇ કાઠપિણુ રીતે ઉતરે તેથી નથી. તેથી જ રીતે વક્રત્વકથામાં અને અનેક પ્રકારના વિચારમાં વિદુષી એનીબિસેટ કાઠ પણુ વિચારક કે વક્તા પુરુષથી ઉતરે એવા નથી. તે જ પ્રકારે કવિત્વશક્તિમાં કાઠપિણુ પ્રસિદ્ધ પુરુષ કવિનાં શ્રીમતી સુરેન્દ્રિની દેવી પાણં પરે તેવાં નથી. જરી રીતે નિયમ એ છે કે સમાન સાધન અને અપસર મળે તો સ્ત્રી પણ પુરુષ જેટલું સામર્થ્ય પ્રાપ્ત કરી શકે છે. શ્વેતાંબર આચાર્યોએ સ્ત્રીને પુરુષની બરાબર કેવલ જ્ઞાન અને ગોદાની અધિકારિણી અર્થાત્ શારીરિક અને આધ્યાત્મિક વિકાસની અધિકારિણી સિદ્ધ કરેલ છે. પ્રમાણુ માટે જુઓ પ્રજાપના સૂં ૭, પૂં ૧૮; નંદી સૂં ૨૧, પૂં ૧૩૦.

આ વિષયમાં મગદોદ ધરાવનાર દિગંબર આચાર્યો સામે તેઓએ (શ્વેતાંબરઆચાર્યોએ) બહુ લખ્યું છે. જુઓ નંદી-ટીકા પૂં ૧૩૧-૧૩૩; પ્રજાપના-ટીકા પૂં ૨૦-૨૨. સાસ્ત્રવાર્તા સમુચ્ચય-ટીકા પૂં ૪૨૫-૪૩૦.

આત્મકારિક પંડિત રાજશેખરે અમ્બરધભાવપૂર્વક સ્ત્રીજાતિને પુરુષજાતિની સમાન વર્ણવી છે.—

“પુરુષવત્ યોપિતોડપિ કવીમવેયુઃ । સંસ્કારો હ્યામનિ સમવૈતિ, ન જૈર્ણ પૌરુષં વા વિભાગમ-
વેક્ષતે । શૂચન્તે દડ્યન્તે ચ રાજપુત્ર્યો મહામાન્યદુહિતરો ગણિતઃ કૌતુકિમાર્યાશ્ચ શાલપ્રતિબુદ્ધાઃ કવચશ્ચઃ ।”

કાવ્યમીમાંસા-અધ્યાય ૧૦

અર્થાત્ સ્ત્રીઓ પણ પુરુષની જેમ કવિ થઇ શકે, કારણ કે સંસ્કાર-શિક્ષા એ આત્મમાં બેતરે છે તે કાંઈ સ્ત્રીજાતિ કે પુરુષજાતિના બેદની અપેક્ષા-પરવા નથી કરતો. સાંભળવામાં આવે છે અને જોવામાં પણ આવે છે કે રાજપુત્રીઓ, મહામંત્રીની પુત્રીઓ, ગણિકાઓ અને નટભયોઓ સાસ્ત્રજ્ઞ તેમ જ કવિ હતી અને છે.

વિરોધ—સ્ત્રીને દષ્ટિવાદ ભણવામાટે ને નિષેધ કરાયેલો છે તેમાં એ પ્રકારે વિરોધ આવે છે (૧) તર્કદષ્ટિથી, અને (૨) સાસ્ત્રની ગંધોદધી.

(૧) એક તરફ સ્ત્રીને કેવલજ્ઞાન અને મોક્ષ સુદ્ધાંતી અધિકારિણી માનવી અને ‘શીલ તરફ દષ્ટિવાદની-શ્રુતજ્ઞાન વિશેષની-પણ અધિકારિણી ન માનવી-અરોગ્ય દરાવવી એ એવું વિરુદ્ધ જણાયું છે જેમ કોઈને રાત ગોળીને કહેવું કે તું કાઠીની રસા નહિ કરી શકે.

(૨) દષ્ટિવાદના અધ્યયનના નિષેધ કરવાથી સાસ્ત્રકથિત કાર્ય-કારણ અર્થોદામાં પણ બાધ આવે છે. તે આ રીતે-શુદ્ધધ્યાનના પહેલા બે પાદ-અંશ પ્રાપ્ત કર્યોવિતા કેવલ જ્ઞાન ઉપજત નથી થતું. પૂર્વનામક શ્રુતના જ્ઞાનની પ્રાપ્તિવિના શુદ્ધધ્યાનના પ્રયત્નના બે પાદ પ્રાપ્ત નથી થતા અને પૂર્વશ્રુત એ દષ્ટિવાદનો એક દિસો છે. આ મહોદાસાસ્ત્રમાં ત્રિવિવાદ સ્ત્રીકરણમાં આવી છે.

“શુષ્કલે વાચે પૂર્વમિદ્ધઃ” તત્ત્વાર્થ અં ૯, સૂં ૨૬

આ કારણથી સ્ત્રીને દષ્ટિવાદના અધ્યયનની અધિકારિણી ન માની કેવલ જ્ઞાનની અધિકારિણી માનવી એ રપદ વિરુદ્ધ જણાય છે.

દષ્ટિવાદના અનધિકારના કારણેના વિષયમાં જે પક્ષ છે. પહેલો પક્ષ જિનભદ્રગણી ક્ષમાશ્રમણ આદિનો. એ પક્ષ સ્ત્રીમાં તુચ્છતા, અભિમાન, ઇદ્રિયચ્ચંચર્ય, મતિચાંચ આદિ માનસિક દોષો બતાવતીને તેને દષ્ટિવાદના અધ્યયનનો નિષેધ કરે છે. તે માટે જુઓ વિશેષાં ૭૫૦ ૫૫૨

જીનો પક્ષ હરિભદ્રસુરિ આદિનો છે. આ પક્ષ અશુદ્ધિરૂપ શારીરિક દોષ બતાવતીને તેનો નિષેધ કરે છે. જેમ કે—

“કથં દ્વદશાંગપ્રતિષેધઃ ? તથાવિધવિપ્રદે તતો દોષાત્ ।”

લક્ષિતવિસ્તાર, પૃ ૩૩૩

નયદષ્ટિથી વિરોધનો પરિહાર—દષ્ટિવાદના અનધિકારથી સ્ત્રીને કેવલજ્ઞાન પ્રાપ્ત કરવામાં જે ઉપર પ્રમાણે તત્ત્વાર્થ કથિત કાર્ય—કારણ બાવનો વિરોધ દેખાય છે, તે વસ્તુનાં વિરોધ નંથી. કારણ કે શાસ્ત્ર સ્ત્રીમાં દષ્ટિવાદના અર્થની ચોખ્ખતા માને છે પણ ક્ષત શાબ્દિક અધ્યયનનો તે નિષેધ કરે છે.

“ઐળિપરિણતો તુ કાલમર્મદ્રવ્યવતો માવોઽવિરુદ્ધ ઇવ” ।

લક્ષિતવિસ્તાર તથા એની મુનિચંદ્રસૂરિરૂત પંચકા, પૃ ૧૧૧

તપ બાવના આદિથી જ્યારે જ્ઞાનાવરણીયનો ક્ષયોપશમ તોય થઈ જાય છે ત્યારે સ્ત્રી શાબ્દિક પાઠ સિવાય જ દષ્ટિવાદનું સંપૂર્ણ અર્થજ્ઞાન પ્રાપ્ત કરી શકે છે અને શુક્લધ્યાનના બે પાઠ પ્રાપ્ત કરીને કેવલજ્ઞાન પણ પ્રાપ્ત કરી શકે છે.

“યદિ ચ શાક્ષ્યોગમમ્યસામર્થ્યયોગાવસેયમાવેષ્વતિસૂત્રમેવપિ તેપાં વિશિષ્ટક્ષયોપશમપ્રમથપ્રમાવયોગાત્ પૂર્વપરચ્ચેય વોધાતિરેકસદ્ભવાદાયશુક્રધ્યાનદ્રવ્યપ્રાપ્તેઃ કેવલાવાતિકમેજ મુતિપ્રાપ્તિરિતિ નદોષઃ । અધ્યયનમન્તરેણાપિ ભાવતઃ પૂર્વેવિત્ત્વસંભવાત્, ઇતિ વિભાજ્યતે, તદ્વા નિર્મળીનામચ્ચેયં દ્વિતયસંગૈ દોષામાવાત્ ।” શાક્ષ્યવાર્તાસં ૫૦ ૪૨૬

શુરમુખથી શાબ્દિક અધ્યયન કર્યોવિના અર્થબોધ ન થાય એવો નિયમ નથી, કારણ કે અનેક માણસો એવા દેખાય છે કે જેઓ કેટલાક માણસ પાસે ભણ્યાવિના જ મનન અને ચિંતનદ્વારા પોતાના કષ્ટ વિષયનું ઉર્કું જાન મેળવી શકે છે.

હવે સ્ત્રી શાબ્દિક અધ્યયનનો નિગેધ. તે નિગેધ આ પ્રશ્ન ઉપર અને તર્ક-વિતર્ક ઉત્પન્ન કરે છે. જેમ કે જે મનુષ્યની અંદર અર્થજ્ઞાનની ચોખ્ખતા માની શકાય, તે મનુષ્યને શાબ્દિક અધ્યયન માટે અપોગ માનવો એ કેટલું સંગત છે ? શબ્દ એ તો અર્થજ્ઞાનનું સાધન સાત છે. તપ-બાવના આદિ અન્ય-સાધનોથી જે માણસ અર્થજ્ઞાન પ્રાપ્ત કરી શકે છે તે, તે જાનને શબ્દદ્વારા સંપાદન કરવામાં અપોગ છે એમ કહેવું તે ક્યાં સુધી બાળખી છે ? શાબ્દિક અધ્યયનના નિગેધ માટે જે તુચ્છપણું, અભિમાન આદિ માનસિક દોષ દેખાડવામાં આવ્યા છે. તે શું પુરુષાન્તિમાં નથી હોતા ? નો વિશિષ્ટ પુરુષોમાં તે દોષોના અભાવ હોવાથી પુરુષસામાન્ય માટે શાબ્દિક અધ્યયનનો નિગેધ ન કર્યો તો શું પુરુષ-સમાન વિશિષ્ટ સ્ત્રીઓનો સંગત નથી ? અને જો અસંભવ હોય તો સ્ત્રી જોતાનું વર્તન પણ કેમ સંભવી શકે ? શાબ્દિક અધ્યયન માટે જે શારીરિક દોષોની સંભાવના કરી છે તે પણ શું બધી સ્ત્રીઓને હાથ પડે છે ? જે કેટલીક સ્ત્રીઓમાં કાણ પડતી હોય તો શું કેટલાક પુરુષોમાં પણ શારીરિક અશુદ્ધિની સંભાવના નથી ? આવી દયામાં પુરુષાન્તિને છોડી સ્ત્રીઓને માટે શાબ્દિક અધ્યયનનો નિગેધ શા માટે કરાયો ? આ તર્કોના સંબંધમાં સંક્ષેપમાં એટલું જ કહેવાનું છે, કે માનસિક અથવા

શારીરિક દોષ બતાવીને શાબ્દિક અધ્યયનનો જે નિષેધ કરાયેલો છે તે પ્રાથિક બાણ્ય છે. અર્થાત્ વિશિષ્ટ સ્ત્રીઓ માટે અધ્યયનનો નિષેધ નથી. આના સમજેનમાં એમ કહી શકાય કે જે વિશિષ્ટ સ્ત્રીઓ દષ્ટિવાદનું અર્થસાન, વીતરાગલાભ, કેવલસાન અને મોક્ષને પ્રાપ્ત કરવામાં સમર્થ થાય છે તે પછી તેનામાં માનસિકદોષની સંભાવના પણ કેમ હોઈ શકે ? તેમ જ વૃદ્ધ, અપ્રમાદી અને પરમપવિત્ર આચાર્ય સ્ત્રીઓમાં શારીરિક અશુદ્ધિ પણ કેમ જ્ઞાની શકાય ? જેને દષ્ટિવાદના અધ્યયન માટે યોગ્ય માન્યા તે પુરુષો પણ—એવા કે સ્પૃશ્યલદ્ર, દુર્ગંધિકા પુલ્કયિત્ર આદિ દુષ્કૃત સ્મૃતિદોષ વિગેરે કારણથી દષ્ટિવાદની રક્ષા ન કરી શક્યા.

“તેણ ચિંતિયે મગિणीળે ઈદું દરિસેમિ તિ સીહરૂલ્લં વિઠવ્વહી.”

આવશ્યકજ્ઞતિ પૃ. ૬૯૮-૧.

“તતો આચરિણ્હિં દુલ્બલિયપુસ્સમિત્તો તસ્સ વાયણારિઓ દિળ્ળો તત્તો સો કહ્વિ દિવસે વાયણં દ્વાઝળ વાયરિયમુવદ્ધિતો મળ્લ—મમ વાયણં દેંતસ્સ નાસતિ, જં ચ સળ્ળાયપેરે નાણુપેહિયં, બતો મમ અઙ્ગરંતસ્સ નયમં પુલ્લં નાસિહિ તિ । તાહે આચરિયા ચિંતેતિ—જહ તાવ ઇયસ્સ પરમેહાવિત્સ ઇવં ઈરંતસ્સ નાસદ અન્નસ્સ ચિરનદ્દું ચેવ ।”

આવશ્યકજ્ઞતિ પૃ. ૩૦૮

આવી વસ્તુસ્થિતિ હોવા છતાં પણ સ્ત્રીઓ માટે જ લઘુવાનો નિષેધ કેમ કરાયો ? આ પ્રશ્નનો ઉત્તર જે રીતે આપી શકાય—(૧) સમાન સામગ્રી મળવા છતાં પણ પુરુષોની સરખામણીમાં પુરુષો કરતાં સ્ત્રીઓનું થોડી સંખ્યામાં તૈયાર થવું, અને (૨) બીજી ઐતિહાસિક પરિસ્થિતિ.

(૧) જે પશ્ચિમ વિગેરે દેશોમાં સ્ત્રીઓને લઘુવા વિગેરેની સામગ્રી પુરુષો સમાન પ્રાપ્ત થાય છે ત્યાંના મતિદાસ્ય જ્ઞેવણી આ જાણી શકાય છે કે સ્ત્રીઓ પુરુષોની તુલ્ય થઈ શકે છે. પરંતુ યોગ્ય બાદિતઓની સંખ્યા સ્ત્રીમતિની અપેક્ષાએ પુરુષમતિમાં વધારે થાય છે.

(૨) દિગંબર આચાર્ય કુંકુદ સરખાએ પણ શારીરિક અને માનસિક દોષોના કારણથી સ્ત્રીમતિને દીક્ષા માટે અયોગ્ય ઠરાવી છે.

લિંગમ્મિ ય ઇત્થીર્ણં, યર્ણતેરે ણાહિક્વલ્લદેસમ્મિ ।

મળિઓ મુહનો કાઝો, તાસં કહ્ હોદ પચ્ચા ॥

પદ્માહુક—સૂત્રપાહુક ગા. ૨૪-૨૫

અને વૈદિક વિદ્વાનોએ શારીરિક શુદ્ધિને અગ્રસ્થાન આપીને સ્ત્રી અને શુદ્ધ મતિને વેદના અધ્યયન માટે અયોગ્ય ઠરાવી, “હી શુદ્ધો નામોયાતામ્” એમ કહ્યું છે.

આ વિરોધી સંપ્રદાયોની એટલી બધી અસર પડી કે તેના લીધે સ્ત્રીમતિની યોગ્યતા પુરુષ સમાન માનનાર સ્વેતાંગર આચાર્યો પણ તેને વિશેષ અધ્યયન માટે અયોગ્ય જતાવતા લાગ્યા હશે.

અગીયાર એક આદિ લઘુપ્રવચનો અધિકાર જ્ઞાતતા છતાં પણ કેટલે જારમાં અંગના નિષેધનું કારણ એ પણ લાગે છે કે અવલારમાં દષ્ટિવાદનું મદત્વ સચવાય. તે કાળમાં વિશેષપણે શારીરિક શુદ્ધિપૂર્વક લઘુવામાં વેદ આદિ ગ્રંથોની મહત્તા સમજાતી હતી. દષ્ટિવાદ બધા અંગેમાં પ્રધાન હતું એટલા

માટે વ્યવહાર દૃષ્ટિથી તેની મહત્તા બતાવવા માટે જીનન મોટા પાઠોક્ષી સમાજનું અનુકરણ થવું સ્વાભાવિક છે. આ :કારણથી પારમાર્થિક દૃષ્ટિએ સ્ત્રીને સંપૂર્ણ રીતે યોગ્ય માનતા છતાં પણ આચાર્યોએ વ્યવહારિક દૃષ્ટિથી શારીરિક અશુદ્ધિનો વિચાર કરી તેને ફક્ત શાબ્દિક અધ્યયન માટે અયોગ્ય બતાવી હોય એમ લાગે છે.

લગ્નવાન ઔતમણુદે સ્ત્રીજાતિને લિશુપદ માટે અયોગ્ય ઠરાવી હતી પરંતુ લગ્નવાન મહાશીરે તેો પ્રથમથી જ તેને પુરુષની સમાન લિશુપદની અધિકારિણી ઠરાવી હતી. આ કારણથી જૈન શાસનમાં અતુર્વિધ સંધ પ્રથમથી જ સ્થાપિત છે અને સાધુ તથા શ્રાવકોની અપેક્ષાએ સાધ્વિજો તથા શ્રાવિકાઓની સંખ્યા આરંભથી જ અધિક રહેલી છે. પરંતુ પોતાના પ્રધાન શિષ્ય આનંદના આગ્રહથી ઔતમણુદે ન્યારે સ્ત્રીઓને લિશુપદ આપ્યું ત્યારે તેની સંખ્યા ધીમે ધીમે ઘણી વધી અને કેટલીક શતાબ્દિઓ પછી અસિક્ષા કુપ્રબંધ આદિ કેટલાંક કારણોથી તેમાંથી ઘણી સ્ત્રીઓ આચારબદ્ધ થઈ જેને લીધે બૌદ્ધ સંધ એક પ્રકારે દૂષિત મનાવા લાગ્યો. સંભવ છે કે આ પરિસ્થિતિની જોડો ઉપર પણ કંઈ અસર પડી હોય, જેથી દિગંબર આચાર્યોએ તે સ્ત્રીઓને લિશુપદ માટે પણ અયોગ્ય ઠરાવી અને શ્વેતાંબર આચાર્યોએ એ પ્રમાણે નહીં કરતાં સ્ત્રીજાતિનો ઉચ્ચ અધિકાર કાયમ રાખીને પણ તેમાં દુર્બળતા છદ્વિયમવક્ષતા આદિ દોષો વિશેષરૂપથી બતાવ્યા. કેમ કે સહચર સમાજોના વ્યવહારોનો એકબીજા પર પ્રભાવ પડે તે અનિવાર્ય છે.

-પંડિત મુખલાલજી

(૨) અવ્યવહારરાશિ ને વ્યવહારરાશિની કલ્પના

આ લેખ લખવાનો ઉદ્દેશમાત્ર એક જ છે, ને તે એ છે કે અવ્યવહારરાશિ ને વ્યવહારરાશિની કલ્પના માત્ર કલ્પિત છે કે તથ્યભૂત છે ?

(૧) જૈનદર્શન કથનાનુસાર જીવોની અનંતાનંતતા છે, ને તે અવ્યવહાર ને વ્યવહારરાશિ એમ બે વર્ગમાં વહેંચાએલી છે. અવ્યવહારરાશિ સ્થાન જેને કહેવામાં આવે છે, તેમાં માત્ર સૂક્ષ્મ નૈગોદિક જીવો છે, ને તે સિવાય જીવો જીવો છે, તે સર્વ વ્યવહારરાશિમાં ગણાય છે.

(૨) એ અવ્યવહારરાશિરિત જીવો પોતાનું અવ્યવહારરાશિરચાન ક્યારે પણ છોડતા નથી. તેઓના ઉપર આજ્ઞાસુધીમાં અનંત ઉત્સર્પિણીઓ ને અવસર્પિણીઓ ચાલી ગઈ, પણ તેઓ હજી તે સ્થાન (સૂક્ષ્મ નૈગોદિકસ્થિતિ)માં રહ્યા છે. હવે પણ તેઓના ઉપર તેટલી કાલચક્રતા જશે, તેો પણ તે જીવો પોતાના સ્થાનમાંથી અસત્તાના નથી.

(૩) વ્યવહારરાશિગત જીવો ભલે એકેન્દ્રિયમાંથી માંડી પંચેન્દ્રિય સુધી અથવા નારકથી માંડી દેવ સુધી ગત્યાગતિ કરે; ને લાંથી અનુક્રમે કદાચ વિકાસ પામતા મુક્ત સ્થાનમાં જાય. પણ આ અવ્યવહારરાશિરિત જીવો પંચેન્દ્રિયગત તેો શું પણ સ્થૂલ એ કેન્દ્રિયત્વને પામવાને પણ ક્યારેય સમર્થ થવાના નહિ.

(૪) આમ હોવામાં તે જીવોને પોતાના કર્મની પ્રધાનતા છે. એટલે આટલી છેક છેલ્લી અધવચિતિ પામવામાં તે જીવોને ગિથ્યાત્વ (અવિદ્યા-અજ્ઞાન) અવિરત્યાદિ આશયોની તીવ્રતા, ને આર્ત રોદાદિ મસિન-નિકૃષ્ટમાં નિકૃષ્ટ પરિણુમેળની ઉચ્ચતા છે. ને જીવો પોતાના મૂળ (નૈગોદિક) સ્થાનમાંથી આશ્રય વધત્યા ત્રપ, પળ, જેમ કાઈ જલાશયમાં રહેલી માંછલીઓને દંડીમાં બરફરૂપ આપરજો માથું બદલ કહાડવા દેતા નથી, તેમ તેમમાં પ્રગાર-આદ વીકળા ગિથ્યાત્વાદિ અખપ્રત્યક્ત આપરજો બદલ ઉપરની કાટિમાં તેમને આવવાં દેતા નથી.

(૫) આ પ્રમાણે આ અવ્યવહાર ને વ્યવહાર રાશિયદક ધટના નૈનદર્શનમાં જણાય છે. આ ધટના ગમે તે પુરતક ઉપરથી ઉપરિચિત થઈ હોય, વા, ગમે તે પરંપરા પરિચિત વિચારો ઉપરથી થઈ હોય. આ આગમ સમ્મત છે કે કેમ એ તપાસીએ તે પહેલાં કોઈપણ દક્ષિમ એમ પ્રશ્ન કરશે કે આ અવ્યવહાર ને વ્યવહારરાશિ ધટના શા આધારે થઈ? એમ હેતુમાં શું પ્રમાણ છે? એવો શો નિયમ કે છવ કેદી કેદખાનામાં પોતાની શિક્ષા પૂરી કર્યા પછી ખણ કેદખાનામાંથી ન જ છૂટી શકે? એટલે કે પ્રકૃતિબંધ, રસબંધ વિગેરે બંધસ્વરૂપને-બદલામાં દુનમ્મય સંપૂર્ણ ફક્તને-વેદા પછી શાને વિકાસ (ઉત્તર કેટિ)માં ન આવી શકે?

(૬) મતલબ એ છે-કે કોઈપણ નૈનદર્શનના સારામાં સારા અભ્યાસીને આ વાતો વિચાર કરતાં મુંઝસામંદ છે એમ તો નહિ જ લાગે. ત્યારે એમ કહેવામાં આવશે કે ભવ્ય ને અભવ્યની ધટના જેમ ઘટાડવામાં આવી છે તેમ આ પણ છે. ઉત્તર એ યશ કે તે ધટના આગમસિદ્ધ છે, પણ આગમ વિરૂદ્ધ નથી. પણ આ ધટના આગમેક્ત હોય તેમ જણાતી નથી. ઉલટી આગમ વિરૂદ્ધ છે એમ આગમ વિચારતાં લાગશે. આગમમાં અવ્યવહાર ને વ્યવહાર રાશિ એવા રાખ્દો જણાતા નથી. તેમ આ ધટના ને બતાવી, તે પણ જણાતી નથી.

(૭) આગમ (શાસ્ત્ર)કરો ઉપરુકત વિચારોથી તદ્દન લુદા પડી જાય છે. કારણ એ છે કે, છવો પોતાની ક્રિયાથી જ ઉપર જાય છે, ને ત્રીજે આવે છે. જે ક્રિયાના બક્ષથી છવ જે સ્થાન (ગતિ)માં જાય છે, ત્યાં તે ક્રિયાનું બક્ષ (બોગવવારૂપ ક્ષ) પૂર્ણ થતાં તે ત્યાંથી છૂટી જાય છે. અર્થાત્ નિગોદ કે એવી એક પણ કોઈ ગતિ નથી, કે જે છવનું અનાદિત્વ કે અનંતત્વ રાખી શકતી હોય, સંસારસ્થિતિએ છવનું ભલે અનાદિત્વ કરતું હોય, પણ કોઈ ગતિ-સ્થિતિએ છવનું અનાદિત્વ સાંખિત થતું નથી. આમ જો ન માનીએ તો જુઓ પ્રગાપના સૂત્ર (ઉપાંગ પેટી ચોથું ઉપાંગ).

(૮) ૧૮માં કાયરિશ્તિપદમાં તે સૂત્ર કહે છે કે-છવ, સૂક્ષ્મ નિગોદમાં જન્મ-યમાં જન્મ્ય (ઓહામાં ઓહા) રહે તો એક અંતર્મુદ્દત, ને ઉદ્દૃષ્ટમાં ઉદ્દૃષ્ટ આસંખ્ય ઉત્સર્પિણી ને અવસર્પિણી રહે છે. પછી જરૂર નિકલી છવ સ્થાનાંતર કરે છે.

એમ નહિ તો જુઓ વ્યાખ્યા

પ્રસિધ્ધિ (આગમોદય સમિતિ) રાતક ૧૨ શું, ઉદ્દેશ ૭ મો. સૂત્ર ૪૪૫૭-૪૫૮, પગ ૫૭૬-૫૮૦

આખા આ વિચાર લોકમાં એક પરમાણુ પુદ્ગલ માત્ર રહી શકે તેવો એક સૂક્ષ્મ પ્રદેશ ખાલી રહી શક્યો નથી કે જેમાં આ છવે જન્મ ને મૃત્યુની પ્રકૃતિ ન કરી હોય. વાડામાં રહેતું ઘેટાનું ટોળું જેમ વાડાના નાનામાં નાના દરેક ભાગને પોતાના શરીરના દરેક દરેક અણુથી પદાર્થોથી, તે દરેક દરેક શરીરના આવયવોથી રખર્ખો વિચા બાકી રાખતું નથી. તેમ આ છવે લોકના કોઈપણ પ્રદેશને રખર્ખો વિના બાકી રાખ્યો નથી. (સૂત્ર ૪૫૭) નળા, જુઓ-

‘સ્ત્રવપ્રસા પૃથ્વીમાં ત્રીશ લક્ષ નરકયાસ છે. તેમાં દરેકમાં પૃથ્વીપણે વાવત વનસ્પતિપણે ને નૈરયિકપણે આ છવ આસકૃત (અનેક વખત) અથવા અનંત વખત ઉત્પન્ન થયો છે. એમ જ સાતે નરકમાં, તિર્થંક ચોતિમાં, મનુષ્યની સર્વ ચોતિમાં, અસુર કુમારના લેવનમાં, તેમ ત્યાં રહેલા શયન આસન ઉપકરણ વગેરેમાં ને ત્યાં જે દેવ દેવી હોય તે સર્વમાં, આ છવ અનેક વખત વા અનંત વખત જઈ આવ્યો છે. એ જ પ્રમાણે સર્વ વ્યંતર, સર્વ જ્યેષ્ઠત્વી ને સર્વ વૈમાનિકના સ્થાનમાં પૃથ્વી જલ વનસ્પતિમાં સમનાસનમાં ને અનુત્તરોપપાતિક દેવ સિંધાય સર્વ દેવદેવીમાં આ છવ અનેક વખત વા અનંત વખત જઈ આવ્યો છે. એમ સર્વ છવો સર્વ સ્થાને અનુકૂળ પ્રતિક્રમ સર્વ સંયંધપણે જઈ આવ્યા છે.’

(સૂત્ર ૪૫૮)

* મૂળ યત્ને વિસ્તારી દેવાની દાખલ કર્યા નથી.

(૯) આ ઉપર્યુક્ત આગમકારના કથન ઉપરથી સ્પષ્ટ સમજ શકાશે કે સર્વ જીવને પોતાની શક્તિનો હાસ કરવામાં ને વિકાસ કરવામાં સંપૂર્ણ સ્વતંત્ર અવકાશ છે. નૈગોદિક જીવો વિકાસને ન પામે તેમ નથી, ને સ્વર્ગીય વૈમાનિક જીવો હાસને ન પામે તેમ પણ નથી. હાસને વિકાસનો આરંભ તેઓની પ્રવૃત્તિ ઉપર આધાર રાખે છે.

વિચારકો આ ઉપર સારી રીતે વિચાર કરશે ને આ કરતાં નિશ્ચય મૂક-આગમ સ્પર્શી ખુલ્લાસે બહાર મૂકશે

-શ્રીહર્ષચંદ્રજી સ્વામી

(૩) કેટલાક વિચારવા લાયક પ્રશ્નો

જૈન વિદ્વાનો માટે ખરી ચર્ચાનું પ્રેક્ષાન

૧. અંગ્રેજોને પૃથ્વીનો પરિઘ એટલે ઘેરાવેા લગભગ પચીસ લાખ મેઇલ બતાવે છે એ વાત રહ કરવા કોઈ જૈન વિદ્વાન સ્પષ્ટ પ્રમાણ આપી શકે છે ?

૨. અહીં જ્યારે સૂર્ય આથમે છે ત્યારે અમેરિકામાં ઉદય થાય છે. ત્યાં આથમે છે ત્યારે અહીં ઉદય થાય છે. અને તે વાત તારથી પણ લોકોએ સિદ્ધ કરી છે. ત્યારે અમેરિકા ખંડને કયા ક્ષેત્રમાં ગણવે ?

૩. અમેરિકા જલું હોય તો પશ્ચિમના માર્ગે એટલે મુંબઈથી હિંદી મહાસાગરના રસ્તે કેપુચહોપ પટાવી, આટલાંટિક મહાસાગર ઓલંધી ને પણ અમેરિકા જઈ શકાય છે. અને પૂર્વના માર્ગે એટલે મદ્રાસથી મહાસાગરના પૂર્વ ભાગમાંથી શિગાપોર, ચીન, જાપાન થઇને પારસિક મહાસાગર પસાર કરીને પણ અમેરિકા પહોંચી શકાય છે. એમ એકથી ઉઘડી દિશાએ અમેરિકા-અંકારો જેવા શહેરમાં સોફા પહોંચી શક્યા છે. તે પૃથ્વી દસ જેવી ગોળ હોય તો જ અને એમ અંગ્રેજોને કહે છે. તે વાતને કોણ જૈન તોડી નાખવા સમર્થ છે ?

૪. સૂર્ય ભાગશર પોપમાં જ્યારે છેક દક્ષિણાયન થાય છે ત્યારે ઠંડ લવણ સમુદ્રમાં ૧૧૯ માંડા કરે છે. વાર ત્યારે છેક દક્ષિણાયન વેત્રા ને સૂર્યપરથી સમગ્રેણીની સીધી અધોલીટી લઇએ તો તે લવણમાં પડે. તો એ સગ અધોલીટીથી જે દક્ષિણમાં દેશ હોય તે જંજીરીપમાં ગણવેા કે લવણમાં ? તેમ છેક ઉત્તરાયણ થાય છે ત્યારે ઠંડ નિપપ પર્વત ઉપર હોય ત્યારે તેથી ઉતરના દેશોને શું મહા-વિદેહમાં ગણવા ?

ઉપરના પ્રશ્નો ઉપરથી એ સંકેત થાય છે કે લવણ સમુદ્રની જગતી કેમ ઉઘડી દક્ષિણમાં જ્યાં ? અને વેતાદગાદિ પર્વતો ઉઘડીને ઉતરમાં કેમ જ્યાં ? અને હિંદુસ્તાનના લોકો ઉતર અને દક્ષિણમાં ઉપલી લદો-એટલે મકરરુત્ત અને કર્કરુત્તની આગમ જન્ય છે બાવે છે તેનું શું કારણ ? આવવાર અને જનારને સાધ્વીની પ્રતીગાઓ, જુગલીઆના સેત્તદિ વચ્ચાં આવના નથી તે કેમ ?

ઉપરના ૪ પ્રશ્નો કન્ઝ-કોડપચાં પ્રોદેશર સ્વજ દેવરાજના છે. દવે નીચેના પ્રશ્નો હું લખું છું-

૧. સૂર્યના ૧૮૪ માંડાના ચેત્તન ૩૬૮ થાય. તો લગણના બુદ્ધોજનનાં નકશામાં મકરરુત્ત અને કર્કરુત્તની લીટીઓ સમખાણ દેખાડી દીધી છે. તેના મેત્ર પણ ચોક્કસ છે. તો આપણે જોજન કેટલા ગાઉનું માનવું ?

૨. અસવનાં વિમાનો ૧૭ લાખર જોજન ઉચે ચડીને પછે જ્યાં જલું હોય ત્યાં જતા. ત્યારે લગણના વિમાનો અડીનાકા (પાંચ મેઇલ) વધારે ઉચે (દીના કારણથી) નથી જઈ શકતા, તેની કેમ અસવની કસી ?

૩. જૈન જ્યોતિષના બે મંત્રા અને કેટલાક ગ્રંથો છે. પણ તે ઉપરથી ગણિત કરી અદ્યક્ષાદિ વર્તી શકાતા નથી ! તેમ હાલના પં. ખંડો-૧ એશિયા, ૨ મુરોપ, ૩ આફ્રિકા, ૪ આસ્ટ્રેલીયા અને ૫ અમેરીકા એ છે તેમાં સ્વયંમાં કહેવથી વધારે થાય છે તેનું કેમ ?

૪. શ્રી મહાસીરપ્રભુ ચૈત્ર સુદી ૧૩ ના જન્મ્યા અને કાર્તિકની અમાસે (પુનમીઆ મહીના પ્રમાણે આસોની અમાસે) મોઢે પધાર્યો તો ૭૨ વર્ષ પૂરાં કેમ થાય ? અને તે વખતે જૈન પંચાંગોની ગણતરી શ્રી હતી ?

૫. જૈનામ્બોની ભાષા કેટલી પ્રાચીન છે તેનું નિર્ણય ભાષાશાસ્ત્રાધારે અતિ પારીક-રીત્યા થયું નોંધ્યો. તેમ જૈન નિગમો અને ચાર વેદો તથા દિગંજરના મૂલ પુરતકો-ધવલ, જ્યધવલ અને મહા-ધવલનું પણ નિર્ણય થયું એટલું જ જરૂરનું છે.

૬. ચંદ્રની ચાસ કરતાં પ્રહની ચાસ ઉતાવળી છે, તો પછી નિંતરાહુ ચંદ્ર માથે હમેશ રહી એક એક કલા કેમ દયાવી નોકે ? અને ચંદ્ર તથા સૂર્યના વિમાનથી પ્રહના વિગાન અધી છે તો ખત્રાસ પ્રહણ કેમ થાય ? નાનો પદાર્થ મોટાને સંપૂર્ણ આગ્રહી ન શકે.

૭. શ્રીભદ્રબાહુ સ્વામી વિષે 'જૈન સિદ્ધાન્ત ભાસ્કર'માં જે સપ્રમાણ શિલાલેખો યુક્ત પુરાવા છે, તેવા કે, તેનાથી અધિક સખ્ય પુરાવા આપણા (શ્વેતાંબરોનાં) છે ખરા ? હોય તો અંધારામાં રાખવાનું શું કારણ છે ?

-લિ. મુનિ, કમ્પી.

નોટ—આપણાથી દક્ષિણમાં રહેનારા લોકોને સૂર્ય હમેશ ઉત્તરમાં રહે છે. તે આસ્ટ્રેલિયા, આફ્રિકા અને અમેરીકાના અમુક અમુક ભાગો છે. અને જેઓને ઉદ્ધગીને સૂર્ય ઉત્તરમાં જતો જ નથી એટલે જોને સહાએ સૂર્ય દક્ષિણાયન રહે છે તે એશિયા પંડ, મુરોપ અને અમેરીકાના અમુક ભાગો છે કે જે નકસામાં ભોવાથી સમજશે. આટલો ખુત્રાસો ચૈત્ર સ્વચ દેવરાજના પ્રશ્નોને અંગે છે.

આ પ્રશ્નોના ઉત્તરો જો કેઈ વિદ્વાન વિચારપૂર્વક લખી ગોઠવશે તો તે આદરપૂર્વક પ્રકટ કરવામાં આવશે.—સંપાદક.

પંન્યાસ પદ.

આજકાલે જેની રીતે 'પંન્યાસ' પંદાહત એક સામાન્ય સાધુ પણ બીજા સાધુને પંન્યાસ પદ અર્પણ કરે છે તેવી રીતે પ્રાચીન કાલમાં નહોતું થતું. પંન્યાસ પદ અર્પણ કરવાનો અધિકાર આચાર્યને જ હોય એમ પ્રાચીન ઉલ્લેખોથી જણાય છે. 'પંન્યાસ' એ પદનો ખરો અર્થ 'પંડિત' છે. 'પંડિત' પદ કરતાં 'પંન્યાસ'નું કોઈ જુદું પદ નથી. પૂર્વે કાલમાં જે સાધુઓ જાણુચુન થતા તેમને ગચ્છાધિપતિ તરફથી 'પંડિત' પદ પ્રદાન કરવામાં આવતું. પંડિત પદ પછી જે વધારે યોગ્યતા વધતી તો પછી ઉપાધ્યાયની પદવી અપાતી અને તેનાથી પણ જો અધિક યોગ્યતા પ્રાપ્ત થતી તો છેવટે આચાર્ય પદે અભિષેક થતો. સોમસોમાય, યુરુગુણરત્નાકર, હીરસોમાય અને વિજયવ્રજસ્તિ આદિ કાવ્યોમાં અનેક વ્યક્તિઓના સંબંધમાં આવા ઉલ્લેખો મળેલા છે. આને જેની રીતે અમુક અમુક સૂત્રોનાં યોગોદ્વહન કરવાથી જ માત્ર પંન્યાસ થવાય છે પરંતુ જાન સંબંધી યોગ્યતા ઉપર બીજકુલ પ્ધાન અપાતું નથી તેમ પૂર્વે નહોતું થતું. પૂર્વે તો અમુક દરજ્જા સુધીની વિદ્વાતા પ્રાપ્ત કરનારને જ એ પદની પ્રાપ્તિ થતી હતી. તપાચરજના આચાર્ય વિજયવ્રજસુરિની પછી ગતિયોમાં વધારે શિશિદાચાર અનિષ્ટ થયો અને તેના લીધે યતિવર્ગ સ્વપદથી જટ થયો ત્યારે એ ધોરણમાં પણ ફેરફાર થયો. પાછળના ખસો ત્રણસો વર્ષમાં તો એ પદ સંબંધી ધણી જ અવ્યવસ્થા થઈ. એ સમયમાં નથી જોવાની જાન સંબંધી યોગ્યતા કે નથી જોવાતી

આરિતસંબંધી ચોગ્યતા એ વખતે તો બેટલા યતિ-તેટલા જ 'પંચાસ' ! સંભળામ છે. કે જે યતિ શ્રી પૂજ્યને બેટ રૂપે યોગ્ય રૂપીઆ આપતો તેને શ્રીપૂજ્ય તરફથી બંદશમાં પંચાસ પદ મળતું, પરંતુ એટલું અવશ્ય બંધારણ હતું કે ત્યાં સુધી શ્રીપૂજ્ય તરફથી પંચાસપદ આપાયેલું બહાર થતું નહિ ત્યાં સુધી કોઈ પણ યતિ પોતાના નામ સાથે 'પં' શબ્દનો ઉપયોગ કરી શકતો નહિ. જેથી રીતે આજે સરકાર તરફથી પ્રેરના કોઈ પ્રતિષ્ઠિત જનને તેની ચોગ્યતા અનુસાર 'રામ' બહાદુર' કે 'રામ' આદિના નેતાઓ આપવામાં આવે છે ત્યારે તે વ્યક્તિ ઉપર તે નેતાના બાળ્યનો સંદર્શકેટ 'ગોકર્ણવમાં આવે છે તેમ આચાર્ય પણ ત્યારે જે યતિ-સાધુ ને પંચાસ પદ આપતા ત્યારે તે બ્રાહ્મણ પોતાના દરતા-ક્ષેત્રાણું પ્રમાણપત્ર તેના ઉપર મોકલી આપતા. આ પ્રમાણપત્રો ધણાભાગે ઋષ્ય આગળ જ લાંબા યોગ થતાં દતા પદના મથાળે આચાર્ય પોતાનાં હાથે ક્રૂત 'સહી' આપા બેજ અક્ષરો મહોટા કરના લખતા. બ્રાહ્મણ બંધુ દતાંત નેમની પાસે જે ગુપ્ત યતિ મનાતો તે લખતો. જુના લોકોમાં આવી જનના સંકેત પ્રમાણપત્રો મહારી દહિગેચર થયાં છે. વાચકોના અવગ્રહન મારે એ જાતના બે પત્રોની નકલ અને આપવામાં આવે છે.

સહી

॥ ૫૬૦ ॥ ઓ નરવા મ । શ્રી શ્રી વિજય
ધર્મ સૂરીશ્વર ચરણસેવી હ । શ્રીઠિતવિજય
મણિ લિખિતં । પં । દેવવિજય ગ । પં ।
વિનોત સ । યોગ્યં । અપરં તુભારા દિગ્વ્ય
ગ । કુશલવિજયનં શ્રીજીયં પં ૦ પદ
મલાદ કીધી છઈ । મિતિ સં । ૧૮૨૧ વર્ષે
મય । જ્યેષ્ઠ વ । ૮ । પોઢાહાર નગર મધ્યે ।

પં ૦ દેવવિજય ગ । યોગ્યં ।

આવી જાતનું પ્રમાણપત્ર મળ્યાં પછી જ તે વ્યક્તિ પોતાના નામ સાથે 'પં' અક્ષરનો પ્રયોગ કરી શકતો હતો. તેમ જ આ પદ આપવાની જગના દરેક યતિને આચાર્ય તરફથી ખંચર આપી દેવામાં આવતો હતો. જેથી બીજા યતિઓ તે વ્યક્તિની સાથે પત્રવ્યવહારાદિ કરે ત્યારે 'પં' શબ્દવિશિષ્ટ જ તેનું નામ લખે. બીજા જગના છતાં પણ કોઈ યતિ વ્યક્તિના નામ સાથે એ શબ્દ ન લખે તો તેથી માનદારિ મળેલી મનાતી અને તે જગદ શ્રીપૂજ્ય તરફ રૂપોટ કરવામાં આવતી !

આજના સુધારાવાળા જગનામાં એ પદનીના સંબંધમાં પણ કેટલોક સુધારો થયેલો જોવામાં આવે છે. આજે એ પદની આપવામાં નથી રહ્યું પરંતુ સાનસંબંધી ચોગ્યતાનું બંધારણ કે નથી રહ્યું આચાર્ય દ્વારા જ તે પ્રેરવાનું સાધન ! આજે તો જેમને પંચપ્રતિક્રમણ પણ બેરોગર શુદ્ધ નહિ આવડતા હોય તે પણ એ પદની પ્રદાન કરી શકે છે અને પ્રદાન કરી શકે છે ! બંધારણમાં માત્ર અમુક સમય સુધી તપનું સેવન જ બાકી રહ્યું છે. આમાં છે કે જેમ જેમ સુધારાની પ્રગતિ થતી જશે તેમ તેમ સાધુઓ એ જાળનમાં પણ પોતાની ઉદારતા જાપવના જશે !

* હમ્મર- (મિલ)ના મહારાજાના જુના કાચોમાં પણ મથાળે આવા જ જનના 'મરી' જેવા બે અક્ષરો મહોટા કરનાં લખેલા હોય છે. જુઓ, બેટ ૬૪૨ પૃષ્ઠનો પ્રકર કરેલો દોઢનો 'રાતજ્ઞાન દ્વિત્વ' લાગે ત્યાં પત્રિકામાં

વાયકોને નિવેદન

—૨૦૨૨—

પ્રસ્તુત અંક સાથે જૈનસાહિત્યસંશોધકનું ત્રીજું વર્ષ પૂર્ણ થાય છે. દર ત્રણ મહીને એ નિયમિત રીતે બહાર પડે એવી પ્રથમ આકાંક્ષા જેમ વાયકોને રહે છે તેમ એવી જ આકાંક્ષા એના સંપાદકને પણ હંમેશાં રહી છે એ હું જાણું છું. અને તેથી જ તેની યોગ્ય વ્યવસ્થા ગયા વર્ષથી અમદાવાદમાં કરવામાં આવેલી. પરંતુ વાયકોની જાણ બહાર નહિ હોય કે શ્રીમાન્ જિનવિજયજી ઉપર માત્ર સંશોધકના સંપાદનનો ભાર ન હતો પણ પુરાતત્ત્વ મંદિરના આચાર્ય તરિકેની જવાબદારી ઉપરાંત એ મંદિર તરફથી પ્રસિદ્ધ ચત્તાં કેટલાંક પુસ્તકોનાં સંપાદનનો અને બીજાં પણ પુસ્તકોના સંપાદનનો ભાર તેમને શિર હતો જ. આર્થિક ખોટની ચિન્તા ધ્યાનમાં ન લઈએ તોપણ આવાં બૌદ્ધિક કાર્યોને સંતત કરનારના અનારોગ્યના કારણને ધ્યાન બહાર રાખી શકાય નહિ. એ કારણોને લીધે જ નિયત સમયે અંકો પ્રસિદ્ધ કરી શકાયા નહિ.

વાયકોને કાંઈ પણ લાગવાનો સંભવ હોય તો તે એટલો જ છે કે ચાલુ વર્ષને છેલ્લો અંક ધાર્યો કરતાં લગભગ ત્રણ મહીના જોડા તેઓની સેવામાં પહોંચે છે. પરંતુ કોઈ પણ અભિન્ન વાયક ભ્રમ શક્ય છે તેઓ દ્વારે તે કરતાં કેટલી વધારે સેવા સંશોધકે તેઓની કરી છે. ૪૫ ફરમાને બદલે ૫૦ ફરમાનું વાચન, એ બાહ્ય લાભ તરફ દષ્ટિ ન આપીએ તોપણ સંશોધકમાં પ્રસિદ્ધ થયેલા લેખો એજ સુખ્ય લાભની વસ્તુ છે. જૈન સમાજના નાના મોટા ત્રણે ફિરકા તરફથી ગુજરાતી, હિન્દી, મરાઠી અને ઇંગ્રેજી સુદમાં અનેક પત્ર-પત્રિકાઓ નીકળે છે. એમાંથી કોઈ પત્ર કે પત્રિકા સંશોધકની કક્ષાનું ગવે-વણાપૂર્ણ અને નિષ્પક્ષવાચન પૂરું પાડતા હોય એમ હું અદ્યપિ નથી જાણતો. જે વખતસર પ્રસિદ્ધ થવાના બાહ્યનિયમનો કોઈક ભંગ સંશોધકથી થયો હોય તો તે એ ખોટને ચુકરે કહેલ લવાજમમાં ધાર્યો કરતાં વધારે ફરમાઓ આપવાના આંતરિક નિયમના ભંગથી દૂર કરે છે એટલે બાહ્યકોને તો એકંદરે લાભ જ છે. અસ્તુ. આ નિવેદનમાં મારું સુખ્ય વક્તાવ્ય તો બીજું જ છે અને તે એ છે કે આ અંકને સંપાદિત કરી તેને પ્રસિદ્ધ કરવાનું કામ અણુધાર્યું મારે માથે આવી પડ્યું. અને તે પ્રમાણે મેં યથાશક્તિ અને યથાસામર્થી તેનો નિર્વાહ કર્યો છે. આ અંકનું સંપાદન તેના સંપાદક શ્રીમાન્ જિનવિજયજીને હાથે થયું હોત તો વાયકો કરતાં હું જ વધારે પુશ થાત. પણ ધાર્યું કોનું થાય છે ? એક જાણુ તેઓએ પ્રસ્તુત અંક છપાવવાની શરૂઆત કરી એકાદ ફરમા છપાવે કે અચાનક જ તેઓથીની જર્મની જવાની તારીખ ને પહેલાં જીન જીવાઈમાં ધારેલી તે મે માસમાં નક્કી થઈ અને તે પ્રમાણે તેઓ તા. ૧૨ મીએ જર્મની માટે વિદાય પણ થઈ ગયા. માત્ર જૈનસમાજ કે ગુજરાતમાંથી જ નહિ પણ હું જાણું છું ત્યાં સુધી આખા હિન્દુસ્તાનમાંથી પ્રીત અબ્યાસી અને વિદ્વાન તરીકે જૈનસાહિત્યના સંશોધનનો સુખ્યપણે

અભ્યાસ કરવા જનાર શ્રીજિનવિજયજી જ પહેલા છે. તેઓએ આજસુધીમાં એકનિઘાથી સાહિત્યસેવાને જ પોતાનું ધ્યેય ણનાવેલું છે. અને જર્મની વગેરે પશ્ચિમના દેશોમાંથી નથી કેય સમ્પત્તિ લાવી તેઓ સાહિત્યના ક્ષેત્રમાં આજસુધીમાં કર્યું છે તે કરતાં વધારે કિંમતી અને વધારે સંગીન કામ કરવાના છે. એવી દૃઢ આશા-જનિત પ્રસન્નતામાં મારે પોતાની ચોચતા વિષેની ખામીનું દુઃખ મને નથી સાદ્યું. અને તેથી જ આ અંક પ્રસિદ્ધ કરી શકાયો છે. આશા છે વાચકો મારી ખામી ઉદારતાથી નભાવી દેશે. અને મારી સાથે પ્રભુ-પ્રાર્થનામાં સંમિલિત થશે કે પોતાનો ધારેલો અભ્યાસ સંપૂર્ણ રીતે પૂર્ણ કરી શ્રી જિનવિજયજી સુખરૂપ પાછા ફરે અને છેલ્લામાં છેલ્લી ગર્વેષણાઓ તેમજ પદ્ધતિના લાલો જનસમાજમાં રજુ કરી સ્પૃહણીય જનસાહિત્યની વિશિષ્ટ અભિવૃદ્ધિ અને તેના ગૌરવને વધારે અને તે દ્વારા ભારતીય સાહિત્યનો ઉત્કર્ષ સાધે.

હવે એકજ પ્રશ્નનો ખુલાસો કરવો પાછી રહે છે. પ્રશ્ન એ છે કે શ્રીમાન જિનવિજયજી નિદેશથી પાછા ફરે ત્યાં સુધીમાં સંશોધક ચાલુ રાખવું કે નહિ અને રાખવું તો કેવી રીતે ? કેટલાક સહૃદય વાચકોના પત્રો એવી મતલબના આવી રહ્યા છે કે સંશોધક ચાલુ રાખવું. શ્રી. જિનવિજયજીની પણ નિદેશ જવાની ઇચ્છા થઈ ત્યારે અને છેલ્લે નિદાય થવાના દિવસે પણ એ જ ઇચ્છા હતી કે સંશોધક ચાલુ રહે. પરંતુ એ ઇચ્છાને માન આપી સંશોધક ચલાવવું હોય તો ચલાવે કેણું ? એ પ્રશ્ન આવ્યો. સંમતિ-તર્કના દુઃસહ યોગ અને બીજાં છેટલાંક કારણસર એના સંપાદનનું કાર્ય (રુચિ છતાં પણ) કરવાની મારી અશકિત મેં સ્પષ્ટ જણાવી. અત્યારે રા. રા. મોહનલાલ દલીપદે દેશાઈ બી. એ. એલ. એલ. બી. સિવાય બીજો કોઈ આ પત્ર ચાલુ રાખે તેવો નજરમાં ન આવવાથી તેમના તરફ સ્વાભાવિક રીતેજ દૃષ્ટિ ગઈ. તેઓ પોતાના ઉપર અનેક પ્રકારના કાર્યોનો બોલો છતાં સદ્ભાવના ખાતર સંશોધકના સંપાદનનું કાર્ય કરવા કણુલ થયા. પરંતુ એવી સરતે કે બાહ્યવ્યવસ્થા અને આર્થિકખોટની ચિંતા તેઓ ઉપર ન રહે.

ખામી બાહ્યવ્યવસ્થા કરવાની કણુલાત મેં આપી પણ ખોટનો પ્રશ્ન ઉભો છે જ. કાગળ, છપામણી, પ્લૉક, ફ્રેટા અને પોસ્ટનો જ ખર્ચ ગણતાં લગભગ ૪૦૦ રૂપિયાની ખોટ આ વર્ષમાં આવી છે. પેણોસો શાહક વધે તો એ ખોટ પુરાય અને માત્ર ખોટ પડવાને કારણે સંશોધક ખંધ ન રહે. સંશોધકના વાચકોને એ કહેવાની ભાગ્યેજ જરૂર હોય કે સાહિત્યસેવકો આર્થિકખોટનો બોલો હંમેશાં નભાવી ન શકે. તેથી એ ખોટની ચિંતાથી મુક્ત રાખી સંશોધકનું કામ ચાલુ રખાવવાની ફરજ તેના સહૃદય વાચકો ઉપર આવી પડે છે. દરેક શાહક એકએક નવો શાહક ણનાવવાની પોતાની ફરજ સમજે તો કોઈ એકના ઉપર વાર પડ્યા સિવાય ખોટ પૂરી થાય અને ઉદાત્ત સાહિત્યનું વાચન વધી ક્રમશઃ સમાજમાં વિદ્યાવૃદ્ધિ થાય.

તેથી હું દરેક વાચકને આ નિવેદન દ્વારા જણાવવા રજા લઉં છું કે તેઓ સાહિત્ય સંશોધકને ચાલુ રાખવા અને શાહક બની રહેવા તૈયાર છે ? તેમજ તેઓ બીબ નંબા

ગ્રાહકો મેળવવા કાંઈ 'મૂર્ત' પ્રયત્ન કરશે ? આ એ પ્રશ્નોના ઉત્તરો સંશોધકના વાચકો તરફથી સત્વર આવવાની આશા રાખવી એ અરથાને નથી એ ઉત્તરો આવ્યા પછી જો સંતોષકારક પરિણામ જણાશે તો ચોથા વર્ષના સંશોધકના સંપાદનનું કાર્ય સત્વર હાથ ધરવામાં આવશે. તેમજ સાહિત્યની વિવિધ શાખાઓના ફરિશ્તો તેમજ ઉપયોગી વાચન પૂરું પાડવાનો યથાસાધ્ય પ્રયત્ન થશે.

વાચકોએ એટલું સ્મરણમાં રાખવું કે શ્રીમાન્ બિનવિજયજી માત્ર અભ્યાસમાં સુખ્યપણે શુદ્ધાયા હશે છતાં જો અહિં તેમનું પ્રિયપત્ર ચાલુ હશે તો કાંઈ ને કાંઈ નવી વાનગી મોકલતા રહેશે અને વિદેશી અવલોકન તેમજ ત્યાંના અભ્યાસની ભાત સંશોધક દ્વારા જૈનસાહિત્યમાં પાડતા રહેશે એમ હું દ્રઢપણે માનું છું. સાહિત્ય સંશોધકના લેખોએ જો વાચકોના હૃદયમાં ખરી જિજ્ઞાસા અને સાહિત્યનિષ્ઠા જન્માવી હશે તેવા વાચકો સંપાદકના નવ અભ્યાસની ચોટી પહોં નવીન વાનગી મેળવવા આતુર હોય અને તે માટે તેઓ સંશોધક ચાલુ રાખવા પોતાથી ધનતો ફાળો આપે એ પણ સ્વભાવિક છે. એજ ધારણાથી વચકો પ્રત્યે નિવેદન કરવા પ્રેરાયો છું. આશા છે તેઓ ઉત્તર આપવામાં વિલંબ નહિ કરે.

સુખલાલ.



- ૧ શ્રી વિષ્ણુધ્રુવવિનિર્મિતા શ્રીઋષભકુંતલવર્ણન-પંચવિંશતિકા ૩૨૧-૩૨૫
- ૨ વિષ્ણુધ્રુવિમલસૂરિ-વિરસિ પત્ર ૩૨૬-૩૩૩
- ૩ આજીવિક સંપ્રદાયઃ મૂળ લે. એ એફ. આર. હોઅર્ન્લે
[અનુવાદક શ્રી સુનીલાલ પુરુષોત્તમ ખારોટ] ૩૩૪-૩૫૮
- ૪ આનંદવિમલસૂરિએ કરેલું ચતિષંધારણ ૩૫૯-૬૦
- ૫ ભૂગોળ, ખગોળ સંબંધી કેટલાક પ્રશ્નના ખુલાસા [સુનિ હર્ષચંદ્રણ] ૩૬૧-૩૬૫
- ૬ કલિંગના ચક્રવર્તી મહારાજ ખારવેલના શિલાલેખનું વિવરણ ૩૬૬-૩૮૨
[લે.-વિદ્યામહોદધિ શ્રી દાશીપ્રસાદ જયસવાલ એમ. એ. પટણા]
(અનુવાદક-સુખલાલણ)
- ૭ જૈનેદર્શનમાં ધર્મ અને અધર્મતત્ત્વ ૩૮૩-૩૯૨
[લે. શ્રીયુત હરિસત્ય ભટ્ટાચાર્ય એમ. એ. બિ. એલ.]
(અનુવાદક-શ્રી નગીનદાસ પારેખ અધ્યાપક ગૂજરાત મહાવિદ્યાલય).
- ૮ કુંરપાલ સોનપાલ સંબંધી કેટલીક હકીકત અને અમદાવાદમાં
દ્વૈધેશ્વર આગળથી જરેલો લેખ ૩૯૩-૩૯૯
[લે. શ્રીયુત રતનમણિરાવ લીમરાવ]
- ૯ જન અંતિહાસિક ચચાં ૪૦૦

डैन साहित्यसंशोधक

‘पुरिस्ता ! सचमेव समभिजाणाहि । सचत्साणाए उवट्टिए मेहावी मारं तरइ ।’

‘जे एगं जाणइ ते सच्चं जाणइ; जे सच्चं जाणइ ते एगं जाणइ ।’

‘दिट्ठं, सुयं, मयं, विण्णायं, जं एत्थ परिकहिज्जइ ।’

—निर्भ्रंशप्रवचन—

खंड ३]

महावीरनिर्वाण संवत् २४५४—फाल्गुन

[अंक ४]

श्रीविबुधमण्डविनिर्मिता

श्रीऋषभकुन्तलवर्णन—पञ्चविंशतिका

चञ्चत्पञ्चममुष्टिकुन्तलततिः प्राचीपतिपार्थना-

ऽनुत्खाता तव राजति श्रवणयोः पार्थं युगादिमभो ! ।

स्नेहद्रोहसमिद्धमानहृदयध्यानमदीपोद्भवा,

ऽऽसंज्ञेवाञ्जनमञ्जरी श्रुतियुगद्वाभ्यां विनिर्गतवरी ॥ १ ॥

श्रीनाभेय ! भवान् नवाभ्युदायिनः श्रीधर्मभूमीपतेः,

प्रासादोऽभिनवोऽस्ति सर्वभुवनप्रीत्यै धृतस्वस्तिकः ।

स्कन्धे तच्चिकुरच्छलादुभयतो हृद्गदोपमोसप्तमा,

नीलीचर्चितचीरखण्डयुगली लोलैयमालोक्यते ॥ २ ॥

१ प्राचीपतिः—इन्द्रः । २ आसञ्जा—लम्बा । ३ अञ्जनमञ्जरी—अञ्जनाशिला । ४ इन्द्रोपः—
नगर लगवी इति लोकमापायाम् ।

गोस्वामिन्नसहाय एव वृषभस्कन्धस्थलीस्थायिनं,
 त्वं प्राग्यं विभराम्बभूविधमहाधुर्यौ (यौ) युगादौ स्थितः ।
 भारे राज्यरथस्य तत्र भरतस्कन्धापिते कुन्तल-
 व्याजादंसतटे तव व्रणकिणश्रेणिध्रुवं दृश्यते ॥ ३ ॥
 प्रव्रज्यां प्रतिपन्नवत्सल ! जगन्नाथ ! प्रपद्य त्वया,
 किं त्यक्ताऽहमितीव विज्ञपायितुं सम्प्रोपिता पञ्चया ।
 तद्रेहाम्बुरुहोपजीवनपरा स्वामिन् ! सुवाणिर्भव-
 त्कर्णान्ते निष्ट (भृ) ता विधाति चिकुरव्याजेन भृङ्गावलिः ॥ ४ ॥
 श्लेत्रे श्रीभरतेऽत्र तत्र समये केनाऽध्यतीर्णं पुरा
 प्राक्तु संसारमहार्णवं प्रतरतः स्वामिंस्तव स्कन्धयोः ।
 लया शैवलवल्लरी ध्रुवमियं नीलालकालिच्छलात्,
 पश्चात्तीर्णवतामियं यदजितादीनां तु न व्यज्यते ॥ ५ ॥
 श्रीमन् ! नाभिनरेन्द्रपुत्र ! भवतो हृन्मध्यभागे सदा,
 शुद्धध्यानर्धनञ्जयस्य दहतः कर्मदुमाणां वनम् ।
 वन्मील [तु] कुटिलालकावलिलताव्याजेन निर्जगृषी,
 रेजे ध्यामलभूमधोरणिरियं श्रोत्रद्वयद्वारतः ॥ ६ ॥
 क्षीयेऽहं वहिरङ्गवायुपटलेनाऽपि त्वया तु प्रभो !,
 यस्याभ्यन्तरवायुरप्यनुचरो योगार्जितं तन्मनः ।
 तन्मे वायुजयं वदेति जलदः प्रष्टुं कचच्छन्नना,
 कर्णान्तः स्थितवान् परोपकरणक्रीडासर्नीडस्तव ॥ ७ ॥
 स्वामिन् ! यद् भवता व्रतं कैलयता सामायिकास्त्रोर्जितैः,
 रागद्वेषमहाभट्टद्वयपराभूतिः समामुञ्च्यते ।
 तेनेयं मल्लद्विसम्भव ! तव स्कन्धोपरिष्ठात् कच-
 श्रेणी संतनुते प्रशस्तियुगली सरुयं मपीवर्णभाक् ॥ ८ ॥
 त्रैरत्न-त्रिपेदी-त्रिर्कालविषयज्ञान-त्रिलोकाद्भुत-
 स्वामित्वप्रभृतिच्छदत्रयभूतः सद्भुतवृक्षस्य ते ।

१ धनञ्जयः-अग्निः । २ वन्मीलः-व्यवन्ती । ३ कलयता-स्थीकुचजिन । ४ त्रैरत्न-शानदर्शन-
 चारित्र्यात्मकम् । ५ त्रिरदी-‘उपग्रे इ वा विगमे इ वा पुने इ वा’ इतिरुक्ता । ६ त्रिकालविषयं ज्ञानं-अतीता-
 नागतवर्त्तमानकालीनं ज्ञानम् ।

श्लिष्टस्कन्धतटाः शिरोरुहजटाः पुण्यैकलभ्यं सदा,
 पादाघःस्थितविश्ववैभवनिधिं संसूचयन्ति प्रभो ॥ ९ ॥
 सन्मार्गे व्रजतां सतामभिमुखीभूतखिलोकीवधू-
 शीर्षालङ्कारं शिवाय भवसि त्वं पूर्णकुम्भ । प्रभो ! ।
 पूर्णस्य प्रशमामृतेन भवतः कर्णोर्षिकण्ठे लुठ-
 त्केशौघच्यपदेशतो विलसति श्रीवृक्षपत्रावलिः ॥ १० ॥
 त्वं स्वामिन् ! परितापहृत् त्रिजगतामानन्दनक्षन्दनः
 कुण्डं ज्ञानसुधारसस्य सुगुणश्रेणीमणीनां निधिः ।
 युक्तं त्रिष्वपि रूपकेषु भवतः स्कन्धे कचानां कुलं;
 नीलाम्भोजविभं निलीनवृद्धङ्गीनिभं गीयते.... ॥ ११ ॥
 दीर्घण्डद्वयदम्भतो रणमहास्तम्भाग्रजामहुरु-
 स्कन्धमोक्षतकुम्भकोटिविलसत्केशौघभूतच्छदः ।
 वक्त्राम्भोरुहविभ्रमभ्रमदलिव्याजोल्लसत्तोरण (णः)
 भ्र(स)गरम्पोद्भुतसिद्धिसौधपुरतो द्वारायसे त्वं प्रभो ! ॥ १२ ॥
 स्मेरत्पद्मकपाटनेत्रयुगलीवातायनप्रान्तयोः,
 स्कन्धाक्रीडनगोपरि श्रुतिलताव्यालम्वि दोलाद्वयम् ।
 वक्त्रं गौरकपोलभित्ति भवतो वाग्देवता-पद्मयोः,
 क्रीडासौघमुपान्तयोरुपवनप्रायोल्लसत्कुन्तलम् ॥ १३ ॥
 त्वद्वक्त्रस्य सुधारुचेः पुर इह स्थातुं न शक्तो द्विपा-
 मप्याहादकमस्य चारिमगुणं व्यालोकितुं चोत्सुकः ।
 उच्चैःस्कन्धगिरीन्द्रयोरुभयतो भीत्या निर्लाय प्रभो !,
 मन्ये श्यामलकुन्तलच्छलमुपादायाऽन्धकारः स्थितः ॥ १४ ॥
 योगिन्नाह ननः कानने सुरभिणि ज्योतिष्प्रदाने
 त्यक्तवा शाश्वतमत्सरं निवसतः पायोजचन्द्रश्रियौ ।
 तस्मिन् बुद्धिवृत्तिपसङ्गमनयोरप्राप्नुवन्तौ ध्रुवं,
 पर्यन्ते चिकुरच्छलेन मधुपश्रेणिकलङ्की स्थितौ (१) ॥ १५ ॥
 नित्यं कान्तिकलः कलङ्कविकलस्त्वद्वक्त्रचन्द्रो यथा,
 देव । त्वं वद तादृशः कथमयं मत्पुत्रचन्द्रो भवेत् ।

एवं प्रष्टुमिवाभितः श्रुतिपुंगुं सङ्कुच्य कल्लोलिनीः-

कान्तः कुन्तलकैतवाद्दुषययौ गोम्भीर्यमन्त्रं तव

॥ १६ ॥

सौरभ्यातिशयेन ते यदि मुखं श्रीसमं पद्मं स्फुर-

ज्ज्योतिःपार्थसि कण्ठनालमभितः पङ्कन्ति तत् कुन्तलाः ।

विश्वाहादिविभौवशाद् यदि मुखं चन्द्रोऽथ तत्पृष्ठत-

स्तत्कान्ता चिकुरच्छलेन रजनिः केनाऽत्र नो मन्यते

॥ १७ ॥

स्वार्मिस्त्वन्नयनाद्भुताद्भुततमश्रीनिर्जिता लज्जया,

न स्थातुं पुरतः क्षमा कुबलयश्रेणिर्निर्लीय ध्रुवम् ।

माग्मित्रीकृतचन्द्रतोऽप्यतिसुखं द्रष्टुं त्वदीयं मुखं,

मान्तस्कन्धशिलोच्चयोपरि समारूढा शिरोजच्छलात्

॥ १८ ॥

नित्यं मानवदेवदानवदशां व्यूहेन लेह्याऽप्यसौ,

श्रीनाभेय ! भवन्मुखौर्पधिपतेज्योत्सना कथं क्षीयताम् ? ।

य(त)स्मादत्र जगन्नयीर्परिष्टदमान्तद्वये कुन्तल-

व्याजाद् राजति कृष्णाचित्रफलताजालप्रबोलावलिः

॥ १९ ॥

आलोचय त्रिदिवापगां परिलसत्कैलासशैलासना-

ऽध्यासीनस्य वृषध्वजस्य शिरसि मेहोलैनादुन्मदाम् ।

संहर्षादिव देव ! ते रविमुता मूर्धानमासेवते,

केशश्रेणिमिपाद् वृषाङ्कविमलक्ष्माभृत्तटीमण्डनम्

॥ २० ॥

श्रीशत्रुञ्जय एष कुञ्जरवरः मोक्षामसौर्दोमिनी-

क्षिप्राम्भोदमिपेण हेमखचितमत्पद्मरङ्गदुर्द्धः ।

तत्रोच्चैस्तरचैत्यकोष्ठकगतो धर्म दधानः प्रभो !,

विशिष्टपद्मि(प्यनं) विपमेषुमद्भुतगुणं त्वं नामिभूतो भटः ॥ २१ ॥

दृश्या कुन्तलदम्भतोऽस्ततटपोस्त्वत्पृष्ठवद्भोलस-

त्तूणीरद्वयधाणसंचयशिखासंदोहपिच्छच्छविः ।

१ कल्लोलिनीकान्तः-समुद्रः । २ "गोभिर्वैमर्शं" ज । ३ पायः-जलम् । ४ पङ्कमिवाऽऽचरन्ती-
त्यर्थः । नामधातुरयम् । ५ विभा-कान्तिः । ६ औपधिपतिः-चन्द्रः । ७ परिष्टदः-प्रभुः । ८ योः प्र-
९ त्रिदिवापगा-गंगानदी । १० वृषध्वजः-शिवः । ११ मेहोलनं-हिन्दोलनम् । १२ उन्मदा-उन्मत्ता ।
१३ रविमुता-समुत्तानदीत्यर्थः, एष विल कृष्णजलेति कुन्तलमायम् । १४ वृषाङ्कः-कृष्णो जिनः ।
१५ सौदायिनी-विशुत् । १६ गुटः-हस्तिपीठगतमास्तनम् । १७ विपनेयुः-कामः ।

जेतव्यस्तव संजितस्त्रिभुवनद्रोहश्च मोहः स्फुर-
द्रांगद्वेपकपायपञ्चविषयमायमवीरवृतः ॥

॥ २२ ॥

उच्चांसस्थलसंस्थकुन्तललताजालमवालाश्रित-
मत्स्यासन्नविलोककर्मलतिकापाशद्वयजासतः ।

देव ! त्वत्कफपोलचन्द्रयुगलसंवेणौ मण्डपं ध्रुवं,
त्वंद्रीक्षारसिकौ स्थितौ पुर इमौ श्रीधर्मचक्रान्तिके

॥ २३ ॥

अश्रान्तौ विबुधमधुमृत्तिकत्रैलोक्यलोकस्तुति-
र्यर्पयन्ती परितः सुधां श्रवणयोः मान्ते तव स्फूर्जति ।

तस्याऽऽस्यन्दवशादिवोद्धतमिदं स्वामिस्तवांसस्थले-

श्रीनाभेय ! शिरोजराजिमिपतो दूर्वावनं प्रावतम् ॥ २४ ॥

एवं नाभितनूद्भव मविलंबं कृत्वा मनः सौष्ठवं,
स्वामिन् ! चर्णितकुन्तलं तव नवं यः पौपठीति स्तवम् ।

प्राप्य प्राग् विबुधमशुत्वनिभवं शुक्ला च दूरे भवं,
स प्राप्नोति सुखं गलत्परिभवं निःश्रेयसश्रीभवम् ॥ २५ ॥

॥ २५ ॥

॥ इति श्रीकृष्णभक्तलवर्णन [चर्णन] पञ्चविंशतिकास्तोत्रं ॥

१ संजितः-परिहितकवचः । २ "लान्तरालभि"-प्र. । ३ एणः-हरिणः । ४ त्वंद्री-
क्षारसिकी-त्वद्दीर्घनरसिकी । ५ "न्त"-प्र. । ६ नयं-नयनं-नवीनम् । ७ अश्रं धृतः पुनर्वा पठतीति
वाच्यते । ८ इत्यन्तोमिदम् । ८ "शिव"-प्र. ।

विष्णुधविमलसूरि-विज्ञप्ति पत्र.

[आ नीचे आपेक्ष विज्ञप्तिपत्र, पडादरानी सेन्द्रव लाष्टिरीना संस्कृत विभागना अध्यक्ष अने 'गायकवाडस् ओरिजेन्टल सीरीज'ना संस्थापक सहजत साक्षर श्रीयुत यिभनबाब गवालाछि दबाब, ओम, ओ. पासेथी अमने मळ्युं हतुं. ओ विज्ञप्तिपत्र औईगाथाह (दक्षिणभां नीलांभना रान्यभां आपेक्ष ओक प्रसिद्ध शहर) ना संघे संवत् १८१० ना वर्षभां विष्णुधविमलसूरिने गांधवी भंदरे लपेक्षु छे.

-संपादक]

श्रीपार्श्वदेवजी

स्वस्तिश्रीभवनं मनोज्ञवचनं त्रैलोक्यलोकावनं
विद्यावह्निवनं ग्रहप्रभवनं सौभाग्यभूषावनं ।
क्लपतोनोलवनं शिवाध्वजवनं त्रियो वनीजीवनं
पायावधेपवनं भूसानिधुवनं पार्श्वे स्तुवे पावनम् ॥ १ ॥

स्वस्तिश्रीमकरं सरोद्धहकरं गाम्भीर्यरत्नाकरं
श्यामाश्यामकरं जगद्दिनकरं कीर्त्याजितोपाकरम् ।
ध्वस्तारातिकरं विदांस्तु(मु)करं श्रीपद्मपाकरं
बुद्धाक्षिमकरं शामाब्धीमकरं पार्श्वे भजे शंकरम् ॥ २ ॥

स्वस्तिश्रीरमणस्तनोतु सततं प्रीते सतां सन्तति
श्रीमत्पार्श्वजिनेश्वरः कमलीने ने तव पङ्कजैरुहाम् ।
भोक्तेवापत चक्षुषो जलरुचां वीथीव भोगीद्विपां
तिनधुनां रजनीसीतेव सरसी जन्मेवबुद्धान्यसाम् ॥ ३ ॥

अवं श्रीभंत श्री आदिजिनं प्रभुंभ. श्री पार्श्वजिनं प्रभुंभ. श्री सांतिजिनं प्रभुंभ. श्री वीरजिनं प्रभुंभ. सकल देशनगर शिरोमणि, नरेशमुद्र, वापी रूप तडागादि वादी वनभंड आशाम मुशोषिते, श्री जिनप्रसाद शेषर कक्ष भवन भगोदर श्रेष्ठ संशोषिते, उपाध्य साधमिक जिन सहित धर्म जैन नित्योत्सवं संयुक्ते, न्याय प्रवीण नरपति नगर उतम, श्री पूज्य अरजुक्रमन न्यासरेणु पवित्रिते श्री गांधवीभंदरमहानगरे पूज्यारोप्यतमेतम परमपूज्यार्थनीयात् परमपूज्य श्री आरिनपात्रयुगमण्डी सक्षयसाधु शिरोमण्डी विद्वज्जन मुकुटायमण्डी सरस्वती कंडावरजु सक्ष कला संपूरण उत्साहिक यथे करी आसंकृत्य ओक श्री जिनआरा प्रतिपादक, द्विविध धर्मेना प्रकासक, त्रिणु तरवना आराधक, यत्न-तिनिवारक, पंचमभति साधक, अष्ट काय रक्षक, सप्तलभ निवारक, अष्ट मंड यूरक नवविध अलभ्यधारेक, दशविध यतिधर्म प्रपक, छगारे व्यंगनां नंजु, आरे उपांगना उपदेशक, तेरे शशिपाना रुपक, यत्रो

વિદ્યાનિધાન, પનરે બેદે સિદ્ધના પ્રપક, સોલ કલા સંપૂર્ણ શરીરવદન, સત્તર બેદ પૂજના ઉપદેશક, અંજાદશ સદશ સિલાંગરથ ઉપદેશક, ઓગણીસ કાપોતસર્ગ દોષ નિવારક, વીસ ચાંનક તપ આરાધક, ઇકવીસ ગુણુ આવકના પ્રકાશક, બાવીસ પરીસહેના છપક, તેવિસ સુગર્ગ અધ્યયનના શાયક, ચઉવિસ શ્રી જીનેશ્વરની આજ્ઞા પ્રતિપાલક, પંચવીસ ભાવનાના ભાવિક, જીવીસ દશાકરૂપ વ્યવહાર આરાધક, સત્તાવિસ અણુગાર ગુણુના પ્રકાશક, અઠાવીસ લબ્ધિગુણુના પ્રકાશક, ઓગણીસ પાપશુતપ્રસંગ નિવારક, ત્રીસ મહા મોહની રથાનકના પ્રપક, ઇગતીસ સિદ્ધગુણુના શાયક, જત્રીસ લખણું કરી શોભિત, તેત્રીસ આસાતના દાસગુહાર, ચઉત્રીસ અતિસય શ્રી તીર્થકરના ઉપદેશક,

ચઉપધ

- કુંડુ નિર્ણુદ ગણુધર સડતીસ, ઉદેશા પ્રુટીયા અડતીસ; ગણુચ્યાલીસ કુલગિર નરખિત, ચાલિસ ધધુ શાંતિપવિત. ૧
- ઇગવાલીસ ધર્મ યોગી યોગ, દોષ બધાલીસ રહીત લષ બોગ; તિગચ્યાલીસ વિપાકાધ્યયન, ચોથે વર્ગે ચમાલીસ તિમ. ૨
- ધર્મતાણુ ધણુ પણિયાલ, બંબી લીપી અધર છગ ચયાલ; અગ્નિભૂત મુદ વર્ગે સગયાલ, ધર્મનાથ ગણુધર અડયાલ. ૩
- ગુણુ પંચાસ તે દિઆય, ધનુષ પંચાસ અનંત જિનકાય; બેદ વિનયના ઇકાવન, મોહનીના નામ છે બાવન ૪
- વીર શીખર અતુતર તેપન, તિમ જીમથાદિન ચઉપન્ન વીર કહે અધ્યયન પણુપન્ન, વિમલનાથ ગણુધર છપન્ન. ૫
- ત્રિણુ અધ્યયન પીટક સગવન્ન, પંચકર્મ પ્રકૃતિ અઠાવન્ન; ચંદસેવત્સર દિન ગુણુસાઠ, વિમલનાથ તણુ ધણુપજ સદ. ૬
- જ્યેષ્ઠ બાછી ઇગસદી લાગ, બાસદિ જ્યેષ્ઠ ગંગાનો લાગ; પૂરણ સીકાક પ્રસિદ્ધ ત્રેસક, ચોસક સુંદરીના ગુણુ લધધ. ૭
- સરેમંડલે નિખધે પણુસદિ, તેકુલ આયુ સાગર છાસદ; શ્રી ત્રેયાસ ગણુધર સડસદ, ધાતકીઇ ચર જાણુ અડસદિ ૮
- ગુણુ સત્તરિ પપટી લિણુ મોહ, સત્તર ધણુ તણુ આરસ જિન સોષ; ઇગસત્તરિ પૂર્વવખ અગ્નિત ગૃહવાસ, શ્રી ચર બહોતર કલાનિવાસ. ૯
- ઐગ અસં તિગસત્તરિ લાય, ચીહોતર વર્ગે અગ્નિભૂતનો આય; પંચોતર ઇગલાગ જાણુ, મધ્યમ મંડ છિહોતરને ઠાણુ. ૧૦
- લવ સત્તરોતરિ મદુરત યાય, વર્ગે અઠોતર અકપિત યાય; પોસિ ચોલ ઐક અંતર માંન, સદસ ઐગણવાસી જ્યેષ્ઠપ્રમાણુ. ૧૧
- અસી ધણુષ ત્રેયાસ પ્રમાણુ, યુની પડિમા ઇકવાસી દિનમાણુ; અવાસી દિન શ્રી વીરજિર્ણુદ, દેવાનેદા કુખવ સંદ ૧૨
- સુવસી ગણુધર પ્રયમજિનતણુ, પદમ અંગે પચ્યાસી ઉદેસા ગણુ; સુવિધી તણુષ છવાસી ગણુધાર, સગસિ પ્રકૃતિ પદ કર્મ નિધોરિ ૧૩
- અઠવાસી ગ્રહ કીધા વસ, નવ્યાસ અતિદેવ તિસ; નેઉ ધણુ સીતલ જિનતણુ, એદમાન આગમમાંસુણુ ૧૪

આણુ ગોત્ર વિણ ખટકર્મની, પ્રકૃતિ એકાણું એથે સુણી;	
આણુ વર્ષ ગોત્રમનો આણ, ત્રાણ મણ્યંદ્રપલ થાય.	૧૫
એરાણું ગાથાનો ભેદ, ધંચાણુ ગણ અનિત જિન્દેવ,	
છનુ લાખ ભવ આતિ ભલા, વાણુ કુમાર તણુ નિરમલા.	૧૬
હિતર પ્રકૃતિ સત્તાણુ સાખિ, આઠ કર્મની એથે દાખિ;	
અઠાણુ ભાઈ ભરતના, સદસ નિત્રાણુ જોયણુ મેરના.	૧૭
પાર્થનાથ સનવર્ષજ આણ, એકાધિક સતત સમુદાય;	
ખીકુતર સત ભાપા ભેદ, વિલા ચઢે તણુ લહેા વેદ.	૧૮
દોધક ભેદ તણુ મંડાણુ, તિહોતર સતના તુહિ ભંજણુ;	
રાગ ભેદ ચિહોતર ભલા, દોધક ભેદ ધંચસત નિરમલા.	૧૯
છહોતર સત રાગ મૂર્છના, સાત અધિક સત તસ પ્રામના;	
માલા મણીયા એકસો આઠ, તિણુ જ્યે સુરિમંત્રનો પાઠ.	૨૦
સદસ લાખને કોડ વિચાર, ઇણિપરિણાયક વિવિધ પ્રકાર;	
સુરચુરુ સમસે અવતાર, તપામજ મુની તું આધાર.	૨૧
ગમ્જનાયક ગમ્જાધિપ સાર, મુદર મૂરતિ મોદનગાર;	
કરોતો ભવિજનને ઉપગાર, જિમ વરસે પૂજર જલધાર.	૨૨
ઇત્યાદિક ગુણ નહિ મણા, હજા એકકિસ કહિછ ધણા;	
શ્રી વિશુધ વિમલ સૂરીધરરાય, સાંપ્રત જેહનો મુજસ ગવાય.	૨૩

શ્રી ઇત્યાદિક ગ્રંથે કરી વિરાજમાન, ઇત્યાદિ બહુ વિભાગક, શ્રી શ્રી પૂજ્યજી, બધ સંપન્ને, બસસંપન્ને, કુલસંપન્ને, રૂવ સંપન્ને, દંસણુ સંપન્ને, ચારિત્ર સંપન્ને ઉવંચી, તેવંચી, જસંચી, જિઅકેહો, જિઅમાણે, જિઅમાએ, જિઅસોહે જિઅપરીચહે જિઅ છદીએ, ઇત્યાદિ ગ્રંથે કરી અનંકૃત. વાદીગજસંદ વાદી કદલી કૃપાણુ, વાદિ મુખભંગણુ, સકલ બૂપાવ રંગણુ, વાદિ તિમિર ભારકર, વાદિ રાવજુરામ, વાદિ તારાચંદ, વાદી પવંતછેદ, સરસ્વતી લખ પ્રસાદ, શ્રી જિનસાસન ઉચોતકારક, ધન્ય તે રાજરાણા મુવરાજ્ય ઇસર ઇમ્ય વિવહારિયા જેહે શ્રી પૂજ્યજીના ચરણકમલ વાંછા અને વાદિ ધન્ય તે આવક ધન્ય તે આવિક જેદ, શ્રી પૂજ્ય નિરંતર અચૂતમય દેશના સાંભરે. સમુદપરિ ગંભીર, મેરની પરિઅચલ, ભારંક પંખિની પરે અપ્રમત, કુન્દરની પરિ સૌડીર, સંદિ જિમ કુખંદર, તિમ કર્મની લેવે કરી રહિત, પરમઅધવ, પરમરનેહો, પરમઉપારિ, જંગમતીર્ય, પંડિતજિન લસાટ યુગમાણુ ગમ્જાધિપતિ, ગમ્જામણુ, ગમ્જનાયક, ધરમ ભાર મુરંધર વાયા અવિચલ. કિંબતુના-

દૂહો

ગયધુંગણુ કાગલ કફ, લેખણુ કફ વન રાય;	
મદીયલ સયલી મસકફ, તોદિ ગુણુ લખ્યા ભાય;	૧
અઠા હીયકૃ દાડિમ કલી, ભરીયો તુઠા ગુણુ જેદ,	
અવગુણુ એક ન સાંભરે, વિસારીને જેદ.	૨
દિયડા તે કિમ વિસરે, જે સદચુરુ સુવિચાર;	
દિનદિન પ્રને સાંભરે, જિમ કોપલ સદકાર.	૩

અથ હાલ રસીયાની

પ્રથમ તીર્થંકર પચકમલે નમું, સમર્થ સરસ્વતિ માય; સુ.	
પંચમ આરે હો મુનીવર પ્રગટીઓ, ભેટયા ભવ દુખ નય સુ.	૧
વિશુધ વિમલસૂરી વંદો ભાવસું, નિકંદો કરમની કોટિ; સુ.	
ગુણે કરી અમૃત ભર્યો, દુણું કરે એહની હોડિ. સુ.	૨
ગુણ છતિસેં અંગે જોખતા, જોખતા મન વચકાય; સુ.	
પંચમુમતિ મહાવ્રત પાલતા, પંચાચાર પણ કહેવાય. સુ.	૩
આગમ પસ્તાલીસ જસ મુખ વસેં, અષ્ટ મહાન્યાકુળે પંચકાવ્ય; સુ.	
અનેર અનોપમ ગ્રંથ ગુણે ભર્યો, ન્યાય ચિંતામણી ભાવિ. સુ.	૪
તપ તીક્ષણતાં અંગે આદરેં, અતુભવ રસ્તો ભંડાર; સુ.	
વિશુધવિમલસૂરી શાસન સોભતા. અધર દિનકર નિમ અંધકાર. સુ.	૫
માતા રહિયાંબાઈ કુખે અવતર્યો, પીતા ગોકલ ગુણવંત; સુ.	
પ્રાગવંસ પૂનવંત અલુઆસીઓ, મહીમા મેર મહંત સુ.	૬
તુમ પદ પંકજ અંમ મન મધુકર, ધન આતુકની રે પ્રીતિ; સુ.	
... એહ અમારી રે પ્રીતિ. સુ.	૭
ધન ધન દોર સીરામણ માંદલી, ધન ધન ગીરઆરે પાસ; સુ.	
ધન ધન સંપ શ્રાવક ને શ્રાવિકા, અવિચલ ધરમ ઉલાસ. સુ.	૮
બરાનપુરના સંધની વંદના વ્યાંચળે એકર નેડિ; સુ.	
... માંદલી નવ નીધ કોટી કન્યાણુ સુ.	૯

વિશુધવિમલસૂરીસર સ્વાખ્યાય સંપૂર્ણ.



વિમલપાદમૃત્ત્રીઆનન્દાભિધાનમુનીશ્વરા:

સુવિહિતવરા: સદ્ગીતાર્યાસ્તપાગણમપ્કનં

કૃતનિમહિતાસ્તેપાં પટ્ટમમાકરશેખરા:

વિજયપદમુક્ત્રીદાનારુપા યુગે શુભસૂરય: ॥ ૧૩૭ ॥

આખ્યા. અથ શરૂ પરંપરાની પ્રથમ વિખાએ છે જે સિદ્ધાંતના અર્થ પરંપરાગત હોય તેવ સત્ય તાલુકા તેહજ શરૂની પરંપરા જે છે તેવ સમ્યક્ત્વનું મૂલ્ય કારણુ છબ તે માટે શરૂપરંપરાની પ્રથમ વિખારી ચોગ્ય છે.

જે શ્રીવર્ધમાન સ્વામી તે સકલ શરૂપરંપરાનું કારણુ છે, તેવ માટે પ્રથમ પદોધર છે તે શ્રી મુખર્ષી સ્વામી શ્રી હેમવિમલ સૂરીશ્વર પર્વન । પંચાચાર પાટ સૂધી પપ સુદ પદંપરા આશી આવી છે । તેહને પાટો । છપણુમે પાટો પદ । વિમલપદ ભૂત । શ્રી આનંદાભિધાન મુનીશ્વરા કં । વિમલપદના ધરનાર્ષી શ્રીઆણંદવિમલ મુનીશ્વરા એ દવા આચાર્ય પદોધર । સુવિદિનવરા કં કિયાવંત સાધુઓ વરા પ્રધાન સદ્ગીતાર્યો: કં વિનય ગીતાર્ય અદ્દુ દુન તપાચક્રમંતે તપાચક્રના મંત્રાનુન નિમદિના કં ।

પોતાને કશું છે હિત જેહને એહવા શ્રી આણંદ વિમલ સૂરીશ્વર તિહકાલે હુંકાનો મત યથા વિસ્તર્યો છે । તેહ ગુરની આરાં યકી । સંવત્ ૧૫૮૨ । શ્રી આનંદ વિમલસૂરીશ્વર ઈં ક્રિયા ઉદાર કરીને યથા જીવને પ્રતિ બોધ્યા તેહ પાટે શ્રી વિજયદાનસૂરીશ્વર સત્તાવન પાટને વિશે થયા । તેમાં પદ્મભાગર શેખરા કં તેહના પાટને વિશે પ્રભાકર કં સૂર્યનંદ વિશે શેખરા મુકુટ સરખા યુગને શુભ સૂર્યઃ ઉત્તમ સૂરિ છે । ૧૩૭

તેમાં પદ્મવિયત્તલે શવિજયા શ્રીહીરસૂર્યોપમાઃ

ક્ષિત્યામકવરસાહિના દ્યુતિમતા વિખ્યાતસત્કીર્તયઃ ।

શ્રીસેનાદ્વિજયારૂપસૂરિસુભગાઃ પદ્મે સપાદાસ્પદં

સૂરિશ્રીવિજયાદિદેવમુનયો ગચ્છે તપાનામનિ ॥ ૧૩૮ ॥

વ્યાખ્યા-તેમાં કં તેહ વિજયદાનસૂરીશ્વરને પદ્મ આકાશ તલને વિશે વિજય પદ સંહિત શ્રી હીરસૂર્યોપમા કં અદાવનના પાટને વિશે શ્રી હીરવિજયસૂરીશ્વર થયા । તેહ સૂર્યમાન પ્રતાપી થયા । દિત્યાં કં પૃથિવીને વિશે અકવરસાહિના દ્યુતિમતા કં જ્યોતિર્વંત તેહને પ્રતિબોધ્યે કરીને સત્કીર્તયઃ કં ભક્તી છે કીર્તિ તેહની । ૧૮ । શ્રીસેનાદ્વિજયારૂપસૂરિસુભગા કં । એણુસાહમે પાટઇ શ્રી રથેનવિજયસૂરિ નામા થયા પદે સપાદાસ્પદં શ્રી હીરવિજયસૂરીશ્વરને પાટે સવાઇ થયા સૂરિશ્રી વિજયાદિદેવ મુનયો કં સાહમે પાટે શ્રી વિજયદેવસૂરીશ્વર થયા ગચ્છે તપાનામનિ કં તપાગચ્છને વિશે થયા । ૧૦ । ૧૩૮ । કાવ્યાર્થઃ

તેમાં પદ્મે મહારૂપા વિજયપદયુતાઃ સૂરિમુખ્યા ધમ્મુઃ

તત્પદ્મે જ્ઞાનસૂરિમવરસવિમલાઃ સાધુસંવિજ્ઞસંગાઃ ।

શ્રીસૌભાગ્યાભિધાના જલધિપદયુજઃ સૂરિસંપત્ત્યુક્તા-

સ્તેપાં પદ્મે તપસ્વી સુમતિજલનિધિસૂરિસંજ્ઞાન્વિતોઽશ્રુઃ ॥ ૧૩૯ ॥

વ્યાખ્યા-એકસહિમે પાટે શ્રી વિજયપ્રભસૂરિ થયા । આસહિમે પાટઇ શ્રી જ્ઞાનવિમલસૂરીશ્વર થયા । સાધુસંવિજ્ઞસંગા કં સાધુમંદિર સંવેગની સંજ્ઞાવંત આચાર્ય થયા તિહાં હુંદિયાનો મત વિશેષે પ્રપત્યો તિહાં સંવેગી સાધુના શ્રી પૂજ્ય થયા । શ્રીસૌભાગ્યાભિધાના જલધિપદયુજઃ સૂરિસંપત્ત્યુક્તાઃ-આસહિમઇ ૧૨ પાટઇ થયા તેહ શ્રી જ્ઞાનવિમલ સૂરીશ્વર નઇ પાટે ત્રસહિમે પાટે શ્રી સૌભાગ્યાસાગર સૂરિ થયા તેહ સૂરિની સંપદાસહિત થયાઃ । તેમાં-પદે તપસ્વી તેહથી સૌભાગ્યાસાગરસૂરીશ્વરને પાટઇ । આસહિમે શ્રી સુમતિસાગર સૂરીશ્વર થયા । તેહ સુમતિસાગરસૂરીશ્વર કેહવા છે તપસ્વી કં પ્રદાતપસ્વી । શ્રી વર્ધમાન તપસ્યાના કરનાર્થી એક લીના વિગઇ વિના મંચ વિમળના પચ્ચખાણુ કરનાર્થી । ૧૩૯ । કાવ્યાર્થઃ ।

ધત્તે ન્યાયયતા યશોવિજયતાં શ્રીવાચકો નામનિ

સાહાય્યાદ્ બુધ કંદિનામવિમલઃ સંવેગમાર્ગસ્થિતઃ ।

તચ્છિખ્યો ગુરુકીર્તિકીર્તિવિમલો બુદ્ધો ગુરુસ્તચ્છિખ્યઃ

સૂરિશ્રીવિબુધાભિધાનવિમલો ગ્રન્થં વ્યધત્તેમકં ॥ ૧૪૦ ॥

વ્યાખ્યા-પૂર્વ જે કહી તેહ શ્રીઆનંદવિમલસૂરીશ્વર યકી ગુરની પરંપરા કહી તેહ આચાર્યપદની પરંપરા જનજીવી જે ગ્રંથકર્તા વિબુધવિમલસૂરી । તેહના આચાર્યપદના દાના શ્રી સુમતિસાગર સૂરીશ્વર

યથા. દીક્ષાગુરુ તે પંડિત શ્રીકીર્તિવિમલ ગણિ પંચાસપદધારી । તેહના ગુરૂ શ્રી ઋદ્ધિવિમલ ગણિ મહા-
પુરુષ મહાતપસ્વી સંવેગી થયા તે । સંવત ૧૭૧૦ વર્ષ મૂળરાતમધ્યે ધાણધારમધ્યે શ્રી પાલણુપુર ને પાસે
ગોલાગ્રામ મધ્યે શ્રી મહાધીર સ્વામીની સાનિધ્યે ક્રિયા ઉદ્ધાર કર્યો । તેહ કાલે શ્રીયશોવિગ્ન ઉપાધ્યાય
કાશિમાંદિ । ન્યાયશાસ્ત્ર ભણીને ઇલાં પધાર્યો છે । તેહ સંવેગપક્ષી બહુશ્રુત વિચરતા હતા તેહની સાહાય્યછે ।
શ્રી ઋદ્ધિવિમલ ગણિ ક્રિયા પાત્રતા હતા । તેહના શિષ્ય પં । શ્રી કીર્તિવિમલ ગણિ થયા તે ગુરૂકીર્તિ
કં મોટી છે કીર્તિ જેહની । અનેક ભગ્ય છવને પ્રતિભોધીને દીક્ષા દીધી છે । જેહના ગુણ ઘણા
વિખ્યાત છે જગત્રપમાંદિ છે । તેહ શુદ્ધ કં બહુશ્રુત ગુરૂ કં ગ્રંથકર્તાના ગુરૂ છે । તન્મિત્રુઃ કં તેહના
જે શિષ્ય તેહ ગ્રંથકર્તા સુરિશ્રી વિશ્વધામિધાન વિમલો કં । શ્રી સુમતિસાગર સૂરીશ્વર સંવત
૧૭૬૮ વર્ષે વૈશાખ સુદિ ત્રીજે સૂરિપદની સ્થાપના શ્રી શંખેશ્વર ગ્રામ મધ્યે કરી તિહાં એક
સ્થાપના કરી છે ગ્રંથ વ્યવહારકં કં । તેહ ગ્રંથ કર્તાઈ ઇમકં ઇમિગેવ ઇમકં ગ્રંથ કં સમ્યક્ત્વપરીક્ષા
રૂપગ્રંથ પ્રતિબંધક કં કરતા, હતા. । ૧૮૦ ।

નૌરંગાવાદપુર્ણ પ્રથિતજિનશ્રદ્ધશ્રાદ્ધવર્ગાન્વિતાયા-

માનાયો યૌવરાજ્યે સ વિમલમહિમા સૂરિનામ્ના પ્રસિદ્ધઃ ।

इत्याद्यैः सारशिष्यैः शुभपरिकरितो ग्रंथरूपं त्वकार्पात्

भवयानां धर्महेतोः स विबुधविमलः शुद्धसम्यक्परीक्षम् ॥ ૧૪૧ ॥

વ્યાખ્યા—જે નૌરંગાવાદ સદર નગરને વિષે તેહ પુરી કેહવી છે પ્રથિતં પ્રથિતાનિ કારિતાનિ
જિનશુકાણિ યેરતે શ્રાદ્ધવર્ગોરતેરન્વિતા યુક્તા—જે નગરિને પ્રથિત કં કરાવ્યા છે જિનના ગુહ
કં શ્રી તીર્થકરદેવના દેહ્યો જે શ્રાદ્ધના સમૂહ એહવા ઘણા આવક છે જેનના દેહ્યો પ્રતિમા પ્રતિષ્ઠા
દીક્ષા મહોત્સવના કરનાયો દ્રવ્ય રતવરૂપઈ કરીને સમ્યક્ત્વ નિર્મલ કરતા યકા એહવ્યા આવકે ઘણા
છે. તેહ શ્રાદ્ધવર્ગો સહિત એહવી પુરી તેહને વિષે । માયાયો યૌવરાજ્યે સ વિમલમહિમા સુરિ
નામ્ના પ્રસિદ્ધ કં તેહ નગરિને વિષે નવા એહવ્યા છે તેહને વિષે શ્રી શાંતિનાથ ભગવંતના દેહરા
મધ્યે સંવત ૧૮૧૩ ના વર્ષે કાશુણ્ય સુદિ પંચમીને દિને સા કર્પૂરચંદ મોતીચંદ । તથા સા
દેવચંદ લાલજી પ્રમુખ સંધે ઘણેા મહોત્સવ કરીને આચાર્યપદની સ્થાપના કરી । તેહ શ્રી મહિમા-
વિમલસુરિ રિતિ નામઈ કરીને પ્રસિદ્ધ છે । ઇત્યાદ્યૈઃ સારશિષ્યૈઃ શુભપરિકરિતો ગ્રંથરૂપે ત્વકાર્પાત્
કં । જેહ એહ ગ્રંથ કર્તા છે તેહના શિષ્યઃ પ્રમુખ શ્રીમહિમાવિમલસુરિપ્રમુખૈઃ સાર
શિષ્યૈ કં પં શ્રી કીર્તિવિમલ પ્રમુખ અનેક શિષ્યઈ શુભ પરિકરિતઃ । શુભ પરિવંરઈ પરવયો
એહવ્યો ગ્રંથકર્તા ગ્રંથરૂપે ત્વકાર્પાત્ કં તુ પુનઃ । ગ્રંથ રૂપ પ્રતિ અકાર્પાત્ કં કરતા હતા । તેહ
ગ્રંથ રૂપ કેહવ્યો છે । સમ્યક્પરીક્ષ કં । યથાર્થ સત્ત્વ છે પરીક્ષા જેહને વિષે સ સમ્યક્પરીક્ષા । ૧૪૧

यचाराध्या जैन्यः प्रतिमा सम्यग्दृष्टिभिः आर्द्धैः

ग्रंथो विबुधविमलगणिकृतः स सम्यक्त्वपरीक्षेति ॥ ૧૪૨ ॥

વ્યાખ્યા—યચારાધ્યા જૈન્ય કં જેહ ગ્રંથને વિષે આરાધ્યા કં આરદ્ધવાં યોગ્ય પૂજ્યા યોગ્ય
છે જૈન્યઃ કં જૈનની પ્રતિમા સમ્યગ્દૃષ્ટિભિઃ આર્દ્ધઃ કં । સમ્યગ્દૃષ્ટિ આવકઈ શ્રીચીતરાગની પ્રતિમા
પૂજ્યા યોગ્ય-કરી છે । તેહ ગ્રંથો સં કં તેહ સમ્યક્ત્વ પરીક્ષેતિ એહવું નામ છે । ૧૪૨-આર્ષઃ

શાકે નંદ ૯ વાર્દિ ૭ રમ ૬ ચંદ્ર ૧ મિતે ૧૬૭૯ સંવત્સરે જ્યેષ્ઠમાસિ ।
વહ્નિ ૩ વિધુ ૧ પર્વત ૮ ચંદ્રમિતે ૧૮૧૩ વીરસંવત્સરે શુભે ॥ ૧૪૩ ॥

શાકે કં શ્રી શાસિવાહન રાગઈ પ્રવર્તીવ્યો ને શાકે સંવત્સર સંવત ૧૬૭૯ ના વર્ષે
વહ્નિ કં ત્રિણ ૩ વિધુ કં એક ૧ પર્વત કં આઠ એટલે સંવત ૧૮૧૩ ના વર્ષે જ્યેષ્ઠ માસિ
કં જ્યેષ્ઠ માસને વિશે । એક વીર સંવત્સરને કં વીર વિક્રમાદિત્યના સંવત્સરને વિશે એક ગ્રંથ
સંપૂર્ણ થયો । ૧૪૩ । આપોર્થ :

શુક્રપક્ષત્રયોદશ્યાં સમાપ્તોઽયં ગ્રંથઃ સ ખાનુવિમલસાધ્વર્થ ।

વાલાવવોધો ભાવિજીવસુત્રકૃત્ ॥ ૧૪૪ ॥

આખ્યા—શુકલ પક્ષ ત્રયોદશ્યાં શુકલ પક્ષને વિશે શુદ્ધને વિશે શુદ્ધ તેરસીને વિશે સ ગ્રંથઃ
। સમાપ્તોઽયં કં । એક પ્રત્યક્ષ ગતઃ । સમ્યક્તપરીક્ષામ્ ગ્રંથ સમાપ્તઃ સંપૂર્ણ થયો । ભાનુવિમલ
સાધ્વર્થ કં । સાધુ ભાનુવિમલના આગ્રહ થકી એક ગ્રંથ કર્યો બાલાવવોધો કં । બાલકને અવ-
બોધનું કારણ છે । ભવિષ્યસુખકૃત્ કં ને ભવિ મોક્ષગામી થવને તો સુખકૃત્ કં સુખને
કરનારો એક ગ્રંથ છે । કદાચ કોઈક અર્થે થવને । એક ગ્રંથ દુઃખદાયી પણ હર્યે । તેહના
દોષને ઉકવઈ કરીને પણ એક ગ્રંથનો દોષ ન મળ્યો । જ્યો ઉત્તમ થવને સુખદાયી છે । તો મહા
કદમાણનું કારણ છે । ૧૪૪ । આપોર્થ :

યત્કિંચિત્ સિદ્ધાન્તવિરુદ્ધં લિખિતમનુપયોગેન

તત્ શોધનીયં વિદ્વદ્ધિર્વા મિથ્યાદુષ્કૃતં મેષ્ટુ । ૧૪૫ ।

આખ્યા—યત્કિંચિત્ કં ને કાંઈ સિદ્ધાન્ત વિરુદ્ધ કં શ્રી આપસ્યક ગ્રંથખ સિદ્ધાન્ત થકી ને
કાંઈ વિરુદ્ધ વિપરીત લિખિત કં । ને કાંઈ વિરુદ્ધ લિખાણું હોએ । અનુપયોગેન ઉપયોગ રહિત
પણે કાંઈ વિરુદ્ધ લિખાણું હોએ તત્ શોધનીયં વિદ્વદ્ધિ કં તેહ શોધણું વિદ્વદ્ધિ કં ધંડિતઈ
એક ઉપકાર કર્યો ધંડિત તેહજ નહીં કહીએ । ને પર ઉપકાર કર્યે વા કં અથવા મે કં મુજને
મિથ્યા દુઃકૃત કં ને દુઃકૃત ને પાપ ને ઉત્તમ કાંઈ અણુપયોગઈ લિખાણું હોએ । તેહવું ને પાપ
મિથ્યા કં ફોકટ અરતુ ફોકટ ચાલ્યો । ને ઈહાં ગ્રંથને વિષઈ બંધુની તો સિદ્ધાન્ત વિરુદ્ધ લિખું
નથી । પણ અગાણતાં કાંઈ લિખાણું હોએ તો તેહ વિચારીનઈ શોધજ્યો ધંડિત હોય તેહ મુજને તો
મિથ્યામિ દુઃકૃત હોજ્યો । મંગલમરતુઃ । ૧૪૫ । આપોર્થ ॥ ઇતિ શ્રી સમ્યક્તપરીક્ષા. સમાપ્ત ।
સંવત ૧૮૧૪ ના વર્ષે ફાલ્ગુ વદિ ૭ । વાર બુદ્ધરત્ન દિને લિખિત ॥ શ્રી નીરંગાખાદ મધ્યે ॥

આજીવિક સંપ્રદાય.

[મૂળ લેખક એ. એફ. આર. હોઅર્લે]

(અનુવાદક સુ. પુ. ખારોટ)

[ડૉ. એ. એફ. આર. હોઅર્લે એ જાણીતા યુરોપીયન સ્કોલરમાંના એક છે તેઓનો પરિચય જૈનસાહિત્ય સંશોધક પ્રથમ ખંડના ચોથા અંકમાં થોડો આપવામાં આવેલો છે. તેથી અહિં તેની પુનરુક્તિ આવશ્યક નથી. અહિં માત્ર એટલું જ જણાવવું ખરું થશે કે આ ઇંગ્રેજમાં તેમણે લખેલો 'આજીવિક' વિષયક એક નિબંધ 'ઇ-સાઇકલો પીડિયા ઓફ રિલિજિયન્સ એન્ડ એથિક્સ' ના 'વા. પહેલાના પૃ. ૨૫૯ ઉપર પ્રસિદ્ધ થયેલો છે. જેનો ગૂજરાતી અનુવાદ નીચે આપવામાં આવે છે.

આ નિબંધ અનેક દૃષ્ટિએ ઉપયોગી છે. તેમાં આજીવિક સંપ્રદાય અને તેના નેતા ગોસાણક વિશે પુષ્કળ માહિતી બૌદ્ધ અને જૈન ગ્રંથો ઉપરથી એકત્ર કરવામાં આવી છે. નિબંધ વાંચતાં જ લેખકના વિશાળ વાચન, મનન અને પૃથક્કરણ કૌશલની છાપ પડ્યા વિના રહેતી નથી. એમાંની કેટલીક અટકળો કલ્પિત હોવાનો સંભવ છે. પણ ખરા અભ્યાસીએ સાહિત્ય ઉપરથી તોટરચલાવે વસ્તુ કેમ તારવતી એનો સચોટ દાખલો આ નિબંધ પૂરો પાડે છે.

પશ્ચિમીય વિદ્વાનોની અભ્યાસપદ્ધતિ, અને વિચારસરણિથી માહિત થવા ઇચ્છનાર એક યુનિશી માટે મૂળ ઇંગ્રેજ નિબંધનો ગૂજરાતી અનુવાદ કરવામાં આવેલો પણ એ અનુવાદ ખીન જિજ્ઞાસુઓને પણ ઉપયોગી થાય એવી ધારણાથી તે યુનિશીની સમ્મતિથી એ અનુવાદ અને પ્રસિદ્ધ કરવામાં આવે છે.

આ અનુવાદ કેવળ ભાવાનુવાદ ન હોતાં યુષ્મત્પણે શાબ્દિક અનુવાદ છે. મૂળ સાથે મેળવનારને સમગ્ર પડે એવી દૃષ્ટિથી અનુવાદ કરવામાં આવેલો તેથી કવચિત્ કવચિત્ વાક્ય રચના ગૂજરાતી ભાષાને બંધ ન બેસે તેવી જાણી જતાં કાળજી પૂર્વક વાંચનારને તેમાંથી અર્થગ્રાહ થવામાં કરશે જ અડચણ આવે તેમ નથી. આ નિબંધમાં વપરાયેલા પુસ્તકોના સંકેતોનું સ્પષ્ટીકરણ નિબંધના અંતમાં આપવામાં આવે છે. સંપાદક.]

૧ ઉપોદ્ધાત—મોક્ષોના^૧ અને જૈનોના, જનનેના પવિત્ર ગ્રંથો ઉપરથી આપણે જાણીએ છીએ કે ઇ. સ. પૂર્વે ૭૪૧ પૂકાના પ્રાયઃ અંત ભાગમાં બૌદ્ધ અને જૈન ધર્મની સ્થાપના સમયે આજીવિક નામનો એક સમકાલીન લિહુસમૂહ દસ્તી ધરાવતો હતો. અસુક જૈન શાસ્ત્રોમાં આપણને વિશેષ માહિતી મળે છે કે આ સમૂહનો સ્થાપનાર ગોસાલમંખડીપુત્ર^૨ નામનો માણસ હતો. સમયોગમાં^૩ ગોસાલે એક જાણુને—સદાશયપુત્રને—આજીવિકસમૂહમાં સ્વીકાર્યાનું કહેવાયું છે. અને ભગવતી સૂત્ર નામનો પંચમંગમાં આપણને એ સમૂહે યુગી તરીકે સ્વીકારેલ ગોસાલનો જ્ઞાત મળે છે. જુદે ઉપાલંભાએ^૪ લીધી માટેલા ૭ લિહુસંધોના નેતાઓમાંના એક તરીકે અનેકવાર બૌદ્ધ પવિત્ર ગ્રંથો^૫ ગોસાલ મંખડીપુત્રનો ઉલ્લેખ કરે છે; જતાં ૨૫૯ રીતે, આજીવિકો સાથે સંબંધ ધરાવનાર તરીકે એઓ એનો કદિ ઉલ્લેખ કરતા નથી. પરંતુ જનને (જૈન અને બૌદ્ધ) એને સત્ત્વત્ ઇન્દ્રિયશક્તિના અને નૈતિક જ્યાજ્ઞદારીના નિમેષનો ધાર્મિક તત્ત્વિક સિદ્ધાંત—નિયતિવાદ—ધરાવનાર તરીકે જાણે છે એ દૃષ્ટાંત દર્શાવે છે કે આ બાબતમાં બૌદ્ધ પરંપરા જૈનથી યથાર્થ રીતે જુદી પડતી નથી.

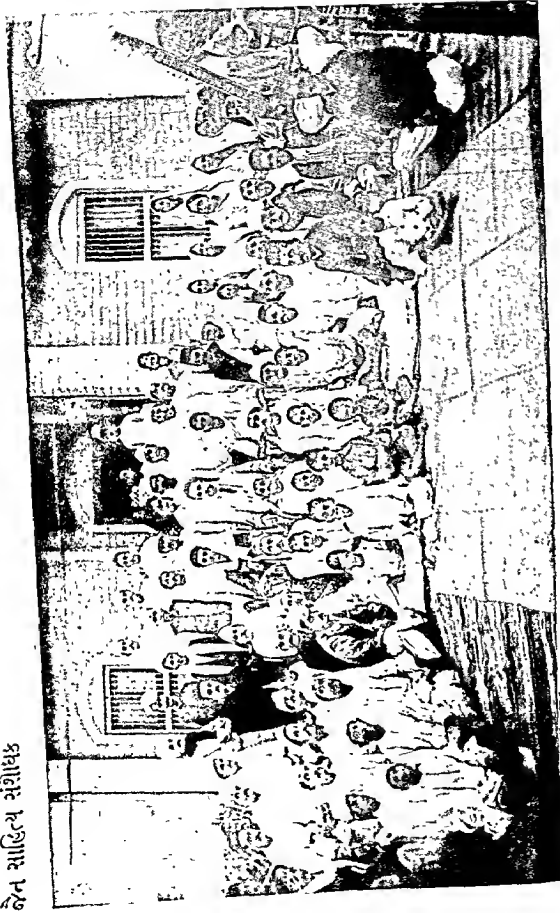
૧. અ. નિ. ૩, ૨૦૬; ડી. પ. ૭૩, ૨૨૦ ૨. પાલી નિસકંપુત, સંસ્કૃત મસ્કરીપુત્ર; ૩. ઇ. દ. ૨, ૧૩૩ ૪. મ. નિ. ૧, ૧૯૮, ૨૫૦, ૫૫૫ સં. નિ ૧, ૬૮; ૩૬૮; ૪ દી. નિ. ૧, ૫૨, જી. પ. ૨૪૬

આજીવિક નામના ચોક્કસ અર્થ વિશે આપણને કશી માહિતી નથી. સંસ્કૃત શબ્દ આજીવ એટલે કોઇ પણ અસુક વર્ગના લોકોનો જીવનમાર્ગ વા વ્યવસાય-પછી તે સંસારી શુદ્ધત્વ તરીકેનો હોય વા સાગી પરિવારજક તરીકેનો હોય. આમ સમ્યગ્-આજીવ એ બૌદ્ધ પદ્ધતિમાં પરિવારજકના એક ફરજીયાત 'માર્ગો' માંનો એક માર્ગ હતો. આજીવિક શબ્દ આજીવમાંથી આવેલા હોઈને એનો અર્થ પોતાના વર્ગને શોધ્ય પ્રકારનું જીવન ગુજારનાર એવો થાય છે. આપણે હવે પછી નોંધણું કે કર્મનાં બંધનોથી મુક્ત થએલા બિહુઓના આજીવ પરત્વે ગોસાલ વિચિત્ર અભિપ્રાયો ધરાવતો હતો એમ માનવાને કેટલાક કારણો છે. સંભવતઃ આજ કારણોએ કરીને એ અને એના અનુયાયીઓ આજીવિકો અથવા આજીવનો વિશિષ્ટ સિદ્ધાંત ધરાવનાર તરીકે ઓળખવામાં આવ્યા. આપણી પાસે જે જે સૂચનો છે તે તમામ એમ ખતાવે છે કે આવા દાખલાઓમાં બહુધા હોય છે એમ એ નામ એમણે પોતે પાડેલું ન હોતું પરંતુ એમના પ્રતિપક્ષીઓએ પોતાનો તિરસ્કાર સૂચવવા માટે પાડેલું હતું. આપણે નોંધણું એ પ્રમાણે બિહુપણાને ગોસાલ સાધન તરીકે નહિ પણ ગુજરાનના સાધન તરીકે, માત્ર વ્યવસાય તરીકે, અનુવર્તનને ગોસાલે પોતાની જ વર્તણૂકથી ટાંગેનો આલેખ વહેરી લીધો હતો. એમ જણાય છે કે આજીવિક નામ મૂળે ગોસાલ અને એના અનુયાયીઓને 'ધંધા લઇ બેઠેલા' તરીકે બદનામ કરવાના અર્થમાં ચોખ્ખું હતું; જો કે નિઃશંકપણે, પાછળના કાળમાં જ્યારે તે એક પરિવારજક સંઘનું વિશિષ્ટ નામ થયું ત્યારે એ દુઃખ લાગે એવો અર્થ હુમ થયો હતો.

૨ ગોસાલનો અંગત ઇતિહાસ- સામાન્યતઃ ભગવતી સૂત્ર તરીકે ઓળખાતું જોનેનું પંચમ અંગ ગોસાલના જીવનનો આપણને કીક કીક સંબંધ અને વિગતવાર જ્ઞાતિ^૧ આપે છે. આ જ્ઞાતિ પ્રમાણે ગોસાલનો પિતા એક પ્રકારનો મંચ અર્થાત્ ધંધાર્થી માગણ હતો અને એનું નામ મંખલી હતું. આથી કરીને એ મંચલીપુત્ર વા મંખલીપુત્ર તરીકે ઓળખાતો હતો. એનું બીજું નામ ગોસાલ પદ્યાનું કારણ એ હતું કે એનો જન્મ ગોસાલમાં (ગોસાલમાં) થયો હતો જ્યાં અસુક વરસાદની ઋતુ દરમિયાન અન્ય કોઇ આશ્રયસ્થાન નહિ મળવાથી એનાં માથાપે આશરો લીધો હતો. એ મોટો થયો ત્યારે એણે પોતાના આપને ધંધા પ્રદંચુ કયો. લગભગ એજ સમયે મહાવીર નિગ્ગન્થ^૨ તપસવી તરીકે પરિક્રમણ શરૂ કર્યું હતું. પોતાના ભ્રમણ દરમિયાન ગોસાલને વારંવાર એમનો ભેટો થયો. લોકો મહાવીરને જે મહાન પૂજ્ય ભાવથી જોતા એ જોઈને એણે એમની સાથે જોડાવનો નિશ્ચય કયો. પ્રથમ પાછો કાઢવામાં આવ્યા છતાં પોતાની અતિયાચનાથી આખરે એ મહાવીરના શિષ્ય તરીકે સ્વીકૃત થવામાં ફાળ્યો. પરંતુ આ બે માણસો ચારિત્ર્યમાં અને સ્વભાવમાં એટલા ભિન્ન હતા કે છ વર્ષ પછી ગોસાલની દાખાખાજ અને ફંદેલના કારણે એમના સહચારનો એન આગ્યો. હવે ગોસાલે હરિકે નેતા બની આજીવિક નામનો જુદો પંથ જમાવ્યો અને પોતાના અનુયાયીઓ સાથે સાવત્રી (આવરતી) નામના ગામમાં ગયો અને ત્યાં એક દુભારજનના મકાનના લાગમાં પોતાનું મથક કર્યું. ત્યાર બાદ સોળ વર્ષ દરમિયાન મહાવીર કહિ પોતાના પૂર્વ સહચારીને ભેગા થયા હોય એવું જણાતું નથી. એટલા ગાળા પછી (એક દિવસ) મહાવીર પરિક્રમણ કરતા કરતા સાવત્રીમાં આવી ચડયા. અને ગોસાલનો ત્યાં કેવો પ્રભાવ પ્રવર્તે છે એ એમના સાંભળવામાં આવ્યું. પ્રસંગોપાત પોતાને તપસવી તરીકે ઓળખાવનારનો જુદો વેશ એમણે ઉઘાડો પાડ્યો. એ વાત કાને આવતાં ગોસાલે વેર લેવાની ધમકી આપી અને એકદમ પોતાના અનુયાયીઓને લઇને મહાવીર જ્યાં પોતાના નિગ્ગન્થો સાથે ઉતયો હતા તે તરફ ઉપડ્યો. ત્યાં એણે એક વિવ્યક્ષણ દલીલ આગળ કરીને અર્થો માર્યો. 'એણે કહ્યું: મને ઓળખવામાં મહાવીરે ખૂસ કરી છે. વાસ્તવમાં એક સમયે મહાવીરના સહચારી તરીકે જણીતા થએલા ગોસાલથી હું સંપૂર્ણતયા ભિન્ન માણસ છું.' આ વાક્યજનને મહાવીરે તિરસ્કાર-

૧. ઇ. દ. પરિશિષ્ટ ૧ માંનું ભ. સ. ૧૫ હું' આપતર ૬. એની એકજી નિગ્ગન્થ પદ્ય થાય છે, જુઓ ને. સ. ૫. ૧૪. પાટનાં.

नेन सालित्य संगोदधक



कर्मन प्रो. री. एच. युजिन पी. जे. ए. अथा सिगलायां अगस्तवाद आलेख रथरे नेन सालित्य संगोदधक मधोदय तदर्थी
तेमने आपलायां आवेली पर्यटना सभरे लोचिटा दिटाबाद.

સૂત્રના ફકરા સિવાય, ક્યાંય જોવામાં આવ્યો નથી અને હું અત્યુમાન. કરવાનું સાદસ કઈ છું કે એ ખાસ ઉપગમની કહેણા જ છે. તદુપરાંત અત્યુમાનાશ્રિત એ મંચ શબ્દનો અર્થ જુના ટીકાકારોને નિશ્ચિનપણે સાત ન હોતો. આમ, અભયદેવ (આશરે ૧૦૫૦ ઈ. સ.) ભગવતીસૂત્ર ઉપરની પોતાની ટીકામાં એનો અર્થ 'ન્યાં ત્યાં, પોતાની સાથે રાખેલા (કપાખોર) દેવાનાં ચિત્રો ખતાંની લોકોની પાસેથી દાન પંડાવતો ભીખારી' એવા કરે છે, ત્યારે હેમચંદ્ર (આશરે ૧૧૪૦ ઈ. સ.) અભિધાન ચિંતામણિ ઉપરની પોતાની ટીકામાં કહે છે કે એ સુપ્રસિદ્ધ શબ્દ મોગધ-બંદીગન-નો પર્વાય શબ્દ છે. સત્ય, નિર્ણયકપણે, એ છે કે વાંચ્યુત્ત, 'નાયવંસતો માણસ' (મહાવીરનું વિશેષણ) એ શબ્દની જેમ મેંખડીપુત્ર એ પણ સાધિત શબ્દ (Formation) છે. એ એમ વર્ણવે છે કે ગોસાલ, મુળ, મેંખડી વા મરકરિત્ નામના ભિક્ષુવર્ગનો માણસ હતો. ભારતમાં આ ભિક્ષુવર્ગનું ધણું પૂર્વકાલીન અસ્તિત્વ એ હકીકતથી સાળીત થાય છે કે સુવિખ્યાત વેપાકરણ પાણિનિ (આશરે ૩૫૦ ઇ. સ. પૂર્વે) પોતાના વ્યાકરણમાં (૧, ૧, ૧૫૪) આ નામ કેમ પડ્યું તે સમજાવે છે. એના કહેવા પ્રમાણે મરકરિત્ નામ પડવાનું કારણ એ હતું કે એ લોક પોતાના હાથમાં વાંસદંડ (મહકર) રાખેતા. દંડ રાખવાના આ અભ્યાસને લીધે એ પંક્તદંડિન તરીકે પણ ઓળખાતા હતા. પાણિનિના લખાણ ઉપરના પોતાના લખાણમાં પંતનશ્રિ આગળ સમજાવે છે કે આ પ્રકારનો પરિવાજક મરકરિત્ કહેવાતો એનું કારણ વિશેષ કરીને એ હતું કે એણે સર્વ પ્રવૃત્તિઓનો ત્યાગ કરવાની પ્રતિજ્ઞા કરેલી હતી, નહિ કે એ દંડ રાખતો. આ બે લખાણોમાંથી એક હકીકત તરી આવે છે અને તે એ કે આ મરકરીઓના વા એકદંડીઓના બે પ્રકારો હતા. ઉત્તરતી શ્રેણિનો તપસ્વી ભિક્ષાખાત્ર અને કટિબંધન ઉપરાંત સાંધે એક ધ્યાય દંડ રાખતો જ્યારે પરમહંસની ઉચ્ચતર શ્રેણિમાં એ આ ત્રણે વસ્તુના અધિકારનો ત્યાગ કરતો અને નિતાન્ત ત્યાગ રૂપી દંડનો જ ૧૦ આશ્રય લેવાનો રાખતો.

પ્રાચીન ભારતમાં ધરખાર વિનાના પરિવાજક તપસ્વીનું જીવન અંગીકાર કરવાનું વલણ એક સમયે ઘણું પ્રચલિત હોવાનું જણાય છે. ઘણી વાર આ જીવન સાચા ધાર્મિક હેતુઓથી પ્રદેશ કરવામાં આવતું; પરંતુ સંભવતઃ એટલી જ વાર કેવળ રખડેલપણાના શોખને લીધે અને પ્રામાણિક કામ કરવાની અનિચ્છાને લીધે પણ એમ કરવામાં આવતું. કોઈ અમુક વર્ગના લોકોમાં જ એમ હતું એનું નથી; પરંતુ સંભવતઃ નીચલા વર્ગોમાં એનો વિશેષ પ્રચાર હતો. ઉપલા વર્ગોમાં (કહેવાતા ક્ષિત્રીમાં) જાહણ્ય સ્મૃતિકારોએ આનું નિયમન કરવાનો પ્રયત્ન કરેલો. એમણે એવો ધારો બાંધેલો કે ઉમતી અવસ્થાના વર્ગો વિદ્યાસેવનાથી અર્પણ કરવાં, વચલી અવસ્થાનાં વર્ગો કુટુંબપાલન અને વ્યવસાય સેવનાથી ખર્ચેલાં અને તપસ્વીજીવનોથી કેવળ ઉત્તરતી અવસ્થાનાં વર્ગો સમર્પણ કરવાં. પરંતુ આ પદ્ય નિયમનનો ભારતીય સમાજમાં ક્યારેય પણ ઝાંઝો અમલ થતો હતા એ તો સંકારપદ જ ગણાય; કારણ પરિવ્રજ્યાએ સમગ્ર જીવન સમર્પણ કરવાની વૃત્તિ લોકોમાં અતિ પ્રબળ હતી. નિયમ તરીકે મરકરીનું એકાંત જીવન ગુજરતો. આ પ્રકારનું જીવન અંગીકાર કરવાના ધણા ગંભીર દુરપયોગો થવાનો ભય હતો. એથી કરીને પ્રભાવશાળી વ્યક્તિત્વવાળા માણસોએ તપસ્વી જીવન પ્રત્યેના વલણનું શાસન કરવાના કાર્યનો વિચાર કર્યો-એનો પ્રતિબંધ કરીને વા એ માટે જીવનની અમુક કોઈ-મણીનું બંધન મુકીને નહિ, પરંતુ વર્તનના કડક નિયમોના શાસનવાળા સંઘોમાં પરિવ્રાજકોનું સંગઠન કરીને. આવા લોકો તે બૌદ્ધ અને જૈન ધર્મના સંસ્થાપકો. જ્યાં અહેવાલો જોતાં ગોસાલ ભાગ્યેજ એ પ્રકારનો આદર્શ હતો. પ્રકૃતિથી જ એ પરિવ્રાજકપણાના બદલે સ્વચંદ્રી જીવન ગુજરતા ઉત્તરતા પ્રકારનો

રાજસત્તાને આસને આગ્રે એ વર્ષમાં ૪૭ બન્ધો હોવા જોઈએ. હવે એ રાજ્યશાસન સેણીયાના ધાત કરનાં ઘણાં લાંબા સમય પૂર્વે સુસ્થાપિત કરી શકાય એમ નથી. મહાવીર જુદા પૂર્વે એ વર્ષ ઉપર ઇ. સ. પૂર્વે ૪૮૪ માં નિર્વાણ પામ્યા અને એથી કરીને ગોસાલનું જન્મ અને વિગ્રહનું બનવું મહાવીરના નિર્વાણ પૂર્વે ૧૬ વર્ષ ઉપર અને સેણીયાના ધાત પૂર્વે ૧૦ વર્ષ ઉપર ઇ. સ. પૂર્વે ૫૦૦ માં થયું એમ માની લેવાથી સર્વ શરતો ઉત્તમ રીતે સંતોષાય છે.

૩. ગોસાલના આચારવિચાર—ગોસાલ કે એના આશ્રવિક અનુયાયીઓમાંના કોઈ પોતાના આચારવિચારોની તોષ મુકી ગયા નથી. એથી કરીને આ જગે બાજતો વિષે ફરજિયાતપણે એમના હરિદ્દે અર્થાત જ્ઞાનો અને બૌદ્ધોનાં લખાણોમાંના પ્રસંગવશાત્ કરાવેલા ઉક્તિઓ ઉપરથી જ આપણે અભિપ્રાય બાંધવાનો રહે છે. એમનાં કથનો, અધ્યયન, કેટલીક સાવચેતીથી સ્વીકારવાં જોઈએ; પરંતુ એમની સામાન્ય વિશ્વાસપાત્રતાની એમના તમામ આનંદક બાજતોમાંના મળતાપણાથી બાંધધરી મળે છે. આ મળતાપણાનું ખાસ કરીને વધારે મૂલ્ય છે કારણ એ કથનો એ પરસ્પર વિરોધી સંપ્રદાયો તરફથી આવતાં હોઈ બાતમીનાં બે સ્વતંત્ર મૂલ્યો નિર્માણ કરે છે.

બૌદ્ધ મજ્ઞિમ્મનિકાયમાં^{૧૪} એક ઘણું બોધક કથન આવે છે. એમાં જુદા પોતાનાથી બિન્ન પડતી તપસ્વીપદ્ધતિને અષ્ટ વર્ગમાં વહેંચી નાખતો વર્ણવેલો છે. આમાંના ચારને એ અશ્વજન્યર્થવાસ કરનાર તરીકે અપરાધી કરાવે છે; બીજા ચાર વિષે માત્ર એટલું જ કહે છે કે એ 'અસંતોષકારક' (અનાસ્તાત્તિક) છે. પાછળના વર્ગમાં એ મહાવીરની પદ્ધતિને મુકે છે. બેઠ સ્પષ્ટ છે. જુદા ગોસાલ વિષેનો વંધો નૈતિક કારણોને લીધેનો હતો—ગોસાલ સિદ્ધાંતથી અને આચારથી અનીતિમાન સિદ્ધાંતો ધરાવતો હોવાથી એની પદ્ધતિ, ખરેખર, જુદા પરમ અપકારી^{૧૫} વિચારેલી, અને એના પ્રજ્ઞોતાને એમણે (મોહપુરિસ્સ) 'બળ પુરુષ'—માછીની જેમ માણસોને માત્ર એમનો નાશ કરવા અર્થે જ પકડતા 'બળ પુરુષ' તરીકે જ કલંકિત કયો છે.

ગોસાલના મતનો મૂળભૂત સિદ્ધાંત, બૌદ્ધો અને જ્ઞાનો બન્નેના ધર્મગ્રંથોમાં, સહેજસાજ જુદી પડતી પરંતુ વસ્તુતઃ એકસરખી પરિભાષામાં લખાએલો છે. જ્ઞાન ઉવાસગ દસાઓ^{૧૬}માં એ નીચે પ્રમાણે રજૂ થાય છે: 'ઉદમ વા પરિશ્રમ વા શક્તિ વા પૌરુષ વા' મનુષ્યબળ જેની કોઈ વસ્તુ નથી; સર્વ વસ્તુઓ અપરિવર્તનીયપણે નિશ્ચિત થઈ મુકી છે. ^{૧૭}બૌદ્ધ દીર્ઘનિકાયમાં ^{૧૮}ગોસાલના સિદ્ધાંતોના સારાંશ સંપૂર્ણ તરખણે નીચે પ્રમાણે વર્ણવેલો છે.

પ્રાણીઓની બ્રહ્મા માટે, નિકટનું વા દૂરનું કોઈ કારણ નથી; એઓ નિમિત્ત વા કારણ વિના અટ થાય છે. પ્રાણીઓના પાવિત્ર્ય માટે નિકટનું વા દૂરનું કોઈ કારણ નથી; એઓ વિના નિમિત્તે વા વિના કારણે પવિત્ર થાય છે. કશું જ આપણા પોતાના વા બીજાના પ્રયત્નો ઉપર અવલંબનું નથી; હુંકમાં કશું કોઈ માનવપ્રયાસ ઉપર અવલંબનું નથી; કારણ શક્તિ વા પૌરુષ વા મનુષ્ય પરિશ્રમ વા મનુષ્યબળ જેની કોઈ શીજ નથી. પ્રત્યેક સંવિચાર વસ્તુ (અર્થાત ઉચ્ચતર પ્રાણીઓ), પ્રત્યેક સેન્દ્રિય વસ્તુ (અર્થાત અધમનર કોટિનાં પ્રાણીઓ), પ્રત્યેક પ્રગ્નતિત વસ્તુ (અર્થાત પ્રાણીમાત્ર); પ્રત્યેક સજીવ વસ્તુ (અર્થાત તમામ રોપાઓ) બન્ન પ્રભાવ વા શક્તિથી રહિત છે. એમની બિન્નબિન્ન અવસ્થાઓ—કોઈ પણ સમયની—વિધિવશાત્, સંજોગવશાત્ વા એમની પોતાની પ્રકૃતિવશાત્ છે; અને પદ્મજોમાંથી (જુઓ નીચે પ. ૩૪૨) એક વા બીજામાંની પોતાની સ્થિતિ પ્રમાણે જ મનુષ્યો સુખ-દુઃખના ભોક્તા બને છે.

^{૧૪} ૧, ૫૪, ૬૬ ન્યુ. ૨, ૨૮૪. ^{૧૫} અ. નિ. ૧, ૨૮૬; ઓ. જી. ૮૨, ૧૬૬, ડી. ૭૧. ^{૧૬} ૧, ૬૭, ૧૧૫; ૨, ૧૧૧, ૧૩૦. ^{૧૭} સરખાવા સ. નિ. ૩, ૨૧૦; અ. નિ. ૧, ૨૮૬. ^{૧૮} ૫, ૫૩, ડી. ૭૧.

સિદ્ધાંતસ્વરૂપે આ પદ્ધતિની વિગતવાર વ્યવસ્થા કેવી કરી હતી, તે આપણે જાણતા નથી. બૌદ્ધ અને જૈન ધર્મગ્રંથો આથી વિશેષ કરી માહિતી આપતા નથી. એમ છતાં એ સ્પષ્ટ છે કે સિદ્ધાંતની દૃષ્ટિએ એ એક પ્રકારનો હાડાહાડનો નિયતિવાદ હતો, જે મનુષ્યની સ્વતંત્ર કૃત્યશક્તિ વિશે અને કહેવાંતા શુભાશુભ કર્મ વિષેનાં એના ઉત્તરદાયિત્વ વિશે નકાર લાગ્યો હતો. એ પણ એટલું જ સ્પષ્ટ છે કે એ આચારમાં ઉતારાય તો આ સિદ્ધાંત અત્યંત ઉપદેશકરક થઈ પડે. બૌદ્ધ અને જૈનો બંને સંમત છે કે ગોસાલે પોતાનો સિદ્ધાંત આચારમાં પણ ઉતારેલો જ. આગળ લખ્યા પ્રમાણે છુદ્ધ એના ઉપર આધ્યત્મચર્યનો આરોપ મુકેલો. મહાવીરનું કથન પણ એટલું જ ભારપૂર્વકનું છે. 'તપસવી સ્ત્રીઓ સાથે સંભોગ કરે તો કથું પાપ કરતો નથી' ૧૯એવું શિખવવાનો મહાવીર એના ઉપર આરોપ મુકે છે. એ એના અનુયાયી ઉપર 'સ્ત્રીઓના યુથામ' ૨૦હોવાનો આક્ષેપ કરે છે અને કહે છે કે 'તેઓ અધ્યત્મચર્યાનું ઇવન માળતા નથી.' ૨૧ગોસાલે પોતાનો મુખ્ય મઠ એક સ્ત્રીના મકાનમાં રાખવાનું પસંદ કરીને પોતાના જ કૃત્યથી પોતાના ઉપર આ આક્ષેપ વહોરી લીધો હતો.

મૂળ, ગોસાલ મહાવીરનો શિષ્ય હતો એમ જૈન ધર્મશાસ્ત્રો પ્રતિપાદન કરે છે એ હકીકત ઉપરથી જણાશે કે આ નિયતિવાદ અને એનો વ્યવહારમાં કરેલો પ્રયોગ બાદ કરતાં એના અને મહાવીરના સિદ્ધાંતોમાં મુખ્યત્વે કરીને કાંઈ ભેદ ન હતો. જૈન ભગવતીસૂત્રમાં જે એમ લખ્યું છે કે ગોસાલના સિદ્ધાંતો 'પુલ્લેના અંશરૂપ અષ્ટ મહાનિમિત્તોર્માંથી લીધેલો છે' એના ઉપરથી પણ વળી આ અનુમાનનું સૂચન થાય છે. ૨૨ આ પુલ્લે (પૂર્વે વા 'મુલે') મહાવીર પોતે પોતાના શિષ્યોને શિખવેલાં મૂલ્ય પવિત્ર સૂત્રો હોવાનું મનાતું હતું. ૨૩ 'સર્વ સરવો' ના વર્ગીકરણની વિચિત્ર યોજના જે બૌદ્ધ દીપનિકાયમાં ૨૪ ગોસાલની હોવાનું જણાવેલ છે તેથી ગોસાલના અને મહાવીરના સિદ્ધાંતોના સામાન્ય મળતાપણાનું વિશેષ સમર્થન થાય છે. એ યોજના સમજવાનું અને જૈન ધર્મશાસ્ત્રોમાં સ્વિસ્તર દર્શાવવામાં આવેલા મહાવીરના સિદ્ધાંતો સાથે એને અસરકારક રીતે સરખાવવાનું એની અતિસંક્ષિપ્ત લખાવટને લીધે મુશ્કેલ બને છે. પરંતુ એ અગત્યની વિગતો, જે જૈનો ખાસ કરીને મહાવીરના સિદ્ધાંતો હોવાનો દાવો કરે છે તેની એકરૂપતા ગોઠવવાનું સાબીત કરી શકાય છે.

આ સંબંધમાં એ નોંધવા યોગ્ય છે કે પોતાની વર્ગીકરણની યોજનામાંથી ક્ષિત કરેલા ગોસાલના ઉપદેશનો આપવાદ બાદ કરતાં એની એ જ યોજના બૌદ્ધ મન્નિઝમનિકાય ૨૫ અને સંયુક્તનિકાયમાં ૨૬ ભિન્ન પદ્ધતિ કલ્પાચનની હોવાનું અને તિબેટી કલ્પમાં ૨૭ ભિન્ન બિન્ન પ્રકેસકમ્પબલની હોવાનું જણાવેલું છે. આ એ પુરવો તથા ગોસાલ મંખડીપુત્ર, છુદ્ધ વારંવાર આગળ પડતી રીતે પોતાના હરીફ તરીકે જણાવેલાં બિહુનેતાઓમાંના હતા. બીજા ત્રણ નેતા તે નિગ્ગન્થોનો નેતા મહાવીર નાતપુત્ર, પૂરણકરસંપ અને સંજયં બેલ્હીપુત્ર. આથી કરીને જણાશે કે વર્ગીકરણની એ યોજના વાસ્તવમાં સર્વે પક્ષ બિહુનેતાઓને સામાન્ય હતી, પરંતુ પ્રત્યેક જણ એના પોતાની વિશિષ્ટ રીતે પ્રયોગ કરતો. ગોસાલના દાખલામાં એ પ્રયોગો નિયતિવાદની સરખી ગ્રહણ કરી; અને, ખરેખર, દીપનિકાયમાં આ યોજનાની સાથે જે નિયતિવાદી શિખામણ બેટેલી છે તેનાથી એ સ્પષ્ટપણે સ્પષ્ટ થાય છે. એ યોજનાની એક બાબતના સંબંધમાં ને, પ્રશુદ્ધ આત્મા (સળ્ળી સં. સંક્ષી) વિશેની છે—બૌદ્ધ ધર્મશાસ્ત્રો એના સામાન્ય મળતાપણાનો વિગતના તકાવતો સહિત, પ્રત્યક્ષપણે એકશર કરે છે. દીપનિકાય ૨૮ના કથનાનુસાર મન્નિઝમનિકાયમાં ૨૯

૧૬. જૈ. સ. ૨. ૧૧૧ ૨૦. જૈ. સ. ૨. ૨૦૦ ૨૧. જૈ. સ. ૨. ૨૨૫ ૨૨. ઇ. દ. પતિસિદ્ધ ૧ પૃ. ૪.
૨૩. ઇ. એ. ૧૭, ૨૮૦; ૨૭. ૧૭૪, ૧૭૧ ૨૪. પૃ. ૫૪; ૩૧. ૭૨ ૨૫ મ. તિ. ૧. ૫૧૭. ૨૬. ૨. ૭, ૨૮૬
૨૭. સં. નિ. ૩, ૨૧૧, ૨૧૨ ૨૭. ૩૦. લા. પુ. ૫. ૧૦૩ ૨૮ પૃ. ૩૧. ૩૧. ૪૪, ૪૫, ૨૬. ૪, ૩૬૮

લખેલું છે કે જુદ્ધથી વિરૂદ્ધ બધને સર્વ પદ્મલક્ષ્મીનેતાઓ એક સરખી રીતે બોધ કરતા કે 'પ્રચુદ્ધ આત્મા' નિર્નીચ પછી અસ્તિત્વ ધરાવતું જાતી રાખે છે, જે કે એ અસ્તિત્વના ચોક્કસ પ્રકાર વિશે એમનામાં મતભેદ હતો. આત્મા 'રૂપી' છે એવો મત ગોસાલ ધરાવતો હોવાનું કહેવાય છે (જુદ્ધધોષવર) બપોરે મહાવીર માનતા કે એ અરૂપી છે. પરંતુ આ પારિભાષિક સમજાનો ચોક્કસ અર્થ શો હતો તે આપણે જાણતા નથી.

વર્ગીકરણની યોજના નીચે મુજબ છે. ૩૦ '૧૪૦૦૦૦૦ મુખ્ય પ્રકારના જન્મો છે, અને પુનઃ ૬૦૦૦ (અથવા દુલ્લ પ્રમાણે ૬૦,૦૦૦) અને પુનઃ ૬૦૦ બીજા છે. કર્મના ૫૦૦ પ્રકાર છે અને (પરોક્ષ પ્રમાણે) વળી પાંચ બીજા છે અને (મન, વાચા અને કર્મ પ્રમાણે) વળી ત્રણ બીજા છે; અને આખું કર્મ અને અર્થ કર્મ (પણ) છે. (આખું કર્મ એટલે વાચા વા કર્મણ કરેલું કર્મ અને અર્થ કર્મ એટલે કેવળ મનસા કરેલું કર્મ). વર્તણૂકના ૬૨ પ્રકાર છે. આંતરક્રિયા (periods) ૬૨ છે; મનુષ્યોમાં ૭ વર્ષ (અભિજાતિ) છે; માનવ જીવનની ૮ અવસ્થાઓ છે; ૪૬૦૦ પ્રકારના 'આહાર' છે; ૪૬૦૦ પ્રકારના પરિસાજો છે; નાચલોકથી વસાયેલા ૪૬૦૦ પ્રદેશો છે; ૨૦૦૦ શક્તિઓ (Faculties) છે; ૩૦૦૦ પાપભોગ્યનરચનો છે; ૩૬ ધૂમરાશિઓ છે, 'પ્રચુદ્ધ (સંજો)' આત્માઓ, માધી સાત પેદાશો (productr) છે, ions અસંતી પ્રાણીઓમાંથી છે અને ૭ (શિરડીની) બે ગાંઠો વચ્ચેના ભાગોમાંથી છે; ૭ પ્રકાર દેવોના છે, ૭ મનુષ્યોના છે, ૭ પિશાચોના છે, સાત સરોવરોના છે; સાત મોટા અને સાતસો નાના પ્રવાનો છે, સાત અગત્યનાં અને સાતસો બીજા અગત્યનાં સ્વપ્નો છે; ૮૪૦૦૦૦૦ મહાક્રંપો છે જેમાં જાલ અને પંડિત બંને એક સરખી રીતે સંસારમાં આયડી આપડીને આખરે પોતાના દુખનો અંત આણે છે. આ યોજનાને અંતે ગોસાલને પોતાનો નિશ્ચિતવાદી કેપદેશ પરિશિષ્ટરૂપે જોડતો વર્ણવે છે : 'જે કે પંડિતો અમુક શીશ કરીને, ત્રતે કરીને તપે કરીને, વા બ્રહ્મચર્ય કરીને (વારસામાં મહેસાં) અપરિપક્વ ક્રોધથી પરિપક્વ કરવાની આશા રાખશે અને બાકી એ જ સાધનોથી પરિપક્વ થએલાં કર્મોથી છૂટવાની આશા રાખશે પરંતુ બેમાંથી એક પણ ફાળી શકવાનાં નથી; જલણે માપથી માપી આપેલાં ન હોય એવાં મુખ્યદુઃખો સંસાર દરમિયાન બદલી શકવાનાં નથી; એમાં નથી વધારો યદ શકવાનો કે નથી ઘટાડો. જેમ એક દોરીનો દોડા ફેંકો તો બરાબર એની લંઘાઇ સુધી ઉકેલાશે, જરાય વધારે નહિ, તેમ જાલ અને પંડિત બંને એક સરખી રીતે નિયત સમય સુધી સંસારમાં જામણ કરશે અને ત્યાર પછી જ, કેવળ ત્યાર પછી જ, એમના દુખનો અંત આવશે.'

ઉપલી યોજનામાંની બે જાખતો જે જૈન-૩૨ સિદ્ધાંતોમાંની જાખતો સાથે ચોક્કસપણે એજની શક્ય એમ છે તે આ છે; (૧) સર્વ મજબ પ્રાણીઓનું ઉદયિયોના પ્રમાણમાં એક, બે, ત્રણ, ચાર અથવા પાંચ ઉદયિયો ધરાવનાર તરીકેનું વર્ગીકરણ જે જૈન ઉત્તરોપધન સૂત્રમાં સંપૂર્ણતયા અપાયેલું છે. અને (૨) મેનુષ્ય જાતિનું પદ્મ આલિંગનિઓમાં વર્ગીકરણ. પાછળનું, ગોસાલના મત પ્રમાણેનું વર્ગીકરણ જુદ્ધધોષે બીજા દીપનિકાપૃષ્ઠ ઉપરના પોતાના લાખ્યમાં સમાવેલું છે. આ પૂર્વોક્ત પ્રમાણે ગોસાલ આ પદ્મ-જોડીને ૭ વર્ણો વડે ઓળખતો-કૃષ્ણ, નીલ, લોહિત, હારદિ, શુકલ અને પરમ શુકલ. કૃષ્ણાલિંગનિ એટલે સિંહરીઓ, કસાઈઓ, ખુનીઓ, ચોરા હુકમાં તમામ દૂર ધંધા કરનારા મનુષ્યો. નીલા-

૩૦. શ્રી. નિ. ૫૪: ૪, ૫૨; સરખાવો-૬. ૬, પરિશિષ્ટ-૨. ૫. ૧૭-૨૬-૩૧ જ. ચ. ૨. ૨૧૩, ૨૧૬; ૫૫૦ જ. ચ. ૧. ૩ પાદનોંધ બીજા ૩૨. સુ. નિ. ૧૬૨, ૮. ૬. નો પરિશિષ્ટ ૨ ૫. ૨૧ માં અનુવાદિત

ભિન્નિત એટલે ભિન્નપ્રકારના અર્થોત્ત્વ બૌદ્ધ ભિક્ષુઓ. લોકિતાભિન્નિત એટલે નિગ્ગન્થો જે (કંઈ નહિ તો) એક લંગોદી તો પહેરતા જ. હરિદ્રાભિન્નિત એટલે સર્વવસ્ત્રાભી અચેલકના ગૃહી અનુયાયીઓ. શુકલાભિન્નિત એટલે આહવિકે અને આહવિનિયો (સ્ત્રી આહવિકે) અને પરમ શુકલાભિન્નિત તે આહવિકેતતાઓ-નંદવચ્ચ, કિરસ સંકિચ્ચ અને ગોસાલ મંપચીપુત.

મહાવીરની યોજનામાં પશુ આ પૂર્વગો, જેને એ લેશ્યા કહે છે તે સહેજસાજ જુદા પડતા છ વર્ણો પ્રમાણે ઝોળખવામાં આવેલા છે :-કૃષ્ણ, નીલ, કાષોત (હુખરા), તેજો (રાતો), પદ્મ (પીળો) અને શુકલ.^{૩૩} પ્રથમ દૃષ્ટિએ આ વર્ણોની વ્યાખ્યાની આગતમાં જન્મે યોજનાઓમાં ઘણો ફરક હોવાનું જણાય છે. પરંતુ સૂક્ષ્મ નિરીક્ષણે અંતર્ભૂત સિદ્ધાંત એક જ છે એમ જણાય છે. મહાવીરના મત પ્રમાણે જે સત્ત્વ પ્રાણીઓને ઇળ કરે છે અર્થાત્ જૈન સિદ્ધાંતના પાંચ વ્રતોમાંના પ્રથમવ્રત (અહિંસા) નું ઉલ્લંઘન કરે છે તે કૃષ્ણ છે. જે સોલ વા કામવસનામાં રત રહે છે અર્થાત્ જે યોધા અને પાંચમા (અકિંચન અને અહાયર્યનાં) વ્રતોનું ઉલ્લંઘન કરે છે તે નીલ છે. જે કપડી અને ચોર છે અર્થાત્ બીભ અને ત્રીભ વ્રતોનું (સત્ત્વ અને અસ્તેષ) ઉલ્લંઘન કરે છે તે કાષોત કહેવાય છે. જે વ્રતપાલનાયં સંયમી અને પ્રયત્નવાન છે અર્થાત્ ગૃહી અનુયાયીઓ છે તે તેજો કહેવાય છે. જેઓ ફક્ત સંયમી છે અર્થાત્ યથાર્થ ભિક્ષુઓ છે તે પદ્મ કહેવાય છે. સ્વયં મહાવીર જેવા ઇનકલ્પિક જેમણે નિતાંત આત્મસંયમ સાધ્યો છે તેઓ શુકલ કહેવાય છે.^{૩૪} ગોસલની વ્યાખ્યા પશુ વ્યવહારતા એ જ છે. અપવાદ એ છે કે એ લાક્ષણિક દાખલાઓ (types) ટાંકીને પોતાનો અર્થ રચે છે. આમ એને મતે બૌદ્ધો આગોત્ત્વ ભિન્નપ્રકારની નીલાભિન્નિતના છે: કારણ એમના હરિદ્રામાં બૌદ્ધોની ખ્યાતિ પુષ્ટિમાર્ગે^{૩૫} પ્રત્યે પ્રેમ રાખનાર ‘સુખવાદી’ (સાત્તવાદિન) તરીકેની હતી. નિગ્ગન્થો લોકિતાભિન્નિતના નચુનારૂપ હતા; કારણ તેઓ સુખનો ત્યાગ કરવાની આગતમાં બૌદ્ધો કરતાં ચઢીયાના હતા. પરંતુ લંગોદીને વજ્રગી રહેવાની આગતમાં આહવિકે કરતાં ઉતરતા હતા. એના પોતાના અર્થોત્ત્વ અચેલકના વા ‘નરાતાળ નાગડા’ પોતાના ગૃહી અનુયાયીઓ હરિદ્રાભિન્નિતના (મહાવીરના તેજો વર્ણના) નચુના હતા. પોતાના ખાસ અનુયાયીઓ, કહેવાતા આહવિકે જેઓ દેખીતી રીતે નરાતાળ નાગ કરતા તે શુકલાભિન્નિતના (અથવા મહાવીરના પદ્મવર્ણના) નચુના હતા. આ સંબંધમાં એ નોંધવું સ્સભ્યું છે કે ગોસાલના વર્ગીકરણનો સુદૃઢાયનો અર્થ અંચુત્તરનિકાય^{૩૬} ઉપરથી રચેલો છે, છતાં ત્યાં (અંચુત્તરનિકાયમાં) એ, ભિક્ષુનેતા પૂરણસ્સપનો હોવાનું લખેલું છે.^{૩૭} ને આ કેવળ પાઠપરત્વેનો પ્રમાદ ન હોય તો અત્યાર આગમ્ય કથારનું ધ જે એમ કહ્યું છે કે આ વર્ગીકરણની યોજના શુદ્ધતા આગળ પડતા તમામ પદ્મ પ્રતિરૂપીઓને સાત્ત્વ્ય હતી તેનું એ સમર્થન કરે છે^{૩૮}

ઉપર કથારનું કહેવાઈ ચુક્યું^{૩૯} છે કે મહાવીર અને ગોસાલ વચ્ચે ગુપ્તપણે કોઈ સિદ્ધાંતભેદ ન હતો. એમ છતાં, એક યુદ્ધો એવો હતો જેના વિશે જૈન પરંપરા પ્રમાણે એમની વચ્ચે નાગીઓ ભેદ હતો. તે જન્મે કહેવાના પ્રુવો અથવા ગુણ કથનોનો સ્વીકાર કરતા હતા. પાઞ્જયથી એને દૃષ્ટિવાદ વા જ્ઞાનોના ખારમા અંગનું સ્વરૂપ આપવામાં આવ્યું. આ અંગના પ્રથમ અંશને પરિક્રમ્મ અર્થોત્ત્વ ‘મહાવીરના સિદ્ધાંતોનો અર્થ બરાબર મલકુ કરવા મટે લેઈછતી તૈષારીઓ’ કહે છે.^{૪૦} આ પરિક્રમ્મ આખર

૩૩ જી. યુ. ૨. ૧૬૬ ૩૪, જી. યુ. ૨. ૧૬૬, ૨૮૦; ૩૫ જી. યુ. ૨, ૨૬૬, પાદનોંધ ૩; અને જી. યુ. ૩, ૩૩૨ પાદનોંધ ૨. ૬૬-૭, ૩૮૩ ૩૬. સહજાએ મહાભારત ૧૨, ૧૮૦, ૬, ૩૩ ff ૩૮ ૬. ૧૬; ૩૮ ઇ. એ. ૨૦, ૧૭૩.

આપણને કહેવાનું છે કે કેટલાક એના છ સમૂહ (group) ગણવાના જ્યારે બીજાઓ સાત ગણાવતા, પ્રથમ ગણના સુરત જોતોતી દત્તી, જ્યારે પાછલી ગણના અમુક આજીવિકો અથવા તેરાસિયો નામના અમુક ક્ષેત્રપાદુઓની દત્તી, જેઓ અત્યવરૂપ સમગ્રને છે તે પ્રમાણે ગોસાલે સ્થાપેલા પાખંડી સંપ્રદાયના દત્તા. આ લોકોનો મૂર્વ વસ્તુઓને ત્રયાત્મક-સત્, અચત્ વા સદસત-લેખવાનો આચાર દત્તો. તે ઉપરથી તેઓનું નામ તેરાસિય (સં. વૈરાશિક) પડ્યું હતું. આમ એ લોકો કહેશે કે અમુક વસ્તુ સત્ હોય, અચત્ હોય વા સત્ અને અસત્ બન્ને હોય. પરિણામ પ્રમાણે સ્થાવરદાના નામે જોળખાતો આ મન સામાન્ય રીતે જોતોતો નિશિષ્ટ થાત છે. ક્ષિતિ થાય છે કે તેરાસિયોએ જોતો કોઈ ખાસ તરફનો ઉપયોગ કર્યો હોવો જોઈએ અને આ ખાસ રીત એ એમનો સમગ્ર પરિક્રમસમૂહ બની શકે. આગળ વધીને એમ પણ અટકળ કરાય કે આ સમગ્ર સમૂહ મનુષ્યના આચર વા ધંધા પરત્વેનો દત્તો; અને આ કારણે લીધે તેરાસિયોનું બીજું નામ આજીવિકો વા ધંધાધારીઓ પડ્યું હતું. આ વિષય પરત્વેના એમના ઉપદેશનો સાર શીત્રાકે^{૪૧} સમગ્રનો છે તે પ્રમાણે એ છે કે (મદાતીરે સ્વીકારેલી) મનુષ્યની બે અવસ્થાઓ (૧) કર્મબદ્ધ અને (૨) કર્મુક્ત—ઉપરાંત એની એક ત્રીજી અવસ્થા છે જેમાં એ યથાર્થ બદ્ધ પણ નથી તેમ યથાર્થ મુક્ત પણ નથી.^{૪૨} બંધનમુક્ત અવસ્થાના મનુષ્યો તે સંસારી લોકો. (મદાતીરની જેન) સંસારનો ત્યાગ કર્યો હોય તે (ત્રીજી) દશાના મનુષ્યો. આ લોકો પોતાના આત્માત્મિક અર્ધત્વને લીધે યથાર્થ રીતે મુક્ત નથી હોતા. યથાર્થવિમુક્તિની અવસ્થા જે તે પ્રાપ્ત કરી છે એમ ગોસાલ કહેતો દત્તો તેને પામના પદેશો આ લોકોને હજી અસંખ્ય જન્મપરણની ઘટમાળાંધી પસાર થવાનું હતું. ભગવતીધ્મના ગોસાલ શ્વશુભે દેહાંતરને પોતાનો સિદ્ધાંત નીચે પ્રમાણે સમગ્રને છે.^{૪૩}

એ કહે છે: ' મારા સિદ્ધાંત પ્રમાણે જે જે પૂર્ણ થયા છે, અત્યારે થાય છે અને ભવિષ્યમાં થવાના છે તે તમામને ૮૪૦૦૦૦૦ મદાકરપ પુરા કરવા પછી એ મદાકરપો દરમિયાન એમને અંતરીક્ષમાં (સંજ્ઞક) સાત વાર દેવ તરીકે અને પૃથ્વી ઉપર સાત વાર ' ગાનવાન પ્રાણી ' (સળળીમદમ) તરીકે નિયમિત રીતે વારાફરતી જન્મનું પડ્યાનું છે અને અંતમાં વળી પોતાવાડે સાત ભિન્ન ભિન્ન દેહો પુનરુત્થપિત કરી પૂર્ણોદ્ધતિ કરવી પડશે; અને આ પુનરુત્થાનો દરમિયાન અનુક્રમે પાંચ પ્રકારના કર્મોની અને, ત્રણ પ્રકારના કર્મોની, અને કર્મોના શશિકાગની અભરેથી અનુક્રમે (૮૪૦૦૦૦૦ મદાકરપના) ૧૦૦૦૦૦ અને ૬૦૦૦૦ અને ૬૦૦ ના પ્રમાણમાં પોતાની જાતને મુક્ત કરીને તેમને અંતિમ પૂર્ણતા પ્રાપ્ત કરવી પડશે. '

આ પરિવારીમાં અંતર્જાત થતા સમગ્રની અગાધ લંગાઇને ખ્યાલ આપવા ગોસાલ ઉમેરે છે:—

ગંગાનદીનું તળીયું ૫૦૦ યોજન લાંબુ, અર્ધો યોજન પહોળું અને ૫૦ ધતુરૂ^{૪૪} છે. પોતાની પૂર્વેની ગંગાથી સાત ગણી એવી એવી અનુક્રમે સાત ગંગાજેણીઓ લઇએ તો છેલી ગંગા આપણી ૧૧૭૬૪૮ ગંગાઓ બરાબર થાય. હવે જે પ્રત્યેક સો વર્ષે એક રેતીનો કણ દૂર કરીએ તો આ સાતે ગંગા નદીઓની રેતી ખાલી કરતાં એક સરસ (સરોવર) કરપ જેટલો સમગ્ર જાય; અને આપણા આપણા ૩૦૦૦૦૦ સરસુ કર્મો એક જ થાય ત્યારે એક મદાકરપ થાય.^{૪૫}

^{૪૦} આચારે ઇ. સ. ૧૦૫૦ ઇ. સ. ૮૭૬ ઇ. સ. ૨, ૨૪૫. પાદનોંધ ૨, ૪૩. fols ૧૨૩૭-૧૨૫૨, ડી, લા, બી, પી, ૨૫૩; ડ. દ. પરિશિષ્ટ ૨. પૃ. ૧૮ વળી જુઓ ડી. ૭૨ ૪૪, યોજન-૪૨ માપવું; ધતુરૂ-૬ ફીટ ૪૫. ડ, દ, પરિશિષ્ટ. ૨, પૃ. ૨૭, પાદનોંધ ૨૧

પૃથ્વી ઉપરના છેલ્લા બાળપૂર્ણ અસ્તિત્વ દરમિયાન જીવને પુનરજન્મન દ્વારા સાત દેહાંતરમાં મધ્ય પસાર થવાનું છે. એટલે કે જીવ વારા કરતી સાત જુદા જુદા માણસોના મૃતદેહમાં પ્રવેશ કરે છે અને એમ એને પુનઃ સજીવન કરે છે. પોતાનો દાખલો આપી ગોસાત્ર સમઝવે છે કે પોતે ઉદાઘ કુહિડયાથ-ભુશિયના દેહનો રાજગૃહ ગામની નજીકમાં ત્યાગ કર્યો અને એનેજન્મગત દેહમાં પ્રવેશ કર્યો. આ દેહને પોતે ૨૨ વર્ષ સુધી સજીવન રાખ્યો. એનેજન્મગત મરણ પામ્યો ત્યારે પોતે મહીરામના દેહમાં પ્રવેશ કર્યો અને એ દેહને ૨૧ વર્ષ પર્વત સજીવન રાખ્યો. એવી જ રીતે એણે એક પછી એક એમ અહિંચ, રોહા, ભારદ્વાજ અને અન્નભુજા ગોપમપુત્રના દેહો અનુક્રમે ૨૦, ૧૯, ૧૮ અને ૧૭ વર્ષ પર્વત પુનર્જીવિત કર્યા. ગોસાત્ર આગળ ચાલુ રાખતાં કહે છે કે 'હેવટ સાતમા દેહાંતરથી મેં કુભારજીના મકાનમાં અન્નભુજાના દેહ છોડ્યો અને ૧૬ વર્ષની મુદત માટે ગોસાત્ર મંબરીપુત્રના દેહમાં પ્રવેશ કર્યો, એથી કરીને મારા સિદ્ધાંત પ્રમાણે ૧૩૩ વર્ષની દરમિયાનમાં હું સાત દેહાંતરો પરિપૂર્ણ કરી ચુક્યો છું.'

પુનરજન્મનકરણનો સિદ્ધાંત એના પોતાનો હોવાનો ગોસાત્રનો આ વ્યાપક સવિશેષ અંગતનો છે. નૈન પરંપરા પ્રમાણે એના જીવનના અનુક્રમ પ્રસંગોના સંબંધમાં કેદજીવ થયેલા એના વિશિષ્ટ સિદ્ધાંતો-મંતિના જ આ એક છે. અને એ ગોસાત્રની ખાસ વિચિત્રતા છે. ૧૪૯ રીતે, એ ગોસાત્રે કરેલી દેહાંતરના પોતાના સામાન્યવાદની કંઈક અનુપપન્ન પ્રતિરૂપ જ છે. એ વિશિષ્ટ હેતુથી ઉમેરેલેથી હોયી નોંધએ અને એ કયો તે વ્યવહારિક રીતે ગોસાત્રે પોતે કબૂલ કરેલું છે: એટલે કે મહાવીરે એના આરિજ્ય વિશે કરેલા આક્ષેપોનું નિવારણ કરવાનો. ભગવતી સૂત્રમાં^{૧૬} આપણને જાણવેલું છે કે સાવત્રીમાં મહાવીર સાથે થયેલા એના છેલ્લા વિચક વખતે ગોસાત્ર એમને કહે છે કે:—

‘તમે મને તમારો શિષ્ય કહ્યો છે પરંતુ એ તમારો શિષ્ય ગોસાત્ર મંબરીપુત્ર તો હાજો સમય થયાં મૃત થયો છે અને દેવશોકમાં પુનર્જન્મ પામ્યો છે. હું તો ખરી રીતે ઉદાઘ કુહિડયા-ભુશિય છું અને સાતમા દેહાંતરમાં જ ગોસાત્રનું સજીવન કરેલું શરીર ને હું અઘાપિપર્વત ધારણ કરી રહ્યો છું તેમાં પેટો હું.’

મંબરીપુત્ર ગોસાત્રપણનો ઈન્કાર નિશ્ચિતપણે એમ સૂચવો જણાય છે કે આ એ જાણના પૂર્વકાલીન સાદ્યર્થનો ભંગ કેવળ અવ્યવહારિક અને સૈદ્ધાંતિક મતભેદને કારણે ન હોતો નેટસો મહાવીરે તેમ જ, સામાન્ય રીતે લોકો જેને આપણકતી અને તપસ્વીને અયોગ્ય ગણુના એવા કાંઈ વર્તનને લીધે હતો.

પુનઃસજીવનકરણનો સિદ્ધાંત બ્લે કે ગોસાત્રે પોતાની એકરૂપનાનો ઈન્કાર કરવાના ઇરાદાથી પ્રયોજ્યો હતો પરંતુ ભગવતી સૂત્રના^{૧૭} કથનાનુસાર ને પ્રસંગે ગોસાત્રને એ સિદ્ધાંત સુચાર્યો તે (પ્રસંગ) ગોસાત્રના મહાવીર સાથેના સાદ્યર્થના ધાતમાં બન્યો હતો.

એક સમયે સિદ્ધત્ય ગામથી કુમ્ભગામ સાથે સાથે પરિભ્રમણ કરતા કરતા આ એ પુરુષો પૂર્ણ થયેલા એક મોટા તજના આડવા પાસે યાત્રે પસાર થયા, એને જોયેને ગોસાત્રે મહાવીરને પૂછ્યું: ‘આ આપું નિર્ણય થયો કે નહિ અને એનાં બીજા પુનઃ ક્યારે નજરે પડશે? મહાવીરે કહ્યું: ‘એ આપું નિર્ણય નહો પરંતુ એ જ આડવાની શીંગામાં બીજા બનશે.’ ગોસાત્રને આ કથન ગમ્યું નહિ; માટે મહાવીરને જુદા પાડવાનો વિચાર કરીને એ સુપચાપ પેશા આડવા પાસે પાછો ગયો, અને એને સમજી ઉભેલી નાંખીને દૂર ફેંકી દીધું. પરંતુ દંવયેએ ત્યાર પછી વરસાદનું એક આપડું પડ્યું. અને

એના પરિણામે એ ફરીથી મૂળ-નાખી શક્યું અને એથી કરીને આખરે એને શીંગો બેડી અને તેમાં બીજાં થયાં. તે દરમિયાન એ બંનેને જણ કુમ્ભગામ પહોંચી ગયા હતા. કેટલાક વખત પછી પાછાવળતાં એઓ એ તરફના ઊડવા આગળ થઈને પસાર થયા. અને એને નોંધને ગોસાને મદાવીને એની ભવિષ્યવાણી વાદ કરાવી અને કહ્યું 'સ્પષ્ટ છે કે ઊડવો નથી મરી ગયો અને બીજાં નથી બંધાયાં.' મદાવીરે જવાબ આપ્યો: 'મારી ભવિષ્યવાણી ખરી પડી છે; કારણ તે પોને એને સમૂદા ઉપેડી દૂર ફેંકી દીધો હતો તે બેનાં ઊડવો મરી ગયો હતો પરંતુ વખતસર વરસાદ પડવાથી એ ઊડવો પુનઃ સજીવન થયો અને એને શીંગો બેડી અને બીજાં થયાં.' એમણે ઉમેર્યું કે 'આવી જ રીતે સર્વે ઊડ સજીવન થઈ શકે એવા છે' ગોસાને હજી એ વાન ન માની અને ઊડવા પાસે જઈને એની શીંગો તપાસી: પરંતુ એ ફોક્ષનાં મદાવીરનું કહેવું ખરું હતું એમ જણાવાથી એણે આગળ વધીને એમ અતુમાન કર્યું કે કેવળ ઊડવાઓ જ નહિ પરંતુ વાસ્તવમાં સર્વે સજીવ પ્રાણીઓ પુનઃ જીવિત થવા શક્તિમંત છે. એ કે પુનઃજીવનના સિદ્ધાંતને આમ સામાન્ય રૂપ આપવા વિશે મદાવીર તો સંમત ન જ થયા.

૧. આ બાબતમાં એક બીજીને મત ને લગવતી સૂત્રમાં^{૪૮} ગોસાલના અતુમાયીઓનો તદ્દન વિશિષ્ટ મત હોવાનું જણાવેલું છે તેનો ઉલ્લેખ કરી શકાય. એ 'અદ્વચરમાઈ' (આઠ અંતિમતાઓ) ના નામે ઓળખાય છે. તે આ પ્રમાણે: છેલ્લું પીણું. છેલ્લું ગીન, છેલ્લું વૃત્ત, છેલ્લી (પ્રેમ) યાચના, છેલ્લો વંદોળીઓ, હંટકાવ કરતો છેલ્લો હાથી, મોટા પથ્થરો રૂપી અસ્ત્રો વડે કરેલો છેલ્લો વિગ્રહ અને છેલ્લો તીર્થંકર અર્થાત્ મંખંડીપુત્ર પોતે. આ સિદ્ધાંતને ઉપરિચિત કરનાર પ્રસંગો તે ગોસલના જીવનના અંતિમ દિવસોમાં બેન્ના પ્રસંગો. પહેલી ચાર 'ચરમાઈ' તે એના પોતાના જીવનની વાતમાં ક્યારનાં ૫ વર્ષુનાથ સુકેશ્વ^{૪૯} એના પોતાનાં અંતિમ કૃત્યો. ચાર પછી ત્રણ તે ગોસલના મૃત્યુ-સમયની બારાબર લગભગમાં બેન્ના જણુવા જેવા બનાવો હોવાનું કહેવાય છે. છેલ્લો વંદોળીઓ, એ પ્રસંગોપાત હજી પથ્થ મંગાળાની મુકાકાત લેતા, પરંતુ ઉત્તર હિંદના અન્ય ભાગોમાં લગભગ અચાત એવા ધોધમાર વરસાદ સાથે થતા પ્રચંડ વાવાઝોડાના એકાદ તોફાનને ઉદ્દેશીને છે. 'હંટકાવ કરતો હાથી,' તે રાજકીય અંતઃપુરની સંઘારીઓના મંગારનાનને સમયે તેમના મનોરંજનાર્યે કેળવેલું એક પ્રકારનું નંંગી જનાવર હોવાનું કહેવાય છે; જેના કુખ્ત દાવા માટે આમળ જણાવ્યા પ્રમાણે મગધ અને વૈશાલીના નરેશો વચ્ચે વિગ્રહ ઉત્પન્ન થયો હતો. આ વિગ્રહમાં એવાં પરધરનાં અસ્ત્રો વપરાયાં હોવાનું કહેવાય છે કે જે દેવીતી રીતે કોઈ પ્રકારની જળ્મર ગોદણો વડે ફેંકાયાં હોવાં જોઈએ.^{૫૦} આ વિચિત્ર સિદ્ધાંતના અસ્તિત્વનું કારણ, નિઃસંકપ્તે, એ છે કે પોતાના ગુરુના સંદેશ્યાર્થે જાણને વિશે, એમની પુનઃ પ્રતિષ્ઠા કરે એવી કેઈ પ્રકારની છદ્મચત્તું આરોપણ કરવાની. ગોસાલના શિષ્યોને જરૂર લાગી હતી.

ગોસાલના અવસાન સમયે બેન્ના પ્રસંગોએ લગવતી સૂત્રમાં^{૫૧} નિવેદન કરેલ બીજા વિચિત્ર સિદ્ધાંતને ઉપરિચિત કર્યો. એણે પોતાની તાવડી ઉરકેરણીમાં પોતાના હાથમાં એક કેરી ધારણ કર્યાનું અને કુભારના મકાનમાં હમેશાં હાજર હોય છે એ માટીવાળા પાણીથી પોતાની જાતને ભીંજાવ્યાનું કહેવાય છે. આ ક્રિયાએ 'ચાર પેયો અને ચાર અપેયો' (ચત્તારી પાળગાઈ ચત્તારી અવાળગાઈ) નો સિદ્ધાંત સુગ્રાહ્યાનું કહેવાય છે. (ચાર પેયો એટલે ચાર વસ્તુઓ જે પીણા તરીકે વપરાય અને ચાર અપેયો એટલે ચાર વસ્તુઓ જેનો સ્પર્શ કરાય પણ ને પીવાય નહિ) ચાર પેયો તે ગૌમૂત,

^{૪૮} c. fol. 122v, 123v, 6. ૬. પરિશિષ્ટ ૧. ૫. ૭. ૪૬. ૫. ૪. ૫૪: નિ. સુ. ૬. ૧૭ ff. ૫૧. fol. 124v ff: ૭. ૬. પરિશિષ્ટ ૧ ૫. ૮, ૯.

હાથથી મેલું ક્ષેત્રું પાણી, અર્થાત્ (દુધારના વાસણમાંનું પાણી), સૂર્યથી તપેલું પાણી; અને પાકમાંથી ટપકતું પાણી. આર અપેયો જે પાણીના બોટવા, કેરીઓ, કૃષ્ણ (શીંગો) વગેરે જેવી વસ્તુઓને ઉદ્દેશીને છે.

આજીવિકાના આચારો સંબંધી આપણી પાસે બૌદ્ધ મન્નિઅનિકાયમાં એક બોધગ્રંથ કથન છે. ૩૬ ગા પ્રકરણમાં^{૫૨} નિગ્ગન્થ સંપના સાધુ સમ્પકને શુદ્ધસમક્ષ ગોસાલ મંખલીપુત્ર તથા એના મિત્રો નંદ વગ્ગ અને કિસ્સ સંકિચ્ચના અનુયાયીઓમાં પળાતા આચારો સમગ્રવંતો દર્શાવ્યા છે. આપણે જોયું છે^{૫૩} તે ગ્રંથો આ ગ્રંથે પુરુષો આજીવિકાના આગેવાનો હતા. એમનાં અને એમના અનુયાયીઓના સંબંધમાં સમ્પક કહે છે:—

‘ એઓ સર્વ વસ્ત્રોનો પરિત્યાગ કરે છે (અચ્છેલક); એઓ સર્વ શિષ્યાચારો (મુત્તાચાર) કરે મુકીને વર્તે છે. એઓ પોતાનો ખોરાક પોતાના હાથમાંથી ગાટી ખાપ છે (હત્થાપલેક્ષણ)^{૫૪} એઓ બિશ્વા માટે આવવાની વા રાહ જોવાની કાઠની હાક સાંભળતા નથી; તેઓ પોતાને માટે ખોરાક ખાસ તૈયાર થવા દેતા નથી; વા આમંત્રણથી જન્મવા જતા નથી. તેઓ જે વાસણમાં વા પેણામાં (Pan) ખોરાક રંધાયો હોય તેમાંથી—તેના મુળમાંથી—કોઈ ખોરાક સ્વીકારતા નથી. તેમજ ઉમરાની અંદર મુકાયેલો અથવા ખાંધણીમાં ખંડાવા મુકાયેલો (રાખદરા:—સુસજો વચ્ચે મુકાયેલો) અથવા ચૂલા ઉપર મૂકેલો ખોરાક સ્વીકારતા નથી, તેમજ સદ્ બોજન કરતા મુશ્વ પાસેથી અથવા સગર્ભા સ્ત્રી પાસેથી અથવા ધાવણ છાકરાવાળી સ્ત્રી પાસેથી અથવા પુરુષ સાથે સંબોધ કરતી સ્ત્રી પાસેથી તેઓ ખોરાક સ્વીકારતા નથી. તેમજ (દુકાળના સમયમાં) ફીણ ચપેલો ખોરાક તેઓ લેતા નથી. તેમજ પાસે કુતર્—ઉંચું હોય ત્યારે; વા માખો અણુઅણુતી હોય ત્યાંથી તેઓ ખોરાક સ્વીકારતા નથી; મચ્છી વા માંસ તેઓ નહિ ખાવ, તેમજ ચોખ્ખામાંથી બનાવેલો દારૂ વા ચૈરેય (?) (મહુડાનાં ફુલો—Wood Jordia flora hunda) માંથી બનાવેલો દારૂ અથવા છોડાં છતાં જવની બનાવેલી ખાટી રાખ તેઓ નહિ ખીએ. એમનામાંના કેટલાક કેવળ એક ઘરે જ બિશ્વા માગે છે અને એક મુટ્ટી અથ જ સ્વીકારે છે. બીજા સાત ઘરે માગે છે અને સાત મુટ્ટી સ્વીકારે છે; કેટલાક એક આ-નોપકાર ઉપર ચુન્નરો કરે છે, બીજા બે અને વળી બીજા સાત આ-નોપકાર સ્વીકારે છે; કેટલાક કેવળ એક ટંક જમે છે, બીજા દર બે દિવસે ચાત્ર એકવાર બોજન કરે છે; બીજા દર આઠવાડીએ માત્ર એકવાર જમે છે અને વળી બીજા દર પંચવાડીએ કેવળ એક બોજન લે છે; આ રીતે તેઓ ઉપવાસનાં નાના પ્રકારનાં ત્રતોનું પાલન કરે છે

જીવન ટકાવી શકે છે કેમ ? સર્વેકે તિરસ્કારથી જીવાળ આપ્યો કે અમૃત, જીવન સમયોમાં તેઓ પુષ્કળ અને હિતમ ખાન પામેનો ભોગ કરે છે અને એમ શારીરિક શક્તિ પુનઃપ્રાપ્ત કરે છે અને ખત (શરીર) વધારે છે. ગોસાલ અને એના આજીવિકાની સમ્યાઈની એમના સમકક્ષીનોમાં કેટલી કાર્તિ હતી તે વિશેનું આ સૂચક કથન છે. ઘણી મંદીરતર ઓવિવધક યાગનમાં ગોસાલના દંભની સંકા, જે એની અને મહાવીરની વચ્ચેના કલ્પનું કારણ હતું એમ માનવાને કારણ છે તેનું આ હકીકત કેવળ સમર્થન કરે છે.

‘ પરિક્રમ ’ના સપ્ત સમૂહને લગતા એમના વિચિત્ર સિદ્ધાંત વિશે અને તેરાસિયો વા આજીવિકો વિશે જે કથન કરવામાં આવેલું છે એની સીલી ઉપરથી એ સ્પષ્ટ છે કે તેઓ નિગગન્ય સમાજના વર્તુલ બહારના લેખાતા ન હોતા. એમનો સિદ્ધાંત મોટા સમૂહને સ્વીકરણીય નહિ હોય, એ ક્રાંટાપાકુ પણ હોય પરંતુ એ મિથ્યાદષ્ટિવાળા તરીકે નિંદી કરાયેલો તો નહોતો જ. એ એનું પ્રતિપાદન કરનાર ગોસાલની અને એનો અસ્વીકાર કરનાર એના સહચારી મહાવીરની વચ્ચે ભલે ધર્મલુકારક નિવડ્યો હોય પરંતુ એ જે જાણના પૂર્વ સહચારને રચાને જે સંપૂર્ણ વિશ્લેષ અને ગાઢ શત્રુતા સ્થપાયેલી આપણે જોઈએ છીએ તે એ (સિદ્ધાંતને) કારણે ન હોય. સ્પષ્ટપણે આ પરિવર્તન માટે તેરાસિય અસલા આજીવિક સિદ્ધાંત સાથે તત્વતઃ અપૂક્ત એવું, કેાઈ ખાસ કારણ હોવું જોઈએ. આ કારણ શું હતું તે આપણને સ્પષ્ટતાપૂર્ણ કંઠમાં કહેવામાં આવેલું નથી. બૌદ્ધો આ ખાખત વિશે નિઃશબ્દ છે. આપણે જાણીએ છીએ કે જુદાં ગોસાલ પ્રત્યે આજીવિકો હતા, પરંતુ એ એની સાથે કદિ અંગત પરિચયમાં આવેલા ન હોતા અને ગોસાલના મહાવીર સાથેના કલ્પમાં એમને વા બૌદ્ધોને ઝાઝો રસ પડેલો નથી. મહાવીરના સંબંધમાં મામલો જુદો હતો. એમના તપસી જીવનના પૂર્વકાલીન વર્ષોમાં એ અને ગોસાલ સહચારીઓ હતા. પાછળનો ભેદ અને સંપૂર્ણ જુદાઈ જોઈને મન અગત્યની ખાખત બન્યા સિવાય રહી શકે નહિ. એમ છતાં, એમનાં શાસ્ત્રોમાં પણ-અત્યારે આપણે એમને જાણીએ છીએ ત્યાં સુધી-એ વિશ્લેષનું કેાઈ સ્પષ્ટ કારણ લખાયેલું નથી. કેટલાંક આલકતરો સૂચનો ઉપરથી આપણે અનુમાનો દોરવાનું રહે છે; અને આ સૂચનો પોતાની વ્યંજકતાના વિષયમાં જરા યે દુર્બોધ નથી. કુંભારજીના મકાનમાં ગોસાલે પોતાનો ગુપ્ત વાસ પસંદ કર્યાની વાત અને પોતાની એકરૂપતા ના કણલ કરવાનો એનો ક્યત્ત સ્પષ્ટપણે વિશ્લેષના સૈદ્ધાન્તિક નહિ પણ વ્યાવહારિક કારણનો, ગોસાલની વર્તણૂકમાંના કેાઈ કલંકિત સ્વરૂપને નિર્દોશ કરે છે. આ સ્વરૂપ શું હતું તે સૂચકતાંગમાં પૂરતી રીતે સાદે સાદે દર્શાવેલું છે. ‘ મહાવીર જેવા સંસારત્યાગ કરનારાઓ મધ્યમાવસ્થાના માણસો છે અને શુદ્ધ કરેલું જળ જેમ પુનઃ ચુશુદ્ધ થાય છે તેમ તેઓ હજી કર્મોવશું કનશીળ છે. ન્યારે ગોસાલ પોતે સંપૂર્ણ મુક્તિને પામેલો છે ’ એ ગોસાલના કથનનો ઉત્તર આપતાં મહાવીર ગોસાલ અને એના અનુયાયીઓની વર્તણૂકનો નિર્દોશ કરતાં કહે છે કે ‘ આ માણસો બ્રહ્મચર્યવાળું જીવન ગુપ્તરતા નથી. ’ અર્થાત્ આ હકીકત ગોસાલના વિવાદની સત્યાસત્યતા વિશે [કેાઈ પણ] ‘ જાણી પુરુષ ’ને સંતોષ આપવા પૂરતી હોવી જોઈએ. આ સંબંધમાં એ નોંધવા જેવું છે કે લાગવતી સૂચના^{૧૦} મહાવીરને, ગોસાલનો પુનઃજન્મનો સિદ્ધાંત વલોકિતમાં એને જ લાગ્ય પાડતા વર્ણવ્યા છે. ચચાર્ય મુક્તિની અવસ્થામાં હોવાને બદલે ગોસાલને ખરી પૂર્ણતા પ્રાપ્ત કરતાં પહેલાં પોતાના અવસાન પછી કેવી રીતે પુનર્જન્મની અનેત ઘટમાળમાં યદને પસાર થવાનું છે તે મહાવીરે ત્યાં દર્શાવ્યું છે. એ ઘટમાળમાં અનેક પગથીઓનો એ નામ સાથે

નિર્દેશ કરે છે. એમ છતાં સૂત્રકૃતાંગમાં એક વધુ વ્યંજક કહેરા આવે છે. એમાં ગોસાહના મહાવીર ઉપરના આક્ષેપો સંબંધી મહાવીરના અનુયાયી આદ્રિકે એની આથે ને વાદવિવાદ કરેશે તે આલેખાયેલો છે. એ આક્ષેપો તે આ: પહેલો આક્ષેપ મહાવીરની અસંગનાનો અર્થોત પહેલાં એ એકાદી સાધુ તરીકે ભ્રમણ કરતો પણ પાછળથી એણે પોતાની જાતને અનેક સાધુઓથી પરિવ્રત કરી; બીજો આક્ષેપ અસ્થાને કંકાઇ કરવાનો અર્થોત ગોસાહ ને ચતુર્થોમનો અસ્વીકાર કરતો હતો તેનો મહાવીર આગ્રહ કરતા. અને ત્રીજો આક્ષેપ આધ્યાત્મિક અહં અને આધ્યાત્મિક હાંશ્તાનો. ચતુર્થોમ નીચેની બાબતોને અનુલક્ષીને છે.

(૧) દંડ પાણી પીવું

(૨) (રાંધ્યા વિનાનાં) બીજો ખાવાં

(૩) ખાસ તૈયાર કરેલી વસ્તુઓ રચીકારવી

(૪) સ્ત્રી સંભોગ કરવો

મહાવીર આ ક્રિયાઓને પાપપૃષ્ઠ લેખી એનો નિષેધ કરતા. પરંતુ ગોસાહ પ્રતિપાદન કરતો કે એ ક્રિયાઓ કરવામાં તપસ્વી કશું પાપ કરતો નથી. એના એ જ ચાર નિયમો એજ સૂત્રકૃતાંગમાં^{૧૨} બીજો રચણ લખેલા છે ને કે નોંધવા ભોગ બેદસહિત. એ નીચે પ્રમાણે:—

(૧) દંડ પાણી પીવું

(૨) (રાંધ્યા વિનાનાં) બીજો ખાવાં

(૩) ખાસ તૈયાર કરેલી વસ્તુઓ રચીકારવી

(૪) માંદા લાઇને શરીરના વાસણમાં લવાયેલો ખોરાક ખવડાવવો

સ્ત્રી સંભોગની નૈતિક બાબતનું સ્થાન અહીં શરીર અનુયાયીના વાસણમાંથી ખાવાની વૈધિક બાબતે લીધું છે. આ બેદનો અર્થ હવે પછી સમજાવવામાં આવશે. આ જગોએ માત્ર એટલું જ બ્યાનમાં રાખવાનું છે કે તકરારનો કોઇ પણ વિષય સિદ્ધાંતને લગતો નથી; એ બધા વર્તણૂકને લગતા છે.

અર્થોનો વિષય ધાર્મિક તપસ્વીઓની વર્તણૂકનો હતો એ વિચારતાં સૌથી વિસ્મયકારક તકરારી મુદ્દો તે સ્ત્રીસંભોગ સંબંધીનો છે. વસ્તુ રિયલિ સમજ્યા માટે આપણે યાદ રાખવું જોઇએ કે મહાવીરના પૂરો ગામી પાપે પોતાના અનુયાયીઓને માત્ર ચાર પ્રતો પાલન કરવાનો આદેશ આપ્યો હતો.^{૧૨} (૧) અહિંસા, (૨) સુત્રત અથવા સત્ય, (૩) અસ્તેય (૪) અપરિગ્રહ વા અકિંચન અર્થોત પાપે દયા, સત્ય, પ્રામાણિકતા અને નિર્ધનતાનાં પ્રતોનો. આદેશ આપ્યો હતો. મહાવીરે આમાં બ્રહ્મ-અર્થનું^{૧૩} પાંચમું પ્રત ઉમેર્યું. આ ઉમેરો કરવાનું એમનું કારણ ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમાં^{૧૪} સમજાવેલું છે. મહાવીરની પૂર્વે એ અધ્યાદાર હતો કે બીજો પ્રતોથી બ્રહ્મઅર્થ ગર્ભિત રીતે આદિષ્ટ છે; પરંતુ વાસ્તવમાં એથી એમાં છૂટકાદારી રહેલી હતી. વધુ એક પ્રકારની મિલકત ગણાતી હોવાથી નિર્ધનતાના પ્રતોમાં^{૧૫} લક્ષ નિષિદ્ધ હતું; અને પરદારગમન પ્રામાણિકતાના પ્રતથી નિષિદ્ધ હતું. પરંતુ વેશ્યાગમનનું હોંક ઉઘાડું હતું. એટલે એ માગે પાપે રચાયેલા નિગ્ગ-ચ સમાજના ઔદિક વા નૈતિક નિર્બંજતાવાળા સભ્યોમાં ધારે ધારે નીતિસૈધિય પેડું. મહાવીરનું બ્રહ્મઅર્થનું પંચમ પ્રત એ દોષની મુદારણાયે યોગ્યરેલું હતું. આ મુદ્દા ઉપર એગના સદચારી ગોસાહે પ્રતિરોધ કર્યો. એ, શિયિષ ટોળા પ્રતે સદાનુજીત દરાવતો હતો. અને યથાર્થ રીતે 'મુક્ત' થયેશે તપસ્વી કોઇ પાપ કરી શકે નહિ અને સ્વતંત્ર ઇચ્છા શક્તિનો

મહાત્મા હોવાથી નૈતિક જવાબદારી હજી નહિ એ ભેદથી દલીલથી એણે પોતાના અને બીજાઓના નિતિશૈલિયને નિર્દોષ દર્શાવું હોય એમ જણાય છે. ખરેખર, માનવાને સાર કારણ છે કે ગોસાલની વર્તણૂકની આ શિથિલતા એજ મહાવીરને પાંચમું વ્રત દાખલ કરવાનો અને એમ ગોસાલને નીકળી જવાની ફરજ પડવાનો પ્રસંગ આપ્યો. ઉપર દર્શિયા ચાર નિયમોના બે ઉતારાઓમાં પહેલા ત્રણ નિયમો સામાન્ય છે જ્યારે ચોથાની આખતમાં એ ઉતારા બુદ્ધ પડે છે. આ એ ત્રણ વ્રતોમાંની કેાઇ વિશિષ્ટ રસતોના નિર્દેશ કરે છે. હવે, સૂત્રકૃતાંગમાં ૧૫ એક રથને ફક્ત ત્રણ ખાસ નિયમો (દંડ પાણી, બીજ અને ખાસ તૈયાર કરેલો ખોરાક નહિ સ્વીકારવા આખતના) જ લખેલા છે અને આચારાંગ ૫૨૧માં મહાવીરને આપણે નિયમત્રય યામાતિષ્ઠિ આદેશનાર ' ડાહ્યા પુરુષ ' તરીકે વર્ણવેલા એક એક છે. બીજ બાલુએ બૌદ્ધ દીપનિકાયમાં ૧૭ મહાવીરને પોતાની જાતને ચાર નિયમોવાળા પુરુષ (ચર્તુચાર) તરીકે વર્ણવતા દર્શાવ્યા છે. આ તક્ષણતની સમજૂતી ને સ્વતઃ સૂચવાય છે તે એ કે મહાવીરે પોતાના અનુયાયીઓને મૂળ માત્ર ત્રણ નિયમોના આદેશ કરેલા અને પાછળના સમયમાં જ્યારે ગોસાલ જેને એમને તકરાર થઇ ત્યારે એમણે ચોથા નિયમ દાખલ કરેલા. સ્ત્રીસંબોધને લગતા આ ચોથો યામ વાસ્તવમાં મહાવીરનું બ્રહ્મચર્યનું પંચમ વ્રત છે ને ક્યારનું ઉલ્લેખાદ્ય ચુકું છે. એ પ્રમાણે પાર્શ્વના ચાર યામોમાં કરેલા મહાવીરના ઉમેરો છે. ચોથા યામની ઐટલે કે મહાવીરની યોજનાના પંચમ વ્રતની સ્થાપના માટેના પ્રસંગ ગોસાલે જ પુરો પાડેલા એ અટકળ જે ખરાબર હોય તો, એ મહાવીર સાથેના ગોસાલના વિસ્તેષનું ખરું કારણ એનું નિતિશૈલિય હતું એ વિધાન એથી થયું અંશે સાબીત થાય છે. સ્ત્રી સંસર્ગ વર્જવાના તપસ્વીના ધર્મ વિશે બોલતાં મહાવીરને ગોસાલ સંબંધે સૂત્રકૃતાંગમાં ૧૮ આજ્ઞા કહેતા દર્શાવ્યા છે: ' સાધુઓની સહામાં એ પવિત્ર શબ્દો ઉચ્ચારે છે જતાં ધૂપી રીતે એ પાપ કર્યો કરે છે; પરંતુ ' ડાહ્યા પુરુષો ' નાણે છે કે એ પ્રપંચી અને ' બડા બદમાશ છે. ' સ્ત્રી સંગને લગતી વર્તણૂકના વિષયમાં ગોસાલના ખગલગત વેદ જ મહાવીર અને એની વચ્ચેના તડવું કારણ હતું.

મુખ્ય કારણ આ હોય જતાં નિશંકપણે એ બે જણ વચ્ચેનું સંધર્ષણ તીવ્ર કરનારાં બીજને સહકારી કારણો હતાં. એ દંડ પાણી, અને રાંધ્યા પિનાની બીજેના વપરાશ તથા ખાસ તૈયાર કરેલાં બોજનના સ્વીકારને લગતા યામત્રય વિષેનાં હતાં. આ દેખીતી રીતે નજીબા વિષયોનાં મહત્વના સાક્ષાત્કાર કરવા માટે આપણે યાદ રાખવું જોઇએ કે સર્વ ભારતીય તાપસોમાં કર્મવિરત એ વતેનનો સર્વોપરિ નિયમ હતા, કારણ આત્મોને જન્મ મરણની ઘટમાળમાં બંધનારી વસ્તુ કર્મ છે. પરંતુ આ નિયમને એક અપવાદ હતો: અને તે એ કે ગોશ્વ પ્રાપ્તિ કરતનાર સમગ્ર વિધિનું પાલન દેહ વિના કેાઇથી થઇ શકે નહિ એથી કરીને દેહ ટકાવી રાખતા માટે આવશ્યક હોય એવાં કર્મો ૧૯ અથોત અન્ન ભિક્ષા અને બોજન અનપકારી છે અને બંધન કર્તા નથી. ૭૦ પ્રત્યેક વ્રત વા યામ આ નિયમ અને એનાં અપવાદને વગર કહી વશ વર્તવું ગણાવું હતું. આમ, જ્યારે જ્યાં એક મત હતા કે ખોરાકનો સંધર્ષ કરવાની મના છે પરંતુ પોતાનો રોગદા નિબીદ પુરેતો ખોરાક માગવાની છૂટ છે ત્યારે કેટલાક તપસ્વીઓ એ છૂટે પણુ અમુક યામોથી મર્યોહિત કરતા. રખેને કેાઇ જવની હિંસા થાય એ કાળજીથી મહાવીરે દંડ પાણીના અને પ્રાકૃતિક અવરથામાં પડેલાં બીજેના વપરાશની મના કરી; એકને ઉકાળ્યા પછી અને બીજને રાંધ્યા પછી વા જવરજણની અન્ય ક્રિયાઓ કર્યો પછી જ ઉપયોગ કરવો. (એમ કહ્યું)

૧૫ લે. સ. ૨, ૩૧૩. ૧૬ લે. સ. ૧, ૬૩. ૧૭ પૃ. ૫૭; ડા ૭૪. ૧૮ લે. સ. ૨ ૨૭૩. ૧૯ સ. ૬, ૨, ૬ ૭ની ટીકામાં ધર્મ-આચાર-શરીરલક્ષણ, લે. સ. ૨, ૪૪૧ માં. ૭૦ જુઓ ભા. ૨૦ પૃ. ૬૪, ૬૬.

રખેને શિક્ષાનો ખાસ અધિકાર અસંપન્નતા પતનને પ્રાપ્તિ એ કાળજીથી એમણે વળી શિક્ષકો માટે ખાસ તૈયાર કરેલા ભોજનના સ્વીકારનો પણ નિષેધ કર્યો. બીજા પ્રશ્ને ગોસાહે આ આમંત્ર્યનો ઈન્કાર કર્યો. વળી, જ્યારે સર્વ તાપસો એક સત હતા કે દેહ ઉપરાંત કેઈ પણ અન્ય મિલકત તાપસો ન રાખવી એમણે ત્યારે મહાવીરે શિક્ષાત્રાતા સ્વીકાર માટે શિક્ષાપાત્ર રાખવાની છૂટ રાખી. આ છૂટના ન્યાયી-પણાનો ગોસાહે નિષેધ કર્યો, કારણ તાપસ એ હેતુ માટે પોતાના હાથનો વાપરવાનો ઈન્કાર કર્યો. એમણે એ પ્રારાધના એ કાષ્ટ જોઈને ખાનગીમાં ગોપાલપાત્ર પાત્રમાં સ્વીકારવા એમણે એ અને આ કુદરતી પાત્રમાંથી આટી જવા એમણે એ આટી કરીને આ કક્કતર નિયમ પાળનાર તપસ્વીઓ 'હાથ આડું' (દશ્યાપલેચન) જેના નામે ઓળખાતા એમ છતાં એ માંદા સાધુ માટે અને એમણે છોડ્યું. તો એ ગ્રંથીના વાસણમાં લઈ જવાનું હતું. મહાવીરે આ વર્તન વિશે વાંધો લીધેલો કારણ એથી ગ્રંથીના વાસણમાંના કેાઇ છવની દિસા થવાનો ભય હતો.

આ સંબંધમાં વસ્ત્રના પ્રશ્નના નિરૂપણનો ઉલ્લેખ કરવા જોવા છે. (પાર્શ્વ જેવા) કેટલાક તાપસો ઔરણ્ય વાપરવાની પરવાનગી આપતા; બીજા કેવળ કમી ન કરી ચક્રાક એવા લઘુત્તમ કટિ બંધનની જ પરવાનગી આપતા; જ્યારે વળી બીજાઓ સદંતર નાગા કરતા. મહાવીરના નિકટના સ્વર્ગ-પાથીઓ^{૭૬} વા નિગ્ગન્થો બીજા વર્ગમાં આવતા જણાય છે. તદુપસાર ગોસાહે એમને 'એક ચિદ્રકા પાળા માણસો' વક્સાટક કલા છે અને પોતાના લોકિત વર્ગમાં મુક્યા છે. જો પોતાના નિગ્ગન્થોને લંગોટ, વસ્ત્રની છૂટ આપતાં મહાવીરે પોતાને માટે સર્વ વસ્ત્રો પરિત્યાગ કરેલો હતો. આ બાબત વિશે એમની અને ગોસાહની વચ્ચે કંઈ ભેદ ન હોતો; અને અચેતક અથવા 'નવસ્ત્રા' વર્ણના શિક્ષકો હતા. ખરેખર, એ પ્રાયઃ સંભવિત છે કે આ બાબતને વિશે મહાવીર ઉપર ગોસાહનો પ્રભાવ પડ્યો હોય. કારણ જૈન ધર્મશાસ્ત્રમાં આપણને કહેવામાં આલું છે કે પ્રથમ જ્યારે મહાવીરે તપસ્વી છવનનો અંગીકાર કર્યો ત્યારે એ પાર્શ્વના સર્વસ્ત્ર સમાગમાં દાખલ થયા હતા; એ છવનના બીજા વર્ગમાં જ એમને ગોસાહનો સમાગમ થયો. લગભગ તેજ કાલે એમણે નિતાંત નગ્નતાના કક્કમાં કક્ક પાત્રનનો સ્વીકાર કર્યો. એ સંયોગ સૂચવે છે કે મહાવીરે એ આચારને ગોસાહ પાસેથી અંગીકાર કર્યો અને ગોસાહના દલે કરીને પાછળથી છેવટનો વિશ્લેષ ઉત્પન્ન ન હોતો. સર્વે લાં સુધીના એમના સાદ્યર્થની ગાંઠ બનેલી તે આજ બીના. એમ છતાં એ સંભવિત જણાય છે કે નિગ્ગન્થ સમાગમાં સામાન્ય નિયમ લંગોટી પહેરવાનો હતો અને નિતાંત નગ્નતાનો સંપ્રદાય ગોસાહની ટોળી જેણે પરિક્રમના^{૭૭} સમય સમૂહમાં રચેલ આજીવ વિષેનો ગોસાહનો સિદ્ધાંત અંગીકૃત કર્યો હતો અને જે એથી કરીને આજીવ તરીકે ઓળખાતી હતી, તેનામાં જ પ્રવર્તમાન હતો.

આ મુદ્દા ઉપર બીદા વિનયપિટકમાં^{૭૮} એક બોધદાક વાતો કહેલી છે. એક સમયે જ્યારે શુદ્ધ સાવત્રીમાં રહેતા હતા ત્યારે એમને અને એમના શિષ્યઓને વિશાખા નામની એક ધનવાન સ્ત્રીએ પોતાને ઘેર ભોજન લેવાનું આમંત્રણ કર્યું હતું. ભોજન તૈયાર થતાં એણે પોતાની દાસીને અતિથિઓ બોલાવી લાવવા મોકલી. રસ્તામાં વરસાદનું એક સખત ઝાપડું પડ્યું અને શુદ્ધના નિવાસે પહોંચતાં એણે જોયું તો શિષ્યઓ નવસ્ત્રા યથા વરસાદની મજા માણતા હતા. કંઈ બૂધ થયેલી દાસીને એ પોતાની શેઠાણીને ખગર આપવા પાછી ગઈ અને કહ્યું કે મને દર્શાવવામાં આવેલી જગાએ કેઈ શિષ્યઓ નથી; ત્યાં તો આજીવિકો છે. અલગત આ ગેરસમજૂતી દૂર કરવામાં આવેલી; પરંતુ સાવત્રીમાં

બનેલો બનાવ બતાવે છે કે આજીવિકા નમ્ર શિક્ષણો દતા અને ગોસાલના અનુયાયીઓ દતા, જેણે કે આપણે જોઈ ગયા તે પ્રમાણે મહાવીરથી છૂટા પડ્યા પછી પોતાનું મુખ્ય અયક સાતત્યમાં ચાલેલું હતું. ગોસાલે પાંડેલા મનુષ્યના પશ્વગોળીય^{૭૮} આ જ મુદ્દા દર્શાવે સંહિત સમગ્રવવામાં આવ્યો છે. એમાં શુકલાગિ-
ન્વતિ એટલે પોતાની જ ટાળાનમ્ર આજીવિકા-એમ બતાવવામાં આવ્યું છે. જ્યારે લોહિતાશિખરિના નમુના તરીકે એક ચોંદરડાવાળા નિગ્ગ-ચો અર્થાત્ મહાવીરના પશ્ચકારોને ગણાવ્યા છે. એમ છતાં, નિતાંત નમ્રતા એ નિગ્ગ-ચોમાં આખા આજીવિકપક્ષનું ચિહ્ન હોવું જોઈએ; કેવળ ગોસાલ સાથે નોખા પડી ગયેલા અંશનું જ નહિ કારણ, હવે પછી જણાશે એમ પાછળના કાળમાં દિગંજર સંપ્રદાય ઉત્પન્ન થયો^{૭૯} તે નિગ્ગ-ચો સાથેના સંબંધ રાખી રહેનાર બાકીના આજીવિક પંક્ષરૂપી બીજમાંથી.

ગોસાલે મહાવીર સામે કરેલા બીજા બે આક્ષેપો વિચારવાનું હવે બાકી રહે છે. આમાંના પહેલામાંનો ઉદ્દેશ્ય તદ્દન સ્પષ્ટ નથી. મહાવીર સામે આક્ષેપ કરેલો છે કે એ પ્રથમ એકાકી સાધુ તરીકે અટન કરતા પણ પાછળથી એમણે 'પોતાની જાતને અનેક સાધુઓથી પરિવ્રત કરી' ^{૮૦} બીજા પક્ષે ગોસાલે 'એકાકી અને નિઃસંગ રહેવા' નો^{૮૧} દાવો કરે છે, એમ છતાં, વાસ્તવમાં, ગોસાલ પણ આજીવિકા તરીકે ઓળખાતા અનેક સાધુઓથી પરિવ્રત હતો. એથી કરીને સ્પષ્ટ છે કે નેતા અંગત શિષ્યોના સાથમાં પર્યટન કરે અથવા રહે એ હોય નહોતો ગણાતો. ગોસાલની નજરે, મહાવીરની કાર્ય પ્રણાલિ સામેની એની ફરિયાદનું મુખ્ય કારણ એ હોવાનું જણાય છે કે છુદ્દની જેમ મહાવીરે સાધુસંઘની સ્થાપના કરી. મહાવીરના અનુયાયીઓ નાના વા મોટા સમૂહોમાં વિવિધ રચણાએ વિખરેલેલા દતા. પરંતુ એ બધાને એક ધર્મ અને એક નેતા (મહાવીર) વાળા સમાજ તરીકે સંગઠિત કરવામાં આવ્યા દતા. ગોસાલના અનુયાયીઓના નાનો સમૂહ હતો અને એ સર્વદા પોતાના અગ્રેસરના સાથમાં રહેતો. ખરેખર, એવીજ સંદિગ્ધ પ્રકૃતિના અન્ય સાધુસમૂહો દતા જેમનું નામ પણ આજીવિકા હતું, પરંતુ તેઓ જુદા જુદા આગેવાનો સાથે જુદા રહેતા દતા. એ આગેવાનોમાંના બેનાં નામ, બૌદ્ધ ધર્મશાસ્ત્રોમાં^{૮૨} લખાયેલાં છે તે પ્રમાણે ક્રિસ્ટ સંક્રિસ્ત અને નંદ વચ્ચે છે. પરંતુ આ અનિશ્ચિત પ્રકારના આજીવિકા, જેમને પાછળના આજીવિક જ્ઞાના સાધુઓથી જુદા જણાવા જોઈએ^{૮૩} તેમને નિગ્ગ-ચો (જેનો) અને બૌદ્ધોની જેમ સંગઠિત સંઘ ન દતા. સ્પષ્ટ છે કે ગોસાલ અને એની વિચાર સંરચિના અન્ય પુરુષોના અનીતિમય આચાર વિચારો વિરૂદ્ધ જાહેર સંઘની સ્થાપનામાં કુદરતી વિધનનો ગરબ સારે એમ છે. આ બાળતમાં પોતાની અશક્તિના^{૮૪} લાને કરીને જ પોતાના સદ્ગતર પ્રતિસ્પર્ધી સામેના ગોસાલના આક્ષેપો ગ્રેરાયેલા હોય એમ પણ હોય.

મહાવીર સામેના બે આક્ષેપોમાંની બીજી એના ઉપર આધ્યાત્મિક અહમ અને બીજાને આરોપ મુકે છે. આ આક્ષેપમાં મનુષ્યની ત્રણ આધ્યાત્મિક અવસ્થાઓના^{૮૫} ગોસાલના સિદ્ધાંતોના ઉદ્દેશ્ય છે. એ પ્રમાણે મહાવીર વચલી અવસ્થામાં દતા; એમને આત્મા કર્મથી અલિપ્ત હોવા છતાં યથાર્થ રીતે સુકત નહોતો કારણ મોટી પદ્ધતિ જ એકલી જરાખર છે અને મારાથી જુદા પડનારા યથા તિરસ્કારને પાત્ર છે એમ વિચારવામાં મહાવીર આધ્યાત્મિક અહંકારથી ભરેલો હતો.^{૮૬} એ આધ્યાત્મિક બીજાથી પણ ભરેલો હતો. કારણ પ્રાકૃત જનતામાં ધર્મોન્તર કરનારાઓ મેળવવા એ આતુર હતો; પરંતુ પોતાના

^{૭૮} પ. ૧૯. ૭૬ પૃ. ૪૬. ૮૦ જે. સ. ૨. ૪૦૬-૪૧૦. ૮૧. જે. સ. ૨. ૪૧૧. ૮૨. મ. નિ. ૧ ૨૪૮, ૫૨૪; અં, નિ. ૩. ૩૮૪. ૮૩ હવે પછીનું પૃ. ૫૫. ૮૪-૫. ૨૨. ૮૫. જે. સ. ૨. ૪૧૧ ૬૬ ૧૧-૧૪. અને સ. ૧૦ ઉપરની શોધોની ટીકા ૧. ૧, ૩ ૬ ૧૨. જે. સ. ૨. ૨૪૫

મતનું ખંડન કરે એવા પંડિતોને મળતાં એ હરતા હતા. ૮૬ મહાવીરનો પક્ષકાર જવાબ આપે છે કે પ્રથમ, મારા ગુરુ બીજાઓ કરે છે એમ પોતે જાને સત્ય માને છે એનો કેવળ બોધ કરે છે અને પાખંડી મતોનો તિરસ્કાર કરતાં છતાં એઓ એ મતો ધરાવનારને તિરસ્કારતા નથી બીજું એઓ પ્રામાણિક અને શોધ્ય પ્રતિપક્ષીઓને મળવાની કદિ ના પાડતા નથી અને પોતાના મત માટે લોકોનાં દિષ્ઠિ છતવાનો પ્રયત્ન કરતાં જાતે દંભરહિત છે.

૪. આજીવિકાનો ઇતિહાસ—આજીવિકાનો પૂર્વતમ ઉલ્લેખ ગયા પાસેના બર્બર નામના ડુંગરા ઉપરની ખડકમાં કેતરી કાઢેલી એ ગુફાઓની દિવાલો ઉપર કેતરેલા એક ટુંકા લેખમાં આવે છે. એમાંના જ લખાણ પ્રમાણે એ મહારાજ અશોકના રાજ્યના તેરમા વર્ષમાં અર્થાત્ ઇ. સ. પૂર્વે ૨૫૨ ની સાક્ષમાં કેતરાયેલો છે. તે આમ છે. 'રાજ ગ્રિયક્ષત્રીએ, પોતાના રાજ્યના તેરમા વર્ષમાં આ ગુફા આજીવિકાને અર્પણ કરી'

બીજે ઉલ્લેખ એના એ જ મહારાજ અશોકના મુવિખ્યાત શાસન-સ્તંભોમાંના સાતમા ઉપર ઇ. સ. પૂર્વે ૨૩૬ એટલે કે એના રાજ્યના ૨૮ મા વર્ષમાં કેતરેલા લેખછમાં આવે છે. એ આમ છે; 'મેં જોજાનું છે કે મારા ધર્મમહામાત્રા બૌદ્ધ સંઘના તેમજ બ્રાહ્મણોનાં આજીવિકાનાં, નિગ્ગ-થોના અને વાસ્તવમાં જુદા જુદા તમામ પાખંડોનાં કાર્યોમાં વ્યાજ થઇ જશે.'

એક બીજે પૂર્વકાલીન ઉલ્લેખ, નાગાર્જુનની ડુંગરા ઉપરની ખડકમાંથી કેતરી કાઢેલી ત્રણ ગુફાઓની દિવાલો ઉપર અશોકના ઉત્તરાધિકારી હશરથના રાજ્યના પ્રથમ વર્ષમાં અર્થાત્ ઇ. સ. પૂર્વે ૨૨૭ ની સાક્ષમાં કેતરાયેલા શિલાલેખમાં આવે છે. એ આમ છે. 'આ ગુફા મહારાજ હશરથે માદીએ આવ્યા પછી તરત જ, એ સુરજ તપે ત્યાં સુધી નિવાસરથાન તરીકે વાપરવા માટે સંમાન્ય આજીવિકાને અર્પણ કરી હતી.'

આ પછી ઇ. સ. ના ૯૬૫ સેકા પર્વત આજીવિકાનો કેાઇ ઉલ્લેખ આપણને મળતો નથી. એ સેકામાં, પ્રાચ. ઇ. સ. ૫૫૦ ની સાક્ષમાં વરાહમિહિરે પોતાના બૃહન્નગતક ૮૯ અને લઘુનગતક ૮૦ નામના જ્યોત્સિનાના ગ્રંથોમાં સાત પરિવાજક વર્ગોમાંના એક તરીકે એમનું નામ લે છે. એ સાત તે આ: (૧) સાધ્વો વા રક્તપટો (રાતા જખમવાળા પુરો), (૨) આજીવિકો વા વ્યાખ્યાકાર ભટ્ટોત્પલ, સમજાવે છે એમ એકદંડીએ; (૩) નિર્ગન્થો વા જૈન સાધુઓ, (૪) તાપસો વા વનવાસી (વનજી ખાનારા) અર્થાત્ વાનાગ્રસ્થ તરીકે રહેતા ત્રીજા વ્યાખમવાળા બ્રાહ્મણ; (૫) વિશ્વુઓ અર્થાત્ ધરનાર વગર પરિવાજક તરીકે હરતા અને બાખ્યાકારના કહેવા પ્રમાણે મીમાંસા પદ્ધતિને અનુસરનારા ચતુર્થો-શ્રમના બ્રાહ્મણો (૬) વૃદ્ધ બ્રાહ્મણ; અને (૭) ચરકો, જે પણ એ પ્રકારના પરિવાજક સન્ધારીઓ હોવાનું જણાય છે. વરાહ મિહિરે કહે છે કે મનુષ્ય પોતાની કુંડળીના મુચન અનુસાર આમાંના એકલા વર્ગમાં દાખલ થવા નિમોષેલો છે એ દક્ષિત ઉપરથી સ્પષ્ટ છે કે એના સમયમાં આ સાતે વર્ગનાં તપસીઓ અને એથી કરીને આજીવિકો પણ વાસ્તવિક રીતે અસ્તિત્વમાં હતા.

તવમા સેકામાં આજીવિકાનું અસ્તિત્વ ચાલુ હતું એ વિશે આપણી પાસે મદાન જૈન ટીકાકાર શાલાંકનાદર સાક્ષી છે અને આજીવિકાની અને દિગંબર જૈનોની એકરૂપતાની રસ પડે એવી દક્ષિત અર્ધો આપણને પહેલીવાર મળે છે. મહાવીરના ચતુર્થોમેને વિશે મુનકુતંગમાં ૯૭ કેટલોકોએ લીધેલા

૮૬ જૈ. સ. ૨. પૃ. ૪૧૨, ૬૬ ૧૫-૧૮ અને પૃ. ૪૧૩ ૬૬ ૧૬-૨૫ ૮૭, ઇ. સ. ૨૦, ૩૬૧ િ. ૨મી. એ ૧૫૫; ૮૮ ૬૦ એ ૨૦, ૩૬૧, ૬૬ ૨મી ૦ ૧૪૫; ૮૬. ૧૫. ૧, ૬૦. ૯. ૧૨, ૬૧ આચરે ઇ. સ. ૬૫૦ ૬૨. આચરે ઇ. સ. ૮૦૬ ૬૩. જૈ. સ. ૨. ૨૧૭

વાંધા ખાતત ટીકા કરતાં શીઘ્રક લખે છે કે ત્યાં આજીવિકો વા દિગંબરોનો ઉલ્લેખ છે. એના એ જ પ્રંથનાં બીજા કકરા ૬૪ ઉપરની પોતાની ટીકામાં એ જોસાસના અનુયાયીઓને અર્થાત્ આજીવિકોને અને તેરાસિયોને (સં. ચૈરાસિકો) એકરૂપ જણાવે છે એ જોનાં ક્ષિત. થાય છે કે શીઘ્રકના મતે જોસાસના અનુયાયીઓ, આજીવિકો, તેરાસિયો અને દિગંબરો ત્રણે એક જ પ્રકારનાં પરિવારજનો હતા.

દશમાં સૈકામાં આજીવિકો અને દિગંબરોની એકરૂપતાની આપણને વધુ સાક્ષી મળે છે. હજામુધ ૬૫ પોતાના અભિધાનરત્નમાલા ૯૧ નામના શબ્દકોષમાં સ્વેતાંબર અને દિગંબર અથવા, એ કહે છે તે પ્રમાણે, સ્વેતવાસ અને દિવવાસ નામના એ જૈન વિભાગોનાં નાગોની મોટી સંખ્યા મણી ખતાવે છે. એ કહે છે કે દિવવાસ આજીવના (જે માત્ર આજીવિકનું સંક્ષેપરૂપ જ છે.) નામે પણ જોળખાય છે.

અંતમાં ૧૩મા સૈકામાં અમુક દેવાસ્યોના લખાણોનાં આપણને ઉલ્લેખ મળે છે કે આજીવિકો એ કાળમાં એક સમૂહ તરીકે દક્ષિણ ભારતમાં યથાર્થ રીતે અસ્તિત્વમાં હતા. આ લખાણો તે વિરિચિપુરમ પાસેના પોચર્ગે આગળ આવેલાં પેરુ માથના દેવાસ્યની દિવાસોં ઉપરના લેખો. ૯૭ એ ઇ. સ. ૧૨૩૮, ૧૨૩૯, ૧૨૪૩, ૧૨૫૬માં ચોલરાજા રાજે મંદિરને કરેલાં ભૂમિદાન અને આજીવિકો ઉપર નંખાયેલાં કરવેરા. તે ઉલ્લેખીને છે. આ શિલાલેખોના સંપાદકે આધુનિક તામિલ શબ્દકોષોના આધારે આ આજીવિકો એટલે જૈનો એમ જણાવેલું છે. આ, અલગત જૈનોને દિગંબર સમાજ જ સમજવાનાં કારણ, જેનું મુખ્ય મથક એ કાળમાં દક્ષિણ ભારતમાં હતું અને જેનાં સંસ્થાનો અઘાપિ પર્વત ત્યાં જોવામાં આવે છે એ આ જ સમાજ. ૯૮ તામિલ શબ્દકોષોમાંનાં તદ્દિષયક લખાણો નામિલ સાહિત્યના ૯૯ અને સંભવતઃ આધુનિક વાપરના આધારે કરાયેલાં છે. પ્રાચીનતર તામિલ સાહિત્યમાં આજીવિક શબ્દ જૈનો અર્થાત્ દિગંબરોના અર્થમાં વપરાયેલો છે એ નિશ્ચિત છે. એથી કરીને, નિઃશંકપણે ઈ. સ. નાં ૭ઠ્ઠા સૈકામાં જ્યારે વરાહમિહિરે એ શબ્દ વાપર્યો ત્યારથી એ નામથી જૈનોને દિગંબર સમાજ સંદિન મળે છે.

વરાહમિહિરના એ શબ્દપ્રયોગ પરત્વે એ તોંધવાનું છે કે એનો વ્યાખ્યાકાર ભદ્રોત્પલ (આશરે ઈ. સ. ૬૫૦) એમ જણાવે છે કે આજીવિકો એટલે એકદંડીઓ. કાલકાચાર્ય નામના જૈન લેખકની એણે ટીકી એક ગ્રાકૃત માથાને આધારે આ એક રૂપતા (આજીવિકો-એકદંડીઓ) દર્શાવેલી છે. એ લેખક જે ઇ. સ. ૪૫૦ની આસપાસમાં અર્થાત્ વરાહમિહિર પૂર્વે ગ્રાપઃ એક સૈકા ઉપર ઘટ મયો તે તપસ્વીઓના સત્તનગોનાં નામ આપે છે, જેમાં આપનાં એટલો છે કે આજીવિકો સ્થાને એ એકદંડીઓ લખે છે. ભદ્રોત્પલ પોતે ઉચ્ચે છે ૧૦૦ કે એકદંડીઓ અથવા આજીવિકો નારાયણ અર્થાત્ વિષ્ણુના ભક્તો છે. બીજા પણે શીઘ્રક અન્ય સંબંધમાં એકદંડીઓ વિષે લેખતાં એઓ શિવના ભક્તો ૧૦૫ હોવાનું જણાવે છે. આ દેખાતો વિરોધ ઉપરથી સ્પષ્ટ છે કે આ બન્ને વ્યાખ્યાકારોના મનમાં હતા તે અઘાપિ પર્વત દંડી તરીકે જોળખાતો તપસ્વી વર્ગ જ. આ તપસ્વીઓ સામાન્યરીતે હિંદુઓના શૈવ સંપ્રદાયના હોવાનું લખાય છે; પરંતુ એઓ ખર્ પૂછો તો ઉદારમતવાદી હોય છે કારણ એઓ નારાયણ તરીકે માત્ર શિવનું જ નહિ પરંતુ વિષ્ણુનું પણ આર્પણ કરે છે. એઓ રાજે લાક્ષણ પડતા રંગના કપાનો કકડો લગાડેલા દંડ ધારણ કરે છે અને કેરળ લંગોટી પહેરે છે વા સંપૂર્ણતઃ નમ્ર ફરે છે. એમને એકલ છત્રન યુગ્મરવાની આરા હોય છે. એઓ વેશંતી સેતો ધરાવે છે; ૧૦૨ અને માતિતો વા

૬૪ જૈ. સુ. ૨. ૨૪૫. ૬૫ આશરે ઇ. સ. ૬૫૦. ૬૬ ૨. ૧૮૬, ૧૯૦. ૬૩ સા. ઇ. ઇસ્ત્રીપરના. ૨. ૮૮, ૮૯, ૯૦, ૧૦૮ ૬૮ ઇ. સ. ૩૨. ૪૫૬. જ. ઓ. સો. ૩૮ ૧૭. ૬૬ tesco ડો. પોપ ૧૦૦ ડો. કો. ઓ. ૩. ૨ ૫. ૫૫૩. ૧૦૨ જૈ. સુ. ૨. ૨૪૫, ૨૪૭. ૧૦૨ ઓ. જ. ૯. બા. ૬. ૫૪૨.

૧ માનિતો કાષ્ઠપણ માણસ એમનામાં જોડાઈ શકે છે. એમને દશનામી દંડીઓ સાથે સેળસેળ ન દેવા જોઈએ. દશનામી દંડીઓ તો સરખામણીમાં આધુનિક વર્ગના સન્યાસીઓ છે. સુધારક ત્રાસાર્થ અને એમના શિષ્યોએ ઇ. સ. ના ૯મા સદીમાં એમની તો રચાવના કરી, એ મહાત્મી અને સંપ્રદાયેશની ખાખતમાં માનિ ઉપર કેટલુંક ધ્યાન આપે છે. ૧૦૩

ગોસાલ, મંજવીપુત્ર વા મંજવી (મહકરિન) અર્થાત વાંસદંડ રાખનાર પુરુષ કહેવાય છે એ હકીકત પરથી સ્પષ્ટ છે કે મૂળે એ એકદંડી (વા દંડી) સન્યાસીના વર્ગનો હતો; અને જો કે પાછળથી એ હાવીર સાથે લગ્યો અને એની પદ્ધતિ સ્વીકારી તેપણ એ પોતાના કેટલાક વિશિષ્ટ મતો અને પોતાની ખામીન વિશિષ્ટ સંતા, વાંસદંડ, પણ રાખી રહ્યો હતો. આ બેદોને લીધે નિગ્ગન્થ સમાજમાંની એની ખામી તેરાસિય વા આશ્ચર્ય અને દેખીતી રીતે એકદંડીના નામે પણ ઓળખાતી હતી. ૧૦૪ ત્યાર પછીના કાળમાં ગોસાલના અસાધુ જીવનની ખજાર પડતાં મહાવીરે એ કારણને લીધે એને નિગ્ગન્થ સમાજમાંથી બહિષ્કૃત કર્યો. એમ જણાશે કે એની સાથે આશ્ચર્ય પદ્ધતિમાંના કેટલાક બીજા માણસો જે એના માદ મિત્રો હતા અને એના પાપાચારોના ભાગી હતા. તેમને પણ બહિષ્કૃત કરવામાં આવ્યા હતા. બૌદ્ધધર્મશાસ્ત્રો આમાંના બે મિત્રોનાં નામ આપે છે, કિરસ સંકિર્ય અને નંદવજ્ઞ. ૧૦૫ આ આ ત્રણ પુરુષોએ, મહાવીરથી લુદ્ધ પડ્યા પછી સમવિચારના નાના નાના સમૂહોની સરકારી કરીને સાવતરીમાં સરખામણીમાં એમાં જીવન ગુજાર્યું હોય એમ જણાય છે. પરંતુ એમ માનવાને કશું કારણ નથી કે આ કાળા મેદાને કાઢી મુક્યા પછી નિગ્ગન્થ સંપ્રદાયમાં આશ્ચર્ય વા તેરાસિયોનું પદ તરીકેનું અસ્તિત્વ મટી ગયું હતું. વાસ્તવમાં, જે કંઈ પુરાવો મોલુક છે તે એથી ઉત્તરી દશા સુધય છે. આમ, આ સંબંધમાં 'મત્રુપાંગ'ના બે અહેવાલો વચ્ચેનો ભેદ ને આપણે કમારનો તોપી મુક્યા છીએ. ૧૦૬ એ ખાસ મહત્વનો છે. સ્ત્રીસંચના દેખતો ઉદ્દેશ્ય એ અહેવાલમાં આવે છે કે જે પ્રધાનતરપણે ગોસાલ અને એના પક્ષ ભેડે સંખ્ય ધરાવે છે, જ્યારે બીજા અહેવાલ જેમાં એની જગ્યાએ મુક્તીના પાત્રના વપરાયતો ઉદ્દેશ્ય છે. તે રીકાકાર શીલાંકના કથનલુપ્ત આશ્ચર્ય વા દિગંજરો સંબંધીનો છે. એ બે અહેવાલોમાંનો ભેદ એમ સુધય છે કે નિગ્ગન્થ સંપ્રદાયમાં આશ્ચર્ય પદ્ધતિ એક એવો નિશાન હતો કે જે ગોસાલના તત્કાલીન નીતિનિર્માણો સાથે સામેસ ન હતો. વાસ્તવમાં આને પણ દિગંજરો એ ચતુર્ધામાં વિવક્ષિત થતા મુદ્દાઓને વિષે ચિંતાંજરોથી લુદ્ધ પડે છે. આમ હંમેશાં પાછો અને કુદરતી બીજોના ઉપયોગ સંબંધીના માનેલા ઉદ્દેશ કાષ્ઠપણ પ્રકારના જીવ પ્રત્યેની આધુનિક કાળજીને દંડીશૂન કરવાનો હતો; પરંતુ દિગંજરો, 'પ્રાણીઓના જીવને વિષે માત્ર મધ્યમસરની કાળજી રાખનારા' કહેવાય છે જ્યારે ચિંતાંજરો અતિકાળજી રાખનારા કહેવાય છે. ૧૦૭ ચતુર્થ યામના સંબંધમાં બંને મતવાળા બ્રહ્મચર્યવર્તનો આગ્રહ કરતાં જતાં શિક્ષાપાત્રના અધિકારના સંબંધમાં બિન્ન અભિપ્રાયો ધરાવે છે. શિક્ષાપાત્ર એ ચિંતાંજર સાધુઓના નિયમિત ઉપકરણસંચારનું એમ છે જ્યારે દિગંજરો એ રાખવાની પદ્ધતિની નથી; એમણે પોતાની શિક્ષા પોતાના પોતામાં જ સ્વીકારવાની હોય છે. ૧૦૮ નવસ્થાપણની ખાખતમાં એ બે સંપ્રદાયો વચ્ચેનો ભેદ એમના નામોથી પૂરતી રીતે સુચવાયેલો છે.

નિગ્ગન્થ સમાજમાં પાછળથી ફરી ઉચ્ચેત્તા તેરાસિયોના અગ્રગણી, અને દિગંજરોમાં આજ દિન સુધી દંડી વિશિષ્ટતાસ્થક જે સંતા રખાઈ રહી છે એથી એ જ દિશામાં વધુ પુરાવો મળે છે.

આપણને કહેવામાં આવેલું છે કે પ્રવેશ પ્રસંગે “ જૈનધર્મશાસ્ત્રમાં જેની અનુચા અપાયેલી છે એવી વસ્તુઓ અર્થાત્ પાંચપૃટ લાંબો એક કળા દંડ વગેરે નવા સાધુને આપવામાં આવે છે અને એ સાધુ વા (પાકો સાધુ) હમેશાં તે દંડ પોતાની પાસે રાખે છે. ” ૧૧૦૯

ત્યારે મામલો ચામ આવી રહ્યો છે: એક દંડી એ અમુક તાપસવર્ગનું સામાન્ય નામ છે. એ વર્ગની બે પ્રજાઓ છે, સુરત શૈવ દંડીઓ અને પાખંડી જૈન આશ્વિકો વા દિગંજરો. એકદંડી શબ્દથી જૈન લેખક કાકકાચાર્ય, અંબજત, દિગંજરો સૂચવવા માગતો હતો; અને વરાહમિહિરે એટલા માટે એની જગાએ ગેડસમજતો સંભવ દૂર કરવા નિશ્ચિતતર આજ્ઞાવક શબ્દ સૂચ્યો. સુસ્તધર્મિ વ્યાખ્યાકર ભદ્રોત્પલે વસ્તુસ્થિતિની ખોરી સમજથી પાખંડ મતવાદી આશ્વિકોને સુસ્તધર્મીનુગામી દંડીઓ સાથે સેળસેળ કરી દીધા.

જદ્દખાહ જે સંપૂર્ણ નિગગન્ય વા જૈન સમાજનો ઉછેરો અગ્રણી થયો હોવાનું જણાય છે તેના જીવન દરમિયાન, દિગંજરોની પરંપરા પ્રમાણે એમના પોતાના અને સ્વેતાંજરોના પક્ષો વચ્ચે તીવ્ર વિરોધ ઉભો થયો. ૧૧૦ એના અવસાન પછી અલ્પકાળમાં ઇ. સ. પૂર્વે ૩૧૪ ની સાસની આલુઆલુમાં એ બે પક્ષો વચ્ચેના બેઠાએ આગળ વધીને અંતિમ અને નિશ્ચિત અણુગમાનું સ્વરૂપ પકડ્યું, જેનું કારણ કલ્પસૂત્રમાંની સ્વેતાંજરપરંપરા ૧૧૧ પ્રમાણે છલુક રોહુલુક નામનો પ્રરુષ હતો. આ માધુસ ઇ. સ. પૂર્વે ૨૬૯ થી ૨૩૯ સુધી સ્વેતાંજરોનો અગ્રેસર હતો. એ મહાગિરિનો શિષ્ય હોવાનું કહેવાય છે. તેરાસિય તડ પાંડનાર કહેવાય છે તે આ જ માધુસ. આપણે જોઈ ગયા છીએ એમ તેરાસિયે એટલે આશ્વિકો અને આજ્ઞાવકો એટલે દિગંજરો. એથી કરીને ફક્ત યાપ છે કે ઇ. સ. પૂર્વે ૨૫૧-માં ન્યારે અશોકે બર્બર ડુંગરની ચુકા આશ્વિકોને અર્પણ કરી ત્યારે આશ્વિક વા દિગંજર સંઘ ક્યારનો ૫ અસ્તિત્વમાં હતો. અશોકના ઉત્તરાધિકારી દશરથ (વા જૈનો કહે છે એ પ્રમાણે સંપ્રતિ) વિશે આપણને સાફ કહેવામાં આવેલું છે કે એને જૈનમતનો કરવામાં આવ્યો હતો. એ સાચું છે કે સ્વેતાંજરો એવો દાવો કરે છે કે ઉપર્યુક્ત મહાગિરિના ૧૧૨ સદાગ્રણી અને સમકાલીન ૧૧૩ એવો સુહસ્તી ૧૧૪ નામના પોતાના અગ્રેસરે દશરથને જૈનમતાવર્ણથી બનાવ્યો હતો. પરંતુ, દશરથે ઇ. સ. પૂર્વે ૨૨૭ માં નાગાજીની ડુંગરની ચુકાએ આશ્વિકોને અર્પણ કરી છે એ હકીકત ઉપરથી ખરું પૂછો તો એના ધર્માન્તરનો યશ કદાચ દિગંજરોને આપવો પડે છે; જો કે, અંબજત, પોતાના પુરોગામી અશોકની જેમ એણે પોતાના સમયના મુખ્ય મુખ્ય સાધુસંધોને અર્ધે નિષ્પક્ષપાતપણે પેણું પોતાના અનુગ્રહની વ્યવસ્થા કરી હોય એમ બની શકે છે, અશોકના સાતમા શાસનરત્ન ઉપરથી આપણે જાણીએ છીએ કે અશોકે ખૌદોને, નિગગ-ધોને, આશ્વિકોને અને બ્રાહ્મણોને એક સરખી રીતે આશ્રય આપ્યો હતો. જે કહેવાઈ ચુક્યું છે એના ઉપરથી હવે સ્પષ્ટ છે કે નિગગન્ય અને આશ્વિક એ શબ્દો આપણને સ્વેતાંજરો અને દિગંજરો તરીકે જાણીતા એવા બે જૈન સંધોના નિર્દેશ કરે છે. એમ પ્રતિપાદિત ‘કરવામાં આવ્યું છે’ ૧૧૫ કે શાસનમાંના બ્રાહ્મણશબ્દ આશ્વિકોને લાગુ પડે છે અને એથી એઓ ‘બ્રાહ્મણીય’ સંધના હોવાનું વર્ણન છે. એ પૂર્વે રાગપમાં બૌદ્ધ અને જૈન (નિગગન્ય) ના જેવો

૧૦૯. બો. ગે. હ. લા. ૧. ૫. ૧૦૭. ૧૧૦. જ. જ. ઓ. સો. ૩૮. ૧૪: ૪૦, હર; ઇ. એ. ૨૧. ૫૬. ૧૧૦. અર્થાત્ ઇ. સ. પૂર્વે ૪૮૪ માં થયેલા મહાવીરના અવસાન પછી ૧૦૦ વર્ષે બુદ્ધો. ૫. ૧૫. ૧૧૧ જ. સ. ૧. ૨૯૦; ૧૧૨. જ. જ. ઓ. સો. ૩૭. ૫૦૧. ૧૧૩. ઇ. સ. પૂર્વે ૨૬૬-૨૨૩; ૧૧૪. ક. સ. ૧૦; જ. સ. ૧. ૨૯૦. ૧૧૫. પ્રાગેસર દન અને બુદ્ધવર એ. ઇ. ૨. ૨૭૪; ઇ. એ. ૨૦. ૩૬૨.

કેાઇ સુરત આહાણીય સંઘ અસ્તિત્વમાં હતો કે નહિ એ મુશ્કેલી બાલુ ઉપર મુશ્કેલી તો પણ સાક્ષરમાં તો 'આહાણી' વિષે ક્યન છે. એ શબ્દનો અર્થ 'કેાક રીતે આહાણુવાદ સાથે જોડાયેલા પુરુષ' એવો નથી થતો. એ શબ્દ તો આહાણુવર્ણનો પુરુષ એવો અર્થ લક્ષીભૂત કરે છે. અને સાક્ષરનો પૂર્વોપર સંબંધ જોતાં એનો અર્થ 'આહાણુ તપસ્વી' અર્થાત્ એથા આહાણીય આશ્રમનો સ્વીકાર કરનાર આહાણુ વર્ણનો મનુષ્ય એવો થાય છે. આવો મનુષ્ય પરિત્રાજક સન્ધારી તરીકેનું ધરખારે વગરનું જીવન ગુજરવાનું તત્ત લેતો. લક્ષોપચના લખાણનું પ્રમાણુ લેવાની વાત, ક્યારનું જાણવાઈ સુકું છે એ પ્રમાણુ નિર્ણયકર છે. વૈષ્ણવ વા શૈવ સન્ધારી અને તે ન્યાતનો હોઈ શકે (વા અર્થ પૂછો તો પૂર્વાશ્રમમાં એ ગમે તે ન્યાતનો લાભ હોય) ૧૧૭ આહાણીય દેવાના લક્ષો હોવાનું માન્ય કરતા હોવાથી આ આણુસોને આહાણીય તપસ્વીઓ લાભ કહેવાય પરંતુ કેાઇ પણ દિદી એમને 'આહાણી' નહિ કહે. 'આહાણી' એ શબ્દ લાક્ષણ શબ્દથી લુદો તદ્દન વિદેશીય એવો પાશ્ચાત્ય ખ્યાલ વ્યક્ત કરે છે.

આહાણિકોના ઇતિહાસનો સંલેખમાં નીચે મુજબ સાર અપાયઃ ગોસામે પોતાનું તપસ્વી જીવન સંપન્ન થી વા મરકરિન તરીકે અર્થાત્ વાસંદક રાખતા વિશિષ્ટ અને સુપ્રસિદ્ધ પ્રાચીન પરિત્રાજક તરીકે શરૂ કર્યું. કેટલાક કાળ પછી એણે મહાવીર જે પાર્શ્વનાથના અનુયાયીઓ એવા નિગમન્ય સા કર્મના બંધનથી નિર્મુક્ત, નામના અન્ય પરિત્રાજક વર્ગના હતા તેમની યોગબાણ કરી. તાપસિક ધર્મીની (અવેલક્ષના મુદ્દાવિષે) કેટલાક પરત્વે સમાન વિચારો ધરાવનાર આ એ પુરુષો જોગ મળ્યા અને એક સામાન્ય પદ્ધતિ થઈ કાઢી, જેમાં, એમ છતાં, ગોસામે પોતાની કેટલીક વિગતો ઉમેરી, એમના અનુયાયીઓમાં જાનેને પૈતપોતાના પક્ષકારો હતા. અને ગોસાલનો પક્ષ પરિત્રાજકોના આજીવ પરત્વે પોતાના આગેવાનોના ખાસ અભિપ્રાયો ધરાવતો હોઈ, આહાણિક 'ધંધાર્થી' તરીકે યોગબાતો કાળના પહેલા સ.શ્વે ગોસાલના નીતિ વિરુદ્ધની વૃત્તિઓને પ્રાદુર્ભાવ થયો, અને આથી એ બે સહચારીઓ વચ્ચે માઠી લાગણીઓ ઉત્પન્ન થઈ. એવે એનું પરિણામ સંપૂર્ણ વૈચીલ્યમાં આવ્યું. ગોસાલ, આહાણિક પક્ષના જે માણસો પોતા પ્રત્યે સાંકેય સહાનુભૂત ધરાવતા હતા તેમને લઈને દૂર થયો. આમ લુહા પત્રનારાઓનો સમૂહ મોટો હતો અથવા તો સમૂહ તરીકે એઓ એમના નેતા ગોસાલના અવસાન પછી જીવન્ત રહ્યા એમ માનવાને કંઈ કારણ નથી. ગોસાલના નીતિવિરુદ્ધના અભિપ્રાયોના આગેવાનો નહોતા એવા આહાણિકપક્ષના અન્ય માણસો નિગમન્ય સંધર્મ ૪ રહ્યા; પરંતુ સંપૂર્ણ નમતા, શિક્ષાપાત્રનો ત્યાગ, અદિસા વિષેની અપૂર્ણ કાળજી, ઇત્તી વિશિષ્ટ રંગા અને સંભવતઃ અન્ય બાબતો વિષેના પોતાના વિચારો તેઓ રાખી રહ્યા. આ મેદાને કારણે આહાણિક પક્ષ અને બાકીના નિગમન્ય સમાજ વચ્ચે નિઃશંકપણે અમુક પ્રમાણમાં સંઘર્ષ થયો તો હતું જ. ખાસ કરીને લાદખાદુ, જે અર્થ પૂછો તો આહાણિકો પ્રત્યે સદાનુભૂતિ ધરાવના હોવાનું જાણીય છે, તેના રામધર્મ એ બહાર આવ્યું. પરંતુ એ સંઘર્ષ થઈ સ. પૂર્વેના માત્ર ત્રીજા શકાના પૂર્વનાર ભાગમાં જ પરાક્રમ્ય એ પહોંચ્યું અને તેરાસિય (ત્રેરાસિક) તરીકે યોગબાતો પક્ષ નિશ્ચિતપણે અને છેવટે મરે લુદો પડ્યો તથા એનો વિશિષ્ટ સંઘ રચાયો, જે અત્યારે કિંગખર તરીકે યોગબાત છે. કિંગખર અને શેત્રાખર એવા જૈન વિભાગોના મૂળનો ઉર્જમ આમ જૈનધર્મની છેક શરૂઆત સુધીમાં જાણીય છે. કારણ એનું અસ્તિત્વ, પરાક્રમ રીતે, એ પરસ્પર વિરોધી વિભાગોના પ્રતિનિધિરૂપ મહાવીર અને ગોસાલ નામના બે સહચારી અગ્રેસરોના વૈભવસ્યને આસારી છે.

દને, ખોદે ધર્મચારોમાં અને અન્ય રથજે આવતા આહાણિક સાધુઓ વિશેના પણ માત્ર કટ્ટી

છવાસા ઉલ્લેખો જ લક્ષમાં લેવાનું બાકી રહે છે. વિનયપિટકમાં ૧૧૮ અને મહિમ્મનિકામાં ૧૧૯ કહેણ છે કે જુદાના જુદા સવા પછી તરત જ કેવી રીતે એમને ઉપક નામના આજીવિકોએ બેઠા થયો અને એણે એમના આધ્યાત્મિક અનુભવોના અહેવાલની કેવી તિરસ્કારપૂર્વક બરહાસત કરી. મહિમ્મનિકામાં ૧૨૦ વળી આજીવિક પશુપુતની સાત છે, જે પૂર્વે એક રથ જનાવનારો હતા અને જેને સુદે પોતાના મતનો કયો હતો. વિનયપિટકમાં ૧૨૧ વળી એક નનામા આજીવિક સાધુ વિશે કથન છે, જેણે બૌદ્ધ સાધુ કરસાપને એના સુરહેવાના અવસ્થાનની પ્રથમ ખજાર આપી. આ ત્રણ જગ્યા સંભવતઃ નિગ્ગન્ય સમાજમાંના આજીવિક પદના સંસ્થા હતા. બીજે સ્થળે વિનયપિટકમાં ૧૨૨ એક પ્રસંગે અમુક આજીવિકોને છત્રી-ઓડીને આવતા કેટલાક શૌદ્ધ સાધુઓના મેળાપ થતાં એમણે પોતાના હરિદ્વાની આ અતાપસિક વર્તણૂકની કેવી મજાક કરી હતી તે વર્ણવ્યાં છે. મહાવંશમાં ૧૩૩ આશરે ઇ. સ. પૂર્વે ૪૨૬ માં રાજા પ્રજ્ઞકલ્પના સમયમાં લંકામાં હરિત ધરાવતા 'એક આજીવિક સમૂહ, જેને માટે એ રાજાએ એક મકાન (ગૃહ) બંધાવ્યાનું કહેવાયું છે. તેની વિચિત્ર ખાતમી છે. એમ જતાં આ ખાતમી, જે પૂર્વકાલીન સમયને લગતી છે, તે જોતાં ઘણા સંકેત સાથે સ્વીકારવી જોઈએ. આજીવિકોની બીજી ધણી વિચિત્ર ખાતમી સદગિરિ (Sadajiro Sugaira) 'હિંદુલાંજિક એક પ્રીત્તર્ય ધન ચાર્જના એન્ડ જ્ઞપાન ૧૨૪ નામના નાના ગ્રંથમાં આવે છે.

ઉપોદ્દાતાના પૃ. ૧૬ ઉપર ગ્રંથકર્તા કહે છે કે ચીની અને જાપાની ગ્રંથકર્તાઓ ત્રારવાર એ મહાન સંપ્રદાયોમાં (અર્થાત્ સુપ્રસિદ્ધ ૭ ભારતીય સંપ્રદાયોમાં) એ વિશેષ સંપ્રદાયોના સમાવેશ કરે છે. એ નિકે-દશ્વી અને આશિમિકના નામે જોળખાય છે અને એક બીજાને તદ્દન મળતા આવે છે. એ બન્ને માને છે કે પાપી જીવનનો દંડ મોટો વહેશે ભરવો જ પડે છે; અને એમાંથી બચવું અસંકલ્પ હોવાથી એ દંડ જેમ બને તેમ વહેશે ભરવો એ બહેતર છે કે જેથી ભાવી જીવન આનંદમાં નિર્ગમન કરવાની છૂટ રહે. આમ એમના આચારો તાપસિક હતા: ઉપવાસ, મૌન, અચક્લ-આસન, અને આ દંડ પોતાની જાતને દોટી રાખવી એ એમની તપસ્થાનાં બોધક હતાં. સંભવતઃ એ સંપ્રદાયો જૈન વાકાઈ અન્ય હિંદુ સંપ્રદાયની પ્રજાખાઓ હતા.

આ લખાણમાંના 'નિકે-દશ્વન અને આશિમિક' સ્પષ્ટતઃ નિગ્ગ-થો અને આજીવિકો અર્થાત્ શ્વેતાંબર અને દિગંબર જૈનો છે.

[વારકમય—આજીવિકો વિશે કોઇ સંકલિત અહેવાલ અસ્તિત્વમાં નથી; પરંતુ ઉપરના લખાણમાં ઉલ્લેખાયેલા ગ્રંથો ઉપરાંત એ સંપ્રદાય વિષેના છૂટા છવાસા દુક ઉલ્લેખો નીચેના ગ્રંથોમાં આવે છે:—જુહ્વર, Epigraphia Indica (Calcutta, 1894), ii, 272, 274, 323 અને ઇ. એ. ૨૦. ૩૬૧ ff.) જુરનીક, Lotus de la bonne loi (Paris, 1852) ગ્રીમ્મ-જોડ, Sept suttas Palis' ઇ. એ. (બોમ્બે, ૧૮૭૬) ૮, ૩૨૨; યકોબી, Jaina sutras, સે. જી. ઇ. વૈ. ૨૨ અને ૪૬. (એક્સફર્ડ, ૧૮૮૪-૮૫) ભાગ. ૧. પૃ. ૧૬, ૧૮, ભા. ૨. પૃ. ૧૯, ૨૨-૨૬, ૨૯-૩૨ અને ઇ. એ. ૧. ૧૬૧ ff; એચ. કર્ન, Hist. de Bouddhisme, ૧. (પેરીસ, ૧૮૦૧-૩),

૧૧૮. ૧. ૮, સે. જી. ઇ. ૧૩. ૬૦. ૧૧૯. ૧. ૭૦; જ્યુ. ડે. ૧. ૨૭૧, ૨. ૪૫૪. ૧૨૦. ૧. ૩૧; જ્યુ. ડે. ૧. ૪૫. ૧૨૧. ૨. ૨૮૨; સે. જી. ઇ. ૨૦. ૩૩૦. ૧૨૨. ૨. ૧૩૦; વી. વિ. તરજુગો. ૨૦. ૬૩૨. ૧૨૩. ૮. મ. ૬૭. ૧૨૪. સંપાદક Mr. Belgar A. Singer. Jr. યુનીવર્સિટી પ્રેસ, પેન્સિલ્વેનિયાની ફિલાડેલ્ફી સોસાયટી ઓફ ઇસ્ટીયન લેટિન. ૪.

૧૫, ૧૨૧, ૧૫૧, ૨. ૬, ૪૧, ૩૩૭, અને Manual of India Buddhism (સ્ટ્રાસથુર્ગે, ૧૮૬૬),
 પૃ. ૭૨. અને મ. ૨, ૭૪, ૮૨, ૧૧૨, ૧૧૬; લેખમાન, વી. ઓ. જી. ૩. (વીએના, ૧૮૮૯),
 ૩૨૮ ff. Actes du Sixieme Congres or. ૧૮૮૩, ભા. ૩. પૃ. ૫૫૪ ff. અને
 Aupapāka Sutra (લીપ્ઝીગ, ૧૮૮૩), ભા. ૧. પૃ. ૮૦, par. ૧૨૦, ઓક્સનબર્ગ, Buddha
 (ચોથા આવૃત્તિ ૧૯૦૩) પૃ. ૮૨, ૬૩, ૧૯૪; ઓ. શ્રેડર, Stand der Ind. Philosophie
 (સ્ટ્રાસથુર્ગે, ૧૯૦૨), પૃ. ૧૨, ૩૪. ff.; ફ્રીક ડેરીસ, Buddhist India (લંડન, ૧૯૦૩), પૃ.
 ૧૪૩, ૧૪૬, ૨૬૦, અને Dialogues of the Buddha (લંડન, ૧૮૯૬), પૃ. ૭૧, ૨૧૫,
 ૨૨૦, ૨૨૭, ૨૩૨; રોકહીલ, Life of the Buddha (લંડન, ૧૮૮૪), પૃ. ૧૦૧, ૨૪૬ ff.;
 સેનાર્ટ, Inscriptions de Piyadassi (પેરીસ, ૧૮૮૬), ૨. પૃ. ૨૦૬ ff.; વી. એ. સ્મીથ,
 Asoka (ઓક્સફર્ડ, ૧૯૧૧), પૃ. ૧૦૬, ૧૪૪ f.; વેબર, Catalogue of the Royal Library,
 બર્લિન ઇન્ડિયન, પૃ. ૧૨૮૦ (૧૮૯૨.)]

આ લેખમાં વપરાયેલા સંકેતોની સમજૂતી.

અં. નિ.=અંશુતર નિકાય

આ.સુ.=આચાર્ય સુત.

બો. અને ર્યુ.=Bohtlingk and Rien's edition of the 'Abhidhāna Chintamani

બુ. સુ.=બુદ્ધિસ્ટ સુક્ત સંકેત શુક્લ ઓફ ધી ઇસ્ટ વો. ૧૧

ભા. રિ.=Bhandarker's Report on the Search of Sanskrit Mss. 1883-84

ભ. સ. Bhagvati Sutra, Calcutta edition.

કો. બુ.=Bh. Coplestons' Buddhism.

દી. નિ.=દીપનિકાય.

ડા.=Dialogues of the Buddha, trans. by T. W. Rhys Davids.

એ. ઈ.=Epigraphia Indica.

જે. સુ.=જૈનસૂત્રો, ભા. ૧. અને ૨. સંકેત શુક્લ ઓફ ધી ઇસ્ટ વો. ૨૨ અને ૪૫.

જા. =Jatakas.

કી. મ.=Kielhorn's edition of the Maha Bhashya.

ક. સુ.=Kalpa Sutra, ed. હર્મન વાકોબી.

મ. નિ.=મહાનિકાય.

-ન્યુ. રે.=Neumann's Reelen Gotama Buddhas.

નિ. મ.=Niryavaliya Sutta, ed. Dr. S. Warren.

ઓ. બુ.=Oldenberg's Buddha.

ઓમન=The Mystics, Ascetics and Saints of India by J. C. Oman.

રો. લા. બુ.=Rockhill's Life of Buddha

સ્મી. એ.=Smith's As'oka in Rulers of India Series

સા. ઈ. ઇન્ડિયન-સ=South Indian Inscriptions in Archaeological Survey of India

સે. ઇન્ડિયન. વિ.=Senart's Inscriptions de Piyadassi.

- स. ३.=Sutra Kritanga in Jain Sutras, Part II.
 सं. नि.=Sanyutta Nikaya.
 सु. वि.=Sumangala Vilasini.
 २. म.=Turner's ed. of the Mahavamsha.
 टा. डी. ओ. =Transactions of the Sixth International Congress of Orientalists.
 उ. द.=Uvāsaga Dasāc, ed. by R. Hoernle in Bibliotheca Indica.
 पी. ओ. १८.=पीओना ओरीओन्टस जर्नल.
 वि. वि. तरलुपे=Vinaya Pitaka, tr. in Secred Books of the East Vols. १३, १७ અને २०.
 वे. ड. २६.=Weber's Indische Studien
 वि. ओ. दि.=Wilkins Modern Hinduism.
 से. सु. ड.=सेडेड सुडस ओद धी डरट.
 ड. ओ.=ड-डीअन ओ-डीअरी.
 १८. १८. ओ. सो.=जर्नल ओद धी जर्नल ओरीओन्टस सेसाडरी.
 ओ. ज.=ओओ गेअरीअर.

आनंदविमलसूरिण करेलुं यति-बंधारण.

संवत् १५८३ ना वर्षे पत्तननगरे ज्येष्ठमासे
 श्री संघसमुदायमध्ये श्रीआणंदविमलसूरिणिर्गिरिहयते:

- १ गुरुने आदेशें विहार करवो ।
- २ वणिगने दिक्षा देवी बीजाने नही ।
- ३ गीतार्थनी निश्चाइ महासतीनें दिक्षादेवी बीजे परें नही ।
- ४ वेगळा थकी गीतार्थ कहें कोई एक दिक्षा-
 लिई तो तेहनी परिक्षा करी वेस पलटाववो पण
 विधि गुरु पास दिक्षा देवराववी, योग
 बहेवराववा ।
- ५ पाटणमाहि गीतार्थनो संघाडे एक रहे
 चोमासा मध्ये बीजे नगरे १ ठाणुं चोमासुं

रहे गांमैं ठाणु ३ चोमासुं रहे आठ बीजे
 पत्रें रहे ।

- ६ वेगळा थको कामलें आदेश मंगववो ।
- ७ एकले माहात्मैं विहार न करवो ।
- ८ एकलो विहार करतो आवे तो मांडले केणे
 न वेसारवो ।
- ९ बीज पांचम आठम एकादशी चउदश अमा-
 वस्या पूर्णिमा एवं मासमध्ये १२ दिन विगाई
 न चोहोखी, उपवास आंचिल नीवी यथा-
 शक्ति तप करवो ।
- १० तिथि वषे तिहां एकदिन विगय न विहरवी ।
- ११ पात्रे रोगांन न देवो ।

- १२ पात्रां कालां काटुवां करवां ।
 १३ योग वद्या विना सिद्धांत न वांचवां ।
 १४ एक समाचारीना साधु केवारें बीजे उपासरे
 रखां होय ते गीतारथ कर्ने आवी वांदेणां
 देई सय्यात्तर पूछी हांड पूछी विहरवूं ।
 १५ दिवस मांही आठ थोई वार १ देव वांदवा ।
 १६ दिवसमध्ये २५०० सज्जाय गण्यो जोइये
 न गणे तो जघन्य सज्जाय १०० सो
 गणवो ।
 १७ वख पात्र कांबली ठामडा पुंठें वांधी न सुकवां,
 चालतां मेले उपाडवा, गृहरथ पासें उपडाववां
 नहीं ।
 १८ वरसमध्ये धोणि १, बीजी धोणि नहीं ।
 १९ पोसालमाहि केंणें नहीं....।
 २० पोसाले भणवा न जावूं ।
 २१ एक सहस्र ग्रंथ टाली लेपक पासे न लपववूं ।
 २२ द्रव्य अपावी केणे मटनी पासे न भणवूं ।
 २३ जेणें गर्मिं चोमाहुं रखा होई तिहां चोमासा

- ने पारणे मास २ मध्ये वख विहरवो न
 कल्पे ।
 २४ अकालसज्जाई आंविळ ।
 २५ एकासणो सदैव ।
 २६ छडादिकने पारणें जिमं गुरु कहे तिम करवूं ।
 २७ पारितोषणियागारेणें न करवूं ।
 २८ आठम चउदसं अंजुवाली पंचमी ए ५
 उपवास ।
 २९ आठम चउदस विहार न करवो ।
 ३० एक निवीतोई निवीतो न लेवो ।
 ३१ चौरासिं गच्छ माहिलीं माहींमां गुरुना केदेण
 विना न राखवो ।
 ३२ गुरुने अणपूछे नवी परूपणा नवी समाचारी
 न मांडवी ।
 ३३ नेंवो निपाळुं न वांचवो ।
 ३४ सपर कोरं छपडो (न) वावरवो ।
 ३५ कोरा माहिं गोडिया भरवा अटाण साधु गीता-
 रथ टाली न वावरवां ।

મૂગોલ, રંગોલ સંવંધી કેટલાક પ્રશ્નના જવાબો

વિચારકો આ લેખ પૂર્ણ વાંચ્યા શિવાય આગળથી કાંઈ પણ વિચાર ન કરી એવે એવી આશા રાખું છું.

આજે લખ્યું છે તે બંને બાજુનો અભ્યાસ કર્યો પછી જે દરીકત સમજવામાં આવી છે તે લખું છું.

૧. જે અંગ્રેજોને ને પશ્ચિમના લોકો આજે વિજ્ઞાન ક્ષેત્રમાં મૂકી રહ્યા છે, તે પણ ચાર સિકાથી વધારે ધસારો કરતા હોય એમ જણાય છે. કોલંબસ પ્રથમ વધારે પૃથ્વી શોધવા નીકળ્યા પડ્યો, ત્યાં સુધી વધારે દુનિયા છે તેવું તેઓને લાગ ન હોતું. ત્યાર પછી તેઓએ એક પછી એક આ મધ્ય ખંડમાં આવી દુનિયાની મુસાફરી કરી. ડ્રેક, હોકિન્સ ને કુક જેવાંએ દરિયામાં ચારે બાજુએ, સુડીના આકારે ગોળ મુસાફરી કરી. તે લોકોએ ઘણું સાહસ ખેડ્યું ને ઘણા આગળ વધ્યા. તેઓ માનવા લાગ્યા કે પૃથ્વી ગોળ છે. એ લોકો પોતાના સાહસના ને પરાક્રમના જ્ઞાનનો એક પછી એક ગદાર મૂકવા લાગ્યા. તેઓ સમજવા લાગ્યા કે ઘણું જ સત્ય આપણે શોધીએ છીએ. ત્યાર પછી કેપ્ટનનીકો ૧૫૪૩ માં પૃથ્વી ફરે છે એ સિદ્ધાંત (Theory) દાખલ કર્યો, ત્યાં સુધી તે લોકો પૃથ્વી ફરે છે એવું માનતા ન હોતા. નવા જમાનાનો મુશ્કેલી વધવા લાગ્યો, ને એક ચીજ હતી તેને નવા વાણી (ફેસ) પહેરાવ્યો. તેઓ પોતાની જાતને ઘણા શુદ્ધિમાન ને શોધક માનવા લાગ્યા. ત્યાર પછી ખગોળ સંબંધી શોધમાં પૃથ્વીથી ચંદ્ર સુધી વગેરે વગેરે આકાશીય પદાર્થો સાથે કેવું ને કેટલું અંતર છે, તે, તે લોકો યંત્રોથી અને સાધનોથી માપવા લાગ્યા. ત્યાર પછી ન્યુટન, બ્રેકન, હાવે, ગેલીલીયો વગેરે વગેરેથી અનેક અનેક શોધો બહાર આવવા લાગી. આ પૃથ્વી એક ગ્રહ છે, એમ માની આકાશીય પદાર્થોની ગતિનું હારમાસમાં પૃથ્વીરૂપ ગ્રહમણિકાને પણ દાખલ કરી દીધો. આમ અનેક રીતે અનેક વિદ્વાનોની શોધખોળ બેતાં લોકોની દૃષ્ટિમાં એમ સિદ્ધ થયું છે કે પૃથ્વી ગોળ છે-તે દહા આકારે છે, ને તે સૂર્યની આસપાસ દૈનિક, વાર્ષિક ને બીજી અનેક ગતિથી ફરે છે; એમાં શક નથી.

૨. ઉપર્યુક્ત વિચાર અત્યારે આપણા દેશમાં જોસભરે ચાલી રહ્યો છે પણ એમ સંભળાય છે, ને કેટલીક ચોપડીઓથી સમજાય છે કે આ વિચાર મુસોળમાં સર્વત્ર માન્ય હોય એમ જણાતું નથી. ઘણા ભાગ પૃથ્વી ફરે છે તે બાજુમાં નથી. તે લોકો કહે છે કે (The earth is not Sphere) પૃથ્વી ગોળ નથી ને અરિયર પણ નથી (The Terra Formid) પણ પૃથ્વી સ્થિર છે.

૩ હવે આપણે એક બીજી બાજુ જોઈએ. અંગ્રેજોને કે પશ્ચિમના લોકોએ જે જે શોધી કરી, તે તેઓનાં સાહસને પ્રશંસા છે પણ તે બધું સત્ય છે એમ કહી રીને શુદ્ધિ કલ્પન કરી. શકે ? કારણ, તે પ્રજાને જોવા માટે, ને જાણવા માટે કાંઈ પણ સાધન હોય તો ચર્મદષ્ટિ કે ચર્મહૃદય છે. જે પ્રજા એમ કહે છે કે સૂર્ય એક અગ્નિનો ભડકો છે, અથવા પહેલાં કહેના હતા કે તે એક રાક્ષસ છે, વળી કહે છે કે સૃષ્ટિની ઉત્પત્તિ આમૂક વર્ષ પછી થઈ; તે પહેલાં નહોતી; વળી કહે છે કે મર્કટમાંથી માનવ-જાતિ થઈ. આમ અનેક અનેક વાતોઓ તેઓ જે દૃષ્ટિમાં કહે છે, તે દૃષ્ટિ કયી લેશ ? પૂર્વની પ્રજા ઉપર પશ્ચિમના લોકોની ધુસરી પડી છે ને તે આજ સુધી છે. આ પ્રજા આજે વિકાસને પામી હોય તો પશ્ચિમની પ્રજાને આભારી છે, ને આજે કાંઈ પણ સમજવા લાગી હોય તો તેઓએ નાંખેલાં કેળવણીનાં મૂળ છે. હવે આ જ પ્રજા આજે કહે છે કે આપણે આજ સુધી પરતંત્રતામાં રહ્યા, પણ

હવે પરત્રતતા ન જોઇએ; એટલું જ નહીં પણ આપણને આજ સુધી જે શિક્ષણ મળ્યું તે બધું જૂન-બરેલું મળ્યું છે, તે થઇું નુકસાનકારક છે. તે વસ્તુ ગમે તેવી હોય પણ લોકો એટલું તો સમજ શક્યા છે કે આપણી પૂર્વની ભૂમિની વિવિધતા કેટલું જુદી જ હતી. અનેક વિદ્યા, વિચાર, કલા, તત્ત્વ, ધર્મ વગેરેનું સાહિત્ય અધિકાધિક ને ઉચ્ચ હતું.

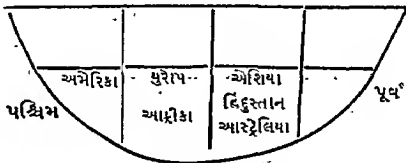
૪. ખાસાણ સાહિત્યમાં કે બૌદ્ધ સાહિત્યમાં કે જૈન સાહિત્યમાં પૃથ્વી ફરે છે ને સૂર્યોદિ નથી ફરતાં એવું પ્રમાણ છે ? વેદમાં ગમે તે વાતો હો, બૌદ્ધ સાહિત્યમાં ગમે તે વાત હો પણ જૈન સાહિત્યમાં કોંઈક સમગ્રય તે જણાવવા માન કડે છે. આપણી આર્થ પ્રજા જોમ કહેશે કે સત્ય લાગે તે કેમ ન માનવું ? આપણી છુદ્ધિને તે જરાખર ગ્રાહ્ય છે તો કાં ગ્રહણ ન કરવું ? ભૂગોળ ને ખગોળ સંબંધી જ્ઞાન આને આપણી શાળાઓમાં ચાલી રહ્યું છે; ટ્રેન્યુએટ વિદ્યાનાં આજ સુધીમાં યુગરાતીમાં તે જ વિચારો ને વિવેચનો ને વાપાંતરો બહાર પાડ્યાં છે ને લોકોને મારી મચડીને સમજાવવામાં આવે છે, અને ધણા લોકો તે વિદ્યાના શોખીન પણ થઇ રહ્યા છે.

૫. આ રથણે એટલું કહેવું જોઇએ કે પૂર્વની પ્રજાએ ચિંતાની છુદ્ધિને પશ્ચિમની પ્રજાને ત્યાં ધરાણે મૂકી છે; તે તો હવે નિકળે ત્યારે ખરી ? ન નીકળવાને કારણે એ છે કે પૂર્વની પ્રજા શું માનતી હતી તે કાં તો તેમને જરાખર સમજાયું ન હોય, અથવા સમજવાને જેવા જોઇએ તેવા સાધન તેમને મળ્યાં ન હોય; ગમે તેમ હો, પણ પૂર્વની પ્રજા ખરેખર જૂલવણીમાં પડી છે. એકથી પૂર્વની પ્રજા જૂલાવામાં પડી છે તેમ નથી પણ જૈન પ્રજા પણ જૂલવણીમાં પડી છે. જેનો કહે છે કે બીજું બધું ગમે તેમ હો પણ શ્રીમહાવીરના નામે થડેસા ગિનામગેમાં તો આ જાળતની ખાસ જૂલ છે. તો પછી એ સંકા થશે કે જ્યારે પૃથ્વી સંબંધીમાં મહાવીરે જૂલ કરી છે, તો પછી તેમનાં કથેશાં શ્રુતધર્મ, ચારિત્ર ધર્મ ને દ્રવ્યમસ્તિકાવાદિ પદાર્થો વગેરે જે બાળતો છે તે સાચી હશે એ શા આધારે સમજવું ? પ્રાચીને સમયમાં શ્રીમહાવીર જેવા ઋષિઓ પાસે દિવ્યજ્ઞાન કે અતીન્દ્રિય જ્ઞાન હતું એમ કાંવા આપણીથી કેમ થઈ શકશે ? અથવા તો તેનામાં સર્વગત તો નહિ જ એ ખુદ્ધ થશે.

૬. જૈન-દર્શન પ્રમાણે જંહુડીપતા ભરતના દક્ષિણાર્ધના મધ્યખંડમાં આપણે રહીએ છીએ. એ ખંડ પશ્ચિમમાં આટલાંટિક મહાસાગર, ઉત્તરમાં ઉત્તર મહાસાગર, પૂર્વમાં પાસિફીક ને દક્ષિણમાં દક્ષિણ મહાસાગરની મચ્યાં રહો છે. ચારે બાજુએ પાણી હોવાથી વચમાં જમીન ઉપસેલી દેખાય છે. ઉત્તરમાં ઉત્તર બાજુ ઉંચી છે. દક્ષિણમાં દક્ષિણ બાજુ નીચી છે. તેનાં પ્રમાણ એ છે કે પશ્ચિમ આટલાંટિક ને પૂર્વ પાસિફીક દરિયા જેવી નદીઓ, ઉત્તરથી દક્ષિણ વાણી જાય છે. નીચાણે હોય તે બધી પાણીનો પ્રવાહ જાય છે, એ વાત જ સિદ્ધ છે. તે નદિયો (દરિયાઓ) ઉપર પ્રવાહમાં ઓછી છે, ને નીચે પ્રવાહમાં વિસ્તીર્ણ છે. આ ખંડના મધ્યમાંથી ઉત્તર વાણી જઇએ તો ઉત્તર ક્રુવ (North-pole Star) ઉંચો ને ઉંચો દર્શિમાં (૪૫ અંશે) આવે છે; ને નીચાણમાં જઇએ તો અદરેશ થાય છે. તેથી સમજાય છે કે દક્ષિણ નીચાણમાં છે. એ ખંડ તે જ કે જેમાં આપણે રહીએ છીએ, તે પૂર્વેના ગોળા કે જેમાં ઓશિયા, આફ્રિકા, યુરોપ ને આસ્ટ્રેલીયા છે. હવે સમજ લો કે જે યુરોપીયનોએ યુસાફરી કરી છે, તે તે ગોળ ફરતા દરિયા વિષે; પણ ખીજ રીતે નહીં. પણ એથી પૃથ્વી ગોળ છે એમ સિદ્ધ થતું નથી. લાંબા આપણા અર્થ પ્રાણે તો ફૂલાઈને કહે છે કે ગોળ દડાની જેમ પૃથ્વી પર તેઓએ યુસાફરી કરી છે. હવે તમે કહેશો કે અમેરિકા ખંડ ત્યારે ક્યાં આવ્યો ? સમજો કે ભરતના પશ્ચિમાં ઉંચો ખંડ છે તે, કે જેને લાંબમાં અમેરિકા કહેવામાં આવે છે.

ભારત ક્ષેત્ર

ઉત્તર



દક્ષિણ

૭. હવે તમે ઉપરના નકશા તરફ જુઓ. આ મધ્ય ગોળા કે જેમાં આપણે રહીએ છીએ તે ઉપરથી (ઉપરની બાજુમાં) સાંકડા છે ને નીચેની બાજુમાં વિસ્તીર્ણ છે. એટલે એ ગોળા ગોળ છે એ બરાબર સિદ્ધ થતું નથી. બીજો ગોળો લગભગ ત્રિકોણાકાર છે; ને ઘણો પાણીવાળો છે. એટલે આપણે આટલી પૃથ્વી આપણે દૃષ્ટિમાં આવી છે. પૂર્વ પાસિફિક ચીરી જે પૂર્વમાં જાય તે જરૂર (કેસેબેરો કોષી તેમ) પૃથ્વી પ્રાપ્ત થાય; પણ જઈ શકતું નથી એમ અંગ્રેજો કહે છે.

૮. હવે આપણે પૃથ્વી ઉપર સિદ્ધા વર્તુલ ચક્રો પૂર્વથી પશ્ચિમ જતા જુઓ! તે શું છે? એ સૂર્યને આલવાના તેનાં ગોળ (વર્તુલ) માંજો છે. જ્યારે પૃથ્વી ગોળ વર્તુલ માર્ગમાં ગતિ કરે છે ત્યારે સૂર્ય ફરતો માનો. તે તે ગોળ વર્તુલ અર્ધચક્રમાં ધનુષ્યાકૃતિ આકારે ગતિ કરે છે. દષ્ટાન્ત-આપણે સીધા ઉત્તર બાજુમાં બરાબર ઉભા રહી જોઈએ તો બરાબર જુનની ૨૩-૨૪ તારીખે ધ્રુવનાં બાજુમાંથી સૂર્ય નીકળતો જણાશે. તે વખતે, ઉત્તરાભિમુખ મકાન હોય ને તેને આગળ આંગળું કે બારણું હોય તો જોઈ શકશે કે સૂર્યનો તાપ (તડકો) તેના આંગળામાં જુલો પડેલો હશે. આ સૂર્ય ધીમે ધીમે ઉપર ચડતો આપણાં માથા પર આવશે. માથાથી વાંકમાં આવતો અસ્ત થતો વાયવ્ય કોણમાં જતો આપણે જોઈશું. ચોવીસ કલાક પૂર્ણ કરી બીજા દિવસે તેની પાસેના બિન્દુમાં (કુમ્ભ વર્તુલમાં) આવેલો આપણને દેખાશે. આમ દરરોજ નવા નવા અક્ષાંશ કે વર્તુલમાં આવતો સૂર્યને જોઈશું. ને છેક છેલ્લા ૧૮૦ અક્ષાંશમાં (જેનદર્શન ૧૮૪ કહે છે, જુઓ ચંદ્રગતિને સૂર્યગતિ એટલે ૩૬૬ દિવસના દિસાને ૧૮૨ છે તે એ વર્તુલ એકે ૧૮૨ x ૨ = ૩૬૪ ફે: ૩૬૬ વખત ફરે છે એટલે ૩૬૬ થાય છે.) હિસેબમાં ૨૩-૨૪ મી તારીખે સૂર્ય અગ્નિકોણમાં ઉડય થતો ને વાંકમાં ગતિ કરતો ને નૈઋત્ય-કોણમાં અસ્ત પામતો જોઈશું. તે વખતે સૂર્યના માર્ગે જ્યાં લગજુલસુદ (દરિયા)માં પડે છે. ત્યાં વસતિનો અભાવ છે. પણ તેનાં કિરણો-તાપ આપણુ બધાને મળે છે. ફેર એ છે કે જ્યારે જેને સૂર્ય નંદક હોય છે ત્યારે જેટલો તાપ-કિરણો જેટલો વખત સુધી તેને મળે છે ત્યારે તેને-છેટ જવાથી તેટલો વખત તાપ-કિરણો મળી શકતા નથી. આપણા દેશને, યુરોપને, તેમ જ ઉત્તર બાજુમાં પ્રવેશો છે, તેઓને સૂર્ય જેમ માર્ય, એપ્રીલ જેમ પાંચ ૭ માસ સધી વધારે વખત રહે છે, તેમ સૂર્ય જ્યારે દક્ષિણાવનમાં દક્ષિણ બાજુમાં લગભગ ૭ માસ સુધી હોય છે ત્યારે સૂર્યનો તાપ તેટલો મળતો નથી કારણ-સૂર્ય એટલો વખત રહે છે. પણ તે વખતે દક્ષિણના શેકોને આપણા કરતાં તાપ વધુ વખત રહે છે. જ્યાં જેમ દિવસ (તાપ) વધારે વખત ત્યાં રાત્રિ અંધકાર વધારે વખત રહે છે, એ સદજ છે. હવે આપણે જે સૂર્યની જગ્યાએ પૃથ્વીને મુકીશું તો તેમ જ દિશા વા પ્રજ્વલિત બને છે,

પણ બીજી પ્રવૃત્તિ થતી નથી. પૃથ્વીને માનીશું તો પૃથ્વી સૂર્ય લાણી દિવસ રાત્રિ કરવા ગતિ કરે છે. જ્યારે ઉત્તરાયણ સૂર્યને ઉત્તર-બાણમાં આવવાને-કહીએ છીએ, ત્યારે પૃથ્વી સૂર્ય પાસે જાય છે. જ્યારે દક્ષિણાયન થાય છે. ત્યારે પૃથ્વી સૂર્યથી દૂર જાય છે.

૯. સૂર્યની શોધ કરતાં શોધકોને સૂર્યની કલ્પના કાંઈ લુહા જ લાગી છે. બીજા બધા પ્રદેશી શોધ કરતાં ત્રાસ ને અસ્થિરતા જેટલાં તેમને નથી લાગ્યાં. તેટલાં ત્રાસ ને અસ્થિરતા સૂર્યને ચોક્કસ કરતાં થયાં છે, એક પછી એક શોધકોએ નવો નવો લુહો લુહો નિર્ણય સમજાવ્યો છે. પણ કહ્યું તેઓ જોઈએ તેના નિર્ણય પર આવી શક્યા નથી. હવે પણ જે જે શોધકો આગળ ચાલુ કરશે, તેઓને આજ કરતાં કાંઈ લુહો જ સમજશે.

૧૦. હવે કેઇ એમ પ્રશ્ન કરશે કે લોકો મકરવૃત્ત ને કર્કવૃત્તને ચીરને આગળ જાય છે તેનો ઉત્તર એ જ કે આ વાત પ્રશ્ન કરનાર સમજ્યા હોય એવું જણાતું નથી. પૌરાણિક વાતોને નવા જમાનાએ ગપગોળા માન્યા છે, એ વાત કીક છે; પણ નવો જમાનો જે ગપગોળા કીક છે, તે બિચારી ઘેર બેસી રહેલી પ્રજા સાંભળી આશી જ બની જાય છે. એટલે, આ જમાનાને લાગે છે કે નવો જમાનો કેવાં કેવાં સત્ય શોધી આપે છે. સાચી વાત એ છે કે કર્કવૃત્તના એટલે તે વખતના સૂર્ય વર્તુલો યુરોપ ઉપર આવે છે, તે વાત ખરી છે પણ ત્યારપછી યુરોપ ઉપર આગળ વધતા ઉત્તર મહાસાગરમાં આવે છે કે જ્યાં અમુક ભાગ સુધી રહીમરેવા વસાણા આવે છે જેમાં થઇ આદર્શાદિકમાં આપી અમેરિકામાં જાય છે, પણ ઉપર આગળ વધી શકતું નથી. કારણ ઉપર આગળ જવામાં ઘણા પ્રયત્નો થયા છે પણ લોકો પાછા આવ્યા છે ને મરણોન્મુખ પણ ચલા છે. જ્યારે પૂર્ણ ભરતમાં જઈ શકાતું નથી ત્યારે મુગલદેશને મહાવિદલદેશમાં જવાની વાત જ શી કરવી ? વળી દક્ષિણ મહાસાગરમાં પણ આગળ અમુક દહ પછી જવાતું નથી. ઉત્તરમાં જવાની વાત આજથી કેટલાંક વર્ષ પહેલાં શુભરાતીના દીવાળીના અંકમાં ને સંજવર્તમાનના પતેલીના અંકમાં હતી ને પૃથ્વી ગોળ નથી આ વાત પણ આવી હતી, પણ તે અંકે યાદ નથી તેમ આજે તેને ઘણું વર્ષ થઈ ગયાં છે.

૧૧. વળી એમ પ્રશ્ન થાય છે કે અમેરિકામાં અત્યારે તાર મુકતાં માલમ પડે છે કે અહીં જ્યારે મધ્ય દિવસ હોય ત્યારે ત્યાં મધ્ય રાત્રિ હોય, એ વાત સત્ય જણાતી નથી, તેમાં ક્યાં ભૂલ છે તે પરાશ્રિતતા હોવાથી માલમ પડતી નથી (જેટલે તાર સંબંધી દર્શકત ઘણી ગુંચણવાળી છે) પણ અત્યાર એક બીજો દાખલો લઈએ. એમ કહે છે કે લંડનને તેના આસપાસના પ્રદેશમાં (વિશ્વાયનમાં) સૂર્ય લગભગ સોળ કલાક રહે છે, ને રાત્રિ આઠ કલાક રહે છે, તો વિશ્વાયનમાં અસ્ત થયા પછી અમેરિકામાં સૂર્યોદય થાય એમ આ પ્રત્યક્ષી સિદ્ધ થાય છે. આ ઉપરથી સમજશે કે અમેરિકામાં ત્રીસેના ગોળામાં સૂર્ય સોળ કલાક વિશ્વાયનની જેમ રહેવાનો તો અહીં કે યુરોપમાં સોળ કલાકની રાત્રિ સૂર્યના અભાવે રહેતી જ જોઈએ. તે રહે છે ખરી ? આપણે એવું અનુમન્યું છે કે સોળ કલાકના દિવસ પછી સોળ કલાકની રાત્રિ રહે ? આથી એમ પ્રશ્ન થશે કે પૃથ્વી સૂર્ય પાસે જવાથી સૂર્યોસ્ત થતો નથી. આમ હોય તો કેપ્પણ દેશની પ્રજાને પૂછો કે તમારે સૂર્યોદય ને સૂર્યોસ્ત થાય છે કે નહીં ? વિશ્વાયનમાં ઉપરના પ્રદેશમાં હલા રહી જુઓ, એશિયાના કેપ્પણ ભાગમાં રહીને જુઓ, તેમ અમેરિકાના ભાગમાં રહીને જુઓ; તો પણ પશ્ચિમમાં સૂર્યોસ્ત થતો ને પૂર્વમાં સૂર્યોદય થતો જણાશે. આ ઉપરથી બંને ગોળા પર એ રાત્રિ દિવસ જેટલા અંતર રહે છે કે નહીં તેનો વ્યાખ્યાની ખ્યાલ આવી શકશે. નહીં તો માનવું પડશે કે ઉદ્યારત ચનાર ને રથાવી રહેનાર સર્વ લુહા લુહા છે. નહીં તો ઉદ્યારસ્ત નથી થતો આવે. અનુવાન સર્વ પ્રજાને થયો જોઈએ.

૧૨. આ પૃથ્વી ગોળ રથાલીની જેમ છે. તે આજના જંજીરોપની રિયનિએ, નહિ કે આટલી આપણા આજના અનુભવમાં આવેલી પૃથ્વીની રિયનિએ. બીજા બીજાના અંદ માંક આ અર્થ બરબરેમ છે. તેમાં ત્રણ ભાગ છે. તેમાં પૂર્વેના ભાગ પશ્ચિમ ભાગની જેમ (અમેરિકા) હાથ આવ્યો નથી.

૧૩. તાલુખી એ છે કે અંત્રોનેએ પૃથ્વીને ગ્રહરૂપ મણુકા ગણી આકાશીય પદાર્થોની માળામાં ગોઠવી દીધી. પણ ખ્યાલ એ થાય છે કે ક્યાં આકાશીય સ્વચ્છ-મુક્ક પદાર્થો ને ક્યાં આ મલીમસી-માર્તિક (માટી સંબંધી) પૃથ્વી ! દૈનિક માસિક ને વાર્ષિક ગતિ કરવામાં સૂર્ય ને ચંદ્રને નક્ષત્રોની માળાની હાજરી જોઈએ છીએ. તે સિવાય સૂર્ય ચંદ્ર પોતાની ગતિને ખ્યાલ લેકેને આપી શકતા નથી. તેમ આ પૃથ્વીને પોતાની ગતિમાં અનુકૂળ થનાર પૃથ્વીની કયા નમનમાલા હોજર, યશો ? સૂર્ય ચંદ્રાદિ આકાશીય પદાર્થોમાં આ પૃથ્વી પણ એક આકાશમાં લટકતો ગોળો છે, તે સમજવું કે માનવું એ શું અમનનક જાન નથી ? કેઈ પણ શાન્ત સ્થિરસ્થાનમાં-વેધશાળામાં રહી જોતાં જ્યોતિષીએને જ્યારે કેઈ પણ આકાશીય પદાર્થો પોતાની ગતિનું જાન આપે છે. ત્યારે પૃથ્વી એ પ્રમાણે ફરે છે એવું જાન કંઈ વેધશાળામાં રહી જોતાં પ્રેક્ષકને થયું છે ? એમ કહેવામાં આવે છે કે અનુમાન પ્રમાણથી પૃથ્વી ફરવાનું જાન થાય છે. પ્રત્યક્ષથી નહીં. ત્યારે ગ્રહોની ચાલ જોવામાં કાં અનુમાન નથી આગલ કરેતા ? શા માટે પ્રત્યક્ષથી જુઓ છો ? પૃથ્વીને ધરાખર પ્રત્યક્ષથી જુઓ, ખાતરી થશે કે બુલ્બા છીએ ! વસ્તુતઃ સૂર્યની જગાએ પૃથ્વીને ચૂકતાં દષ્ટિ વિપર્યય જાન જણાય છે. માત્ર પૃથ્વી ને સૂર્ય વિષે છે એટલું જ નહીં પણ ન્યુટને - gravitation (ગુરુત્વાકર્ષણ) નિયમ શોધી કાઢ્યો તે પણ દષ્ટિ વિપર્યય છે. વૃક્ષ ઉપરથી ફળ નીચે પડ્યું, તે જમીનપર આવ્યું, ત્યારે તેને જોતાં વિચાર કર્યો, ને માન્યતા નિર્ણય કર્યો કે તે ફળ ઉપર કાં ન મધું ? નીચે કેમ આવ્યું ? નિશ્ચય થયો કે જરૂર પૃથ્વીએ પોતા બાણી ખેંચ્યું, મોટી વસ્તુ હમેશાં નાની વસ્તુને ખેંચે છે એ સિદ્ધાંત (Theory) મોકલ્યો થયો. પણ જે વસ્તુ વજનદાર હોય તે નીચે આવે એ સદજ છે ને જે હલકી હોય તે ઉપર જાય. જેમ પાણીની વરાળ, અગ્નિના ધૂમ. વળી એક ત્રીજો દાખલો થયો. આંખ ઉપર સૂર્યનાં કિરણો પડે છે તેથી આંખ પદાર્થ ને રંગને જોઈ પકડી શકે છે આમ નવો જમાનો કહે છે. નંદિસત્ર ને વિશેષાવસ્થક. બાંધ્યું કહે છે કે ચક્ષુષન્દ્રિય ને મનઃશન્દ્રિય ઉપર જે પદાર્થ પડે તે તો ઇન્દ્રિયો પદાર્થને પકડી શકે નહીં પણ તે બે ઇન્દ્રિયો સામી જાય છે ને પદાર્થને પકડે છે.

૧૪. એમ કહેવું પડશે કે પદાર્થોની શોધખોળ કરવામાં તેઓનું ઘણું સાદસ છે. પણ શોધમાં જે દિવ્યજ્ઞાન જોઈએ તે તેમની પાસે નથી જ. પરિણામ એ આવ્યું કે સૂર્ય જેવી ચીજને જુદા જુદા ખ્યાલોથી કથના કરવામાં, મંગળ જેવા ગ્રહની સાથે અનેક વર્ષો થયા છતાં વાતો કરવામાં, ને ચંદ્ર ઉપર રહેલા વૃક્ષો જલાશયાદિ સમજવામાં, તેઓ કંઈપનાજોના હવાઈ ક્રિડાઓ ચાલુના હોય એમ જણાય છે. ઇતિહાસમાં લખાએલ મતુખો ને દેવો જેઓ વિદ્યાભજથી ને દૈવીભજથી આકાશમાં ઉડતા ને દોડતા હતાં; તેઓની સાથે આજની પ્રજા આધિભૌતિક સાધનોથી ધસારા કરતી ને તેઓની આગળ જવા ચાલ કરતી હોય એમ આજની પૂર્વની પ્રજાને લાગી રહ્યું છે.

સુનિ હર્ષચંદ્રભ.

૧ કોઈ સાંપ્રદાયિક માન્યતાને સ્થાપિત કરવાને પ્રયત્ન કરેલા એમાં કોઈ જોડું નથી પણ જ્યારે તેની વિરુદ્ધ પ્રબલ દલીલો હોય ત્યારે તેવા પ્રયત્નની પાછળ સજીવ અસ્થાય, અને ખામતું સમજાવપરક મેળવેલું જ્ઞાન, સચોટ દલીલો અને સખળ પ્રમાણો એ બધું આવશ્યક છે. જ્યોત્ષ્ણજ્ઞોજ્ઞા જેવા વિષયમાં તો એ વસ્તુની વધારેમાં વધારે આવશ્યકતા છે. તેમ છતાં હમણાં હમણાં આ વિષય તરફ જે જૈન સમાજમાં વિચાર કરવાની શક્તિ અંકપાંચો નજર થઈ છે. તે ચાલુ રહે એવા હેતુથી આ લેખ અહીં પ્રસિદ્ધ કર્યો છે. જેથી એકાદ દોડી કાઢી નાખીને આજો લેખ જેવા ને તેવા છાપ્યો છે.

નંદિસત્ર અને વિશેષાવસ્થકમાખ્ય નામ સદ્દ જે ઇન્દ્રિય અને મન વિષે કહેવામાં આવ્યું છે. તેનો અર્થ વસ્તુતઃ એવો છે કે ઇન્દ્રિય અને મન એ જોને પ્રાપ્તકારી નથી તેથી પોતાના સ્થાનમાં રહીને જ ફરવતી એવા પણ વિષયનું પદાર્થને તે મક્કલ કરે છે. મક્કલ કરવા તે કોઈ પદાર્થના સ્થાનમાં જતા નથી. -સંપાદક.

કલિંગના ચક્રવર્તી મહારાજ સ્વારવેલના શિલાલેખનું વિવરણ

[લેખક:-વિદ્યા મહેાદયિ બીકાશીપ્રસાદ નવસવાલ એમ. એ. ૫૮૭૫]

[પશ્ચિમ હિંદુસ્થાનમાં થએલ પરમાર્દત નરપતિ કુમારપાલ અને દક્ષિણ હિંદુસ્થાનમાં થએલ પરમાર્દત નરપતિ અમોઘવર્ષ એ સામાન્ય રીતે જૈન જનતામાં પ્રભાવક નરેશ તરીકે બહુ જાણીતા છે. કારણ કે જેમ તેઓ સમયથી નજીક છે તેમ તેઓની તથા તેઓના આશ્રિત વિદ્વાનોની મંદિર, સાહિત્ય આદિ સંબંધી વિવિધ કૃતિઓ ઉપલબ્ધ છે. પરંતુ ઐતિહાસિક તેમ જ મહાપ્રભાવશાળી પરમાર્દત ખારવેલ નરપતિની ખાખતમાં તેમ નથી. એ નરપતિને જાણનાર કહેવાતા જૈન વિદ્વાનોમાં પશુ ગણ્યા ગાંધ્યા જ મળશે. કારણ એ છે કે એ નરપતિ જેમ સમયથી દૂર છે તેમ તેના સંબંધનું સાહિત્ય પણ નહિવત્ છે. આમ છતાં પણ સદ્ભાગ્યની વાત એ છે કે એ કલિંગ ચક્રવર્તી ખારવેલે જ રીતે હેતરાવેલ એક શિલાલેખ મળી આવ્યો છે. અને તેના ઉપરથી તેને લગતી અનેક જાણતો ઉપર પ્રકાશ પડે છે.

એ શિલાલેખની ભાળ મળ્યા પછી તેને વાંચવા સમજવા વિગેરે માટે લંગભગ સો. વર્ષ થયાં દેશીય અને વિદેશીય વિદ્વાનો પ્રયત્ન કરતા આવ્યા છે. દેશીય વિદ્વાનોમાં બ્યાપારમ્યાન ગૂર્જરાતના સાધારેનું પણ સ્થાન છે. સદ્ગત લગવાનલાસ ઉદ્દિષ્ટતે વૈષ્ણવપ્રિય પ્રતોના કુળમાં જન્મ્યા છતાં પશુ એ પ્રાચીન શિલાલેખ વાંચવા અને તત્સંબંધી વિચાર કરવા આજથી ૪૦ વર્ષ અગાઉ ગૂર્જરાતી તરીકે કાંચો આપેલો છે. રાયમહાદુર કે. હં. હં. હં. અધ્યાપક તેમજ ઐતિહાસિક સાક્ષર છે એટલે એ વિષયમાં તેમનો ઉકાપોદ સ્થાને જ ગણાવો જોઈએ. પરંતુ આશ્ચર્ય અને દુઃખની વાત એ છે કે બધી સાધન સંપત્તિ પ્રાપ્ત છતાં તેમ જ જ્ઞાન અને શોધખોળ પાછળ જોડતો બધો વખત મેળવી શકનાર સેકંડો જૈન સાધુઓમાંથી આ ખાખત ભાગ્યે જ કાઢતું ધ્યાન ગયેલું છે. પ્રસિદ્ધ અને પ્રાચીન એક જૈન નરપતિ વિષે જૈન વિદ્વાનોની અને ખાસ કરી જૈન સાધુમંડલની આટલી નિરાસાધન્યતા એ ભાગ્યે જ ફાતવ્ય ગણી સ્થાય. તેમ છતાં ખુશીની વાત એ છે કે પ્રસ્તુત પત્રના તંત્રી યોગેશ્વર જીન વિજયજીએ આજથી અગાઉના વર્ષ અગાઉ પ્રાચીનજૈનલેખસંગ્રહ (પ્રથમ ભાગ) એ નામેનું એક પુસ્તક પહાર પાડેલું. જેમાં એ ખારવેલનો શિલાલેખ અને બીજા ત્રણ લેખો આપેલા છે. સાથે સાથે તેઓથીએ એ પુસ્તકમાં એ લેખને સમજવા અને તેની બધી વસ્તુઓ ઉપર પ્રકાશ પાડવા તે વખત સુધી પ્રસિદ્ધ થએલી બધી સામગ્રીને ઉપયોગ કરી ખૂબ માહિતી પૂરી પાડી છે.

ખારવેલના એ શિલાલેખ પાછળ ઘણા વર્ષો થયાં સતત મમ કરનાર શીયુત નવસવાલ મહેાદયે હાથમાં હેતરો ખારવેલના શિલાલેખ વિષે એક નિબંધ લેખીમાં પ્રસિદ્ધ કર્યો છે. એ મહત્વનો હેતરો નામત્રીપ્રચારણીપત્રિકાના ૧૯૮૪ ના કાર્તિક માસના એકમાંથી તેનો ગૂર્જરાતી અનુવાદ અને આપવામાં આવે છે. આ લેખને વધારે સમજવા અને તેના અભ્યાસ માટે ઉડા ઉતરવા માટે અને અભ્યાસ તરફથી કરું ન લખતાં પ્રાચીન જૈનલેખસંગ્રહ (પ્રથમ ભાગ) વાંચવાની વાપરકોને ભલામણ કરીએ છીએ. જો કે એ પુસ્તક ગૂર્જરાતી આશ્રમ આરે બહુ જ મદતનું છે, પણ આપારે તે સુલભ નથી. તેથી એ શિલાલેખનું તેમજ ખારવેલનું મહત્વ અને પ્રાચીનકાલમાં જૈનજાતીની જાહેરાતી સમાજના પ્રેરતા ચોક્કસ કરના એ પુસ્તકના ઉપોદ્ધાપનમાંથી અને અનુપ્રતિમાંથી અહીં મુદ્દામાં આવે છે. વિશેષ રસ-વૃત્તિવાળાઓ એ ખૂબ પુસ્તક વાંચી લેશે તો તેને પ્રસ્તુત અનુવાદ સમજવામાં કિમ્બી મદદ મળશે અને જ્ઞાન સમૃદ્ધિ વધશે.

(ઉપોદ્ધાતમાંથી ય. ૧-૨)

“જેન ધર્મ” સાથે સંબંધ ધરાવનારા નેટલા પ્રાચીન શિક્ષાલેખો આજ સુધીમાં મળી આવ્યાં છે તેમાં આ પુસ્તકમાં આવેલા “કેટલ નટલ આવેલી ઉદયગિરિની ટકરી ઉપરના દોષીયુક્ત તથા બીજા ત્રણ લેખો” સર્વથી પ્રાચીન છે. દોષીયુક્ત લેખો મહામેધવાદન રાજા ખારવેલના લેખ જેન ધર્મની પુરાતન બહોજલાલી ઉપર અપૂર્વ અને અદ્વિતીય પ્રકાર પાડનારા છે. અમલુભગવાન શ્રી મહાવીરદેવપ્રણાધિત પેપ્પના અનુયાયિ-ઓમાંના કોઇપણ પ્રાચીનમાં પ્રાચીન નૃપતિનું નામ ને શિક્ષાલેખમાં મળી આવ્યું હોય તો તે કૃત એકલા આ પ્રતીતી નૃપતિ ખારવેલનું જ છે. જેનધર્મના ઈતિહાસની દૃષ્ટિએ તો આ દોષીયુક્તલેખો લેખ અનુપમ છે જ, પરંતુ ભારતવર્ષના રાજકીય ઇતિહાસની અપેક્ષાએ પણ આની ઉપયોગિતા અનુસર જ જણાય છે. લગભગ એક સતાબ્દી નેટલા લાંબા કાળથી આ લેખની અર્થો યુરોપીય અને ભારતીય પુરાતત્ત્વશોમાં ચર્ચામાં કરે છે. અનેક લેખો અને પુસ્તકો આ લેખના વિષયમાં લખાયાં-છયાયાં છે. સૌંદર્ય વિદ્વાનો આ લેખની મુદાકાત લઇ ફોટા ચિત્રે ઉતારી ગયા છે-અને હજુ પણ એમજ ચાલુ છે. આવી રીતે ઐતિહાસિક વિદ્વાનોમાં આ લેખ એક મહત્ત્વનો અને પ્રિય મુદ્દ પડ્યો છે. પરંતુ એ બહુને મદને સાધ્યું એટલે યાચ છે કે જેમના ધર્મ” સાથે આ મહત્ત્વના સ્થાનનો સીધો સંબંધ છે. જેમનો એક પ્રકારે આ કીર્તિરચના છે અને જેમની પ્રાચીન પ્રમુતાના પ્રકાશમય કિરણો આમાં અંકિત થયેલાં છે તે જોનારોથી દલ સુધી કાઢને એવું નામ પણ જણાયું-સંભળ્યું નથી.

અમલુ ભગવાન શ્રી મહાવીરદેવના નિર્વાણ બાદ ઉદાયી, ચંદ્રશ્યમ, સપ્રતિ અને ચિત્રમાહિત્ય આદિ નૃપતિઓ જેનધર્મ પાળનારા અને જેનસાસનની પ્રભાવના કરનારા થઇ ગયાના ઉલ્લેખો કેટલાક જેનધર્મમાં જોવામાં આવે છે, પરંતુ તે કથનની સત્યતા સિદ્ધ કરનાર એક પણ ઐતિહાસિક પ્રમાણ-કે જોને નિઃશંક રીતે સર્વ મુદ્દ સ્વીકારી શકે-આજ સુધીમાં ઉપલબ્ધ થયું નથી. જે અંશોમાં ઉપયુક્ત રાજ્યોને જેનધર્મનુયાયી જણાયા છે તે અંશો ધણા પાછળના સમયે લખાયા છે તેથી તેમના કથન ઉપર પુરાતત્ત્વશો બહુ વિશ્વાસ નથી રાખતા. ધારણ કે આવા અંશોમાં વર્ણનોમાંથી ધણા ખરા ઇતિહાસની દૃષ્ટિએ નિર્ગૂલ થયાં છે, અને કરતા નધ છે. હર્ષાત તરીકે જે ચિત્રમાહિત્ય નામના રાજાના વિષયમાં અનેક ચર્ચિત્રો અને આખ્યાનો લખાયાં છે અને જેના નામથી આજે આખા ભારતવર્ષમાં (લગભગ ૧૨૦૦-૧૫૦૦ વર્ષથી) રાષ્ટ્રિય સંસ્કૃતિમાં” છે તેના અસ્તિત્વ અને સમય સુધી મટિ પણ આજના અનેક ઐતિહાસિકો સંકારીય છે.”

અનુપૂર્તિમાંથી ય. ૫૧ થી ૫૭ સુધી. ખારવેલના સંબંધમાં થીયુત કે ૬૦ હુવન કથન

“ઇ ૦ સ ૦ પૂર્વે ૧૬૫માં દલિંગના રાજા મહામેધવાદન ખારવેલ મગધ ઉપર સ્વારી કરી. હાલ જોને આદિયા પ્રાંત કહે છે તે પ્રાચીન ઉત્કલ દેશની દક્ષિણ અંબેશો હતો. એ પૂર્વે સમુદ્રના કાંઠે ગોદાવરીના મુખ સુધી પહોંચી હતો. ત્યાંના લોકો સાદસિક કહેવાતા હતા. મળમાં ઘાસ ભોજ અને જેન ત્રણે ધર્મનો પ્રસાર હતો. પરંતુ પરિબલ જેનોનું ઉદ્ભવ. પૂર્વે કલિંગ નંદરાજના બહોળા સામાન્યનો બાગ હતો. એના પછી યનાર મહાપ્રતાપી ચંદ્રગુપ્તે સમસ્ત દક્ષિણાપથ પાટલિપુત્રની ધાયા નીચે આવેશો હતો. ત્યારથી આશરે સો વરસ તે યોધોના લાખમાં રહ્યો હતો. હરમીયાન ઇ ૦ સ ૦ પૂર્વે ૨૬૪ માં તેણે મુદ્રા થવાનો એક નિષ્ફળ પ્રયત્ન કર્યો હતો અને તેના બદલામાં અરોહને લાઇ બારે શુભારી જાગવી હતી. ઉત્તરે યોધો જ્યારે નખળા પંડયા, ત્યારે ઇ ૦ સ ૦ પૂર્વે ગ્રીન રાવકના ઉદ્ભવ બરહમત્ થોત [સં. યેન] વંશના રાજા ક્ષેમરાજે પરતગતાની ધસાઇ ગયેલી બેરી તોડી મોખી. તે જ અરણમાં અમદેરનો રાજા સિમ્બુક પણ સ્વતંત્ર થયો. ત્યાર બાદ કલિંગના રાજાએ હર્ષમાં ઉત્કલ પશ્ચિમમાં કોરાય અને દક્ષિણમાં વેપારમંડલને પ્રદેશ છૂટી લઇ રાજ્યમાં વધારે કર્યો. પશ્ચિમમાં આંધ્ર રાજ્યે પણ નાસીક પડેલ મુલક ઉત્તરના રાષ્ટ્રિકો પાસેથી છૂટી લીધો. મહાનરીથી દુષ્કાળના મુખ સુધી વિસ્તાર પામેલા પૂર્વે રાજ્યમાં જ્યારે ક્ષેમરાજનો પૌત્ર બિમ્બરાજ ખારવેલ રાજ થયો. ત્યારે અર્ધા સદીની સ્વતંત્રતા અને સુખવસ્થાના પ્રતાપે કલિંગની આર્થિક સ્થિતિ ઉત્તમ પ્રકારની હતી. રૈયત આજે અને ખેતનો તર હતા, નેનો રાજ પણ પ્રભાના સુખમાં, રાજ્યના અરજદુધમાં અને કુળની કીર્તિમાં વધારો કરે એવો હતો. એનો પ્રસસ્ત લક્ષણથી સંતોષ પામી પ્રભુએ એને રાજપેઢે આપ્યું ઉદ્ભવ. ખારવેલ અને એના પૂર્વજે જેન હવા, એનો

કલિંગના ચક્રવર્તી મહારાજ ચારવેલના શિલાલેખનું વિવરણ

[લેખક:—વિદ્યા મહોદય શ્રીકાશીપ્રસાદ નાયકસવાલ એમ. એ. પટણા]

[પશ્ચિમ હિંદુસ્થાનમાં યજ્ઞેષ્ઠ પરમાર્હત નરપતિ કુમારપાલ અને દક્ષિણ હિંદુસ્થાનમાં યજ્ઞેષ્ઠ પરમાર્હત નરપતિ અગ્રોધર્મ એ સામાન્ય રીતે જૈન જનતામાં પ્રભાવક નરેશ તરીકે બહુ જાણીતા છે. કારણ કે જેમ તેઓ સમયથી નજીક છે તેમ તેઓની તથા તેઓના આશ્રિત વિદ્વાનોની મંદિર, સાહિત્ય આદિ સંબંધી વિવિધ કૃતિઓ ઉપલબ્ધ છે. પરંતુ ઐતિહાસિક તેમ જ મહાપ્રભાવશાળી પરમાર્હત ખારવેલ નરપતિની બાબતમાં તેમ નથી. એ નરપતિને જાણનાર કહેવાતા જૈન વિદ્વાનોમાં પણ ગુપ્તા ગાંધ્યા જ મળશે. કારણ એ છે કે એ નરપતિ જેમ સમયથી દૂર છે તેમ તેના સંબંધનું સાહિત્ય પણ નહિવત્ છે. આમ છતાં પણ સદ્ભાગ્યની વાત એ છે કે એ કલિંગ ચક્રવર્તિ ખારવેલ જ રીતે કોતરાવેલ એક શિલાલેખ મળી આવ્યો છે. અને તેના ઉપરથી તેને લગતી અનેક બાબતો ઉપર પ્રકાશ પડે છે.

એ શિલાલેખની ભાષા મળ્યા પછી તેને વાંચવા સમજવા વિષે માટે લગભગ સો-વર્ષ થયાં દેશીય અને વિદેશીય વિદ્વાનો પ્રયત્ન કરતા આવ્યા છે. દેશીય વિદ્વાનોમાં બ્યાપારપ્રધાન ગૂઝરાતના સાક્ષરોનું પણ સ્થાન છે. સદૃશ લાગવાનસાથ ઉદ્દિષ્ટતા વૈષ્ણવપ્રિય પ્રત્યેના કુળમાં જન્મ્યા છતાં પણ એ પ્રાચીન શિલાલેખ વાંચવા અને તત્સંબંધી વિચાર કરવા આજથી ૪૦ વર્ષ અગાઉ ગૂઝરાતી તરીકે કાળો આવેલો છે. રાવબહાદુર કે. ૬૦ ધ્રુવ અખ્યાતક તેમજ ઐતિહાસિક સાક્ષર છે એટલે એ વિષયમાં તેમનો ઉદ્દાપોહ સ્થાને જ ગણાવેા જોઈએ. પરંતુ આશ્ચર્ય અને દુઃખની વાત એ છે કે બધી સાધન સંપત્તિ પ્રાપ્ત છતાં તેમ જ જ્ઞાન અને શોધબોજ પાછળ જોઈતા બધા વખત મેળવી શકનાર એક સેકડો જૈન સાધુઓમાંથી આ બાબત ભાગ્યે જ કોઈનું ધ્યાન ગયેલું છે. પ્રસિદ્ધ અને પ્રાચીન એક જૈન નરપતિ વિષે જૈન વિદ્વાનોની અને ખાસ કરી જૈન સાધુમંડલની આટલી ગિર્યાસાધનતા એ ભાગ્યે જ હાંતવ્ય ગણી શકાય. તેમ છતાં ખુશીની વાત એ છે કે પ્રસ્તુત પત્રના તંત્રી શ્રીમાન જીનવિરયજીએ આજથી અગ્રીયાર વર્ષ અગાઉ પ્રાચીનજૈનલેખસંગ્રહ (પ્રથમ ભાગ) એ નામેનું એક પુસ્તક પહાર પાડેલું. જેમાં એ ખારવેલના શિલાલેખ અને બીજા ત્રણ લેખો આવેલા છે. સાથે સાથે તેઓશ્રીએ એ પુસ્તકમાં એ લેખને સમજાવવા અને તેની બધી વસ્તુઓ ઉપર પ્રકાશ પાડવા તે વખત સુધી પ્રસિદ્ધ યજ્ઞેષ્ઠી બધી સામગ્રીના ઉપયોગ કરી ખૂબ માહિતી પૂરી પાડી છે.

ખારવેલના એ શિલાલેખ પાછળ ઘણા વર્ષો થયાં સતત શ્રમ કરનાર શીલુત નાયકસવાલ મહોદયે હાલમાં ઉછેરો ખારવેલના શિલાલેખ વિષે એક નિબંધ હિંદીમાં પ્રસિદ્ધ કર્યો છે. એ મહત્વનો હોવાથી નાગરીપ્રચારિણીપત્રિકાના ૧૯૮૪ ના કાર્તિક માસના એકમાંથી તેના ગૂઝરાતી: અનુવાદ અત્રે આપવામાં આવે છે, આ લેખને વધારે સમજાવવા અને તેના અભ્યાસ માટે ઉઠા ઉતરવા માટે અમે અમારાં તરફથી કશું ન લખતાં પ્રાચીન જૈનલેખસંગ્રહ (પ્રથમ ભાગ) વાંચવાની વાંચકોને ભલામણ કરીએ છીએ. જે કે એ પુસ્તક ગૂઝરાતી આવડત માટે જાણે જ મહત્વનું છે, પણ અત્યારે તે સુલભ નથી. તેથી એ શિલાલેખનું તેમજ ખારવેલનું મહત્ત્વ અને પ્રાચીનકાલમાં જૈનધર્મની ગઢોળલાથી સમજાવવા પ્રેરતા ચોખ્ખાં ફક્કરા એ પુસ્તકના ઉપોદ્દાતામાંથી અને અનુપત્તિમાંથી અહીં મૂકવામાં આવે છે. વિશેષ રસ-વૃત્તિવાળાઓ એ ખૂબ પુસ્તક વાંચી લેશે તો તેને પ્રસ્તુત અનુવાદ સમજાવવામાં કિંમતી મદદ મળશે અને જ્ઞાન સમૃદ્ધિ વધશે.

(ઉપોદ્ધાતમાંથી પૃ. ૧-૨)

“જૈન ધર્મ” સાથે સંબંધ ધરાવનારા જેટલા પ્રાચીન સિવાલેખો આજ સુધીમાં મળી આવ્યાં છે તેમાં આ પુસ્તકમાં આપેલા “કટક નજીક આવેલી ઉલ્લેખિની ટૂંકરી કંપરના હાંપીયુમાં તથા ખીલ નજીક લેખો” સંબંધી પ્રાચીન છે. હાંપીયુમાં પાળેા મહામેયવાહન રાજા ખારવેલનો લેખ જૈન ધર્મની પુરાતન બહોળાલી ઉપર અપૂર્વ અને અદ્વિતીય પ્રકારા પાડનારો છે. ઇમણેલમવાન શ્રી મહાવીરદેવપ્રજોધિત પંથના અનુયાયી ગ્રામીણા કાંઈપણ પ્રાચીનમાં પ્રાચીન નૃપતિનું નામ નો સિવાલેખમાં મળી આવ્યું હોય તો તે ફક્ત એકલાં આ પ્રાચીન નૃપતિ ખારવેલનું જ છે. જૈનધર્મના ઇતિહાસની દૃષ્ટિએ તો આ હાંપીયુવાળો લેખ અત્યંત મહત્વનો, પરંતુ ભારતવર્ષના રાજકીય ઇતિહાસની અપેક્ષાએ પણ આની ઉપયોગિતા અનુપરાજ જણાય છે. લગભગ એક શતાબ્દી જેટલા લાંબા કાળથી આ લેખની ચર્ચા યુરોપીય અને ભારતીય પુરાતત્ત્વશીમાં ચાલ્યાં કરે છે. અનેક લેખો અને પુસ્તકો આ લેખના વિષયમાં લખાયાં-છપાયાં છે. સૌંદર્ય વિદ્વાનો આ લેખની યુગકાલ લેઈ ફોટા ત્રિગેરે ઉતારી ગયા છે-અને હાલ પણ એમજ ચાલુ છે. આવી રીતે ઐતિહાસિક વિદ્વાનોમાં આ લેખ એક મહત્વનો અને મિલ્લિય પડોય છે. પરંતુ એ નજીકને રહેને સાથે જ એ થાય છે કે જેમના ધર્મ સાથે આ મહત્વના સ્થળના સ્થાનનો સંબંધ છે. જેમના એક પ્રકારે આ ઇતિહાસિક છે અને જેમની પ્રાચીન મથકવાના પ્રકાર સમય કિરણો આમાં અસ્થિત થયેલાં છે તે જૈનોમાંથી હજી સુધી કાંઈને એટું નામ પણ જણાયું-સંભળાયું નથી.

મમણુ ભગવાન શ્રી મહાવીરદેવના નિર્વાણ બાદ ઉદાધી, ચંદ્રગ્રામ, સંપ્રતિ અને વિક્રમાદિત્ય આદિ નૃપતિકો જૈનધર્મ પાળનારા અને જૈનરાસનની પ્રથાવત્તા કરનારા થઈ ગયાના ઉલ્લેખો જેટલાક જૈનધર્મમાં જેવામાં આવે છે, પરંતુ તે કથનની સત્યતા સિદ્ધ કરનાર એક પણ ઐતિહાસિક પ્રમાણ-કે જેને વિશ્વકે રીતે સ્વયં મોટ સ્વીકારી શકે-આજ સુધીમાં ઉપલબ્ધ થયું નથી. જે ગ્રંથોમાં ઉપરોક્ત રાજાએ જૈનધર્મપ્રધાની જણાયા છે તે ગ્રંથો ધણા પાછળના સમયે લખાયા છે તેથી તેમના કથન ઉપર પુરાતત્ત્વશી બહુ વિશ્વાસ નથી રાખતા. મોણુ કે આપા ગ્રંથોત્ત લેખોમાંથી ધણા ગણ ઇતિહાસની દૃષ્ટિએ નિર્મૂલ્ય હયાં છે, અને કરતા નહય છે. હાલ તરીકે જે વિક્રમાદિત્ય નામના રાજાના વિષયમાં અનેક ચર્ચિતો અને આપવાનો લખાયાં છે અને જેના નામથી આજે આજા ભારતવર્ષમાં (લગભગ ૧૨૦૦-૧૫૦૦ વર્ષથી) રાષ્ટ્રિય સંસ્કૃત્યવર્તો છે તેના અસ્થિત અને સંમય સુધાં માટે પણ આજના અનેક ઐતિહાસિકો સંકારીત છે.”

આતુપૂર્તિમાંથી પૃ. ૫૧ થી ૫૭ સુધી. ખારવેલના સંબંધમાં શીધુત કે ૦ દં ૬૦ ધુવત કથન

“૭૦ સં ૦ પૂર્વે ૧૬૫માં કલિંગના રાજા મહામેયવાહન ખારવેલે મગધ ઉપર સ્વારી કરી. હાલ જેને આદિયા પ્રાંત કહે છે તે પ્રાચીન ઉત્કલ દેશની દક્ષિણે કલિંગ આન્યા હતો. એ પૂર્વે સમુદ્રના કાંઠે મોઠાવરીના મુખે રાષ્ટ્રી પસર્થો હતો. ત્યાંના લોક સાંદસિક કહેવાતા હતા. મલ્લમાં ચાલુ બૈલ્લ અને જૈન ગ્રંથો ધર્મનો પ્રચાર હતો. પરંતુ ધરિણ જૈનોનાં દંદ. પૂર્વે કલિંગ નંદરાજના બહેણ સામ્રાજ્યનો ભાગ હતો. એના પછી ધનાર મહાપ્રતાપી ચંદ્રગ્રામે સમસ્ત દક્ષિણાપચ પાઠવિયુજની ળાય નીચે આવ્યા હતા. ત્યારથી આસરે સો વરસ તે યાચીના તાણામાં રહ્યો હતો. દરમીયાન ૭૦ સં ૦ પૂર્વે ૧૬૫ માં તેણે ઇરા યવનો એક નિષ્ફળ પ્રયત્ન કર્યો હતો અને તેના બદલામાં અરોહને હાથે ભારે હુજારી ભોગવી હતી. ઉચરે યાચી ભયારે નળના પડયા, ત્યારે ૭૦ સં ૦ પૂર્વે ત્રીજી શતકના હાલે ચરણમાં એટ [સં. ચૈત્ર] વંશના રાજા હેમરાજે પરતજવાની ધસાઈ ગયોથી એકી તોડી નાંખી. તે જ આરમાં અમદેશના રાજા સિમ્બ પણ સ્વતંત્ર થયો. ત્યાર બાદ કલિંગના રાજાએ જીતારે ઉલ્લેખ પશ્ચિમમાં કાસત અને દક્ષિણમાં નેશીમંડલને પ્રદેશ છડી લઈ રાજ્યમાં વધારો કર્યો. પશ્ચિમમાં અર્ધ રાજ્યે પણ નાસીક પર્વત મુલક કરવાના શરૂકા પાસેથી છડી લીધી. મહાનરીથી રૂણાના મુખ સુધી વિસ્તાર પાસેલાં પૂર્વ રાજ્યમાં ભયારે હેમરાજને પૈત્ર મિત્રરાજ ખારવેલ રાજા થયો. ત્યારે અર્ધ સદીની સ્વતંત્રતા અને સુખદરવાના પ્રવાયે કલિંગની આર્થિક સ્થિતિ ઉત્તમ પ્રકારની હતી. રૈલત આબાદ અને ખેતીના વરેલાં, નવો રાજા પણ પ્રલના મુખમાં, રાજ્યના અરણ્યમાં અને કુળની કીર્તિમાં વધારો કરે એવો હતો. એનાં પ્રશસ્ત લક્ષણો સંતોષ પામી મલ્લને એને રાજ્યકે આપ્યું હતું. ખારવેલ અને એના પૂર્વજે જૈન હતા. એનો

એવા લેખોમાંથી જેટલા લેખો આજ સુધીમાં અહિં મળી આવ્યા છે તેમાં કલિંગ ચક્રવર્તી મહારાજ સારવેલનો લેખ, જે “હાથીશુક લેખ”ના નામથી પ્રસિદ્ધ છે તે અત્યઃ ગણ્ય છે. એથી જુનો, નાનકડા ગૌર્ય લેખો બાદ કરીએ તો, ફક્ત મહારાજ અશોકવાળો શિલાલેખ “ધર્મલિપિ” છે અને ઐતિહાસિક ઘટના તેમ જ જીવનચરિત્રનું વર્ણન પૂરું પાડનાર ભારતવર્ષનો આ સૌથી પહેલો શિલાલેખ છે.

આ લેખ ઉડીસા (ઉત્કલ)ના ભુવનેશ્વર તીર્થની પાસે ખંડગિરિ-ઉદયગિરિ પર્વત ઉપર એક પહોળી શુક્લ ઉપર કોતરવામાં આવેલો છે. પહોડમાં કોરી કોરીને અનેક ઓસરીવાળાં મકાનો-જૈનમંદિર તેમ જ જૈન સાધુઓ વાસે ઉપાશ્રયરૂપ શુક્લ-ગૃહ ત્યાં જુના વખતથી બનેલાં છે. એક એવો જ મહેલ પણ પર્વત કોરી બનાવવામાં આવેલો છે. એમાંથી ફેટલાંક મકાનો ઉપર વિક્રમ સંવત પહેલાં લગભગ ૨૦૦ વર્ષના સંસ્કૃત અક્ષરો કે, જેને બ્રાહ્મી લિપિ કહેવામાં આવે છે, તેવડે પ્રાકૃતભાષામાં લેખો કોતરી કાઢેલા છે. એ બધા મકાનોને ત્યાં ‘શુક’ અર્થાત શુક્લ કહે છે. એક એવી જ માળની શુક્લ (ખરી રીતે મકાન) સારવેલની પટરાણીએ કરાવેલી છે. જેને તેઓ ‘પ્રાસાદ’ કહે છે. મહારાણીએ એ શુક્લ કલિંગના શ્રમણો માટે કરાવી હતી. લેખમાં મહારાણીના પિતાનું નામ છે અને પતિશ્રી સારવેલને “કલિંગચક્રવર્તી” કહેવામાં આવ્યો છે. હાથી-શુક્લ લેખમાં જે ઇતિહાસ આપવામાં આવ્યો છે, તે ઉપરથી મહારાજ સારવેલ. બંરાબર ચક્રવર્તી સિદ્ધ થાય છે. તેથી જ જે ઇંગ્લેન્ડમાં એઓને Emperor કહેલ છે અને પુરાતત્ત્વશાસ્ત્ર વિન્સેન્ટ સ્મીથે એ કથન સ્વીકારી લીધું છે.

હાથીશુક્લ એ નામ આધુનિક છે. આ શુક્લ કોરીગીરી વિનાની ઊંડાળ છે. એમ જણાય છે કે તે સારવેલના પહેલાથી હતી અને કોઇ કારણને લીધે વિશેષ માન્ય તેમ જ પ્રતિષ્ઠિત હશે, તેથી જ તેના ઉપર આ ગહુ લાંબો પહોળો લેખ લખવામાં આવેલો. કેટલાક અંશોમાં લેખ ગળી ગયો છે. ફેટલીક પંક્તિઓની શરુઆતના પારેક અક્ષરો પથ્થરનાં અપતરાં સાથે ઉડી ગયા છે, અને ફેટલીક પંક્તિઓમાં વચ્ચે વચ્ચે અક્ષરો એકઠમ ઉડી ગયા છે અને કયાંક પાણીથી ઘસાઇ ગયા છે. કયાંક કયાંક અક્ષરની કોતરણી વધી ગઇ છે; અને જલપ્રવાહ તેમ જ ખીલ કારણથી ભ્રમેત્પાદક ચિન્હો ઉત્પન્ન થઇ ગયાં છે. કયાં સુધી ટાંકણની નિશાની છે અને કયાં કાલકૃત ભ્રમ-ભલ છે-એનો ઉકેલ કરવો એ જ આ લેખનું રહસ્ય છે. કાળ પથ્થરને પણ ભરખે છે, અવતારોની પણ કીર્તિનો લોપ કરી દે છે. તેથી સારવેલના ઇતિહાસનો થોડોક લોપ થઇ જાય તેમાં કાંઇ આશ્ચર્ય નથી. આશ્ચર્ય અને આનંદની વાત તો એ છે કે જે હજાર વર્ષ પછી પણ એ લેખ કોઈ પણ પ્રકારે અસ્તિત્વ ધરાવે છે, અને એ કે એમાં નેકાઇ જવાથી સરસ્વતીના પ્રસાદ વડે બીજક કાંઈક બોલવા માંડ્યું અને સુપકી રાધનાર કાળપ્રદા કાંઈક કહેવા લાગ્યા.

જે કે ઇતિહાસ સંશોધકને આ લેખની જાણ સો વર્ષ પહેલાં પણ હતી. પરંતુ આ લેખ સન ૧૯૧૭ પહેલાં પૂરેપૂરો વાંચી શકાયો ન હતો. પાદરી સ્ટર્લિંગે આ લેખની